ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रवचन सुधा

(भाग-३)

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
श्री प्रवचनसार ग्रन्थ पर धारावाही प्रवचन)

हिन्दी अनुवाद
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भिलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक
श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

प्रथमावृत्ति : १०००

पूज्य गुरुदेवश्री की १२० वीं जन्मजयंति प्रसंग पर, दि. २६-४-२००९

न्यौछावर राशि : **25 रुपये**

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट
  580, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर–364001
  फोन : (0278) 423207 ⁄ 2151005
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्द कहान जैन साहित्य केन्द्र
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **तीर्थधाम मंगलायतन**
  अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216, (महामायानगर) उ.प्र.
- **श्री खीमजीभाई गंगर (मुम्बई) :** (022) 26161591
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (033) 24752697
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद):(079) 25450492, 9377148963

टाइपसैटिंग :
विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़

मुद्रण व्यवस्था :
भगवती ऑफसेट
15–सी, वंशीधर मिल कम्पाउण्ड
बारडोलपुरा, अहमदाबाद

ACKNOWLEDGEMENT

We sincerely express our gratitude to **“Shree Vitrag Sat Sahitya Prakashak Trust, Bhavnagar”** from where we have sourced **“Pravachan Sudha Part-03”** (Pravachans on Shree **Pravachansaar** by Pujya Shree Kanji Swami)

“Shree Vitrag Sat Sahitya Prakashak Trust, Bhavnagar” have taken due care, However, if you notice any inconsistency or error, you may please address your suggestions to info@vitragvani.com & jain92002@yahoo.com .

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत पञ्च परमागमों में प्रवचनसार शास्त्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की महिमा दर्शानेवाले अनेक शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा लिखित शास्त्र, साक्षात् गणधरदेव के वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं।

महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की प्रत्यक्ष दिव्यदेशना सुनकर, भरतक्षेत्र में आकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अनेक शास्त्रों की रचना की है। जिनशासन के अनेक मुख्य सिद्धान्तों के बीच इस प्रवचनसार शास्त्र में विद्यमान है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस ग्रन्थ के प्रवचनों में फरमाते हैं – प्र + वचन + सार। प्र अर्थात् दिव्यध्वनि का जो दिव्यध्वनि – तीन लोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि, जो ओमध्वनि है – वह यहाँ कहते हैं। अतः यह प्रवचनसार ग्रन्थ है, वह भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के दिव्य सन्देश ही हैं। तीन विभाग में विभाजित हुए इस ग्रन्थ में वस्तुस्वरूप को समझाते हुए मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, जो मुमुक्षु जीव को महामिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये दिव्यप्रकाश समान ही है।

महामिथ्यात्व से प्रभावित इस दुषम काल में ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमागमों के सिद्धान्त समझने की सामर्थ्य अज्ञानी जीवों में कहाँ थी ? परन्तु भरतक्षेत्र के अहो भाग्य से तथा भव्यजीवों को ताड़ने के लिये इस मिथ्यात्व के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिये एक दिव्यप्रकाश हुआ! वह है कहान गुरुदेव!! पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अजोड़ रत्न हैं! जिन्होंने स्वयं की ज्ञान प्रवाह द्वारा गूढ़ परमागमों के रहस्य समझाये। जिनके घर में आगम उपलब्ध थे, उन्हें भी आगम समझने की शक्ति नहीं थी, ऐसे इस दुषम काल में पूज्य गुरुदेवश्री के परम प्रभावनायोग से घर-घर में मूलभूत परमागमों के स्वाध्याय की प्रणाली शुरु हुई। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त इत्यादि अनेकानेक वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तों का पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश किया है। प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के वचनानुसार पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अचम्भा ही हैं। पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। पञ्चम काल में निरन्तर अमृत झरती गुरुदेवश्री वाणी भगवान का विरह बुलाती है। इत्यादि अनेकानेक बहुमान सूचक वाक्य पूज्य गुरुदेवश्री की असाधारण प्रतिभा को व्यक्त करते हैं।

ऐसे भवोदधि तारणहार, निस्कारण करुणाशील, अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक मूल परमागमों पर प्रवचन प्रदान करके दिव्य अमृतधारा बरसायी है। उन अनेक शास्त्रों में से एक प्रवचनसार जैसे गूढ़ परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन प्रकाशित करने का महान सौभाग्य वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। प्रवचनसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के कुल 274 प्रवचन हुए हैं। मूल परमागम तीन अधिकारों में विभाजित है। उनमें अन्य अधिकारों के विभाग भी किये गये हैं जो प्रवचनसार शास्त्र की अनुक्रमणिका में दिये गये हैं। तद्नुसार 274 प्रवचनों को समाहित करने के लिये कुल ग्यारह भागों में प्रकाशित किया जायेगा। इस तृतीय भाग में कुल 34 प्रवचन हैं। जिसमें गाथा –53 से 92 तक का समावेश होता है। जिनमें गाथा 53 से 68 तक सुख अधिकार और गाथा 69 से 92 तक शुभ परिणाम अधिकार समाहित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की स्वाध्याय में सरलता रहे तदर्थ मूल सूत्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथायें, सूत्र टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव की तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्यदेव की तात्पर्यवृत्ति टीका संस्कृत में दी गयी है। तदुपरान्त तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार परमागम के हरिगीत दिये गये हैं। साथ ही हिन्दी टीका भी समायोजित की गयी है।

समादरणीय सिद्धान्तनिष्ट जिनवाणी रहस्यज्ञ पूज्यभाईश्री शशिभाई के मार्गदर्शन में इससे पहले प्रवचन नवनीत भाग 1–4 प्रकाशित किये गये हैं। उसी अनुसार इन प्रवचनों के संकलन में भी पूर्ण सावधानी रखकर पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी अक्षरश: प्रकाशित रहे तथा भावों का प्रवाह भी यथावत् रहे, यह प्रयास किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन प्रकाशित हों ऐसी भाईश्री की भावना थी। तदर्थ सभी प्रवचन कम्प्यूटर में पुस्तकाकाररूप आ जायें ऐसी भी उनकी शोध चलती थी। यह बात उनकी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभावना को प्रदर्शित करती है। इसलिए इस भावना का अनुसरण करके यह कार्य किया जा रहा है। अत: इस प्रसंग पर उनके उपकार का स्मरण करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट की नीति अनुसार इन प्रवचनों को सर्व प्रथम ओडियो कैसेट से अक्षरश: लिखा जाता है। तत्पश्चात् इन प्रवचनों का कैसेट सुनते–सुनते सम्पादन किया जाता है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कोष्ठक भी भरा जाता है। जहाँ–जहाँ व्यक्तिगत सम्बोधन किया गया है अथवा व्यक्तिगत बात की गयी है वह इसमें नहीं ली गयी है। पूर्णरूप से प्रवचन तैयार होने के बाद एक बार अन्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें कैसेट के साथ मिलान किया जाता है। जिससे किसी भी प्रकार की भूल न रह पाये। इसके फलस्वरूप प्रवचन सुधा, भाग–3 प्रकाशित

करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है।

ऑडियो कैसेट से अक्षरश: प्रवचन लिखने के लिये श्री कन्नूभाई लक्ष्मीचन्द शाह, अहमदाबाद का हृदयपूर्वक आभार मानते हैं। साथ ही इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन मुमुक्षुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका भी यहाँ आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण एवं एक बार पुन: सी.डी. प्रवचन से मिलान करने के लिये पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) का आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सुन्दर टाईप सेटिंग के लिये विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये मैसर्स भगवती आफसेट का आभार व्यक्त करते हैं।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई क्षति रह गयी हो तो सर्व जिनेन्द्र भगवान से, आचार्य भगवन्तों से, जिनवाणी माता से तथा सर्व सत्पुरुषों से शुद्ध अन्त:करणपूर्वक क्षमा चाहते हैं।

अन्तत: इन प्रवचनों की दिव्यदेशना को अन्तर में ग्रहण करके। सभी जीव शीघ्र आत्महित को प्राप्त करें - ऐसी भावना के साथ। विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या	गाथा नम्बर	प्रवचन नम्बर	पृष्ठ संख्या
१	५३	५३	०१
२	५४	५४	२२
३	५५	५४, ५५	४१
४	५६	५६	६१
५	५७	५६, ५७	७८
६	५८	५७	८९
७	५९	५७, ५८, ५९	९८
८	६०	५९, ६०	१३१
९	६१	६०	१५२
१०	६२	६१	१६१
११	६३	६१	१७७
१२	६४	६२	१८१
१३	६५	६२, ६३	१९५
१४	६६	६३	२१२
१५	६७	६४	२२०
१६	६८	६४, ६५	२३७
१७	६९	६५	२४६
१८	७०	६६	२६१
१९	७१	६६	२६७

क्रम संख्या	गाथा नम्बर	प्रवचन नम्बर	पृष्ठ संख्या
२०	७२	६६, ६७	२७३
२१	७३	६७	२९४
२२	७४	६८	३०२
२३	७५	६८, ६९	३१४
२४	७६	६९, ७०	३३२
२५	७७	७०, ७१	३४४
२६	७८	७१	३५२
२७	७९	७१	३६३
२८	८०	७२, ७३	३६९
२९	८१	७३, ७४	३९७
३०	८२	७४	४०६
३१	८३	७४, ७५	४१७
३२	८४	७६	४३६
३३	८५	७६, ७७	४४६
३४	८६	७७	४५६
३५	८७	७८, ७९, ८०	४७०
३६	८८	८१	५२१
३७	८९	८२	५३८
३८	९०	८२, ८३, ८४	५४८
३९	९१	८४	५७८
४०	९२	८४, ८५	५९१
४१	कलश – ५	८५	६११
४२	कलश – ६	८६	६१६

श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः।।१।।
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।२।।
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः।।३।।

।। श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः।।

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारक्, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री समयसारनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं, श्रोतारः सावधानतया श्रृणवन्तु।।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।१।।
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्।।२।।

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

प्रवचन सुधा

(प्रवचनसार प्रवचन)

भाग - ३

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन

सुख अधिकार

गाथा - ५३

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति -

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।।५३।।

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु।
ज्ञानं च तथा सौख्यं यतेषु परं च तत् ज्ञेयम्।।५३।।

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति। इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति। तत्र यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम्। तत्राद्यं मूर्ताभिः क्षायोपशमिकी-भिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कं क्रमकृतप्रवृत्ति सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम्। इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानु-विधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणाम-शक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकार-परिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ।।५३।।

एवमष्टाभिः स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तरं नमस्कारगाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंश-त्सूत्रैर्ज्ञानप्रपञ्चनामा तृतीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः। अथ सुखप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति। अत्र पञ्चस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले `अत्थि अमुत्तं' इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन `जं पेच्छदो' इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन `जीवो सयं अमुत्तो' इत्यादि गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमतीन्द्रियसुखमुख्यतया `जादं सयं' इत्यादि गाथाचतुष्टयं, अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टकम्, तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमत इन्द्रियसुखस्य दुःखत्वस्थापनार्थं `मणुआसुरा' इत्यादि गाथाद्वयं, अथ मुक्तात्मनां देहाभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देहः सुखकारणं न भवतीति कथनरूपेण `पप्पा इट्ठे विसये' इत्यादि सूत्रद्वयं, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारणं न भवन्तीति कथनेन `तिमिरहरा' इत्यादि गाथाद्वयम्, अतोऽपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन `तेजोदिट्ठि' इत्यादि गाथाद्वयम्। एवं पञ्चमस्थले अन्तरस्थलचतुष्टयं भवतीति सुखप्रपञ्चाधिकारे समुदायपातनिका।। अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुखं चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थलचतुष्टयं सूत्रयति - अत्थि अस्ति विद्यते। किं कर्तृ। णाणं ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसम्बन्धः। किंविशिष्टम् अमुत्तं मुत्तं अमूर्तं मूर्तं च। पुनरपि किंविशिष्टम्। अदिंदियं इंदियं च यदमूंत तदतीन्द्रियं मूर्तं पुनरिन्द्रियजम्। इत्थंभूतं ज्ञानमस्ति। केषु विषयेषु। अत्थेसु ज्ञेयपदार्थेषु, तहा सोक्खं च तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रियं मूर्तमिन्द्रियजं च सुखमिति। जं तेसु परं च तं णेयं यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रियं तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम्। तदेव विव्रियते-अमूर्ताभिः क्षायिकीभिर-तीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभिः शुद्धात्मशक्तिभिरुत्पन्नत्वादतीन्द्रियज्ञानं सुखं चात्माधीनत्वेना-विनश्वरत्वादुपादेयमिति, पूर्वोक्तामूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्यो विलक्षणाभिः क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्ति-भिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियजं ज्ञानं सुखं च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धेयमिति तात्पर्यम्।।५३।।

अब, ज्ञान से अभिन्न सुख का स्वरूप विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुख की हेयोपादेयता का (अर्थात् कौन-सा ज्ञान तथा सुख हेय है और कौन-सा उपादेय है, वह) विचार करते हैं -

अर्थों का ज्ञान मूर्त-अमूर्त, ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय है।
इस ही प्रकार सुख भी कहा, पर श्रेष्ठ जो वही ग्राह्य है॥

अन्वयार्थ - **[अर्थेषु ज्ञानं]** पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान **[अमूर्तं मूर्तं]** अमूर्त या मूर्त, **[अतीन्द्रियं ऐन्द्रियं च अस्ति]** अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है; **[च तथा सौख्यं]** और इसी प्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय) सुख होता है। **[तेषु च यत् परं]** उसमें जो प्रधान-उत्कृष्ट है **[तत् ज्ञेयं]** वह उपादेयरूप जानना।

टीका - यहाँ, (ज्ञान तथा सुख दो प्रकार का है) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त और इन्द्रियज[१] है; और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त और अतीन्द्रिय है। उसमें जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है, वह प्रधान होने से उपादेयरूप जानना।

वहाँ, पहला ज्ञान तथा सुख मूर्तरूप ऐसी क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियों से उस-उस प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने से, कादाचित्क[२], क्रमशः प्रवृत्त[३] होनेवाला, सप्रतिपक्ष[४] और सहानिवृद्धि[५] है इसलिए गौण है - ऐसा समझकर वह हेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है; और दूसरा ज्ञान तथा सुख अमूर्तरूप ऐसी चैतन्यानुविधायी[६] एकाकी आत्मपरिणामशक्तियों से तथाविध अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार-परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष और हानिवृद्धि से रहित है, इसलिए मुख्य है, ऐसा समझकर वह (ज्ञान और सुख) उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है।॥ ५३ ॥

---

१. इन्द्रियज - इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होनेवाला; ऐन्द्रिय
२. कादाचित्क - कदाचित् - कभी-कभी होनेवाला; अनित्य।
३. मूर्तिक इन्द्रियज ज्ञान क्रम से प्रवृत्त होता है; युगपत् नहीं होता; तथा मूर्तिक इन्द्रियज सुख भी क्रमशः होता है, एक ही साथ सर्व इन्द्रियों के द्वारा या सर्व प्रकार से नहीं होता।
४. सप्रतिपक्ष = प्रतिपक्ष - विरोधी सहित। (मूर्त इन्द्रियज ज्ञान अपने प्रतिपक्ष अज्ञानसहित ही होता है, और मूर्त इन्द्रियज सुख उसके प्रतिपक्षभूत दुःख सहित ही होता है।)
५. सहानिवृद्धि = हानिवृद्धि सहित।
६. चैतन्यानुविधायी = चैतन्य के अनुसार वर्तनेवाली; चैतन्य के अनुकूलरूप से - विरुद्धरूप से नहीं वर्तनेवाली।

प्रवचन नं. ५३ दिनाङ्क २८ फरवरी १९७९

(प्रवचनसार) 'ज्ञान अधिकार' ५२ गाथा पूर्ण हुई। **अब ज्ञान से अभिन्न सुख का स्वरूप विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुख का हेय-उपादेयपना...** ऊपर (संस्कृत में) है न? **ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति** (अर्थात्) यह विचार करते हैं। **(अर्थात् कौन सा ज्ञान और सुख हेय है और कौन सा उपोदय है, वह) विचार करते हैं।** आचार्य को विचार करना पड़ता होगा? (इसे) लेकर बात करते हैं।

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।।५३।।

अर्थों का ज्ञान मूर्त-अमूर्त, ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय है।
इस ही प्रकार सुख भी कहा, पर श्रेष्ठ जो वही ग्राह्य है॥

यहाँ, (ज्ञान तथा सुख दो प्रकार का है) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त और इन्द्रियज है; और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त और अतीन्द्रिय है। दो प्रकार लिये हैं - इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख; एक और अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख। **उसमें जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है, वह प्रधान होने....** पाठ में **परं** कहा है - **परं णेयं** अर्थात् उत्कृष्ट उपादेय - ऐसा कहा है। परम उत्कृष्ट भी जानने में, जानने का अर्थ यहाँ उपादेय है। अहा...हा...! उसमें भी फिर परम कहा है, उत्कृष्ट कहा तो इन्द्रियज्ञान कुछ नीचा है! परन्तु ज्ञान कराना चाहिए न! इसलिए कहा है। बाद की टीका में आगे लेगें कि इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख गौण है तथा अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख मुख्य है। आहा...! यह तो मुख्य-गौण करके समझाते हैं। मुख्य यह है और इन्द्रियसुख इससे गौण है - ऐसा कहा, परन्तु वह वास्तव में सुख है ही नहीं; उसे यहाँ गौण करके कहा है।

जैसे, समयसार की ११ वीं गाथा में 'पर्याय है', उसे गौण करके अभूतार्थ कहा गया है; इसी प्रकार इस इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख को गौण करके हेय कहा गया है। अहा...हा...! संक्षिप्त भाषा में कहना है, इसलिए ऐसा कहा है; फिर टीकाकार उसका

स्पष्टीकरण करते हैं। (इन्द्रियसुख) है, बस इतनी सी बात है, क्योंकि अज्ञानी मानता है न! इसलिए इसे (अतीन्द्रियसुख को) परम कहा है। (अज्ञानी) मानता है न! (इसलिए), आहा...हा...! उसे परम कहा, तब इसे गौण कहा। उसे उत्कृष्ट कहा, तब उसमें कोई कम भी (सुख है) ऐसा नहीं परन्तु विपरीत है। आहा...हा...! है शब्द? **उसमें जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है, वह प्रधान होने से....** देखो! **परं** शब्द है न? मूल पाठ में **परं** - प्रधान अर्थात् मुख्य होने से। अतीन्द्रिय सुख, वही मुख्य वस्तु है। अतीन्द्रिय आनन्द और सुख! इन्द्रियसुख को तो कल्पित माना है, उसे तो यहाँ गौण करके हेय कहेंगे। गौण करके हेय कहेंगे। आहा...हा...!

(अब कहते हैं कि) **वहाँ, पहला ज्ञान तथा सुख मूर्तरूप ऐसी क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियों से उस-उस प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ...** आहा...हा...! इन्द्रिय द्वारा ज्ञान और इन्द्रिय द्वारा मान्यता का सुख (अर्थात्) यह मुझे सुख होता है। आहा...हा...! पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर के झुकाव से मानो मुझे सुख होता है और ज्ञान होता है - (ऐसा मानता है) आहा...हा...! (परन्तु) वह पराधीन है।

इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने से कादाचित्क.... (अर्थात्) किसी समय हो ऐसा। कारण कि वह तो अनित्य है न? इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख कादाचित्क अर्थात् किसी समय होता है। आहा...हा...! आत्मा का ज्ञान और आत्मा का भान हुआ, पश्चात् यह (इन्द्रियज्ञान और सुख) है ही नहीं। सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रियस्वरूप है, उसका स्वाद आने पर, अतीन्द्रिय का ज्ञान (हुआ) वह अतीन्द्रिय सुख हुआ। भले ही इसे थोड़ा हुआ परन्तु उस अतीन्द्रियज्ञान में से अतीन्द्रियज्ञान और सुख हुआ, वही मुख्य वस्तु है। आहा...हा...!

श्रोता : आपने इसे मुख्य कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न? इसमें जरा शैली यह है, वह तो ख्याल है, उस दिन यह बात हो गयी है। सब लोग मानते हैं न हम सुखी हैं! धूल में भी सुखी नहीं हैं (यहाँ कोई आया था, वह कहता था) कि हमारे समधी सुखी हैं; (मैंने) कहा - सुखी की व्याख्या क्या? सुखी अर्थात् क्या? यह कहा न? वह तो गौण करके, उसकी मुख्यता बताने

के लिये उपादेय बताना है। ज्ञेय का अर्थ ही उपादेय किया। **परं** जानने लायक है – ऐसा कहा। अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख जानने योग्य है – इसका अर्थ ही यह है कि वह जाननेयोग्य है, अर्थात् वह उपादेय है – ऐसा। (यह तो) गाथा है न ? गाथा में तो संक्षिप्त शब्द होते हैं और इस कारण टीकाकार ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है और विशेष स्पष्टीकरण के बिना वह ख्याल में नहीं आता। (इसलिए यहाँ) **परं** कहा है।

भगवान आत्मा! उसका सम्यग्दर्शन प्राप्त करने पर वहाँ से अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख शुरु होता है। वह अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख वहाँ से शुरु होता है। आहा...हा...! प्रधान, मुख्य, वह चीज है और इन्द्रियज्ञान तथा इन्द्रियसुख को गौण करके हेय कहा है। यहाँ ऐसी संक्षिप्त शैली ली है, इसीलिए तो पहले कहा। जयसेनाचार्य की टीका में स्पष्ट है। वहाँ दूसरा कुछ (नहीं कहा)। यह उपादेय है और यह हेय है – इतनी बात (ली है) परन्तु अमृतचन्द्राचार्य ने टीका में (यह लिया है)। गाथा के थोड़े शब्दों में बहुत बताना है न! आहा...हा...!

पहला ज्ञान तथा सुख मूर्तरूप ऐसी क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियों से.... क्षयोपशम उपयोगशक्ति! **उस-उस प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा...** आहा...हा...! सुख और ज्ञान! **उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने से कादाचित्क....** वह भी कदाचित् है। आहा...हा...! ऐसे जीव लिये हैं कि उन्हें इन्द्रियसुख और ज्ञान नष्ट होंगे और अतीन्द्रियज्ञान तथा सुख (प्रगट होंगे)। इसलिए कदाचित् / अनित्य है, परन्तु कदाचित् – अमुक काल तक होता है। आहा...हा...! इसमें कुछ समझ में आता है ? है न नीचे ? कादाचित्क का अर्थ किया है, देखो! कादाचित्क = कदाचित् – कभी-कभी होनेवाला; अनित्य।

यहाँ तो वजन देना है कि इन्द्रियज्ञान और सुख है, वह वस्तु नहीं है। वह तो कल्पना से माना है। अन्दर ज्ञान का सागर प्रभु है, उसे स्पर्श कर ज्ञान होता है, वह अतीन्द्रिय है और उसे स्पर्श कर ज्ञान होता है, वह आनन्द के स्वाद के साथ होता है। समझ में आया ? इसलिए वह **परमंनियं** है, अर्थात् उत्कृष्टरूप से उपादेय है। आ...हा..! पूर्ण अतीन्द्रियज्ञान और पूर्ण अतीन्द्रियसुख तो भगवान अरहन्त को है, वह तो उपादेय होता ही है। इन्हें उपादेय हो ऐसा नहीं है। दूसरों को (उपादेय हों) इन्हें तो हो गया है। आ...हा...! यह

वकीलात का ज्ञान, वकीलात में (कभी) जीत ले तो ऐसा जरा हर्ष आता है ओ...हो... हो... (होता है) यह सब इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख है। आहा...हा...!

श्रोता : वह तो कुज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान (और) सुख, वह काल्पनिक है, इसलिए उन्हें (छोड़ने योग्य / हेय कहा है)।

यहाँ तो दूसरी भाषा ली है, देखो! (यह इन्द्रियज्ञान तथा सुख) पराधीन होने से **कादाचित्क, क्रमशः प्रवृत्त होनेवाला,.....** (है)। उपयोग है, वह क्रम से प्रवर्तता है न? भले ही उसके विकास में बहुत हो परन्तु उपयोग क्रमशः प्रवर्तता है। समझ में आया? आहा...हा...!

मोक्षमार्गप्रकाशक में लिया है न? इन्द्रियज्ञान कैसा है? कि एक मनुष्य को कहा कि तू यहाँ जा, परन्तु उस मनुष्य को साथ लेकर जा, (इसके जैसा है)। मोक्षमार्गप्रकाशक में (आता है)। इस प्रकार क्षयोपशमज्ञान इन्द्रियाधीन है और वह इन्द्रियाधीन सुख की कल्पना करता है। तब वह इन्द्रियाधीन (होकर) जान सकता है आहा...हा...! मोक्षमार्गप्रकाशक में है। ऐसा कहते हैं कि उपयोग ही इस जाति का है कि एक-एक इन्द्रिय से जानता है। क्षयोपशम में तो पाँचों इन्द्रियों का क्षयोपशम है, तथापि वह ज्ञान इस जाति का है कि एक-एक इन्द्रिय को निमित्त करके जानता है। **क्रमशः प्रवृत्त होनेवाला** - ऐसा कहा है न? यह बात चलती है - क्रमशः प्रवृत्त होनेवाला आहा...! इसे पाँच इन्द्रियों का (ज्ञान) एक साथ नहीं होता। इन्द्रिय में क्रम से प्रवृत्ति होती है आहा...हा...! **सप्रतिपक्ष** (है)।

श्रोता : क्षयोपशमभाव को मूर्तिक कहा?

समाधान : मूर्त ही है! क्षयोपशमभाव एक न्याय से मूर्त है और एक न्याय से बन्ध का कारण है। पर तरफ का क्षयोपशम हुआ है, वह बन्ध का कारण है, स्व तरफ का अतीन्द्रिय क्षयोपशम होता है, वह सुख का कारण है। आहा...हा...! ऐसा है। कहो, ये पैसेवाले सुखी हैं? (तो कहते हैं कि) यह अज्ञानी इन्द्रियाधीन सुखी (है - ऐसा) मानते हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रोता : शरीर तो मजबूत होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी शरीर मजबूत (नहीं होता)। यह तो माटी है, धूल–यह माटी है। मजबूत हो या न हो इसके साथ क्या (लेना–देना) ? कील से घाव हो जाए तब ऐसा नहीं कहते ? कील या छोटी कील का घाव हो तब कहते हैं कि मेरी मिट्टी पकाऊ है, पानी छूने मत देना। वहाँ ऐसा कहते हैं कि 'मेरी मिट्टी पकाऊ है !' यह मिट्टी ! कील लग जाए (तो कहते हैं) पानी लगने मत देना ! फिर कहता है 'यह शरीर मेरा है !' एक ओर मिट्टी कहता है और एक ओर अपना कहता है।

श्रोता : पैसा आता है तो अंगुलियाँ खूब मोटी हो जाती हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ धूल भी नहीं होता। कितने ही करोड़पति पतले होते हैं। पतला शरीर हो और अरबपति हो, उसमें क्या है ? आहा...हा... ! अमेरिका में नहीं है ? डेढ़ मील में कसाईखाना है... डेढ़ मील में ! अरबोंपति है। कसाईखाना ! कसाई, अर्थात् काटनेवाला गाय–भैंस को काटनेवाला कसाई ! अमेरिका में डेढ़ मील में उसका कारखाना है, अरबोंपति है, वह चाँदी की कुर्सी में बैठता है ! चाँदी की कुर्सी... ! इससे क्या ? क्या वह सुख है ? अरे ! दूसरा नहीं है एक ? एक घण्टे की डेढ़ करोड़ रुपयों की आमदनी है, दूसरा एक देश है कहीं ? एक दिन की एक अरब की आमदनी है आहा...हा... !

श्रोता : पेट्रोल निकलता है इसलिए !

पूज्य गुरुदेवश्री : देश छोटा है (उसमें) पैट्रोल के कुएँ निकले हैं। (ऐसा) पूर्व का कोई पुण्य है ! (परन्तु) पापानुबन्धी पुण्य है !

श्रोता : पेट्रोल को काला सोना कहा जाता है !

पूज्य गुरुदेवश्री : कहे, कहे, सुना है न ! बहुत निकलता है न ! (इसलिए) एकदम पैसा उत्पन्न होता है न ! अरे... ! धूल है ! कहते हैं, यह इन्द्रियाधीन ज्ञान भी खोटा है। यहाँ तो हेय कहा है। इसका अर्थ ही यह है कि वह असत्यार्थ है। जैसे, भूतार्थ के समक्ष पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहते हैं; उसी प्रकार अतीन्द्रियसुख और ज्ञान के समक्ष इन्द्रियज्ञान और सुख असत्य और अभूतार्थ हैं, झूठा है। यहाँ तो गाथा है न (इसलिए) संक्षिप्त में कहा है।

श्रोता : सुख उत्पन्न होता है वह झूठा ?

समाधान : अत्यन्त झूठा ! असत्य ! उस दु:ख को सुख मानता है। इस अज्ञान को ज्ञान मानता है आहा...हा... ! ऐसी बात है। आ...हा... ! देखो ! है ?

(इन्द्रियज्ञान और सुख) **सप्रतिपक्ष और सहानिवृद्धि है...** (सप्रतिपक्ष का अर्थ नीचे फुटनोट में किया है)। सप्रतिपक्ष = प्रतिपक्ष – विरोधीसहित। मूर्त इन्द्रियज ज्ञान अपने प्रतिपक्ष अज्ञानसहित ही होता है, और मूर्त इन्द्रियज सुख, उसके प्रतिपक्षभूत दु:खसहित ही होता है।) देखा ? अब अधिक तो यह है, **इसलिए गौण है....** इसलिए 'नहीं है' – ऐसा नहीं कहा। लोग मानते हैं, इसलिए तद्नुसार कहा। आहा...हा... ! इन्द्रियज्ञान और इन्द्रिय से होनेवाले सुख की कल्पना, यह वस्तु झूठी है; वह ज्ञान भी नहीं है और वह सुख भी नहीं है परन्तु यहाँ अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख की उत्कृष्टता बतलाना है; इस कारण उस इन्द्रियज्ञान (और) सुख को गौण करके... ऐसा कहा है। देखा ? **इसलिए गौण है – ऐसा समझकर वह हेय है...** गौण है – ऐसा समझकर, वह हेय है।

आहा...हा... ! (जैसे समयसार की) ग्यारहवीं गाथा में पर्याय को गौण करके असत्यार्थ कहा है। पर्याय नहीं है – ऐसा नहीं है; पर्याय है, पर्याय से रहित तो द्रव्य होता ही नहीं। आहा...हा... ! कहो, यह पैसेवाले ऐसा मानते हैं कि हम सुखी हैं ! तो वे मूढ़ है – ऐसा कहते हैं। आहा... ! इसमें पाँच-पच्चीस लाख की आमदनी हो तो भी क्या और न हो तो भी क्या ? इसके साथ क्या (सम्बन्ध) है। आहा...हा... ! इस पैसे की संख्या अधिक हो तो भी क्या ? (और) कम हो तो भी क्या ? इसके प्रति जितनी ममता है... ममता है, उतना दु:ख है। आहा...हा... !

श्रोता : जिसे दु:ख जरा भी नहीं है, इसलिए ममता नहीं है – ऐसा हुआ ?

समाधान : ममता है। ममता न हो तो इसका लक्ष्य क्यों जाता है ? आहा...हा... ! भगवान आनन्दस्वरूप है, वहाँ लक्ष्य क्यों नहीं जाता ? महा भण्डार भरा है ! आहा...हा... ! अपरम्पार अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियआनन्द भरा है। आहा... ! उसकी अपेक्षा से इन्द्रियज्ञान और इन्द्रिय का सुख मूर्त कहा है, क्रम से प्रवर्तमान कहा है, प्रतिपक्षवाला कहा

है और हानिवृद्धिवाला कहा है; इसलिए गौण है। गौण है – (ऐसा कहा) तो कुछ न्यून है न? वह 'है' ऐसा इतना बताना है।

श्रोता : सुख है अवश्य?

समाधान : मानता है, सुख है कब? यह मानता है, इसलिए इसकी भाषा से कहते हैं न? आहा...हा...! **ऐसा समझकर वह हेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है...** आहा...हा...! यह शास्त्रज्ञान है, वह भी इन्द्रियज्ञान है (समयसार) बन्ध अधिकार में (गाथा २७६–२७७ में) इसे शब्दज्ञान कहा है न? आत्मज्ञान नहीं, शास्त्र का ज्ञान, अर्थात् शब्द का ज्ञान। आहा...हा...! और व्यवहारचारित्र जो कहा (है उसे) वहाँ क्या कहा? छह जीवनिकाय (चारित्र), क्योंकि वहाँ लक्ष्य जाता है न? (इसलिए ऐसा कहा है कि) छह काय के जीव वे चारित्र हैं; और व्यवहारश्रद्धा (किसे कही? कि) नव तत्त्व वह समकित। नव तत्त्व की श्रद्धा (वह समकित), क्योंकि श्रद्धा नव तत्त्व की है। चारित्र में भी अज्ञानी का व्यवहारचारित्र (है उसमें) उसका लक्ष्य छह काय के जीवों पर जाता है, यह एक ही लिया है। (बाकी के) चार महाव्रत नहीं लिये हैं, क्योंकि इस छह काय में पाँचों ही महाव्रत आ जाते हैं। (इस प्रकार) वहाँ बन्ध अधिकार में लिया है। इसमें कुछ समझ में आया? क्या कहा?

जो ज्ञान इन्द्रियों से होता है, वह (ज्ञान), जो अतीन्द्रियज्ञान है, अतीन्द्रियसुख है, उससे विपरीत है। आहा...हा...! इस कारण इन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान को और इन्द्रिय से होनेवाले कल्पना के सुख को गौण करके, उसे समझकर गौण करके वह हेय है (अर्थात् छोड़ने योग्य है)। आहा...हा...! इस गाथा की भाषा ज़रा अटपटी है। (जो) नहीं है, उसे गौण (करके ऐसा कहा है), सुख नहीं है और ज्ञान नहीं है, तथापि उसे गौण करके हेय है – ऐसा कहा है।

श्रोता : जो हो वह हेय–उपादेय होता है न?

समाधान : है, इसलिए गौण कहा न! है, इसलिए उसे गौण करके हेय कहा। व्यवहार का विषय नहीं है? परन्तु है, वह हेय है आहा...हा...! (समयसार की बारहवीं गाथा की टीका में ऐसा कहा है कि) **परिज्ञायमानस्तदात्वे** यह निश्चय के साथ की बात है। निश्चय भूतार्थ का ज्ञान हुआ है और सुख भी हुआ है, उसे उस पर्याय में जितनी

अशुद्धता वर्तती है और शुद्धता का अंश है, उसे उस काल में जानना। **परिज्ञायमानस्तदात्वे** उस काल में, उस-उस समय, क्योंकि दूसरे समय वापिस शुद्धि का अंश बढ़ेगा और अशुद्धि का अंश घटेगा; इसलिए उस-उस समय का, उस-उस प्रकार का ज्ञान जाना हुआ प्रयोजनवान् है, आदर किया हुआ नहीं। जिसमें शुद्धता का अंश है। इस इन्द्रिय ज्ञान में तो शुद्धता का अंश है ही नहीं। क्या कहते हैं ? समझ में आया ? आहा...हा... !

इन्द्रियज्ञान में तो अतीन्द्रियज्ञान का विरोध है। इन्द्रियसुख में अतीन्द्रियसुख का प्रतिपक्ष है। आहा...हा... ! परन्तु यहाँ संक्षिप्त भाषा में समझाना है, इसलिए उसे गौण करके (ऐसा कहा) और वहाँ भी ऐसा कहा आहा...हा... ! ज्ञान है ही नहीं - शास्त्रज्ञान, वह शब्द ज्ञान है और नव तत्त्व की श्रद्धा है, वह श्रद्धा (है), वह नव तत्त्व है। उसका विषय है वह ऐसा है। ऐसा है यह जानना और चारित्र-व्यवहारचारित्र महाव्रत का विकल्प है। छह काय, वह चारित्र है (- ऐसा कहा) उसकी ओर झुका हुआ है, उसे चारित्र न लेकर छह काय वह चारित्र है (- ऐसा कहा है) आहा...हा... ! वह व्यवहार है, वह हेय है। आहा...हा... !

व्यवहार के बिना भी निश्चय होता है - ऐसा आता है न ? क्योंकि जहाँ अन्दर में यथाख्यात् स्थिर हो गया, तब तो व्यवहार है नहीं, अर्थात् व्यवहार नहीं है परन्तु स्व-आश्रय है तो वस्तु है। आहा...हा... ! और (नीचे के गुणस्थान में) स्व-आश्रय हुआ है और व्यवहार भी होता है, तथापि वह व्यवहार हेय है और जहाँ इस ओर पूर्ण हो गया तो वहाँ व्यवहार नहीं होता। व्यवहार बिना निश्चय होता है, निश्चय बिना व्यवहार नहीं होता। समझ में आया ? आहा...हा... !

स्व के आश्रय के ज्ञान और आनन्द के बिना व्यवहाररत्नत्रय को व्यवहाररत्नत्रय कहा ही नहीं जा सकता, वह वस्तु ही नहीं है। इसका (निश्चय का) वहाँ उपचार करके मोक्षमार्ग कहा है, वरना है तो वह बन्ध का मार्ग। आहा...हा... ! भगवान आत्मा ! जो पूर्णानन्द का नाथ, उसका जो आश्रय लिया... निश्चय स्व-आश्रित, व्यवहार पराश्रित; नियमसार में यह शब्द हैं। मूल वस्तु उसमें है। पराश्रित व्यवहार, वह सब हेय है आहा...हा... ! व्यवहारनय हेय है।

अध्यात्म पञ्च संग्रह में दीपचन्दजी ने कहा है कि यह (व्यवहार) हेय है परन्तु रखना; कारण कि भगवान है, उनकी पूजा है, उनका विनय है। बहुत एक दम (निश्चय) मत कर देना – ऐसा लिया है। क्योंकि व्यवहार हेय है और व्यवहार ऐसा है। (ऐसा कहा तो) भगवान की विनय करना, वह व्यवहार है, भगवान की वाणी सुनना – वह व्यवहार है। जरा ख्याल में रखना, परन्तु है वह छोड़ने योग्य। व्यवहार से व्यवहार पूज्य है, इतना लक्ष्य में रखना आहा...हा...! यह वहाँ अध्यात्म पञ्च संग्रह में कहा है और पद्मनन्दिपञ्चविंशति में कहा है। पद्मनन्दिपञ्चविंशति में श्लोक है कि व्यवहार पूज्य है – ऐसा पाठ है। वह व्यवहार से व्यवहार पूज्य है। है न! कहा है – पूज्य है। निश्चय से पूज्य नहीं है। आहा...हा...! भाई! कितने शब्द और कितनी अपेक्षाएँ! आहा...हा...! इसका साराँश क्या है कि स्व-आश्रय में जा! इसके बिना तुझे ज्ञान और सुख नहीं होगा भाई! आहा...हा...!

पूर्णानन्द का नाथ वहाँ है, उसके आश्रय से भले ही थोड़ा ज्ञान हो परन्तु वह थोड़ा (होता है), उसे भी विज्ञान कहते हैं। विज्ञान! चौदहवीं गाथा की टीका में कहा है। समझ में आया? स्व का-चैतन्यमूर्ति प्रभु का ज्ञान का ज्ञान भले ही थोड़ा हो परन्तु वह विज्ञान है। आहा...हा...! और इन्द्रियज्ञान है, वह चाहे इतना (अर्थात्) ग्यारह अङ्ग का ज्ञान हो तो भी वह शास्त्रज्ञान है। आहा...हा...! इसलिए वह हेय है।

श्रोता : जो हेय हो, उसका ज्ञान ही किसलिए कराया?

समाधान : (कहे) व्यवहार से कहा है। पाठ है, इसमें दोनों बात हैं न! मूर्त-अमूर्त ज्ञान और मूर्त-अमूर्त सुख। पाठ है या नहीं? **अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।** पदार्थों में-परपदार्थों में है, वह इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान है और स्व-पदार्थ भगवान आत्मा के आश्रय से है, वह अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान है। आहा...हा...! **अत्थेसु** है न? **अत्थेसु** अर्थात् क्या लिया है? **अर्थेषु** अर्थात् पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान। (अन्वयार्थ में) पहला शब्द है **अर्थेषु**। है न? पाठ में दूसरा (पद है) **अत्थेसु** – अर्थों से अर्थात् पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान। यह गाथा ज़रा ऐसी है। अर्थ अर्थात् पदार्थ सम्बन्धी, इस प्रकार पदार्थ सम्बन्धी इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख और ऐसे पदार्थ सम्बन्धी अतीन्द्रियज्ञान (और) अतीन्द्रियसुख। आहा...हा...!

कहो, यह सब पैसेवाले सुखी हैं? – ये मानते हैं कि हम सुखी हैं! यह महामूढ़ है। कहते हैं पागल है। यह पैसा, जड़-धूल-मिट्टी है और यह मानते हैं कि मेरे हैं, मैंने इकट्ठे किये हैं। जो जड़ मिट्टी है, उसे इसने कहाँ से इकट्ठा किया? तेरा अधिकार है परद्रव्य को मिलाने का? आहा...हा...!

श्रोता : इसका बोलवाला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका कुछ बोलवाला नहीं है, यह मरकर जानेवाला है नीचे। आहा...! पैसेवाले का बोलवाला! मरकर जायेगा कहीं का कहीं!

श्रोता : गरीब जात को तो कोई खड़ा भी नहीं रहने देता?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! गरीब को खड़ा रहने दे! बाह्य का गरीब और अन्दर का श्रीमन्त! वहाँ धर्म में खड़ा रह मुँह के आगे आहा...हा...! 'लहिभव्यता मोटु नाम' परमात्मा कहते हैं कि यह भव्य जीव है और समकिती है! फिर वह गरीब हो और दूसरा कोई हो तो भी अब तुझे दूसरा क्या चाहिए? कहते हैं आहा...हा...! 'लहिभव्यता मोटुं नाम' भगवान के हुकम में आया कि यह जीव मोक्षगामी है, अल्प भव में मोक्ष जायेगा! बस! दुनिया की मान्यता से अब तेरे क्या काम है? भगवान के ज्ञान में आया कि 'यह जीव अभव्य और नालायक है।' अब तुझे किसका अपमान चाहिए? तीन लोक के नाथ की वाणी में आया कि यह अभव्य है (इसके) जैसा अपमान क्या होगा? आहा...हा...! यह पहले नहीं आया? अभव्य है। अभव्य अर्थात् लायक नहीं – ऐसा, परन्तु कहा था अभव्य! कहा है अभव्य – ऐसा ख्याल है न! अभव्य है! जो कोई भगवान अरहन्त के सुख को और अतीन्द्रिय ज्ञान को नहीं मानता और वे आहार लें तब सुखी होते हैं, (इसलिए वे) आहार लेते हैं और रोग होवे तब दवा लेते हैं, तब ठीक होते हैं – (ऐसा जो मानते हैं) वे सब अभव्य हैं। कहते हैं कि अभव्य का अर्थ अभी लायक नहीं है, वह जीव अभव्य ही हो ऐसा कोई नहीं है। आहा...हा...! धर्म के लायक नहीं हैं आहा...हा...!

वहाँ पहला ज्ञान और सुख मूर्तरूप ऐसी क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियों से उस-उस प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने से.... खोटा है, **इसलिए गौण है – ऐसा समझकर वह हेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है...** आहा...हा...!

इन्द्रिय से ग्यारह अङ्ग का ज्ञान हुआ आहा...हा...! वह छोड़ने योग्य है और अन्दर (किञ्चित्- सा) अतीन्द्रियज्ञान हुआ (तो वह उपादेय है)। तुस-माष नहीं? शिवभूति मुनि! उन्हें द्रव्यश्रुत नहीं था, क्षयोपशम ज़रा भी नहीं था। द्रव्यश्रुत के शब्द के विकास की इतनी योग्यता नहीं थी; आहा...हा...! भावश्रुत था। आहा...हा...! द्रव्यश्रुत कुछ नहीं था, जरा भी नहीं था, याद करें, ऐसा नहीं था। मा-तुष, मा-रुष, यह भी याद नहीं रहा। मात्र इसका अर्थ स्वयं ने कर दिया था कि किसी अनुकूलता में सन्तोषित नहीं होना और प्रतिकूलता में अरुचि नहीं करना अर्थात् वीतरागता रखना। मा-तुष और मा-रुष यह शब्द भी भूल गये! अहा...! द्रव्यश्रुत तो इतना भी स्मरण में नहीं रहा। भावश्रुत - अन्दर आत्मा को स्पर्श करके जो ज्ञान हुआ... आहा...हा...! उस ज्ञान से एकदम केवलज्ञान को प्राप्त हुए। कोई बाई उड़द के छिलके निकाल रही थी, स्वयं मुनि वहाँ खड़े थे। दूसरी बाई ने पूछा बहिन क्या कर रही हो? (तो इसने कहा) तुष-माष; माष अर्थात् उड़द और तुष अर्थात् छिलका, इन्हें पृथक् कर रही हूँ। इतना शब्द जहाँ सुना वहाँ... ओ...हो... हो...! भगवान-माष अर्थात् उड़द जैसा! माष का पिण्ड प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और यह पुण्य-पाप का भाव विकल्प आदि है, वह छिलके हैं। आहा...हा...!

श्रोता : यह तो अनन्त में एक होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भले ही एक हो, यह तो होता है या नहीं? इसमें क्या है? मूल वस्तु तक पहुँच गया फिर उसे (द्रव्यश्रुत) कम हो, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...! समझ में आया? प्रयोजन तो आत्मा को स्पर्श कर और उसका सुख लेना, यह प्रयोजन है। धर्मी का धर्म-प्रयोजन तो यह है। यह प्रयोजन सिद्ध न हो और अकेले इन्द्रियज्ञान में रुक जाए तो हो गया...! आ...हा...! इस प्रकार यहाँ अतीन्द्रियज्ञान और सुख कहते हैं।

देखो, **दूसरा ज्ञान तथा सुख अमूर्तरूप...** (पहले कहा वह) मूर्त था, **ऐसी चैतन्यानुविधायी एकाकी आत्मपरिणामशक्तियों से....** देखा? आहा...हा...! (नीचे अर्थ दिया है) चैतन्यानुविधायी = चैतन्य के अनुसार वर्तनेवाली; चैतन्य के अनुकूलरूप से - विरुद्धरूप से नहीं वर्तनेवाली। आहा...हा...! क्या कहते हैं? अतीन्द्रिय भगवान

आत्मा, इसका ज्ञान जो है वह चैतन्यस्वभाव को अनुसकर होता है। कहीं सुनने इत्यादि इन्द्रिय के निमित्त से (होता है), यह कहीं है नहीं। आहा...हा..!

आहा...हा...! **आत्मपरिणामशक्तियों से.... चैतन्यानुविधायी एकाकी आत्मपरिणामशक्तियों से....** आहा...हा...! जिसमें किसी शब्द आदि का निमित्त भी नहीं है। आहा...हा...! **तथाविध अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार-परिणामों....** (अर्थात्) स्वाभाविक ज्ञानाकार परिणामों द्वारा; ज्ञानाकार अर्थात् ज्ञानस्वरूप आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुआ। **उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होने से....** आहा...हा...! जो आत्मा अखण्ड ज्ञान की मूर्ति प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, आहा...हा...! उसके आश्रय से जो ज्ञान और आनन्द हुआ, वह आत्माधीन-अत्यन्त आत्माधीन है। उसमें तो (इन्द्रियज्ञान और सुख में तो) इन्द्रिय का आधीनपना, पराधीनपना, हानिवृद्धि हो – ऐसा और किसी समय हो, ऐसा था। यह तो हुआ सो हुआ। आहा...हा...!

वस्तु है – अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की मूर्ति आत्मा है। यह अतीन्द्रियज्ञान है, वह अमूर्त है, उसका सुख भी अमूर्त है और वह अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य है। देखो, वह प्रगट होता है, वह नित्य सुख में से प्रगट होता है न! दूसरे प्रकार से कहें तो जो अतीन्द्रियसुख प्रगट हुआ है... आहा...हा...! वह कायम रहनेवाला है। समझ में आया? इन्द्रियसुख को तो हेय कहा, पराधीन कहा आहा...हा....! **....क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियों से उस-उस प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने से....** वह पराधीन है और यहाँ आत्माधीन होने से – ऐसा कहा है। अकेला आत्माधीन नहीं – **अत्यन्त आत्माधीन होने से** (कहा है) जिसे मन के विकल्प और मन की अपेक्षा भी नहीं है; आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु के आश्रय से हुआ, सुख आत्माधीन है और अत्यन्त आत्माधीन है। अत्यन्त आत्माधीन है...आहा...हा...!

श्रोता : गुरुदेव! यहाँ पर आत्मपरिणाम शक्तियों से और चिदाकार परिणामों द्वारा – इन दोनों में क्या अन्तर है?

समाधान : यह तो त्रिकाली की बात की है। यह **अतीन्द्रिय स्वाभाविक**

चिदाकार-परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ.... ऐसा कहा है न? वह परिणाम है-पर्याय है।

श्रोता : उसके द्वारा उत्पन्न होता है?

समाधान : अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही प्रगट होता है न! है तो अतीन्द्रिय त्रिकाल परन्तु अतीन्द्रिय परिणाम द्वारा वह प्रगट होता है। है, देखो न! **आत्मपरिणामशक्तियों से तथाविध अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार-परिणामों...** - ऐसी परिणाम की बात लेनी है न! अकेला अतीन्द्रिय है - ऐसा भी नहीं है।

श्रोता : दोनों परिणाम की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दोनों हैं न! **आत्मपरिणामशक्तियों से...** (अर्थात्) आत्मा के परिणाम की शक्ति से, वर्तमान अतीन्द्रिय परिणाम, वह **तथाविध अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार-परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ....** आहा...हा...! ऊपजा कैसे? उत्पन्न कैसे हुआ? कि तथाविध अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार-परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ। वास्तव में तो अतीन्द्रियज्ञान का अंश जिस त्रिकाली के आश्रय से परिणाम होकर परिणमा है, उस अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख की परिणति षट् कारक से हुई है। परिणति हुई, वह षट् कारक से परिणमित हुई है। आहा...हा...! वह परिणाम है, वह षट् कारक से परिणमित हुआ है। आहा...हा...! आत्मा तो मात्र उसमें निमित्त है। उपादान और मुख्य तो वह है। अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख पर्याय के षट् कारकरूप से परिणमित हुआ है, उसे यहाँ कहा है, **एकाकी आत्मपरिणामशक्तियों...** ऐसा। आत्मपरिणाम शक्ति, उस द्वारा **तथाविध अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार....** परिणमित होता है। परिणामशक्तियों द्वारा अपनी पर्याय में परिणमित होता है।

चिदाकार-परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ... आ...हा...हा...! **अत्यन्त आत्माधीन होने से...** आ...हा...हा...! **नित्य...** है। (वह) अनित्य है तो यह नित्य है। त्रिकाली नित्य है, वह तो (नित्य) है (परन्तु) यह तो प्रगट हुआ है और ऐसा का ऐसा रहनेवाला है। (इसलिए नित्य कहा है)। आहा...हा...! अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख का पिण्ड प्रभु आत्मा के परिणाम से जो उत्पन्न हुआ है... आहा...हा...! वह अतीन्द्रियज्ञान

और अतीन्द्रियसुख अत्यन्त आत्माधीन है, कायम रहनेवाला है। परिणाम आत्माधीन है न? परिणाम लेना है न? वे परिणाम आत्माधीन हैं। आत्माधीन अर्थात् वह आत्मारूप है – ऐसा नहीं। अतीन्द्रियज्ञान (और) सुख आत्मा के आधीन हैं – ऐसा स्व-तरफ का आश्रय हुआ और इसलिए आधीन है – (ऐसा कहा है)। जैसे यहाँ इन्द्रियाधीन कहा, उसी प्रकार वहाँ आत्माधीन है – ऐसी अपेक्षा से ऐसी बात है। वरना तो वह अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द का परिणाम जो प्रगट हुआ है, वह तो वास्तव में तो स्वद्रव्य के प्रति लक्ष्य किया है इतना; बाकी परिणति छहों कारक से उत्पन्न हुई है – ऐसा है। आहा...हा...! वह अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख कर्ता होकर स्वतन्त्ररूप से स्वयं द्रव्य के तरफ का लक्ष्य करता है – ऐसा जो उसका स्वभाव है। आहा...हा...! उन परिणामों से उत्पन्न हुआ आहा...हा...! **एकाकी आत्मपरिणामशक्तियों से...** और इस प्रकार **अतीन्द्रिय स्वाभाविक-चिदाकार-परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ....** आहा...हा...! बहुत गजब है न!

अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य है। अतीन्द्रियज्ञान और सुख तो पर्याय है। परिणाम से उत्पन्न हुआ है न? उत्पन्न हुआ है तो पर्याय है, आहा...हा...! परन्तु नित्य है। यहाँ टीका की ऐसी शैली है कि प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ, उससे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होगा ही। आहा...हा...! समझ में आया? एक ओर कहना कि केवलज्ञान सद्भूत व्यवहारनय का विषय है, एक ओर कहना कि केवलज्ञान की पर्याय हेय है! नियमसार! आ...हा...! क्या अपेक्षा है? बापू! केवलज्ञान और मतिश्रुतज्ञान और ऐसी सभी पर्यायें हेय हैं; एक त्रिकाली भगवान ही उपादेय है परन्तु यहाँ अतीन्द्रियज्ञान, आत्मा के आधीन होकर प्रगट हुआ है। आधीन हुआ है, वह स्वयं कर्ता होकर स्वतन्त्र आधीन हुआ है। आहा...हा...! ऐसी बात! व्यवहार के रसिकों को तो यह बहुत कठिन पड़ती है, एकान्त लगती है (परन्तु यह) वस्तुस्थिति है।

प्रभु! आत्मा भगवान है। भगवान है, उसके आश्रय से पर्याय प्रगट हुई, वह भगवान स्वरूप है आहा...हा...! अक्षय! अमेय! अक्षय (अर्थात्) क्षय नहीं हो और अमेय (अर्थात्) मर्यादारहित – ऐसा जो अतीन्द्रियज्ञान और सुख है, आहा...हा...! वह **युगपत्**

प्रवर्तमान... (अर्थात्) एक साथ है। इन्द्रियसुख में क्रम-क्रम से होता है (अर्थात्) पाँचों इन्द्रियों का सुख एकसाथ नहीं होता, ज्ञान नहीं होता, एक इन्द्रिय का हो तो दूसरी इन्द्रिय का नहीं होता। आहा...हा...! इसमें भी मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि क्रमिकज्ञान उपयोग से लेना है न! लब्धरूप भले ही हुआ हो परन्तु उपयोग में तो लाल रङ्ग को देखे, उस समय काले को नहीं देखता; काले को देखे, तब हरे को नहीं देखता। मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है भाई! क्रम से प्रवर्तमान! अन्दर विकास तो एक साथ हुआ है परन्तु वह उपयोग में क्रम-क्रम से ख्याल में आता है। आहा...हा...! ओ...हो...हो... ऐसा है।

युगपत् प्रवर्तमान... और **निःप्रतिपक्ष** (अर्थात्) इसके समक्ष कोई विरोध नहीं है आहा...हा...! अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष कोई प्रतिपक्ष नहीं है और **हानिवृद्धि** (अर्थात्) इसमें हानिवृद्धि नहीं है। आहा...हा...! अहानिवृद्धि! यह तो प्रगटा सो प्रगटा! आहा...! एक ओर कहना कि केवलज्ञान की पर्याय में भी षड्गुण हानिवृद्धि है। अगुरुलघु! आहा...हा...! वह दूसरी बात है, वह तो केवलज्ञान की महिमा का वर्णन है। बापा! ये सब तू जाने तो फिर केवलज्ञान का माहात्म्य क्या? आहा...हा...! समझ में आया? क्या कहा? (श्रोता) केवलज्ञान में सब ज्ञात होता है - (ऐसा) श्रुतज्ञान में ज्ञात हो जाए तो उसका माहात्म्य क्या?

मुझे दूसरा कहना है कि केवलज्ञान की पर्याय में ही एक समय में षड्गुण हानिवृद्धि है। अनन्तवें भाग, अनन्तवें गुणे, असंख्य भाग-असंख्य गुणे, संख्यभाग-संख्यगुणे, एक समय में...! कोई अलौकिक बातें हैं। आहा...हा...! केवलज्ञान की पर्याय में, पूर्णानन्द की पर्याय में... आहा...हा...! उसके पुरुषार्थ की एक समय की पर्याय में अगुरुलघु (गुण से) षड्गुण हानि-वृद्धि! आहा...! यहाँ तो षड्गुण हानि-वृद्धि एक समय में होती है। आहा...हा...! वह तो हानिवृद्धिरहित (कहा), इसे अन्दर षड्गुण हानि-वृद्धि है - ऐसा (कहना है) आहा...हा...! समझ में आया? **अहानिवृद्धि** है।

इसलिए.... मूल पाठ में **परं** शब्द है इसलिए यहाँ **मुख्य...** है... ऐसा कहा है। (अतीन्द्रियज्ञान और सुख) मुख्य है, इन्द्रियज्ञान और सुख वह गौण है। गौण और मुख्य की बात की है। आहा...हा...! समयसार के श्लोक भी बहुत गम्भीर हैं, यह तो सीधी

वीतराग की वाणी है। सन्तों... मुनियों... (ने प्रसिद्ध की है) आहा...हा...! कल एक स्थानकवासी साधु आया था, दोंडल संघ का एक साधु कल आया था। बेचारा नरम था। मैंने कहा – भाई! साधुपना – समकित तो कोई अलग चीज है (उसने कहा) सत्य बात है। समकित के अकाल है! नरम था, युवा साधु था। आहा...हा...! आपको साता है, ऐसा कहा, खड़ा रहा। इसीलिए मैंने कहा बापू! साधुपना कोई अलग चीज है; समकित कोई अलग चीज है। (उसने कहा) सत्य बात, समकित का अकाल है परन्तु अब जाये कहाँ बेचारा? क्या करे? आहा...हा...!

यहाँ (कहते हैं) अतीन्द्रियसुख और ज्ञान युगपत् प्रवर्तमान नित्य और प्रतिपक्षरहित और अहानिवृद्धि (स्वरूप है) हानिवृद्धि नहीं, वह जो उत्पन्न हुआ है, उसमें कुछ कमी नहीं होती; हानि (तो नहीं) फिर वृद्धि नहीं! वहाँ पूर्ण की अपेक्षा है। पूर्ण है, उसमें हानि नहीं और पूर्ण है, उसमें वृद्धि नहीं। आहा...हा...! आहा...हा...! यह अतीन्द्रिय आनन्द के अन्दर में साधक आ जाता है। आहा...हा...!

ऐसा समझकर उपादेय... (अर्थात्) मुख्य समझकर उपादेय, मुख्य समझकर **ग्रहण करने योग्य है।** आहा...हा...! समझ में आया? यह वीतराग की वाणी है बापा! आहा...हा...! सर्वज्ञ परमात्मा की साक्षात् सुनी हुई वाणी है। साक्षात् प्रगट हुई यह सब रचना है। आहा...! कुन्दकुन्दाचार्यदेव, भगवान के पास (गये थे, वहाँ से आकर) फिर यह शास्त्र रचे हैं। प्रवचनसार! दिव्यध्वनि! 'ओंकार दिव्यध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे' आहा...हा...! 'रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारै' आहा...हा...! ऐसे जीव यहाँ लिये हैं आहा...हा...! (समयसार की) पाँचवीं गाथा में तो यह कहा है कि प्रमाण करना! इसी प्रकार प्रवचनसार के अन्तिम दो श्लोक हैं (उसमें कहा है कि) आज ही! आज! कल नहीं। आहा...हा...! दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझा जा सकता है – भाई ने (श्रीमद्जी ने) कहा है न! आज ही कर। कहते हैं – जब से सुना तब से कर – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! कल.... कल.... फिर.... फिर.... करेगा तो बाद में पहला नहीं आयेगा। बाद में बाद का ही रहेगा आ...हा...हा...! दो श्लोक में आता है। 'आज' (शब्द आता है) आज कर! आज कर! प्रमाण कर! आ...हा...हा...! अनुभव करके प्रमाण कर! आहा...हा...! गजब बात है। यह बात कहाँ है?

उसे (इन्द्रियज्ञान और सुख को गौण कहा था) इसे (अतीन्द्रियज्ञान और सुख को) मुख्य कहा। इतना शब्द फेर है (मूल) पाठ में परम कहा, उसका अर्थ उत्कृष्ट करके मुख्य है – ऐसा कहा। आ...हा...हा...! पाठ में **परं** शब्द है न? वह परम आदरणीय है। **णेयमे णेयम** जानने योग्य है। आ...हा...हा...! इसमें फिर जरा (ऐसा कहा कि) इन्द्रियज्ञान और सुख गौण है, वह आदरणीय नहीं है अर्थात् हेय है और यह अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द उपादेय है। आ...हा...हा...! इसलिए वह मुख्य है। मुख्य है, इसलिए वह उपादेय है।

यहाँ दूसरा कहना है कि केवलज्ञान की पर्याय है, वह उपादेय है? पर्याय (उपादेय)? परन्तु दूसरे इन्द्रियज्ञान और सुख की अपेक्षा से इसे उपादेय (कहा है) वरना तो केवलज्ञान की पर्याय भी हेय है। नियमसार में (शुद्धभाव अधिकार की) पहली गाथा है भाई! आहा...हा...! गजब शैली है! (यहाँ कहते हैं कि) **उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है।** नियमसार में शुद्धभाव अधिकार की पहली गाथा! **जीवादिबहित्तच्चं... बहित्तच्चं** में केवलज्ञान भी बाह्य तत्त्व है। आहा...हा...! उसे हेयं कहा, परन्तु यहाँ प्रगट करने की अपेक्षा से उपादेय कहा है। प्रगटा है, इस अपेक्षा से उसे उपादेय कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आता है कुछ? कितने पहलू पड़ते हैं। अलौकिक चीज है।

पदार्थ – भगवान आत्मा उसके अनन्त... अनन्त... अनन्त... चैतन्य चमत्कारी गुण! आहा...हा...! उससे होनेवाले परिणाम, उस परिणाम से परिणमता हुआ आहा...हा...! नित्य है, प्रतिपक्षरहित है, हानिवृद्धिरहित है; इसलिए वह मुख्य है। अब ऐसा सब समझना – ऐसा है।

उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। आहा...! ओ...हो...हो...! पूर्ण की अपेक्षा से अभी यह बात है। पहले आ गया था न! पहले आ गया था कि यह बात पूर्ण की अपेक्षा से है। नहीं आया पहले? (४९ वीं गाथा के भावार्थ में अन्तिम) **यह कथन एकदेश ज्ञान की अपेक्षा से नहीं किन्तु पूर्णज्ञान की (केवलज्ञान की) अपेक्षा से है।** अन्दर से साधकपना निकालना वह भी है परन्तु मुख्य यह है। केवलज्ञान एक समय में तीन काल-तीन लोक को (जानता है) अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वभाव जो प्रभु

है, उसके आश्रय से हुआ (ज्ञान) अत्यन्त आत्मा के आधीन है और हानिवृद्धिरहित है। आ....हा...!

इसकी एक पर्याय में एक समय में षड्गुण हानिवृद्धि! अनन्तवें भाग बड़े और अनन्तगुणे बड़े, असंख्यवें भाग बड़े, असंख्यगुणे बड़े, संख्यगुणे बड़े और संख्यातभाग बड़े। आ...हा...हा...! और फिर अनन्त गुणहानि हो, असंख्य गुणहानि हो... हो...! यह पर्याय का कोई स्वभाव ऐसा है! यहाँ हानिवृद्धि नहीं है (ऐसा कहा) वह तो पर्याय कम-ज्यादा नहीं होती इस अपेक्षा से (कहा है) परन्तु पर्याय में ऐसी कोई सूक्ष्मता है। एक-एक पर्याय में षड्गुण हानि-वृद्धि की (सूक्ष्मता है) आहा...हा...! कि केवलज्ञान के बिना ज्ञात न हो - ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! इसलिए मति-श्रुतज्ञान हुआ है, वह ज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। 'धवला' में आता है कि बुलाता है! आ...आ...आ...! मैं अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करूँगा - ऐसा इसका अर्थ है। आहा...हा...! मति-श्रुतज्ञान हुआ, वह हुआ। आहा...हा...! हानिवृद्धिरहित कहा, वह तो पूर्ण की अपेक्षा से कहा परन्तु यह हुआ है वह पूर्ण को पायेगा। इस प्रकार यहाँ कहा गया है, समझ में आया? आहा...हा...! यह ५३ वीं गाथा (पूरी हुई)।

अतीन्द्रियसुख उपादेय है - ऐसा कहा तो अतीन्द्रियसुख का साधन अतीन्द्रियज्ञान है। अतीन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है, तब अतीन्द्रियसुख होता है। आहा...हा...! अतीन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रियसुख का साधन है। है तो एक समय में दोनों, परन्तु अतीन्द्रियज्ञान होता है, उसे अतीन्द्रिय आनन्द आता है। ज्ञान का अधिकार तो पूरा किया परन्तु यहाँ सुख के अधिकार में ऐसा लिया। यह है तो सुख का अधिकार।

अब, अतीन्द्रिय सुख का साधनभूत (कारणरूप) अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है - इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं - ऐसी गाथा है। (विशेष कहेंगे।) 1

गाथा – ५४

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति -

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं।।५४।।

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियं च प्रच्छन्नम्।
सकलं स्वकं च इतरत् तद्ज्ञानं भवति प्रत्यक्षम्।।५४।।

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रिय यत्प्रच्छन्नं च तत्सकलं स्वपरविकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव। तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु, द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु, क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीन-सूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टत्वं, प्रत्यक्षत्वात्। प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रति नियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत। अतस्तदुपादेयम् ।।५४।।

एवमधिकारगाथया प्रथमस्थलं गतम्। अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञानं विशेषेण व्यक्तीकरोति - **जं** यदतीन्द्रियं ज्ञानं कर्तृ। **पेच्छदो** प्रेक्षमाणपुरुषस्य जानाति। **किं किम्। अमुत्तं** अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागसदानन्दैकसुखस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूहं **मुत्तेसु अदिंदियं च** मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रियं परमाण्वादि। **पच्छण्णं** कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्नं व्यवहितमन्तरितं, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्नं, निर्विकारपरमानन्दैक-सुखास्वादपरिणतिरूपपरमात्मनो वर्तमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणां वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्नाः, तस्यैव परमात्मनः सिद्धरूपशुद्धव्यञ्जनपर्यायः शेषद्रव्याणां च ये यथासंभवं व्यञ्जनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूताः प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारप्रवृद्धिहानिरूपा अर्थपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते। **सयलं** तत्पूर्वोक्तं समस्तं ज्ञेयं द्विधा भवति। कथमिति चेत्। **सगं च इदरं** किमपि यथासंभवं स्वद्रव्यगतं इतरत्परद्रव्यगतं च। तदुभयं यतः कारणाज्जानाति तेन कारणेन **तं णाणं** तत्पूर्वोक्तज्ञानं **हवदि** भवति। कथंभूतम्। **पच्चक्खं** प्रत्यक्षमिति। अत्राह शिष्य :- ज्ञानप्रपञ्चाधिकारः पूर्वमेव गतः, अस्मिन् सुखप्रपञ्चाधिकारे

सुखमेव कथनीयमिति। परिहारमाह - यदतीन्द्रियं ज्ञानं पूर्वं भणितं तदेवाभेदनयेन सुखं भवतीति ज्ञापनार्थं, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा। एवमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थलं गतम् ।।५४।।

अब, अतीन्द्रियसुख का साधनभूत (कारणरूप) अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है – इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं –

जो देखता मूर्तिक-अमूर्तिक, अतीन्द्रिय अरु प्रच्छन्न को।
देखता है स्व रु पर को, प्रत्यक्ष होता ज्ञान वो॥

अन्वयार्थ – **[प्रेक्षमाणस्य यत्]** देखनेवाले का जो ज्ञान **[अमूर्त]** अमूर्त को, **[मूर्तेषु]** मूर्त पदार्थों में भी **[अतीन्द्रियं]** अतीन्द्रिय को, **[च प्रच्छन्नं]** और प्रच्छन्न को, **[सकलं]** इन सबको – **[स्वकं च इतरत्]** स्व तथा पर को-देखता है, **[तद् ज्ञानं]** वह ज्ञान **[प्रत्यक्षं भवति]** प्रत्यक्ष है।

टीका : जो अमूर्त है, जो मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय है, और प्रच्छन्न[1] है, उस सबको – जो कि स्व और पर इन दो भेदों में समा जाता है, उसे अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है। अमूर्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि; मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादि; तथा द्रव्य में प्रच्छन्न काल इत्यादि (द्रव्य अपेक्षा से गुप्त ऐसे जो काल धर्मास्तिकायस वगैरह); क्षेत्र में प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश इत्यादि; काल में प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (अतीत-अनागत) पर्यायें तथा भाव-प्रच्छन्न स्थूल पर्यायों में अन्तर्लीन[2] सूक्ष्म पर्यायें हैं, उन सबका जो कि स्व और पर के भेद से विभक्त हैं, उनका वास्तव में उस अतीन्द्रिय ज्ञान के दृष्टापन है; (अर्थात् उन सबको वह अतीन्द्रिय ज्ञान देखता है) क्योंकि वह (अतीन्द्रिय ज्ञान) प्रत्यक्ष है। जिसे अनन्त शुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ है, ऐसे चैतन्यसामान्य के साथ अनादिसिद्ध सम्बन्धवाले एक ही 'अक्ष'[3] नामक आत्मा के प्रति जो नियत है (अर्थात् जो ज्ञान, आत्मा के साथ ही लगा हुआ है – आत्मा के द्वारा सीधा प्रवृत्ति करता है), जो (इन्द्रियादिक) अन्य सामग्री को नहीं ढूँढता और जो अनन्तशक्ति

१. प्रच्छन्न = गुप्त; अन्तरित; ढका हुआ।
२. अन्तर्लीन = अन्दर लीन हुए; अन्तर्मग्न।
३. अक्ष = आत्मा का नाम 'अक्ष' भी है। (इन्द्रियज्ञान अक्ष = अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जानता है; अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अक्ष अर्थात् आत्मा के द्वारा ही जानता है।)

के सद्भाव के कारण अनन्तता को (बेहदता को) प्राप्त है, ऐसे उस प्रत्यक्ष ज्ञान को - जैसे दाह्याकार दहन का अतिक्रमण नहीं करते उसी प्रकार ज्ञेयाकार ज्ञान का अतिक्रम (उल्लङ्घन) न करने से यथोक्त प्रभाव का अनुभव करते हुए (उपर्युक्त पदार्थों को जानते हुए) कौन रोक सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं रोक सकता।) इसलिए वह (अतीन्द्रिय ज्ञान) उपादेय है॥ ५४॥

प्रवचन नं. ५४ **दिनाङ्क ०१ मार्च १९७९**

अब, अतीन्द्रियसुख का साधनभूत.... अर्थात् कारण, अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति होती है, वह अतीन्द्रियज्ञान से होती है। आहा...! **अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है।** ऐसा अतीन्द्रियज्ञान हो, वह उपादेय है। ज्ञान की मुख्यता से बात की है। ज्ञान का अधिकार हो गया है। अब सुख का अधिकार कहते हैं। ज्ञान है... अतीन्द्रियज्ञान है, वह अतीन्द्रिय आनन्द का साधन है।

श्रोता : एक गुण की पर्याय, दूसरे गुण की पर्याय का साधन है ?

समाधान : साधन है। निमित्त है न! निमित्त-साधन। निमित्तरूप साधन है। एक गुण दूसरे गुण को निमित्त है; एक पर्याय को दूसरी पर्याय निमित्त है - इस अपेक्षा से साधन कहा है।

यहाँ तो यह बतलाना है कि अभी तो पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की बात है, उसकी प्राप्ति अतीन्द्रियज्ञान से होती है। अन्तर ज्ञायक.... **जीवादि बहितच्चं हेयं** - जीव, अजीव (आस्रव), संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष - इन पर्यायों को भी हेय करके (जिसे) त्रिकाली आत्मा उपादेय है, उसे, अर्थात् साधक को अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द आता है परन्तु थोड़ा (आता है।) यहाँ तो पूर्ण की बात है। अहा...हा...!

यह ज्ञान स्वरूप है। प्रभु! यह अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप ही है और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है - यह प्रभु! इसे अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्ण प्राप्ति के लिए अतीन्द्रियज्ञान का साधन है। इस प्रकार साधन, अर्थात् निमित्त है। यह तो व्यवहार को साधन कहते हैं

न! व्यवहार साधन और निश्चय साध्य – इसका अर्थ कि वहाँ निमित्त है, ऐसा – **दुविहंपि मोक्ख हेउ झाणं पाउणदि जं मुणी णियमा।** निश्चय है (यानि कि) जहाँ स्वद्रव्य का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि प्रगट हुए, वह निश्चय है और उस काल में राग शेष है, उसे व्यवहार साधन कहते हैं। साधन का अर्थ निमित्त है – ऐसा। समझ में आया? व्यवहार को साधन कहते हैं, निश्चय को साध्य कहते हैं – इसका अर्थ इतना-सा है। वहाँ वह निमित्त है। एक वस्तु है, उसे यहाँ साधनरूप कहा है। उसे ऐसा मान ले कि यह व्यवहार साधन है, इसलिए व्यवहार से निश्चय हो जाएगा तो ऐसा नहीं है, क्योंकि उसे व्यवहार तब कहा जाता है, जहाँ निश्चय का आश्रय लेकर आंशिक दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए हों और किञ्चित् राग शेष हो, उसे व्यवहार कहते हैं। आहा...हा...! अज्ञानी के राग के भाव को व्यवहार नहीं कहते। आहा...हा...!

यहाँ तो शिष्य ने प्रश्न यह किया है कि आपने ज्ञान की बात तो पूर्ण कर दी। इसमें है न भाई! टीका में है। फिर वापिस यहाँ ज्ञान क्यों लिया? (आपने) ज्ञान अधिकार तो पूर्ण कर दिया, अब सुख का अधिकार शुरु करते हुए वापस ज्ञान (क्यों लेते हो?) तो (कहते हैं कि) ज्ञान – यह ज्ञान, अतीन्द्रियसुख का कारण है – ऐसा बताने के लिये यहाँ लिया है। आहा..हा...!

सम्यग्दर्शन, सम्यक्श्रुतज्ञान – भाव हो, उसमें भी द्रव्यस्वभाव का (आश्रय है।) अतीन्द्रिय जो द्रव्य है, उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन होता है, वह भी अतीन्द्रिय (स्वभाव के) आश्रय से होता है और सम्यग्दर्शन, वह स्वयं इन्द्रियजन्य बात नहीं है। आहा...! (वह) अतीन्द्रिय है। आ...हा...हा...!

एक आर्यिका है न! वह यह लिख रखती है – बहुत समय से कहती है कि **अज्ज वितिरयण सुद्धा** – साधु हैं! भावलिङ्गी हैं, उन्हें नहीं माननेवाले अज्ञानी हैं। अरे प्रभु! यह मोक्षपाहुड़ (गाथा-७७) में आता है न! **अज्ज वि तिरयणसुद्धा** – अर्थात् कि वह साधु स्वर्ग में जाकर, फिर मोक्ष जाएगा... परन्तु जो साधु हो, वह (जाएगा) न! मोक्षमार्गप्रकाशक में साधु का लक्षण कहा है, उनके लक्षण देखकर मानना या हंस नहीं हैं तो कौए को हंस मान लेना? मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है। आहा...हा...! अरे...!

साधुपना किसे कहना? बापा! वह तो अलौकिक बात! अभी तो व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। आज (लेख) आया है।

यहाँ कहते हैं कि अतीन्द्रिय सुख का कारणरूप - निमित्तरूप, **अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है।** एक गुण से दूसरा गुण नहीं होता। समझ में आया? एक गुण से एक गुण की पर्याय होती है; दूसरे गुण से उस गुण की पर्याय होती है। एक गुण को दूसरा गुण निमित्त कहलाता है। उपादान तो (स्वयं का) गुण है, उसमें से (पर्याय) होती है। आहा...हा...! फिर साधन क्यों कहा? (क्योंकि) वह निमित्त है। अतीन्द्रियआनन्द के समय अतीन्द्रियज्ञान होता है और उससे अतीन्द्रिय (आनन्द) होता है। इस प्रकार निमित्त से कथन है।

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं।।५४।।

जो देखता मूर्तिक-अमूर्तिक, अतीन्द्रिय अरु प्रच्छन्न को।
देखता है स्व रु पर को, प्रत्यक्ष होता ज्ञान वो॥

टीका : जो अमूर्त है, जो मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय है.... आहा... हा...! परमाणु आदि आगे कहेंगे; और जो **प्रच्छन्न है...** (अर्थात्) गुप्त-ढँका हुआ है। इसकी व्याख्या करेंगे, प्रच्छन्न की (व्याख्या करेंगे)। **उस सबको...** उस समस्त को अर्थात्? अमूर्त को और मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय है, उसे (अर्थात्) कालाणु और परमाणु आदि; **और जो प्रच्छन्न है,** काल से और भाव से। भूत-भविष्य की पर्याय प्रच्छन्न है न! और भाव से अगुरुलघु आदि लेंगे। **उस समस्त को जो कि स्व और पर इन दो भेदों में समा जाता है...** स्व और पर में सब आ जाता है, उस स्व को भी जानता है और पर (कि) जो त्रिकाल अतीन्द्रिय वस्तु (है), उसे भी जानता है। **उसे अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है।** अब स्पष्टीकरण करते हैं। यह तो शब्दार्थ किया है।

श्रोता : ज्ञान देखता है या ज्ञान जानता है?

समाधान : देखता है, जानता है। - यह सब एक ही साथ देखता है न! ऐसा ही कहा जाता है न! श्रद्धता है, वहाँ देखता है और श्रद्धा है - ऐसा कहा जाता है - किस

अपेक्षा से ? देखता है, अर्थात् तत्त्व की श्रद्धा करता है। वहाँ श्रद्धा करता है ऐसा (अर्थ है।) यहाँ देखता है अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होता है, उसे दर्शन में दिखता है – ऐसा लेना। दर्शन अर्थात् श्रद्धा नहीं। दर्शन उपयोग। आहा... ! दोनों अलग बात है। आहा...हा... !

अमूर्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि.... देखो, इन्हें भी अतीन्द्रियज्ञान जानता है, कि जो ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द का साधन है। आहा...हा... ! यह पूरे / पूर्ण (ज्ञान की) बात है, वरना अपूर्ण में भी सम्यग्दर्शन है। उस अतीन्द्रिय आत्मा को पकड़ने से सम्यग्दर्शन होता है। आहा... ! और उस सम्यग्दर्शन के समय अतीन्द्रिय आनन्द भी व्यक्त-प्रगट होता है। वह तो प्रगट होता है परन्तु जितने गुण हैं, उनका एक अंश प्रगट होता है। श्रीमद् में आता है न! 'सर्व गुणांश, वह समकित।' दूसरा रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है – छद्मस्थ को ज्ञानादि एकदेश प्रत्यक्ष हैं (और) केवली को पूर्ण (प्रत्यक्ष) है।

आहा...हा... ! ऐसा जो अमूर्त भगवान आत्मा! वह अमूर्त को-अपने को भी जानता है। आहा...हा... ! स्व और पर कहा है न! अमूर्त है अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णरहित वस्तु है, उसे वह ज्ञान अपने अमूर्तस्वरूप को जानता है और दूसरे अमूर्त जो धर्मास्तिकायादि हैं, उन्हें भी जानता है। आहा...हा... !

मूर्त पदार्थों में भी अतीन्द्रिय ऐसे जो परमाणु इत्यादि.... परमाणु है, वह अतीन्द्रिय है। वह इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं होता। एक रजकण-अन्तिम पॉइन्ट (है), उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है। आहा...हा... ! अतीन्द्रियज्ञान, परमाणु को भी जानता है। यहाँ तो अभी अतीन्द्रिय पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा बात है। नीचे के गुणस्थानों में श्रुतज्ञान होता अवश्य है, वह भी अतीन्द्रिय है। (शुद्ध) भाव है, वह भी परोक्षरूप से इन स्व को और पर को सबको जानता है परन्तु अल्प है। उसे उपयोग में क्रम पड़ता है और यह तो अक्रम एक समय में अनन्त ज्ञान, आनन्द! अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त आनन्द! आहा...हा... !

कारण कि जगत् के प्राणियों को आनन्द का हेतु है न! सुखी होना है न ? किसी भी प्रकार से सुखी होना है। प्राण त्याग दे, ज़हर खाये तो भी इसे सुखी होना है, (इसलिए ज़हर पीता है।) प्रतिकूलता आ पड़े या कुछ सहन न हो तो ज़हर पीता है। (इसमें) हेतु तो यह है कि इससे मुझे मुक्त होना है, सुखी होना है। आहा...हा... ! यह कोई उपाय नहीं

है परन्तु करता है न? मानता है न? बड़ा सेठ हो तो भी ज़हर पीता है। आहा...हा...! अहमदाबाद में सेठिया हो गया न? कुछ बराबर नहीं चला, इसलिए ज़हर पीकर मर गया। आहा...हा...! केरोसीन आदि से जलकर मर जाते हैं न! कोई सहज मर जाए - यह अलग बात है। यह तो स्वयं केरोसीन छिड़ककर जले। (इसका अर्थ) यह है कि इतनी प्रतिकलता आयी हो तो इसे ऐसा (है) कि इतनी प्रतिकूलता मुझसे सहन नहीं होगी, इसलिए इससे छूटकर सुखी होऊँगा, परन्तु छूटकर भी कहाँ कहीं मौसी बा बैठी है? आहा...हा...! जो ऐसे परिणाम करते हैं, वे तो दुर्गति में जाकर अधिक दुःखी होंगे।

बहुत से माँस नहीं खाते हों तो वे तिर्यञ्च में जाएँगे, माँस-शराब आदि का सेवन करते हों तो मरकर नरक में जानेवाले हैं। आहा...हा...! कठोर काम है। यदि मनुष्यपने में पुण्य का भाव विशेष न हो और पूरे दिन पाप ही हों तब तो इसका कुछ ठिकाना नहीं है। सम्यग्दर्शन तो नहीं, परन्तु जिसे पुण्य - दया, दान, व्रतादि परिणाम, धर्म प्रभावना के परिणाम - ऐसे एक-आध घण्टे आवें, उसमें क्या हुआ? तेईस घण्टे दूसरा (अर्थात् पाप) चलता है - यह तो ऐसा कि एरन चोरी और सुई का दान!

श्रोता : तो हमें धन्धा छोड़ देना चाहिए - यह कहना चाहते हो?

समाधान : धन्धा छोड़ दे या न छोड़ दे, परन्तु दो-चार घण्टे शास्त्र-वाँचन, सत्शास्त्र, सत्समागम तो करना चाहिए या नहीं? पूरे दिन अकेले पाप में बाईस घण्टे निकालता है! लड़का-लड़की न हो, वह भी उसमें घुस जाता है। आहा...हा...! अन्त में तो अकेला है। अभी से अब मेरा क्या होगा? - ऐसा यदि अभी करेगा तो किसी के साथ सम्बन्ध में नहीं रहेगा। व्यापार का सम्बन्ध करता है - यह अपनी ममता से करता है। मानता है कि इस पुत्र के लिए किया परन्तु बात तो (ऐसी है कि) ममता है, इसलिए (करता है।) आहा...हा...!

श्रोता : लड़कों को शिक्षित तो करे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़कों को सिखाने के लिए नहीं (करता), ममता के लिए (करता है।) लड़का पढ़े और पाप करके पैसा खर्च करे - अकेला पाप है। पाप करके पैसा इकट्ठा किया है और (लड़कों को) पढ़ाया है - यह भी पाप! यह तो वस्तु की स्थिति

ऐसी है। बापू! क्या हो? अरे...! अनादि का अकेला है, इसे इसके स्वयं के धर्म के परिणाम होना – यह तो बहुत कठिन (है।) असक्य जैसा तो नहीं, परन्तु दुर्लभ तो है परन्तु इसे अच्छे परिणाम के संस्कार डालना (चाहिए।) आहा...हा...! और जिससे उसमें चार-पाँच घण्टे, पाँच-छह घण्टे पुण्य बँधता है। समझ में आता है?

श्रोता : आप एक घण्टा तो रखो!

पूज्य गुरुदेवश्री : एक घण्टे में भला क्या होगा? तेईस घण्टे अकेले पाप के योद्धा! और एक घण्टा पतला (पुण्य)! वहाँ भी हमारे पालेजवाले कुछ नहीं करते और फिर उनकी बा ने कहा कि 'महाराज! इसे कुछ कहो', एक घण्टा तो पढ़े! व्यापार बड़ा, निवृत्ति नहीं मिलती। बड़े गोदाम भरे हुए, ऐसे चावल भरे हुए, बड़ी दुकानें! तीन लड़कों को तीन दुकानें हैं। अब, निवृत्ति नहीं मिलती। सबेरे पौन घण्टा जाते होंगे। घर का मकान है, घर की दुकान है, पैसेवाले हैं। चालीस लाख रुपये हैं। शामिल थे, तब तीन-चार लाख की आमदनी थी। अब थोड़ी हो गयी है। एक अरब का कारखाना करते हैं। दश हजार-बीस हजार मनुष्य – ये बढ़ेंगे परन्तु इसमें अधिक रच-पच जाएँगे। आहा...! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि अमूर्त धर्मास्ति आदि को जानता है (और) मूर्त में भी अतीन्द्रिय परमाणु, कालाणु इत्यादि को (जानता है।) कालाणु है न कालाणु! भगवान, ज्ञान में उसे जानते हैं। **द्रव्य से प्रच्छन्न ऐसे जो काल इत्यादि....** यहाँ काल आया। आहा....! **काल इत्यादि (द्रव्य अपेक्षा से गुप्त – ऐसे जो काल, धर्मास्तिकाय इत्यादि...)** अरूपी कालद्रव्य गुप्त है न!

श्रोता : इन्द्रियों द्वारा नहीं दिखता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, इन्द्रियों द्वारा उसे नहीं जाना जाता। **....क्षेत्र से प्रच्छन्न – ऐसे जो अलोकाकाश के प्रदेश...** आहा...हा...! यहाँ का ऐसा ज़रा दिखता है कि है (परन्तु यह तो) अलोकाकाश के प्रदेशों को भी देखता है। आहा...हा...! इसका स्वभाव ही इतना है। तीन काल-तीन लोक को, स्व-पर को जानना – इतना स्वभाववाला है। इतना तो यह विशाल है! इससे कुछ विशेष नहीं। तीन काल-तीन लोक को जाने और स्व-पर को जाने – यह कोई विशेष नहीं, यह तो इसका स्वरूप ही ऐसा है। आहा...हा...!

'शुद्धभाव अधिकार' में तो सम्यग्दर्शन की बात ली है। **जीवादिवहितच्चंहेयं** – आहा...हा...! जीव की पर्याय, वहाँ अजीव का ज्ञान हो, उसे वहाँ अजीव कहते हैं, फिर पुण्य-पाप, आस्रव और बन्ध और संवर, निर्जरा और केवलज्ञान-मोक्ष – ये सब बहिर्तत्तव हैं; एक-एक समय का तत्त्व है, बहिर्तत्त्व है। आहा...हा...! **उपादेयमप्पणो अप्पा** – आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड अरूपी अतीन्द्रिय... आहा...हा...! – यही सम्यग्दर्शन में आदरणीय है। बापू! यह उपादेय है। आहा...हा...! जिसे परमपारिणामिकभाव कहते हैं। फिर कुछ शब्द है न! **कम्मोपाधिसमुद्भव** – यह गाथा में है, अर्थात् कि निमित्त है तो यह नहीं, अर्थात् जिसमें कर्म का निमित्तपना है, यह नहीं। (जिसमें) निमित्त का अभाव है, वह क्षायिकभाव आदि भी नहीं। ज्ञायक त्रिकाली परम स्वभावभाव! (यही एक उपादेय है।) आहा...हा...! कारण कि संवर, निर्जरा और मोक्ष में क्षयोपशमभाव और क्षायिकभाव तो आ गया। आहा...हा...! निमित्त हो और निमित्त का अभाव – ऐसी जो अपेक्षा है, इस रीत से भी भिन्न है। आहा...हा...! शुद्ध परम पारिणामिकभाव जिसका लक्षण, ऐसा जो निज तत्त्व भगवान आत्मा, वह धर्मी को-समकिती को उपादेय है। आहा...हा...! उसे जो रागादि आवे, परन्तु यह सब हेय है। आहा...हा...! यहाँ पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान की बात चलती है।

काल में प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (अतीत-अनागत) पर्यायें.... काल अर्थात्? वर्तमान पर्याय, सम्प्रत-वर्तमान है परन्तु भूत और भविष्य की पर्यायें प्रच्छन्न-ढँकी हुई है, उन्हें भी जानता है। (असाम्प्रतिक का अर्थ नीचे है) असाम्प्रतिक = अतात्कालिक; वर्तमानकालीन नहीं ऐसे; अतीत अनागत को जानता है। आहा...हा...! अनन्त काल पश्चात् अनन्त... अनन्त... पर्यायें होंगी... अनन्त काल पश्चात् भी जो अनन्त... अनन्त... पर्यायें होंगी, वे सब काल प्रच्छन्न हैं, उन्हें सर्वज्ञ जानते हैं। आहा...हा...! ऐसी तो उनकी ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य है! उसके कारण साथ ही अतीन्द्रिय आनन्द भी होता है। समझ में आया?

इस प्रकार सम्यग्दर्शन में भी अतीन्द्रिय आत्मा को पकड़ने से जो सम्यग्ज्ञान होता है उस ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द भी होता है। आहा...हा...! समझ में आया? अनन्त

गुण के अंश प्रगट होते हैं आहा...हा...! उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, उसे सम्यग्ज्ञान-भावश्रुतज्ञान कहते हैं। आ...हा...!

असाम्प्रतिक पर्यायें... अर्थात् वर्तमान के अतिरिक्त, भूत-भविष्य की पर्यायें। **भाव-प्रच्छन्न स्थूल पर्यायों में अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें हैं,...** (अर्थात्) अगुरुलघु (गुण की) सभी षट्गुण हानिवृद्धि! आहा...हा...! स्थूल पर्याय अर्थात् एक-एक समय की पर्याय है परन्तु इसके अन्दर षट्गुण हानिवृद्धिवाली पर्याय सूक्ष्म है। आहा...हा...! उसे भी अतीन्द्रियज्ञान जानता है। आहा...हा...!

स्थूल पर्यायों में अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें हैं,.... स्थूल अर्थात् एक समय की पर्याय है और उसमें जो अगुरुलघु गुण की षट्गुण हानिवृद्धि की पर्याय है, वह सूक्ष्म है। आहा...हा...! एक समय की पर्याय है, वह तो स्थूल है और उसमें अगुरुलघु से जो षटगुण हानिवृद्धि होती है, वह कोई सूक्ष्म है। उस सबको भगवान का अतीन्द्रियज्ञान जानता है। आहा...हा...! समझ में आया?

स्थूल पर्यायों में अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें हैं,.... इस स्थूल पर्याय का अर्थ इतना है -एक समय की जो पर्याय है, वह स्थूल है। आहा...हा...! और इस पर्याय में अगुरुलघु षड्गुण हानिवृद्धि सूक्ष्म है, वह अन्तर्लीन है। आहा...आहा....हा...!

उन सबका जो कि स्व और पर के भेद से विभक्त हैं.... (अर्थात्) स्व के द्रव्य-गुण-पर्याय और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय और इन स्व और पर की वर्तमान एक पर्याय में भी सूक्ष्म अगुरुलघु गुण की पर्याय - इन सबको वह जानता है। **स्व और पर के भेद से विभक्त हैं, उनका वास्तव में उस अतीन्द्रिय ज्ञान के दृष्टापन है...** आ...हा...! देखा? यहाँ देखता है (- ऐसा लिया है) ज्ञान पूर्ण देखता है। आहा...हा...! उसका जहाँ माहात्म्य आया, उसे इन्द्रिय का ज्ञान और इन्द्रिय के सुख की बुद्धि उड़ जाती है। आहा...हा...! चक्रवर्ती के छह खण्ड का राज्य होता है, जिसकी एक रानी की हजार देव सेवा करते हैं... रानी की! ऐसी दूसरी साधारण छियानवें हजार रानियाँ हैं। आहा...हा...! चक्रवर्ती की एक दासी होती है, ऐसी दासी की स्वयं गद्दी में बैठे तब करोड़ रुपयों का अरबों का हीरा हो, (उसे) हाथ से ऐसा (चूरा) कर दे! ऐसी तो उस बाई की शक्ति होती

है। ऐसे तो उसके घर नौकर / बाई होती है। वह बाई जब गद्दी पर बैठती है, तब हीरा का चाँदला करती है। हीरा को जमीन पर डालकर हीरा का चाँदला करती है। आहा...हा...!

श्रोता : आप ऐसा कहते हो, तब हीरा की बहुत कीमत बहुत बढ़ जाती है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब इन्द्रियसुख है, वह दुःख है। इन्द्रियज्ञान पराधीन है, इन्द्रियसुख पराधीन है। आहा...हा...! भगवान तो अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द से भरपूर है न! आहा...! कहाँ से प्रगट होता है ? है उसमें से प्रगट होता है। आहा...हा...! प्रभु तेरी महासत्ता (ऐसी है) आहा...हा...! सब होकर महासत्ता कहते हैं, वह मिथ्यावस्तु है। यह तो आत्मा की महासत्ता, अनन्त गुण और अनन्त पर्याय की ऐसी महासत्ता को - स्व और पर को अतीन्द्रियज्ञान प्रच्छन्न को, भूत-भविष्य को, प्रच्छन्न काल आदि परमाणुओं को आ...हा...! और सूक्ष्म अगुरुलघु की षड्गुणी की वृद्धि पर्याय, हीनपर्याय एक समय में होती है! उसे तो सर्वज्ञ भगवान का अतीन्द्रियज्ञान पूर्ण जानता है। आहा...हा...! प्रभु तू ऐसा है! आहा...हा...! पामररूप में माना है न! पर्याय में पामररूप माने, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द के आदर में पूर्ण दशा नहीं है; इसलिए पर्याय में पामर माने। यह तो द्रव्य में पामर हूँ, मैं तो भिखारी हूँ (- ऐसा मानता है)! ईश्वर का अंश हूँ, कोई फिर ऐसा मानता है, लो न! आहा...हा...! तू पूर्ण ईश्वर है (दूसरा कोई तेरा) ईश्वर धूल भी नहीं है। एक-एक गुण से ईश्वर ऐसे अनन्त गुण से ईश्वर पूरा तू है। आहा...हा...! तेरे ज्ञान और आनन्द के लिये इन्द्रियों और परपदार्थ की अपेक्षा नहीं है।

ऐसा जो ज्ञान है, उसे **दृष्टापन है...** सबको देखता है **अर्थात् उन सबको वह अतीन्द्रिय ज्ञान देखता है, क्योंकि वह (अतीन्द्रिय ज्ञान) प्रत्यक्ष है।** यह कारण दिया। यह तो पाठ में है, प्रत्यक्ष है! भविष्य की अनन्त... अनन्त... पर्यायें होंगी और एक-एक द्रव्य की भूतकाल की अनन्त पर्यायें हो गयीं, उन्हें वर्तमान प्रत्यक्ष (जानता है)। यह अपने आ गया है। वे असद्भूत होने पर भी ज्ञान में प्रत्यक्ष है; इसलिए विद्यमान है। आहा...हा...! बात बहुत बड़ी है भाई!

आहा...! आत्मा इतना महान है कि एक-एक गुण से ईश्वर है। ऐसे तो अनन्त गुण से ईश्वर है, अनन्त ईश्वर का धारक है। आहा...हा...!

श्रोता : प्रत्येक गुण ईश्वर ?

समाधान : प्रत्येक गुण में ईश्वरता है, प्रत्येक गुण में ईश्वरता और पर्याय में भी ईश्वरता है। आहा...हा...! उसकी पर्याय भी स्वतन्त्र निज प्रताप से शोभित है। आहा...हा..! ऐसा जो भगवान आत्मा, वह अतीन्द्रियज्ञान से सब जानता है (ऐसा) कहते हैं।

जिसे अनन्त शुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ है,.... जिसे अनन्त शुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ है। देखा? शक्ति में से व्यक्ति (प्रगट हुई)। **ऐसे चैतन्यसामान्य के साथ अनादिसिद्ध सम्बन्धवाले....** आ...हा...! चैतन्यसामान्य जो त्रिकाली है, उसे अतीन्द्रिय शक्ति का सद्भाव प्रगट हुआ है, (अर्थात्) शक्ति है, उसमें से पर्याय प्रगट हुई है; प्राप्त की प्राप्ति है। अन्दर पूर्ण है, वह प्राप्त हो गया है। भगवान को एक समय में प्राप्त हो गया है। आहा...हा...!

ऐसे चैतन्यसामान्य के साथ अनादिसिद्ध सम्बन्धवाले एक ही 'अक्ष'[3] नामक आत्मा... (अक्ष का) नीचे अर्थ किया है। अक्ष = आत्मा का नाम 'अक्ष' भी है। (इन्द्रियज्ञान अक्ष = अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जानता है; अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अक्ष अर्थात् आत्मा के द्वारा ही जानता है।) इन्द्रिय को अक्ष कहा तो इन्द्रिय द्वारा जानता है। यहाँ तो आत्मा द्वारा जाने उसे अतीन्द्रिय कहते हैं। **'अक्ष' नामक आत्मा के प्रति जो नियत है (अर्थात् जो ज्ञान आत्मा के साथ ही लगा हुआ है....** आहा...हा...! ज्ञानस्वभाव आत्मा के साथ लगा हुआ है - तादात्म्य है। **आत्मा के द्वारा सीधा प्रवृत्ति करता है....** उसे किसी इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा चैतन्य भगवान! आहा...हा...! **जो इन्द्रियादि अन्य सामग्री को नहीं ढूँढता....** अतीन्द्रिय ज्ञान। यह इन्द्रिय हो तो ठीक, यह मन हो तो ठीक अथवा मेरे समक्ष पदार्थ हो तो ठीक, यह सब अतीन्द्रियज्ञान नहीं ढूँढता। आहा...हा...! अतीन्द्रिय ज्ञान तो सामने हो - न हो; भूत-भविष्य की समस्त पर्यायों और सूक्ष्म परमाणु-कालाणु को प्रत्यक्ष देखता है। आहा...हा...! ऐसा अतीन्द्रियज्ञान, वह उपादेय है - ऐसा कहते हैं।

यहाँ अभी अतीन्द्रियज्ञान को उपादेय कहा है और वहाँ नियमसार में कहा है कि अतीन्द्रियज्ञान जो केवलज्ञान है, उसे हेय कहा है, बहिर्तत्त्व कहा है। क्या कहा? यहाँ प्रगट

हुआ न? प्रगट कहा है न? **शुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ है,** यह पर्याय है। अतीन्द्रियज्ञान एक समय की शुद्धि की प्रगट पर्याय है। यहाँ पर वह उपादेय है, ज्ञान का अधिकार है, इसलिए उसे उपादेय भी कहा और नियमसार में तो जो केवलज्ञान की पर्याय है... आहा...हा...! वह परतत्त्व है, आहा...हा...! बहिर्तत्त्व है। अन्तर्तत्त्व परम-पारिणामिकभाव प्रभु सम्पूर्ण! जिन! आहा...हा...! वह अन्तर्तत्त्व है, उसकी अपेक्षा से केवलज्ञान भी बहिर्तत्त्व है। अन्तर्तत्त्व जो पूर्ण है, वही आदरणीय है। आहा...हा...! यहाँ तो ज्ञान प्रधान कथन में अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, वह है तो पर्याय।

श्रोता : प्रगट करने की अपेक्षा से कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसकी इतनी कीमत है न? इतनी महान है! और अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है, उसे प्रगट करे, इसलिए आदरणीय है। प्रगट करने के लिए आदरणीय है और प्राप्त हुआ, वह आदरणीय हुआ, तो उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द भी आया है। आहा...हा...! जिस ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द न आवे, वह ज्ञान, ज्ञान नहीं है। आहा...हा...! ऐसा है।

'अक्ष' नामक आत्मा के प्रति जो नियत है (अर्थात् जो ज्ञान आत्मा के साथ ही लगा हुआ है - आत्मा के द्वारा सीधा प्रवृत्ति करता है),..... वह अतीन्द्रियज्ञान जो है, वह आत्मा द्वारा सीधा (प्रवर्तता है अर्थात्) उसे किसी की अपेक्षा नहीं है कि यह सुना था तो संस्कार के कारण वह प्रगट हुआ - ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! यह पहले आ गया है।

जो (इन्द्रियादिक) अन्य सामग्री को नहीं ढूँढता... आहा...हा...! यह एक समय के अतीन्द्रियज्ञान की माहात्म्य दशा! वह ज्ञान होने में उसे दूसरे साधनों की आवश्यकता नहीं है। आहा...हा...! ऐसा वह स्वत:सिद्ध परिपूर्ण भगवान आत्मा का ज्ञान है। आहा...हा...! परमात्मा को प्रगट हुआ है। दूसरे आत्मा को अन्दर स्वभाव-शक्तिरूप है। आहा...हा...! समझ में आया?

नियमसार में सिद्धसमान कहा है न! संसारी जीव, सिद्धसमान है; उसका आत्मा है, वह पूर्णानन्द से भरपूर पूर्ण है। आहा...हा...! (ऐसी) गाथा है कि सिद्धसमान है।

समान का अर्थ पर्याय सिद्धसमान है – ऐसा नहीं, वस्तु सिद्धसमान है – सम्पूर्ण द्रव्य! ओ...हो...! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अतीन्द्रिय गुणों का पिण्ड प्रभु, ओहो...! वह आत्मा है और वह आत्मा द्रव्य से सिद्ध है, वह द्रव्य से परमात्मा है। द्रव्य से परमात्मा है, द्रव्य से जिनस्वरूप है। आहा...हा...! द्रव्य से वह पूर्ण ईश्वर है। आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी जो प्रगट दशा होती है, वह पर के आधीन नहीं है – ऐसा कहते हैं। है न?

और जो अनन्तशक्ति के सद्भाव के कारण.... प्रगट हुए की बात है। **और जो अनन्तशक्ति के सद्भाव के कारण अनन्तता को (बेहदता को) प्राप्त है,...** जिसकी कोई मर्यादा नहीं है आहा...हा...! लोकालोक है, तीन काल है – ऐसा जानता है परन्तु इससे भी बेहद है। आहा...हा...! तीन काल से अधिक तो क्या होगा? अलोकाकाश से अधिक क्या होगा? परन्तु उससे अनन्तगुणा आकाश हो और अनन्तगुणा काल हो तो (उसे भी जाने ऐसा) वह बेहद ज्ञान है। हद अर्थात् उसे मर्यादा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा ज्ञान का माहात्म्य है।

अनन्तशक्ति के सद्भाव के कारण अनन्तता को... अनन्तता को! **प्राप्त है....** आहा...हा...! **(बेहदता को) प्राप्त है, ऐसे उस प्रत्यक्ष ज्ञान को....** बेहद कहीं आ गया है। नहीं? बेहद आ गया है। समयसार! बेहद शुद्ध चैतन्य! ९६ गाथा में बेहद शुद्ध चैतन्य धातु भगवान! आहा...हा...! अन्दर भगवान कितना है? इसका इसे पता भी नहीं है और इसे धर्म हो जाये! सामायिक और प्रौषध और प्रतिक्रमण और.... कहाँ था? यह तो राग की क्रिया है और धर्म मानता है तो मिथ्यात्व का पोषण करता है – ऐसी बातें... आहा...हा...! विकल्प का कण भी पूर्णानन्द के निर्विकल्प (स्वरूप के) समक्ष हेय है। आहा...हा...! तब पूर्ण स्वरूप भगवान उपादेय है। यहाँ प्रगट हुआ ज्ञान उपादेय है – ऐसा कहना है। आहा...हा...!

ऐसे उस प्रत्यक्ष ज्ञान को – जैसे दाह्याकार दहन का अतिक्रमण नहीं करते... क्या कहते हैं? प्रत्यक्ष ज्ञान को, जैसे दाह्यकार अर्थात् जलने योग्य जो पदार्थ हैं, वे अग्नि का अतिक्रमण नहीं करते। सब अग्नि में दहन हो जाते हैं आहा...हा...! जलने

योग्य हैं, वे सब अग्नि में जल जाते हैं, अग्निमय हो जाते हैं। **उसी प्रकार ज्ञेयाकार...** आहा...हा...! अगुरुलघु की षड्गुण हानिवृद्धि एक-एक पर्याय में, एक-एक गुण की एक-एक पर्याय में! आहा...हा...! अनन्त गुण और उनकी एक समय में अनन्त पर्यायें! आहा...हा...! और एक-एक पर्याय में... आहा...हा...! एक-एक पर्याय में अनन्तगुनी षड्गुण हानिवृद्धि - यह ज्ञेय, ज्ञानाकार का उल्लंघन नहीं करते। यह ज्ञेय, ज्ञानाकार हो जाते हैं। यह ज्ञेय पूरा सब है, वह ज्ञानाकार में आ जाता है। है?

जैसे दाह्याकार दहन का अतिक्रमण नहीं करते, उसी प्रकार ज्ञेयाकार ज्ञान का अतिक्रम (उल्लङ्घन) न करने से.... (अतिक्रम अर्थात्) ज्ञेयाकार ज्ञान को उल्लंघन नहीं सकते। आहा...हा...! एक-एक पर्याय में अनन्ती षड्गुणी हानिवृद्धि, ऐसी अनन्त पर्याय में (षड्गुण हानिवृद्धि)! एक प्रगट पर्याय में! इन सब ज्ञेयों को ज्ञान उल्लंघन नहीं करता। यह ज्ञेयपना है, वह ज्ञान को उल्लंघन नहीं करता। ज्ञान इन्हें जान लेता है और ज्ञेय हैं, वे ज्ञानाकार इसमें हो जाते हैं, ज्ञात हो जाते हैं। आ....हा...हा...!

ज्ञेयाकार, ज्ञान को...आहा...हा...! अतिक्रमण नहीं करते। नीचे है? ज्ञेयाकार, ज्ञान को उल्लंघन नहीं कर सकते। आहा...हा...! यह ज्ञेय का जितना स्वरूप है (अर्थात्) द्रव्य का, गुण का (और) प्रगट परिणमन का (उसमें भी) प्रगट परिणमन की अनन्त पर्यायें, और एक-एक पर्याय की अनन्त सामर्थ्य-अगुरुलघु की षड्गुण हानिवृद्धि। आहा...हा...! यह ज्ञेयाकार ज्ञान का उल्लंघन नहीं कर सकते अर्थात् सबका ज्ञान हो जाता है। ज्ञान की मर्यादा से बाहर नहीं जा सकते। ज्ञान अपरिमित है, इसलिए मर्यादा बाहर नहीं जा सकते। ज्ञान में ज्ञात हो ही जाते हैं। आहा...हा...!

एक द्रव्य है - परमाणु अथवा आत्मा, (उसमें) अनन्त तो गुण हैं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... आकाश के प्रदेश हैं, उससे अनन्तगुणे! ओहो...हो...! एक गुण की एक समय में अनन्त पर्याय हैं, अर्थात् एक गुण की एक पर्याय ऐसी अनन्त गुण की पर्यायें, वे एक समय में अनन्त षड्गुण हानिवृद्धि की सूक्ष्म पर्याय, वहाँ लीन है अर्थात् पर्याय में है - ऐसा। आहा...हा...! उन सबको - वे सब ज्ञेयाकार हैं, वह सब ज्ञान में आ जाता है।

श्रुतज्ञानीवाले को तो ऐसा कहा है कि षड्गुण हानिवृद्धि क्या है ? कारण कि एक समय की पर्याय केवलज्ञान है, वह केवलज्ञान कहीं कम होता है ? न्यून होता है ? जितना जाने उतना ही जाने परन्तु उस पर्याय में कोई षड्गुण हानिवृद्धि (इस प्रकार होती है)। आहा...हा... ! पर्याय में अनन्त... अनन्त... अनन्त... केवलियों को जाने, ऐसी एक पर्याय और उस पर्याय में अगुरुलघु की षड्गुण हानिवृद्धि एक समय में। आहा...हा... ! ऐसी तो अनन्त पर्यायें हैं। एक (ज्ञानगुण की पर्याय) इतने में है तो (ऐसी) दूसरी श्रद्धा की पर्याय भी इतनी ही ताकतवाली है, आनन्द की पर्याय भी इतनी ही ताकतवाली है, वीर्य की पर्याय भी इतनी ही ताकतवाली है। आहा...हा... ! मात्र (वे पर्यायें) जानती नहीं, यह अलग बात है। जानता ज्ञान है परन्तु उसके अलावा (दूसरी) अनन्त पर्यायें हैं। जैसी इसकी ताकत है ऐसी उनकी ताकत है। वे सब ज्ञेयाकार ज्ञान में ज्ञात हो जाते हैं। आहा...हा... !

अब, बेचारे ऐसी आत्मा की बात छोड़कर बाहर की बात करते हैं। ऐसा करो और यह करो – प्रतिक्रमण करो... क्या है ? धूल में तेरे प्रतिक्रमण कहाँ थे ? अभी मिथ्यात्व से वापिस हुआ नहीं, वहाँ अव्रत से वापस हटने का प्रतिक्रमण तेरे कहाँ से आ गया ? आहा...हा... ! मिथ्याभ्रान्ति का त्याग नहीं है और बाहर का त्याग आया तो त्याग कहाँ से हो गया तुझे ?

श्रोता : बाहर का तो बाहर ही है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो त्याग है ही – (ऐसी) त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है। आत्मा पर के त्याग से तो शून्य है। ग्रहण से भी शून्य है और त्याग से भी शून्य है। आहा...हा... !

एक सजझाय में आता है कि 'होंशिड़ा होंश न कीजे' एक पूरी सजझाय है। चार सजझाय माला हैं न ? चार सजझायमाला है, वह दुकान पर सब देखी थी, पढ़ी थी। पिताजी की घर की दुकान थी न ? मेरा भागीदार वहाँ पेड़ी पर बैठा हो और मैं अन्दर अकेला पढ़ूँ, वह नहीं हो तब मुझे बैठना पड़े। आहा...हा... ! उसमें एक श्लोक आता है – बड़ी सजझाय आती है 'होंशिड़ा होंश न कीजे' किसी बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में होंश मत कर भाई ! आहा...हा... ! बाद में तो बहुत होगा परन्तु इतना याद रह गया है। उस

दिन तो बहुत कुछ पढ़ा था न? आहा...हा...! चार सजझाय माला आती है। एक सजझायमाला में २००-२५०-३०० सजझाय आती हैं। एक-एक सजझाय में १०-१५ श्लोक आते हैं। आहा...हा...!

उस दिन उसमें यह भी आया था - 'सहजानन्दी रे आत्मा सूतो, कँईं निश्चिन्त रे, मोह तना रे रलिया भमें, जाग-जाग रे मतिवन्त रे.... लूटे जगतना जन्त रे.... ।' स्त्री-पुत्र! (ऐसा कहते हैं कि) तुम हमारे हो, हमें बड़ा करोगे, तुम कहाँ जाओगे? स्त्री कहती है, तुमने मेरा हाथ पकड़ा है! इस जगत् के ठग प्राणी तुझे ठगते हैं, यह सब ठग हैं, (फिर यह) उत्साह करके वहाँ ठगाता है। 'लूटे जगतना जन्त...' आहा...हा...! 'कोई बिरला उगरन्त, सहजानन्दी रे आत्मा...' इस प्रकार बड़ा श्लोक है। चार सजझाय माला में आता है। उस दिन दुकान पर सब (देखा था)। यह तो सब (संवत् ६५-६६ की बात है)! संवत् १९६५-६६! संवत् १९७० में तो दीक्षा ली थी, उसके पहले की यह बात है। आहा...हा...! भाई, यह तो अद्‌भुत...! 'सहजानन्दी रे आत्मा!' सहजानन्दी (अर्थात्) वे स्वामी नारायण के सहजानन्दी नहीं।

एक बार हमारे ऐसा हुआ कि 'सहजानन्दी रे आत्मा...' बोलते थे, वहाँ एक सेठानी सामने बैठी थी। (उसे ऐसा लगा कि) अपने यहाँ सहजानन्दी कहाँ से आया? स्वामी नारायण को सहजानन्दी होता है! बेचारों को कुछ पता नहीं है?

सहजानन्द! स्वाभाविक आनन्द का सागर भगवान है। जिसके आनन्द के लिये पर की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! जिसके आनन्द के समक्ष इन्द्रियों का सुख जहर जैसा लगता है। आहा...हा...! जिसके आनन्द के समक्ष शुभभाव जहर लगता है तो इन्द्रियों का सुख तो जहर लगेगा ही। आहा...हा...! (अन्दर महा) प्रभु है, उसकी महिमा की क्या बात करना?

वह यहाँ कहा - देखो! ज्ञेयाकार ज्ञान का उल्लंघन नहीं करते हैं। **यथोक्त प्रभाव का अनुभव करते हुए....** यथोक्त अर्थात् जो यथा - (यह) सब कहा, उसके प्रभाव का अनुभव करते हुए। आहा...हा...! ऐसा जिसका प्रभाव है कि **(उपर्युक्त पदार्थों को जानते हुए) कौन रोक सकता है?...** आहा...हा...!

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में पुद्गल का आया है कि पुद्गल की ऐसी कोई शक्ति है कि केवलज्ञान को आवृत्त करे ! यह तो परमाणु में उत्कृष्ट में उत्कृष्ट पर्याय हो तो कैसी होती है – यह बतायी है। यह ज्ञानावरणी के परमाणु वहाँ तक परिणमित हुए हैं कि स्वयं अपना ज्ञान हीन करता है, उसमें यह निमित्त होते हैं – ऐसी परमाणु की पर्याय–ज्ञानावरणी की जैसी पर्याय दूसरे किसी पदार्थ में नहीं होती – ऐसा (कहना है) ।

क्या कहा यह ? यह परमाणु की पर्याय इतनी बड़ी है, इतना सिद्ध किया है। केवलज्ञान स्वरूप सम्पूर्ण जो भगवान आत्मा, उसने स्वयं स्वत: जब भावघाति से हीन पर्याय की, तब उसे निमित्त कहते हैं – ऐसी परमाणु की पर्याय है। एक विष्ठारूप परिणमता है, गुड़रूप परिणमता है, शक्कररूप परिणमता है, बिच्छू के डंकरूप परिणमता है, सर्प के जहररूप परमाणु परिणमता है; (इसी प्रकार) यह परमाणु केवलज्ञानावरणीयरूप परिणमता है – ऐसा इतना बताना है। आहा...हा... ! इसके बदले (अज्ञानी ऐसा) कहता है 'देखो, इसके कारण ढँक गया है !' आहा...हा... ! अपने भाव से – भावघाति कर्म से ढँक गया है। आहा...हा... ! विषय जो पूर्ण होना चाहिए, मानना चाहिए, उसके बदले थोड़ा करके वहाँ रुक गया है। आहा...हा... ! कठिन काम है।

अभी (ऐसा) कहते हैं कि 'ऐसे साधु को नहीं मानो तो अज्ञान है !' लो ! 'अभी सबको साधु मानो !' कहते हैं। उसे क्या बैठा होगा ? हस्तिनापुर में ८१ फुट का विशाल मानस्तम्भ बनाया है, उसका विशाल महोत्सव है।

(यहाँ कहते हैं) **(उपर्युक्त पदार्थों को जानते हुए) कौन रोक सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं रोक सकता।) इसलिए वह (अतीन्द्रिय ज्ञान) उपादेय है।** लो ! साराँश यह लाना है। अतीन्द्रियज्ञान प्रगट करना – ऐसा वह उपादेय है। आ...हा... ! परन्तु वह अतीन्द्रियज्ञान कैसे प्रगट होता है ? जिसमें – भगवान आत्मा में अतीन्द्रियज्ञान भरा है, उसका आश्रय ले तो अतीन्द्रियज्ञान होता है, इसका तात्पर्य तो फिर यह है।

अतीन्द्रियज्ञान को उपादेय कहा परन्तु अतीन्द्रियज्ञान कैसे प्रगट हो ? कोई दया–दान–व्रत–भक्ति के परिणाम से प्रगट होगा ? वह तो राग है। आहा...हा... ! अन्दर ज्ञान का समुद्र भरा है। प्रभु, बेहद शक्तिवाला तत्त्व है अन्दर ! उसका आश्रय ले, उसकी सन्मुखता

हो तो वह अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है। आहा...हा...! दूसरों को यह बात नयी लगती है। आहा...हा...! परन्तु बापू यह वीतराग का मार्ग है। तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव, परमेश्वर का यह हुक्म है, यह परमेश्वर की आज्ञा है। आहा...हा...!

ऐसा जो अतीन्द्रियज्ञान कहा - द्रव्य से प्रच्छन्न, क्षेत्र से ढँका हुआ, काल से ढँका हुआ, भाव से ढँका हुआ, पर्यायादि...। आहा...हा...! सबको एक समय में जानने को कौन रोक सकता है? आहा...हा...! ऐसा तेरा नाथ है। एक समय की अतीन्द्रिय पर्याय, ऐसी अतीन्द्रिय पर्याय अनन्त! ऐसी अनन्त पर्याय का (पिण्ड), वह ज्ञानगुण है। आहा...हा...! इसी प्रकार समकित की-क्षायिकसमकित की अनन्त पर्यायें होती हैं, उन अनन्त पर्यायों का पिण्ड अन्दर श्रद्धागुण है। आहा...हा...! चारित्र की पर्याय जो शान्ति है - दशा में चारित्र पर्याय है, वह शान्ति है - ऐसी तो अनन्त चारित्रपर्याय तो इसके चारित्रगुण में है। इतना महा प्रभु है यह! वहाँ (समयसार में) बेहद कहा न? आहा...हा...! भगवान को एक समय का अनन्त पुरुषार्थ-वीर्य प्रगट हुआ! अनन्त पुरुषार्थ! ऐसी-ऐसी सादि-अनन्त पर्याय का अनन्त पुरुषार्थ - यह सब अनन्त शक्ति वीर्यगुण में पड़ी है। आहा...हा...! अरे, इसके गीत सुने नहीं ऐसा **(अतीन्द्रिय ज्ञान) उपादेय है।** आहा...हा...! 1

प्रचुर वीतरागता के धनी

सर्वत्र वीतरागता ही जैनधर्म है। अविरत सम्यग्दृष्टि हो, देशव्रती श्रावक हो अथवा सकलव्रती मुनिराज हों, सर्वत्र भूमिका के योग्य शुभभाव होने पर भी परिणति में जितनी वीतरागता परिणमित है, उतना धर्म है; साथ में वर्तनेवाला शुभराग, वह कहीं धर्म अथवा धर्म का परमार्थ साधन नहीं है। सुख निधान निज ज्ञायकस्वभाव में रमनेवाले मुनिराज को भी अभी पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं हुई है, पूर्णदशा तो अरहन्त परमात्मा को प्रगट हुई है। पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नहीं होने पर भी मुनिराज को वीतरागस्वभावी निज ज्ञायक भगवान के उग्र आलम्बन से प्रचुर वीतरागता उत्पन्न हुई है।

(वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 126)

गाथा - ५५

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति -

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि।।५५।।

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम्।
अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति।।५५।।

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्यं च। तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलभ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तद-संभवान्नावगच्छति, परोक्षत्वात्। परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादि-सिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्ध-स्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गण-व्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वमवलम्ब-मानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खल-नान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणति-प्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति। अतस्तद्धेयम्।५५।

अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञानं हेयमित्युपदिशति - **जीवो सयं अमुत्तो** जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभावः, पश्चादनादिबन्धवशात् व्यवहारनयेन **मुत्तिगदो** मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति। **तेण मुत्तिणा** तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण **मुत्तं** मूर्तं वस्तु **ओगेण्हित्ता** अवग्रहादिकेन क्रमकरणव्यवधानरूपं कृत्वा **जोग्गं** तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु। कथंभूतम्। इन्द्रियग्रहणयोग्यं **जाणदि वा तण्ण जाणादि** स्वावरणक्षयोपशमयोग्यं किमपि स्थूलं जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्मं न जानातीति। अयमत्र भावार्थ :- इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव। परोक्षं तु यावतांशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावतांशेन चित्तखेदकारणं भवति। खेदश्च दुःखं, ततो दुःखजनकत्वादिन्द्रियज्ञानं हेयमिति ।।५५।।

अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत (कारणरूप) इन्द्रियज्ञान हेय है - इस प्रकार उसकी निन्दा करते हैं -

स्वयं अमूर्तिक जीव, मूर्तिक-देहगत इस मूर्त से।
ऽ मूर्त योग्य अवग्रही, कभी जाने, कभी जाने नहीं॥

अन्वयार्थ - [**स्वयं अमूर्तः**] स्वयं अमूर्त ऐसा [**जीवः**] जीव [**मूर्तिगतः**] मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ [**तेन मूर्तेन**] उस मूर्त शरीर के द्वारा [**योग्यं मूर्तं**] योग्य मूर्त पदार्थ को [**अवग्रह्य**] अवग्रह[१] करके (इन्द्रियग्रहणयोग्य मूर्त पदार्थ का अवग्रह करके) [**तत्**] उसे [**जानाति**] जानता है [**वा न जानाति**] अथवा नहीं जानता (-कभी जानता है और कभी नहीं जानता)।

टीका - इन्द्रियज्ञान को उपलम्भक[२] भी मूर्त है और उपलभ्य[३] भी मूर्त है। वह इन्द्रियज्ञानवाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त-पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर को प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करने में बल-धारण का निमित्त होने से जो उपलम्भक है ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा मूर्त ऐसी स्पर्शादिप्रधान[४] वस्तु को - जो कि योग्य हो अर्थात् जो (इन्द्रियों के द्वारा) उपलभ्य हो उसे - अवग्रह करके, कदाचित् उससे आगे-आगे की शुद्धि के सद्भाव के कारण उसे जानता है और कदाचित् अवग्रह से आगे-आगे की शुद्धि के असद्भाव के कारण नहीं जानता, क्योंकि वह (इन्द्रियज्ञान) परोक्ष है। परोक्षज्ञान, चैतन्यसामान्य के साथ (आत्मा का) अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकारसमूह) द्वारा आवृत हो गया है, ऐसा आत्मा पदार्थ को स्वयं जानने के लिये असमर्थ होने से उपात्त[५] और अनुपात्त[६] परपदार्थरूप सामग्री को ढूँढ़ने की व्यग्रता से अत्यन्त चञ्चल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्तशक्ति से च्युत होने से अत्यन्त विक्लव[७] वर्तता हुआ, महामोह-मल्ल के जीवित होने से पर-परिणति का (-पर

---

१. अवग्रह = मतिज्ञान से किसी पदार्थ को जानने का प्रारम्भ होने पर पहले ही अवग्रह होता है क्योंकि मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय, और धारणा - इस क्रम से जानता है।

२. उपलम्भक = बतानेवाला, जानने में निमित्तभूत। (इन्द्रियज्ञान को पदार्थों के जानने में निमित्तभूत मूर्त पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर है)।

३. उपलभ्य = जनाने योग्य ४. स्पर्शादिप्रधान = जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण मुख्य हैं, ऐसी।

५. उपात्त = प्राप्त (इन्द्रिय, मन इत्यादि उपात्त परपदार्थ हैं)

६. अनुपात्त = अप्राप्त (प्रकाश इत्यादि अनुपात्त परपदार्थ हैं।) ७. विक्लव = खिन्न; दुःखी, घबराया हुआ।

को परिणमित करने का) अभिप्राय करने पर भी पद-पद पर ठगाता हुआ, परमार्थतः अज्ञान में गिने जाने योग्य है। इसलिए वह हेय है।

भावार्थ - इन्द्रियज्ञान इन्द्रियों के निमित्त से मूर्त स्थूल इन्द्रियगोचर पदार्थों को ही क्षायोपशमिक ज्ञान के अनुसार जान सकता है। परोक्षभूत वह इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश, आदि बाह्य सामग्री को ढूँढ़ने की व्यग्रता के (अस्थिरता के) कारण अतिशय चञ्चल-क्षुब्ध है, अल्प शक्तिवान् होने से खेद खिन्न है, परपदार्थों को परिणमित कराने का अभिप्राय होने पर भी पद-पद पर ठगा जाता है (क्योंकि परपदार्थ आत्मा के आधीन परिणमित नहीं होते) इसलिए परमार्थ से वह ज्ञान 'अज्ञान' नाम के ही योग्य है। इसलिए वह हेय है॥

प्रवचन नं. ५४ का शेष **दिनाङ्क ०१ मार्च १९७९**

अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत.... (पहले) अतीन्द्रियज्ञान का साधन (कहा था), **(कारणरूप) इन्द्रियज्ञान हेय है....** आहा...हा... ! इन्द्रियों का जो माना हुआ सुख है (हेय है) भाषा तो क्या करे? अतीन्द्रियसुख के सामने इन्द्रियसुख लिया है (वह) सुख नहीं है, वह तो दुःख है परन्तु लोग मानते हैं न (इसलिए सुख कहा है) आहा...हा... ! भूख ठीक लगी हो और चूरमे की लड्डू तथा पालक की भुजिया व उड़द की गाढ़ी दाल तथा चटनी यह सब रखे और मजे से खाये तो मानो ओ...हो... ! (हो जाता है) साथ में पापड़ दे... पापड़ ! बड़े-बड़े (विवाह में) तो बादाम के पापड़ देते हैं, पिस्ता के पापड़ देते हैं। पहले तो ऐसा था, अब तो महँगा हो गया है। आहा...हा... ! ऐसा नाथ प्रभु अन्दर विराजता है, वह बहुतों को जिमावे ऐसा है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण को जिमावे, ऐसा आनन्द का नाथ है। प्रभु, आहा...हा... ! उसकी महिमा नहीं आती और बाहर की महिमा में उत्साह आता है। आहा...हा... ! आनन्द के नाथ की महिमा नहीं आती और दुःख व राग और निमित्त.... आहा...हा... ! इनमें प्रमोद आता है, इनका उत्साह आता है ! ऐसा स्वभाव है, उसका यह अनादर करता है। एक हजार का वेतन हो और पाँच सौ रुपये बढ़े (होंवे तो) ओ...हो...हो... ! (हो जाता है)। आज तो बहुत सुखी है, आप लापसी (गुड़ का

हलुवा) बनाओ। आहा...हा...! जिसे (जिसका) उत्साह होता है, वह कुछ भी करता है। होने की पर्याय (हो) वह होती है। करे क्या ? आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि 'इन्द्रियसुख'.... आचार्य भी ऐसी भाषा प्रयोग करते हैं। कहें किस प्रकार ? आहा...हा...! बालक लकड़ी के घोड़े पर बैठा हो, ...ऐसे चढ़ा हो... और उसका बाप आम लेकर आया (हो और यह कहे कि) चल अन्दर... अपना घोड़ा छोड़ दे! लकड़ी छोड़ दे (ऐसा नहीं कहता क्योंकि) उसे धुन है कि यह घोड़ा है। इसलिए उसका बाप यह शब्द प्रयोग करता है 'घोड़ा छोड़ दे, अन्दर खाने चल' इस प्रकार यह भाषा ऐसी है। इन्द्रिय सुख में माननेवाले लोगों के लिये भाषा ऐसी है। विशेष कहेंगे...।

प्रवचन नं. ५५ **दिनाङ्क ०२ मार्च १९७९**

प्रवचनसार, गाथा-५५। **अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत....** आहा...हा...! **इन्द्रियज्ञान हेय है....** यह बतायेंगे। जड़ पाँच इन्द्रियाँ हैं, वे तो शरीर-मिट्टी जड़ है। उनसे-इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला जो ज्ञान, वह इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियसुख का साधन है अर्थात् दुःख का साधन है। आहा...हा...! यह कहेंगे -

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण जाणादि।।५५।।

स्वयं अमूर्तिक जीव, मूर्तिक-देहगत इस मूर्त से।
ऽ मूर्त योग्य अवग्रही, कभी जाने, कभी जाने नहीं॥

टीका - इन्द्रियज्ञान को उपलम्भक.... (अर्थात्) जानने में निमित्त (ऐसी) यह जड़ इन्द्रियाँ। इन्द्रियज्ञान में जानने में निमित्त यह जड़ इन्द्रियाँ। कड़क बात है! अनन्त काल में इसने आत्मा क्या है ? (उसका) अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं किया और अतीन्द्रिय ज्ञान के बिना अतीन्द्रिय सुख प्राप्त नहीं होता और उसके बिना जन्म-मरण का अभाव नहीं होता। चौरासी में अवतार कर-करके इस इन्द्रियज्ञान में सुख माना है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्दमय वह सुख अन्दर आत्मा में है, उसके बदले इन इन्द्रियों के ज्ञान को सुख का साधन माना है। आहा...हा...! वह कहते हैं।

इन्द्रियज्ञान को उपलम्भक.... (उपलम्भक अर्थात्) बतानेवाला; जानने में निमित्तभूत (इन्द्रियज्ञान को पदार्थों को जानने में निमित्तभूत जड़ पञ्चेद्रियात्मक शरीर है।) यह तो मिट्टी, मूर्त है, वह इन्द्रियज्ञान में जानने में निमित्त है। आ...हा...! कड़क बात है। और उपलभ्य भी मूर्त है... अर्थात् ज्ञात होने योग्य जो चीज है, वह मूर्त है। क्या कहा? कि इन्द्रियज्ञान में जनाने में निमित्तभूत है, वह जड़ है और ज्ञात होने योग्य जो वस्तु है, वह भी मूर्त है। आहा...हा...! इस (चक्षु) इन्द्रिय से ज्ञात वह तो जड़ है। जानता तो आत्मा है परन्तु जानने में यह शरीर निमित्त है। जानने में निमित्त (वह भी मूर्त है) और ज्ञात होने योग्य चीज है, वह भी मूर्त है। इन्द्रिय से मूर्त को जानता है। आहा...हा....!

यह सब तुम्हारे हीरा-माणिक की परीक्षा (करते हैं, वह) मूर्त इन्द्रियों से करते हैं और मूर्खायी है। आ...हा...! अनन्त काल से इसने (यही) किया है। वास्तविक आत्मा क्या है? अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय है, उसकी दृष्टि अनन्त काल में एक क्षण-(एक) समय नहीं की। आहा...हा...! इसलिए यहाँ कहते हैं। आगे कहेंगे कि इन्द्रियज्ञान अनादि सिद्ध है, उसके साथ सम्बन्ध है, तथापि मोह के कारण अज्ञानी को मार दिया है, यह आगे कहेंगे। भाई! टीका में लेंगे।

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी है, उसे सन्त आढ़तिया होकर जगत के समक्ष जाहिर करते हैं। प्रभु! तुम कहाँ हो? तुम्हारा ज्ञान सामान्य, जो त्रिकाली ध्रुव है, वहाँ तुम्हारी नजर नहीं है। जिसमें सम्पूर्ण भण्डार भरा है। अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियआनन्द का भण्डार है, वहाँ तेरी नजर नहीं है और जो अतीन्द्रियज्ञान से विरुद्ध इन्द्रियज्ञान है, उस पर तेरी प्रीति और प्रेम है। उसके सुख का साधन इन्द्रियज्ञान है - ऐसा तू मानता है। आहा...हा...! है?

वह इन्द्रियज्ञानवाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर... आहा...हा...! प्रभु तो अमूर्त है। आत्मा में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है। यह वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाली जड़ इन्द्रियाँ इसे जानने में जड़ निमित्त और जनाने में मूर्त जनाया। आहा...हा...! किसी दिन भी यह विचार किया होगा? पूरे दिन पाप में से निवृत्ति कब मिलेगी? पूरे दिन पाप - बाईस घण्टे-चौबीस घण्टे! इसमें क्या मूर्त है? क्या इन्द्रियाँ हैं? क्या इन्द्रियातीत है? (यह समझने

का समय नहीं मिलता)। आहा...हा...! अनन्त काल हुआ, इसने यह कभी नहीं किया। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि स्वयं अमूर्त है। प्रभु आत्मा तो अमूर्त है। यह जड़ इन्द्रियाँ और यह खण्ड-खण्ड भावेन्द्रियाँ भी उसमें नहीं है। आहा...हा...! अतीन्द्रियज्ञान की बात हो गयी है, पश्चात् उसके सामने इन्द्रियज्ञान बताते हैं। प्रभु अन्दर चैतन्यस्वरूप जो है, वह तो अमूर्त है, उसमें कोई रङ्ग, गन्ध, रस, स्पर्श अथवा यह जड़ इन्द्रियाँ नहीं है। आहा...हा...!

अमूर्त होने पर भी मूर्त-पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर को प्राप्त होता हुआ,.... आहा...हा...! प्रभु आत्मा रंग, गन्ध, स्पर्श, रसरहित है - ऐसा अमूर्त होने पर भी, मूर्त ऐसे शरीर, इन्द्रियाँ आदि को प्राप्त हुआ है, इसका लक्ष्य वहाँ गया है। बस! आहा...हा...! शरीर मैं, इन्द्रियाँ मैं, इनसे ज्ञात हो वह ज्ञान; इससे मुझे मिले, वह सुख। इन्द्रियों से प्राप्त हो वह सुख! अ...र...र... र...! ज़हर है। सूक्ष्म बात है भाई! परमात्मा, अतीन्द्रियज्ञान का आदर कराने के लिए इन्द्रियज्ञान का हेयपना बताते हैं। आहा...हा...! कहेंगे, देखो।

मूर्त-पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर को... पञ्चेन्द्रियस्वरूप यह शरीर है न? (यह) पञ्चेन्द्रियस्वरूप है, उसे **प्राप्त होता हुआ...** आहा...हा...! अमूर्त - रंग, गन्ध, रस, स्पर्शरहित प्रभु को प्राप्त न करके, शरीर जो जड़ है, यह मिट्टी है, यह तो धूल है - इन पाँच इन्द्रियों को प्राप्त करता है।

ज्ञप्ति उत्पन्न करने में बल-धारण का निमित्त होने से.... क्या कहते हैं? जानने की क्रिया में शरीर का बल-धारण निमित्त है। जानने की पर्याय तो अपनी है परन्तु उसमें इन्द्रियाँ निमित्त है और शरीर निमित्त है - ऐसा। शरीर कहो या जड़ इन्द्रियाँ कहो (दोनों एक ही हैं।) आहा...हा...! बल-धारण का निमित्त अर्थात् जिस इन्द्रियज्ञान से काम लेता है, वह बल-धारण (है) और उसमें यह शरीर तथा यह जड़ इन्द्रियाँ निमित्त हैं। इन्द्रियाँ, ज्ञान को बल-धारण देती है - ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं है। यह तो आत्मा जो इन्द्रियों का ज्ञान करे, अतीन्द्रिय भगवान को भूल कर... आहा...हा...! मिथ्यादृष्टि अज्ञानी शरीर को प्राप्त होकर, अशरीरी भगवान को छोड़कर, (जो ज्ञान करता है, उसकी बात करते हैं)। आहा...हा...! ऐसा कठिन काम! व्यापार के कारण फुरसत नहीं मिलती! पूरे दिन यह

भटके और यह किया... ! आहा...हा... ! निवृत्त हो तो स्त्री-पुत्रादिक की सम्हाल... ! निवृत्त हो तो छह-सात घण्टे नींद में (जाते हैं) ! हो रहा... ! एक घण्टा मिले और कहीं सुनने जाए, वहाँ कुछ भी ठिकाने बिना की बातें सुनता है ! वह घण्टा भी लुट जाता है ! अरे... ! भगवान ! क्या हो ?

आहा...हा... ! आचार्य महाराज पुकार करते हैं कि शरीर, इन्द्रियाँ के जानने में, जानने का बल धारण तो इन्द्रियों के निमित्त से है परन्तु उसमें यह शरीर निमित्त होता होने से जो **उपलम्भक है....** अर्थात् ज्ञात होने योग्य है। (पहले) उपलम्भक कहा है न ! (पहले) आया है। उपलम्भक = बतानेवाला, जानने में निमित्तभूत। (इन्द्रियज्ञान को पदार्थों के जानने में निमित्तभूत मूर्त पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर है)। आहा...हा.... ! **ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा मूर्त ऐसी स्पर्शादिप्रधान वस्तु को...** पाँच इन्द्रियाँ, (स्पर्शादि प्रधान अर्थात्) स्पर्श, रस, गन्ध इत्यादि गुण जिसमें मुख्य है (ऐसी)।

जो कि योग्य हो अर्थात् जो (इन्द्रियों के द्वारा) उपलभ्य हो... अर्थात् क्या कहते हैं ? इन्द्रियों द्वारा जनाने योग्य हो। जो जनाने योग्य नहीं, उसे तो वे जान नहीं सकते, नजदीक हो, लक्ष्य हो, **उसे अवग्रह करके,...** इन्द्रियों द्वारा समीप के जो पदार्थ हैं, उन्हें पकड़ना और जानना, वह इन्द्रियज्ञान है। **उसे अवग्रह करके....** अवग्रह (अर्थात्) पकड़े कि यह शरीर है, यह इन्द्रियाँ हैं, यह पैसा है, यह मकान है, यह इज्जत है, यह सब जड़ है। उस जड़ को इन्द्रिय द्वारा... आहा...हा... ! **उपलभ्य हो उसे....** पकड़ता है। उसे ज्ञान में पकड़ता है। पकड़ता है अर्थात् यह क्या है ? ऐसा पकड़ता है। **कदाचित् उससे आगे-आगे की (अवग्रह के आगे-आगे की) शुद्धि के सद्भाव के कारण....** (ऐसा कहते हैं)। कदाचित् अवग्रह से जाना (और) उससे आगे कुछ क्षयोपशम हो तो विशेष भी जाने। आहा...हा... !

उसे जानता है और कदाचित् अवग्रह से आगे-आगे की शुद्धि के असद्भाव के कारण नहीं जानता,... (अर्थात्) पकड़ा कि यह जड़ है - शरीर, मिट्टी, पैसा-धूल, मकान - ऐसा ख्याल में आया। इस ख्याल में जो पहला अवग्रह है, उससे विशेष शुद्धि का उघाड़ हो तो पकड़े भी; विशेष शुद्धि का उघाड़ न हो तो अवग्रह से रुक जाए - ऐसा

पराधीन है। ऐसा उपदेश सुनना कठिन पड़ता है आहा... हा... ! यह सब अरबोंपति और करोड़पति हैं न! ये सब दु:खी हैं - ऐसा कहते हैं।

श्रोता : त्यागी तो ऐसा ही कहेंगे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान ऐसा कहते हैं। वे यह कहते हैं न! इन्द्रियज्ञान हेय है यह तो भगवान बताते हैं। इसे कहाँ (खबर है) भगवान क्या कहते हैं? आहा...हा... !

यहाँ तो (ऐसा कहते हैं कि) जड़ शरीर को प्राप्त होकर, अमूर्त प्रभु है, उसे छोड़कर, आहा...हा... ! (अर्थात्) अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ महात्मा - महा + आत्मा। अतीन्द्रिय आनन्द आदि अनन्त गुणों को पिण्ड प्रभु, उसे प्राप्त करना छोड़कर... आहा... ! यह जो शरीर की पाँच इन्द्रियाँ हुईं, उस शरीर को प्राप्त हो गया (अर्थात्) 'यह मैं' 'मैं यह (अतीन्द्रिय आत्मा) हूँ' ऐसा छोड़कर 'यह (शरीर) मैं' - (ऐसा अनुभव करता है)। आहा...हा... ! यह तुम्हारे सब पैसेवालों को यहाँ दु:खी कहते हैं। आगे कहेंगे कि दु:खरूप है। इन्द्रियज्ञान खेद करनेवाला है। खेद! खेद! दु:खी है! खेदखिन्न है।

आहा... ! **क्योंकि वह (इन्द्रियज्ञान) परोक्ष है।...** इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इन्द्रियज्ञान में यह जड़ निमित्त है और जनाने योग्य वह मूर्त है, इसलिए वह परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं। (अर्थात् कि) आत्मा से सीधा ज्ञात हो ऐसा नहीं है। इस ज्ञान में- इन्द्रियज्ञान में तो शरीर आदि जड़-निमित्त है; इसलिए वह परोक्ष है। आहा...हा... !

परोक्षज्ञान, चैतन्यसामान्य के साथ..... देखो, यह आया। भाई! क्या कहते हैं? देखो! यह इन्द्रियाँ जड़ हैं, इनके निमित्त से होनेवाला ज्ञान; ज्ञान तो अपने से होता है परन्तु उसमें निमित्त यह है। तो कहते हैं कि ऐसा जो परोक्षज्ञान... परोक्षज्ञान... सुनना! **चैतन्यसामान्य के साथ (आत्मा का) अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी....** इस ज्ञान को भी सम्बन्ध तो आत्मा के साथ है न? यह ज्ञान कहाँ जड़ का है? आहा...हा... ! क्या कहते हैं? कि यह परोक्षज्ञान जानने में इन्द्रियाँ निमित्त है, शरीर निमित्त है - ऐसा जो ज्ञान, वह **अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी....** किसके साथ? (तो कहते हैं कि) चैतन्यसामान्य के साथ। आहा...हा... ! यह चैतन्य जो त्रिकाली भगवान आत्मा, उस पर यह इन्द्रियज्ञान होता है।

इस ज्ञान का सम्बन्ध तो चैतन्यसामान्य के साथ है परन्तु यह उस पर दृष्टि नहीं करता। आहा...आहा...हा... ! ऐसा उपदेश अब ! है ?

परोक्षज्ञान, चैतन्यसामान्य के साथ... अर्थात् आत्मा के साथ। **अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी...** इस ज्ञान की पर्याय का सम्बन्ध तो द्रव्य के साथ है न ? ऐसा कहते हैं। पर्याय है, वह कहीं बाहर से आती है ? आ...हा... ! परन्तु **सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकारसमूह) द्वारा....** आ...हा... ! अज्ञानी को भ्रमणा का पार नहीं है। कहते हैं – अतिदृढ़तर अज्ञान तमग्रन्थि अर्थात् अन्धकार का समूह; उसके द्वारा आवृत्त हो गया है। आहा...हा... !

चैतन्य भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है। जो सामान्य ध्रुव है, नित्यानन्द प्रभु है ! इस इन्द्रियज्ञान का सम्बन्ध तो वहाँ है, तथापि वह आवृत हो गया ज्ञान... आहा... ! **दृढ़तर अज्ञानरूप तमग्रन्थि....** ! महा मिथ्यात्व का गाढ़ (अन्धकार) ! आ...हा... ! (ऐसा आत्मा) **(अन्धकार समूह) द्वारा आवृत हो गया है।** आहा...हा... ! ज्ञान का विकास ढँक गया है। आहा...हा... ! क्योंकि ऐसा जो सामान्य चैतन्य भगवान है... सामान्य अर्थात् क्या ? यह सामान है, यह सामान नहीं, सामान नहीं सामान्य। सामान और सामान्य में बड़ा अन्तर है। सामान तो वस्तु को कहते हैं और सामान्य अर्थात् आत्मा जो त्रिकाल आनन्द का नाथ प्रभु है। (वह सामान्य है) एक समय की पर्याय से रहित वस्तु को यहाँ सामान्य कहा गया है। आहा...हा... !

अन्दर यह सामान्य चेतन भगवान नित्यानन्द प्रभु है। नित्य कहो या सामान्य कहो (ऐसी) सदृश वस्तु त्रिकाल आनन्द का महात्मा प्रभु है। वह अनन्त गुण की गाँठ है। आहा...हा... ! अनन्त... अनन्त... सुख और अनन्त... ज्ञान ! ऐसी अनन्त... अनन्त... अनन्त.. शक्तियों से पूर्ण भरपूर भरा भगवान सामान्य अर्थात् ध्रुव है। आहा...हा... ! उसके साथ सम्बन्ध होने पर भी... आहा...हा... ! **अति दृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकारसमूह) द्वारा आवृत हो गया है,...** ढँक गया है। आहा...हा... ! **ऐसा आत्मा, पदार्थ को स्वयं जानने के लिये असमर्थ...** है। क्या कहते हैं ? ऐसा आत्मा, पदार्थ को स्वयं (अर्थात्) इन्द्रियों के निमित्त बिना, शरीर के निमित्त बिना जानने में असमर्थ है।

आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बात है बापू ! इसने अनन्त काल में धर्म नहीं किया है। अनन्त काल चौरासी के अवतार में एक-एक में अनन्त अवतार किया ! आहा...हा... ! परन्तु सम्यग्दर्शन क्या ? और आत्मा अन्तर आनन्द का नाथ पूर्णानन्द प्रभु है, उसकी दृष्टि नहीं की क्योंकि इन्द्रियों को प्राप्त हुआ तो प्रभु स्वरूप को प्राप्त नहीं हुआ। इस जड़ को प्राप्त हुआ तो इससे जो ज्ञात हो, वह ज्ञान तो अवग्रह्यादिवाला है और तमोग्रन्थि अज्ञान से ढँक गया है। तमोग्रन्थि (अर्थात्) अन्धकार का समूह है, उसमें ढँक गया है - (ऐसा) कहते हैं।

आ...हा... ! चैतन्य के प्रकाश का नूर प्रभु है ! आहा...हा... ! आत्मा अन्दर चैतन्य प्रकाश का पूर और नूर भगवान है। उसमें यह इन्द्रियज्ञान है, उसमें तमोग्रन्थि-अन्धकार छा गया है। आहा...हा... ! एक इन्द्रिय का थोड़ा जानें (और) विशेष न जानें, वहाँ खेद हो जाता है कि यह क्यों ज्ञात नहीं होता ? क्यों जानने में नहीं आता ? यह देखे कि यह अमुक ज्ञात होता है परन्तु इसके बाद क्या है ? वह ज्ञात नहीं होता। इस प्रकार एक के बाद एक जानने में आच्छादित हो गया होने से खेद होता है। आहा...हा... !

अपने आत्मा से अकेला जानने में असमर्थ होने से **उपात्त** अर्थात् प्राप्त (इन्द्रिय, मन इत्यादि उत्पात्त पर पदार्थ हैं।) इन्द्रियाँ और मन साथ है, यह प्राप्त पदार्थ (कहलाते हैं) **और अनुपात्त...** अर्थात् अप्राप्त (प्रकाश इत्यादि अनुपात्त परपदार्थ हैं।) यह प्रकाश इत्यादि हैं उन्हें कोई प्राप्त नहीं करना पड़ता। प्रकाश हो, इन्द्रियाँ हों, तब उस निमित्त के आधीन (होकर) जान सकता है। आहा...हा... ! अलग बात है बापू ! यह तो धर्म कैसे हो उसकी बात है ? इस इन्द्रियज्ञान से इन्द्रियसुख का साधन (हो), वह दुःख है, वह अधर्म है, आहा... हा... ! अब इसमें युवा शरीर हो और पाँच-पचास लाख आमदनी होती हो... !

श्रोता : ममता की आमदनी है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ममता की आमदनी है। पैसा अर्थात् क्या ? वह तो धूल है - कंकड़ ! आहा...हा... ! कंकड़ों का आत्मा में अभाव है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का तो अभाव है उसके बदले (ऐसे मानता है कि) मेरे हैं तो वह महामिथ्यात्व अज्ञान है। आहा...हा... !

श्रोता : दुनिया में उसका बोलबाला होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल दुनिया बोलवाला करे उससे क्या ? दुनिया पागल है। (गोवा के एक भाई थे) दो अरब चालीस करोड़ ! मर गया ! चालीस लाख के मकान ! दस-दस लाख के दो मकान ! गोवा में साठ लाख का मकान है और दो अरब चालीस करोड़ ! दो सौ चालीस करोड़ धूल ! धूल न ? वह मर गया ! मुम्बई में उसकी पत्नी को हेमरेज हुआ। (इसलिए) आया। दो-चार दिन बाद कहने लगा अरे ! मुझे दर्द है। डॉक्टर को बुलाओ। जहाँ डाक्टर को बुलाने गये और वह आवे वहाँ तो.... जीव भटकने गया चौरासी के अवतार में ! अ...र...र...र... ! क्या धूल वहाँ काम करेगी ? (पैसे में) इतनी ममता... ममता... पोषण किया हो तो उसका अवतार भी कैसा होगा ? सब समझने जैसी बात है। यहाँ परमात्मा यह कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान तमोग्रन्थि द्वारा आच्छादित हो गया है। आहा...हा... ! अन्धकार-अज्ञान के अन्धकार से आच्छादित हो गया ज्ञान विशेष नहीं जान सकता। **उपात्त और अनुपात्त परपदार्थरूप सामग्री को....** ढूँढता है। देखना हो तो इन्द्रियों को ढूँढें, मन को, आहा...हा... ! प्रकाश को-दीपक को (ढूँढ़ता है कि) मुझे रात्रि में देखना हो तो दीपक - प्रकाश है या नहीं ? ऐसा यह पराधीन पर को खोजता - ढूँढता है। आहा...हा... ! **ढूँढ़ने की व्यग्रता से....** फिर भाषा क्या है ? व्यग्रता ! इन्द्रियाँ और मन इत्यादि परपदार्थ, इन्द्रियाँ अच्छी हैं या नहीं ? इन्द्रियाँ अच्छी हों तो मैं बराबर देख सकता हूँ, आँख में बराबर अञ्जन (लगाता है) पूरे शरीर को तेल लगाकर चिकना रखता है। इस प्रकार बाहर की सामग्री ढूँढने जाता है। व्यग्रता ! आहा...हा... ! उसके कारण दु:खी है। **अत्यन्त चञ्चल** है। आ...हा... ! अब यह सब फेरफार करना दुनिया की (जाति से) यह जुदी जाति है। आहा...हा... ! वह अत्यन्त चञ्चल है। इन्द्रियों का ज्ञान तो अत्यन्त चञ्चल है। घड़ी भर में एक इन्द्रिय की ओर का देखे, घड़ीक में दूसरी इन्द्रिय तरफ का देखे। चक्षु से कोई रूप देखे तो कान से सुनने का करे। स्पर्श से स्पर्श करने का करे। आहा...हा... ! (इस प्रकार) इन्द्रियज्ञान एक-एक इन्द्रिय के आधीन हुआ चञ्चल है। **अत्यन्त चञ्चल...** है। आहा...हा... !

ऐसा कहकर बताना है कि अतीन्द्रियज्ञान(मय) आत्मा की दृष्टि कर ! वरना

चौरासी के अवतार में मर जाएगा। आ...हा...! इन्हें - भगवान को, मुनियों को कहाँ पड़ी है कि जगत् को ठीक लगेगा या नहीं। वे तो वीतरागी मुनि हैं (और कहते हैं कि) यह मार्ग है। बापा! आहा...हा...! इस प्रकार इन्द्रियों के ज्ञान में रुक गया तो मरकर जाएगा ढोर आदि होगा। आहा...हा...! ढोर क्यों कहा? (क्योंकि) बनिया दारू-माँस नहीं खाता, इसलिए ढोर कहा। दारू, माँस खानेवाले हैं, वे सब तो मरकर नरक जानेवाले हैं। आहा...हा...! है न यह? कौन सा गाँव कहा था? इटली और ईरान। एक घण्टे में डेढ़ करोड़ के तेल की आमदनी है। देश छोटा, कुएँ बहुत निकले हैं! वे तो उसे काला सोना कहते हैं। एक घण्टे में डेढ़ करोड़ की आमदनी! इसके अतिरिक्त दूसरा देश है, उसमें एक दिन की एक अरब की आमदनी है। कुएँ में से तेल निकलता है, देश छोटा है परन्तु वह मरकर बेचारे सीधे नरक जानेवाले हैं, क्योंकि वे तो मुसलमान हैं। इसलिए माँस खाते हैं, शराब पीते हैं। आहा...हा...! और बनिये को तो यह नहीं होता, इसलिए उसे अज्ञान में राग-द्वेष और तिरछा-आड़ा (कपट परिणाम) कषाय हो तो वह मरकर तिरछेपन में जायेंगे, उनका शरीर सीधा नहीं होता। गाय, भैंस, घोड़ा ऐसे आड़े हैं। हैं कि नहीं? ये (बनिये) सब वहाँ जायेंगे! बनिया अर्थात् व्यापार करता है, वह बनिया। आहा...हा...! बहुत कठोर काम।

यह तो मेरे घर का अनुभव कहा नहीं था? उस दिन हमारी बुआ का लड़का भागीदार था न? उसे दुकान का ममता बहुत! हमारी दो दुकान थी, (एक में) उसके बड़े भाई और मैं और एक में मेरे बड़े भाई और वे (भागीदार थे)। संवत् १९६६ की बात है, २० वर्ष की उम्र थी। कितने (वर्ष) हुए? ६९ वर्ष हुए! ८९ (वाँ वर्ष) चलता है न! मैं तो भगत कहलाता था न! पहले से मेरी रटन यह थी न! शास्त्र पढ़ता वहाँ। कुँवर जी भाई मुझसे चार वर्ष बड़े थे। बुआ का लड़का भागीदार था। अभी आठ दिन पालेज गये थे न! बड़ोदरा से पालेज गये थे। (उन्हें) इतनी ममता थी, मैंने ऐसे दुकान सम्हाली, मैंने दुकान बढ़ायी! मुझसे चार वर्ष बड़े थे, मैंने कहा - याद रखो कुँवरजी भाई! १९६६ की बात! सब बातें तुम्हारे जन्म के पहले की हैं। कुँवरजी भाई मैं कहूँ तुमसे? मेरे सामने कोई बोलते नहीं (ऐसा कहते) भगत है, इनके सामने बोलना नहीं। (मैंने कहा) देखो कुँवरजी भाई!

मैं कहूँ तुमसे ? मरकर नरक नहीं जाओगे क्योंकि अपने यहाँ कोई माँस और मछली खाता नहीं। तेरे देव में जाने के लक्षण मुझे नहीं लगते तथा मनुष्य में जाने के लक्षण नहीं लगते... सुनते थे, सामने नहीं बोलते थे। भगत है, बोलना नहीं ! यह कहें वह सुनो ! (फिर मैंने कहा) पशु होगा याद रखना ! तेरे दो लाख की आमदनी क्या है ! पूरे दिन ममता-आड़ी... आडी... कषाय-क्रोध-मान-माया-लोभ ! (इसके फल में) तिरछा-पशु होगा। उसे मरते समय सन्निपात हुआ। सन्निपात हुआ तो लबालब होने लगा। मैंने ऐसा किया... मैंने ऐसा किया... मैंने ऐसा किया... ! मरकर ढोर हुआ होगा। लड़के कहें महाराज ने उस दिन कहा था, उसका यह परिणाम आया। बहुत अभिमान ! बुद्धि थोड़ी थी। बुद्धि कोई ऐसी नहीं थी, सब समझने जैसी थी। हम तो साथ रहे न ! (इसलिए पता है) परन्तु कमाने का अभिमान बहुत ! आहा...हा... ! मरकर बापा ! भाई ! तू तिर्यञ्च होगा हो... ! आहा...हा... ! २१ वीं साल में मर गया। कितने वर्ष हुए ? चौदह वर्ष पहले। तिर्यञ्च में गया होगा। कोई बछड़ा हुआ होगा या बकरी हुआ होगा ! अर...र...र... !

बापू ! यह भगवान ऐसा कहते हैं कि जिसने माँस और शराब नहीं (खाये-पीये) परन्तु जिसे विषय-कषाय के परिणाम तिरछे-स्वभाव से उल्टे हैं, उनका बहुत सेवन किया हो, उसके फल में; मनुष्य सीधे हैं और तिर्यञ्च ऐसे आड़े हैं - गाय, भैंस, छिपकली ये सब आड़े - तिछाई में जानेवाले; तिरछाई की है तो तिरछाई में जानेवाले हैं। आहा...हा... !

यहाँ कहा है, देखो न ! **अत्यन्त चञ्चल-तरल-अस्थिर वर्तता हुआ,...** आहा...हा... ! यह इन्द्रियज्ञान बापा... ! बापा... ! यह देखना और यह बहीखाता लिखना और वह लिखना और वह लिखना... आहा...हा... ! (ऐसा) **अस्थिर वर्तता हुआ, अनन्तशक्ति से च्युत होने से...** आहा...हा... ! वापस सारांश यह लेना है। प्रभु अन्दर में अनन्त शक्तिवाला आनन्द है। अन्दर अनन्त आनन्द की गाँठ प्रभु है। भाई ! तुझे पता नहीं है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द छलाछल भरा है, आत्मा में अतीन्द्रिय ज्ञान छलाछल भरा है - ऐसी अनन्त शक्ति से च्युत हुआ है, खिसक गया है, उसे ! यहाँ नहीं कहते मस्तिष्क फिर गया है ? इसका मस्तिष्क फिर गया था - ऐसा यहाँ कहते हैं। वह लौकिक में चतुर कहलाता है परन्तु फिर गया हो तो वह पागल कहलाता है परन्तु वास्तविक पागल यह है। आहा...हा... ! है ?

अनन्तशक्ति से च्युत होने से... आहा...हा...! इन पाँच इन्द्रियों के ओर के ज्ञान से... आहा...हा...! अज्ञान से, मिथ्यात्व से ढँक गया है। इससे इसका चञ्चल अस्थिर हुआ ज्ञान, अनन्त शक्ति से च्युत हुआ है। प्रभु! अनन्त शक्ति का स्वामी अन्दर विराजमान है। आहा...हा...! जिसमें केवलज्ञान-एक समय की केवल शक्ति, तीन काल-तीन लोक को जानती है! ऐसी एक समय की केवलज्ञान (शक्ति)! ऐसी अनन्त केवलज्ञान की शक्ति इस ज्ञान गुण में पड़ी है। आहा...हा...! समझ में आया? भगवान केवलज्ञान में एक समय में तीन काल-तीन लोक जानते हैं। एक समय की पर्याय में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो - ऐसी केवलज्ञान की अनन्त पर्यायें! एक समय, दूसरा समय, तीसरा समय... (ऐसी) अनन्त! उन अनन्त केवलज्ञान की पर्यायों का पिण्ड एक ज्ञानगुण! ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का स्वामी शक्तिवान प्रभु है!! उस शक्तिवान से च्युत हो गया है। तुम्हारे यहाँ की अपेक्षा यह दूसरी जात है। आहा...हा...!

श्रोता : हमारी दिखे - ऐसी जात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ धूल भी नहीं है। आहा...हा...!

आहा...हा...! यहाँ कहते हैं **अनन्तशक्ति से च्युत होने से...** आहा...हा...! इन्द्रियज्ञान, इन्द्रियसुख का साधन अर्थात् दु:ख का साधन है। यह इन्द्रियज्ञान, अनन्त शक्ति के स्वामी प्रभु में से च्युत हो गया है - भ्रष्ट हो गया है। आहा...हा...! समझ में आया कुछ? **अत्यन्त विक्लव वर्तता हुआ,....** विक्लव (अर्थात्) अत्यन्त खिन्न; दु:खी; घबराया हुआ। इन्द्रियज्ञान अति खिन्न, दु:खी, घबराया हुआ ज्ञान है।

ओहो...हो...! यह भगवान की वाणी है। सन्त आढ़तिया होकर जगत् को प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! क्या किया तूने? अनन्त गुण का स्वामी प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ! उसे भूलकर और इस इन्द्रियज्ञान और इस इन्द्रियसुख में तूने सर्वस्व माना है!! तू भ्रष्ट हुआ है। आहा...हा...! सुख तो आत्मा में है, उसके बदले इन्द्रियसुख में सुख माना है, इन्द्रिय का ज्ञान करके सुख (माना है)। इसे साधन कहा है न? आहा...हा...! यह सुनना कठिन पड़ता है! भाई! मार्ग ऐसा है! दुनिया चाहे जिस प्रकार आत्मा को प्रसन्न करे परन्तु वह दु:खी है। आहा...हा...!

विक्लव वर्तता हुआ,.... विक्लव = खिन्न; दु:खी, घबराया हुआ। अरे... ! इतना जानने में नहीं आता। अरे... ! इतना जानने में नहीं आता। आहा...हा... ! लड़के-लड़कियों का विवाह करना हो तो घबराता है कि अपने स्तर प्रमाण कन्या मिले तो अपना ठीक रहेगा, वरना ठीक नहीं कहलायेगा और अपनी कन्या भी किसी ठीक (घर) में जाये तो अपना स्तर समान कहलायेगा। आहा...हा... ! यह घबराया हुआ ज्ञान है (ऐसा कहते हैं)। यह दु:खी है... आहा...हा... ! अपने स्तर अनुसार-घर का स्तर हो उसके अनुसार चाहिए न सब !

जसदण दरबार बीछिया 'आलोखाचर' था न ! वह उसे कन्या देता था कि बकरियों को चराता हो उसे बुलाता, वह होवे काठी; उसे बुलाकर कन्या देता और एक गाँव देता। वह बाई जीवित रहे, तब तक रहे, बाई मर जाए तो फिर वह गाँव ले ले। यह जसदण 'मोडुका' है न ! देखा है न, सब देखा है। वह आता था। उसका दामाद हमारे पास आता था। आहा...हा... ! ऐसा कहता कि यदि यह हो तो बाई को बाहर का अनुकूल सुख मिले। यह घबराया हुआ है। उसका दामाद हमारे पास आता था।

श्रोता : इन्द्र तो भगवान को हजार आँखें करके देखता है !

समाधान : वह तो समकिती है। वह तो अन्दर सम्यग्दर्शन, अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वामी है, फिर इन्द्रिय तो उसका व्यवहार है। भगवान का रूप ऐसा होता है। उसका आत्मा तो अनन्त... अनन्त... केवलज्ञान पायेगा (- ऐसी पात्रता है)। माता के गर्भ में आवे तब से वे तो तीन ज्ञान का स्वामी है परन्तु उसके शरीर की ऐसी सुन्दरता होती है कि इन्द्र हजार आँख करके (देखे तो भी) तृप्ति नहीं होती। आहा...हा... ! परन्तु इन्द्र समकिती है ! एकावतारी है ! उसे उस जाति का प्रेम-राग आता है; इसलिए भक्ति करता है। शकेन्द्र है, सौधर्म देवलोक है न ! बत्तीस लाख विमान हैं, एक-एक विमान में असंख्य देव हैं, ऊपर बत्तीस लाख विमान हैं उनका वह स्वामी है। वह एक भव में मोक्ष जानेवाला है। वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है और उसकी एक पत्नी है-स्त्री... करोड़ों इन्द्राणियाँ हैं, उनमें एक इन्द्राणी-पटरानी ऐसी है कि वह भी एकावतारी है। उत्पन्न हुई तब मिथ्यात्व में (थी)। बाई-स्त्री थी न ? स्त्रीरूप से उत्पन्न होनेवाले सब मिथ्यादृष्टि होते हैं। समझ में आता है कुछ ? देवलोक में स्त्रीरूप से ऊपजी, तब मिथ्यादृष्टि थी परन्तु फिर इन्द्र के साथ

समवसरण में भगवान के पास जाने से वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त किया और वह ऐसी है कि वह भी मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाली है। पति-पत्नी दो हैं। सौधर्म देवलोक! आहा...हा...! समझ में आया? भगवान के पास आने पर भी उसे सब भान था कि यह विकल्प है, वह दु:ख है, राग है। भक्ति का राग आता है, वह भी राग है और यह किञ्चित् विषय की वासना उत्पन्न होती है, वह पाप और ज़हर है। आहा...हा...! इन्द्रिय में सुख है - ऐसा बिलकुल नहीं मानते। आहा...हा...! वासना उत्पन्न होती है तो ज़हर जैसी लगती है। आहा...हा...! ऐसा देव और उसकी देवी एक भव से मोक्ष जानेवाले हैं। वे भगवान को हजार आँख से देखते हैं। आहा...हा...! तथापि उन्हें समकित है तो अतीन्द्रिय ज्ञान है। अतीन्द्रियज्ञान के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...!

यहाँ (अज्ञानी ने) अतीन्द्रियज्ञान के साथ सम्बन्ध तोड़ दिया है। इन्द्रियज्ञान में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, उसका सम्बन्ध तोड़ डाला है। आहा...हा...! च्युत हुआ है न? **अनन्तशक्ति से च्युत होने से अत्यन्त विक्लव वर्तता हुआ,...** दु:खी वर्तता हुआ। आहा...हा...! परन्तु उसे दु:ख कहाँ लगता है? लगे कैसे? आत्मा का आनन्द देखा हो तो उसके साथ मिलान करे तो लगे न? इसे इन्द्रियों में दु:ख लगता कहाँ है? आहा...हा...! वह तो दु:ख है। इन्द्रियों के विषय हैं, वे दु:ख हैं, ज़हर हैं; ज़हर के प्याले हैं। आहा...हा...! यह ऐसा कहते हैं, देखो!

अत्यन्त विक्लव वर्तता हुआ, महामोह-मल्ल के जीवित होने से... आहा...हा...! इसमें सुख है - ऐसी मिथ्यादृष्टि महामोह है। आहा...हा...! यह इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख है, वह सुख है, यह मुझे ज्ञान है (यह महामोह है)। आहा...हा...!

भरत चक्रवर्ती थे। भगवान ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती थे। देवों की ओर से पाँच बड़े महल बनाये अद्भुत महल जो चक्रवर्ती को ही होते हैं, दूसरों को नहीं। एक-एक (महल) अरबों रुपये की कीमत का! (चक्रवर्ती) प्रात:काल उठकर एक बार ऐसे सूर्य के सामने नजर करते हैं। आँख का विषय कितना है - यह बताना है। भरत चक्रवर्ती उसी भव से मोक्ष जानेवाले, यह देह छूटकर मोक्ष जानेवाले हैं, मोक्ष गये हैं परन्तु वे जब गृहस्थाश्रम में थे, (तब) एक बार सूर्य के सामने इतनी उत्कृष्ट नजर गयी की सूर्य में जिन

का मन्दिर है। सूर्य में शाश्वत् मूर्ति का मन्दिर है। यह दिखता है, वह तो पत्थर है परन्तु उसमें शाश्वत् मूर्ति है, उसके दर्शन किये। आँख की इतनी शक्ति थी; तथापि वह आँख का ज्ञान ढँका हुआ है, यह भी जानते हैं। आहा...हा... ! कहाँ यहाँ भरतक्षेत्र के मनुष्य! ऐसे पाँच बड़े महल कि जिसका एक-एक पत्थर नीलमणि का भरा हुआ! नीलमणि! एक-एक टुकड़े के करोड़ों रुपये! ऐसे पाँच पूरे महल के महल, उन पर चढ़कर एक बार ऐसा देखा (और) सूर्य में भगवान की मूर्ति है, वहाँ नजर गयी। इसलिए यह अज्ञानी लोग प्रात:काल सूर्य को पैर लगते हैं न! सूर्य तो जड़ है तो भरत पैर लगे न ? परन्तु भरत तो पैर लगे थे, शाश्वत् प्रतिमा है उसे! आहा...हा... ! ऐसा है।

ऐसा ज्ञान **विक्लव वर्तता हुआ, महामोह-मल्ल के जीवित होने से....** अरे... ! मिथ्या मान्यता जीवित होने से, यह इन्द्रियज्ञान वह ज्ञान है; इन्द्रियसुख वह सुख है - ऐसा मिथ्यात्व, महामोह-मल्ल जीवित है। महामोह-मल्ल ने इसे जीत लिया है। आहा...हा... ! आहा...हा... ! **महामोह-मल्ल के जीवित होने से पर-परिणति का (-पर को परिणमित करने का) अभिप्राय करने पर...** अब, यह क्या कहते हैं ? 'इन इन्द्रियों को ऐसी रखूँ!' वे तो जिस समय जैसी रहनेवाली होंगी, वैसी रहेंगी परन्तु इन्द्रियों को ऐसी रखूँ, कान को ऐसा रखूँ, जीभ को ऐसा रखूँ, शरीर की स्पर्शेन्द्रिय को ऐसे रखूँ; इस प्रकार परद्रव्य को परिणमित कराने का अभिप्राय करता हुआ (परिणमित होता है) और इन्द्रियज्ञान के निमित्त हैं, उन्हें मिलाने के लिए **अभिप्राय करता हुआ....** (ऐसा मिथ्या अभिप्राय करता हुआ)। आहा...हा... ! कड़क बात है। ऐसा उपदेश किस जाति का ? इसमें हमें करना क्या, यह क्या आया ? बापू! करना यही है कि अन्दर अतीन्द्रिय आत्मा भगवान है, उसमें सुख भरा है, उसमें आनन्द है, उसमें ईश्वरता है, आहा... उसमें स्वच्छता है, उसमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होने की ताकत है आहा... वहाँ नजर कर! अब इसे छोड़, इन्द्रियज्ञान को छोड़! आहा...हा... ! बहुत कठिन काम है। ऐसे मोती के दाने जैसे (अक्षर से) अच्छा नामा (बहीखाता) लिखे! पाँच हजार का वेतन, दस हजार का वेतन दे! अरबोंपति हो तो दस-दस हजार का वेतन दे! (यहाँ पर यह कहते हैं कि) पर का करने के लिये खेदखिन्न है। पर का करने के लिए खेदखिन्न है। मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। पर का कुछ नहीं कर

सकता। आहा...हा...! (पुत्र को) सम्हालने का भाव, वह मूढ़ है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अरे...रे...!

यहाँ कहते हैं विक्लव - अत्यन्त दु:खी है। इन्द्रियज्ञानवाला अत्यन्त दु:खी है। आहा...हा...! जिसे अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ परमात्मा नजर में नहीं आया है, नजर नहीं करता, वहाँ से च्युत हो गया है। यहाँ तो ऐसी बात है बापा! आहा...हा...! कहते हैं कि **(- पर को परिणमित करने का)....** (अर्थात्) इन्द्रियों को ऐसा रखूँ, उन्हें ऐसी खुराक दूँ, भस्म दूँ! आहा...हा...! उन्हें सालमपाक दूँ, इसमें धूल में क्या है? आहा...हा...!

चक्रवर्ती को जो बत्तीस ग्रास का आहार होता है, उस एक-एक ग्रास की अरबों की कीमत है, अकेली भस्म होती है। उसकी रोटी बनावे उसमें अरबों रुपयों की भस्म डालते हैं। ऐसे बत्तीस ग्रास होते हैं, वह बत्तीस ग्रास खा सकता है। उसका एक ग्रास छयानवें करोड़ सैनिक नहीं पचा सकते। छ्यानवे करोड़ सैनिक चक्रवर्ती का बत्तीस (ग्रास) नहीं बचा सकते! वह बत्तीस ग्रास खाता हो और अन्दर समकिती हो, तथापि उन पर लक्ष्य नहीं है, उनका आश्रय नहीं है, वह हेय है, हेय है। आहा...हा...!

भरत चक्रवर्ती के लिए बात आती है कि उसके भोजन के लिए ऐसा होता है कि ३६० बड़े अमलदार होते हैं। वे अमलदार बारह महीने तक रसोई की तैयारी करते हैं। एक दिन रसोईया को हुक्म करना है। रसोईया होते हैं, उन्हें ३६० अमलदार होते हैं। उनमें एक-एक अमलदार को ३६० दिन में एक दिन की रसोई का हुक्म करना है। वह सब तैयारी वह ३६० दिन करता है! तथापि आत्मज्ञानी; जिसे अन्तर में आत्मा के आनन्द का भान है, वह उसमें सुख नहीं मानता। आहा...हा...! समझ में आया कुछ? हीरे की भस्म खाता है न? हीरा! करोड़ों के हीरे होते हैं, उनकी भस्म करता है। भस्म करके गरम घी में दाने डालते हैं और वह भस्म डालते हैं, इसलिए गेहूँ के दाने भस्म पी जाते हैं। गेहूँ के दाने पी जाने के पश्चात् उसका आटा बनाते हैं और उसकी रोटी बनाते हैं।

श्रोता : उसे पच जाता है?

समाधान : उसे पच जाता है। जैसे तुम्हारी रोटी पचे, ऐसे ही उसे वह पच जाता है। यहाँ तो दूधपाक, गरिष्ठ आया हो तो पचना मुश्किल पड़ता है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि इन्द्रिय का ज्ञान और इन्द्रिय का सुख, वह **(- पर को परिणमित करने का) अभिप्राय करने पर....** आहा...हा... ! आँख को ऐसे रखूँ और कान को ऐसे रखूँ, नाक को ऐसे रखूँ... आहा...हा... ! उन्हें देखने के लिए इन्द्रियों के पदार्थ अपने सामने रखूँ कि जिससे देखने में सामने मिले। आहा...हा... ! नजदीक रखूँ, सामने रखूँ - ऐसा करना चाहता है परन्तु उससे परपदार्थ परिणमेंगे नहीं। यहाँ आना या न रहना, वह तो पदार्थ की स्वतन्त्र स्थिति है परन्तु यह अभिप्राय-मिथ्यात्व ऐसा सेवन करता है कि मैं उन्हें परिणमा दूँ। आहा...हा... ! है ? **पर-परिणति का (- पर को परिणमित करने का) अभिप्राय करने पर...** मिथ्याश्रद्धा ! आहा...हा... ! **अभिप्राय करने पर भी पद-पद पर ठगाता हुआ,...** यह प्रतिक्षण ठगाता है। आहा...हा... ! पद-पद में ठगाता हुआ अर्थात् एक-एक ज्ञान में ठगाता जाता है। (अर्थात्) कुछ का कुछ ज्ञात हो जाता है। अरे... ! यह नहीं जाना। अरे... ! मुझे यह नहीं हुआ। एक विषय लेते हुए दूसरे विषय की तैयारी हो जाती है (और) वहाँ दूसरा विषय नहीं हो तो खेद... खेद... (हो जाता है)। आहा...हा... !

(इस प्रकार) **पग-पग पर ठगाता हुआ, परमार्थतः अज्ञान में गिने जाने योग्य है।....** इस इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख में अज्ञान है, मिथ्यात्व का भ्रम है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! **इसलिए वह हेय है।** यह साराँश ! इन्द्रियज्ञान परमार्थ से अज्ञान गिनने योग्य है (क्योंकि) पग-पग पर ठगाते हैं। जानना कुछ हो और जानने में कुछ आता है। दूसरे पदार्थ को परिणमाने का - बदलने का अभिप्राय करता हुआ (परिणमता है) तथापि बदलना-न बदलना इसके आधीन नहीं है। यह प्रतिक्षण ठगाता है - ऐसा ज्ञान है, उसे हेय कहा जाता है। आहा...हा... ! कहो, इसमें कुछ समझ में आया ? है ? **वह हेय है।** आहा...हा... !

अतीन्द्रियज्ञान भगवान ! इन्द्रियज्ञान से लक्ष्य छोड़कर इन्द्रियसुख से भी लक्ष्य छोड़कर, प्रभु अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द का नाथ अन्दर है, आहा...हा... ! भगवत्स्वरूप है ! महात्मा है ! महा आत्मा है ! भगवत्स्वरूप ही है। जिन स्वरूप प्रभु है। आहा...हा... ! वहा दृष्टि को जोड़ दे, वहाँ तुझे सुख होगा। बाकी कहीं सुख नहीं है। आहा...हा... !

भावार्थ – इन्द्रियज्ञान इन्द्रियों के निमित्त से मूर्त स्थूल इन्द्रियगोचर... (अर्थात्) इन्द्रियगम्य **पदार्थों को ही क्षायोपशमिक ज्ञान के अनुसार जान सकता है। परोक्षभूत वह इन्द्रियज्ञान इन्द्रिय, प्रकाश, आदि बाह्य सामग्री को ढूँढ़ने की ....** (अर्थात्) प्रकाश होवे तो हो, दीपक होवे तो हो, अमुक होवे तो दिखे (ऐसी)। **व्यग्रता के (अस्थिरता के) कारण अतिशय चञ्चल-क्षुब्ध है, अल्प शक्तिवान् होने से खेद खिन्न है,....** आहा...हा...! **परपदार्थों को परिणमित कराने का अभिप्राय होने पर....** (अर्थात्) यहाँ पर ऐसा परपदार्थ लाऊँ, ऐसे रखूँ, ऐसे छोड़ूँ, परन्तु परपदार्थ स्वतन्त्र है। **पद-पद पर ठगा जाता है...** आहा...हा...! **(क्योंकि परपदार्थ आत्मा के आधीन परिणमित नहीं होते) इसलिए परमार्थ से वह ज्ञान 'अज्ञान' नाम के ही योग्य है।** वह ज्ञान, अज्ञान है – ऐसा कहते हैं। कुज्ञान है। आहा...हा...! इन्द्रियसुख है, वह दुःख है; इन्द्रियज्ञान है, वह अज्ञान है और सुख है वह दुःख है।

भगवान आत्मा का अन्तरज्ञान होना और अन्दर में सुख मिलना, वह वस्तु है। वह बताने के लिए यह बताया है। इसका तात्पर्य कहीं इसमें खड़ा रखने के लिए है ? बापू! वह छोड़ने जैसा है और अन्तर में भगवान विराजते हैं, वहाँ दृष्टि करने जैसी है। वहाँ तुझे सुख मिलेगा। (विशेष कहेंगे....) 1

मुनिराज की उदासीन परिणति

मुनिवरों की परिणति एकदम अन्तरस्वभाव में ढल गई है, इसलिए जगत की ओर से वे अत्यन्त उदासीन हो गये हैं। जैसे, बीस वर्ष के इकलौते पुत्र की मृत्यु पर उसकी माता अत्यन्त उदास-उदास हो जाती है, उसी प्रकार जिनका मोह मर गया है – ऐसे मुनिवर, संसार से एकदम उदासीन हो गये हैं। दृष्टान्त में माता की उदासीनता तो मोहकृत है, जबकि मुनिवरों की उदासीनता तो निर्ममत्व के कारण है। माता, पुत्र प्रेम के कारण उदास हुई है तो मुनि, चैतन्य के प्रेम के कारण संसार से उदासीन हुए हैं।

(आत्मधर्म, वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण सम्वत् 2486)

गाथा - ५६

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति -

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति।।५६।।

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्यन्ति।।५६।।

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः। अथेन्द्रियैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात्। इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेत्र्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्दियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्ध्येत्, परोक्षत्वात्।।५६।।

अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञानं रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति - **फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति** स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पुद्गला मूर्ता भवन्ति। ते च विषयाः। केषाम्। **अक्खाणं** स्पर्शनादीन्द्रियाणां। **ते अक्खा** तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तृणि **जुगवं ते णेव गेण्हंति** युगपत्तान् स्वकीयविषयानपि न गृह्यन्ति न जानन्तीति। अयमत्राभिप्राय :- यथा सर्वप्रकारो-पादेयभूतस्यानन्तसुखस्योपादानंकारणभूतं केवलज्ञानं युगपत्समम्तं वस्तु जानत्सत् जीवस्य सुखकारणं भवति, तथेदमिन्द्रियज्ञानं स्वकीयविषयेऽपि युगपत्परिज्ञानाभावात्सुखकारणं न भवति।।५६।।

अब, इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयों में भी युगपत् प्रवृत्त नहीं होतीं, इसलिए इन्द्रियज्ञान हेय ही है, ऐसा निश्चय करते हैं -

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण अरु जो, शब्द पुद्‌गल के कहे।
हैं इन्द्रियों के विषय फिर भी, नहीं इन्द्रियाँ युगपद् ग्रहें॥

अन्वयार्थ : [स्पर्शः] स्पर्श, **[रसः च]** रस, **[गंधः]** गन्ध, **[वर्णः]** वर्ण **[शब्द च]** और शब्द **[पुद्‌गलाः]** पुद्‌गल हैं, वे **[अक्षाणां भवन्ति]** इन्द्रियों के

विषय हैं **[तानि अक्षाणि]** (परन्तु) वे इन्द्रियाँ **[तान्]** उन्हें (भी) **[युगपत्]** एक साथ **[न एव गृह्णन्ति]** ग्रहण नहीं करतीं (नहीं जान सकतीं)।

टीका : मुख्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण - यह पुद्गल के मुख्य गुण हैं। मुख्य ऐसे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण तथा शब्द - जो कि पुद्गल हैं, वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने योग्य (ज्ञात होने योग्य) हैं। (किन्तु) इन्द्रियों के द्वारा वे भी युगपद् (एक साथ) ग्रहण नहीं होते (जानने में नहीं आते), क्योंकि क्षयोपशम की उस प्रकार की शक्ति नहीं है। इन्द्रियों के जो क्षयोपशम नाम की अन्तरङ्ग ज्ञातृशक्ति है, वह कौवे की आँख की पुतली की भाँति क्रमिक प्रवृत्तिवाली होने से अनेकतः प्रकाश के लिए (एक ही साथ अनेक विषयों को जानने के लिए) असमर्थ है, इसलिए द्रव्येन्द्रियद्वारों के विद्यमान होने पर भी समस्त इन्द्रियों के विषयों का (विषयभूत पदार्थों का) ज्ञान एक ही साथ नहीं होता, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है।

भावार्थ - कौवे की दो आँखें होती हैं, किन्तु पुतली एक ही होती है। कौवे को जिस आँख से देखना हो, उस आँख में पुतली आ जाती है; उस समय वह दूसरी आँख से नहीं देख सकता। ऐसा होने पर भी, वह पुतली इतनी जल्दी दोनों आँखों में आती-जाती है कि लोगों को ऐसा मालूम होता है कि दोनों आँखों में दो भिन्न-भिन्न पुतलियाँ हैं; किन्तु वास्तव में वह एक ही होती है। ऐसी ही दशा क्षायोपशमिक ज्ञान की है। द्रव्य-इन्द्रियरूपी द्वार जो पाँच हैं, किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय एक इन्द्रिय द्वारा ही जाना जा सकता है; उस समय दूसरी इन्द्रियों के द्वारा कार्य नहीं होता। जब क्षायोपशमिक ज्ञान, नेत्र के द्वारा वर्ण को देखने का कार्य करता है, तब वह शब्द, गन्ध, रस या स्पर्श को नहीं जान सकता अर्थात् जब उस ज्ञान का उपयोग नेत्र के द्वारा वर्ण के देखने में लगा होता है, तब कान में कौन से शब्द पड़ते हैं या नाक में कैसी गन्ध आती है, इत्यादि ख्याल नहीं रहता। यद्यपि ज्ञान का उपयोग एक विषय में से दूसरे में अत्यन्त शीघ्रता से बदलता है, इसलिए स्थूलदृष्टि से देखने में ऐसा लगता है कि मानों सभी विषय एक ही साथ ज्ञात होते हों, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय में एक ही इन्द्रिय के द्वारा प्रवर्तमान होता हुआ स्पष्टतया भासित होता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों में भी क्रमशः प्रवर्तमान होने से परोक्षभूत इन्द्रियज्ञान हेय है॥ ५६॥

प्रवचन नम्बर - ५६ **दिनाङ्क - ०३ मार्च १९७९**

प्रवचनसार ५६ गाथा '**अब, इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयों में भी युगपत् प्रवृत्त नहीं होतीं...**' क्या अधिकार चलता है ? कि जो इन्द्रियज्ञान है, वह हेय है। अतीन्द्रियज्ञान भगवान आत्मा, यह अन्तर में उपादेय है। आ... हा...! बाह्य वस्तु तो हेय है परन्तु इन्द्रियज्ञान भी हेय है, पुण्य-पाप का भाव तो हेय है परन्तु यह जड़ इन्द्रियों के निमित्त से जो ज्ञान होता है, वह भी हेय है; दुःखदायक है। आहा... हा...!'**इसलिए इन्द्रियज्ञान हेय ही है, ऐसा निश्चय करते हैं**' आहा... हा...! ५६ (गाथा)

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पोग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति।।५६।।

नीचे हरिगीत -

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण अरु जो, शब्द पुद्गल के कहे।
हैं इन्द्रियों के विषय फिर भी, नहीं इन्द्रियाँ युगपद् ग्रहें॥

टीका : 'मुख्य स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण - यह पुद्गल के मुख्य गुण हैं। मुख्य ऐसे स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण तथा शब्द - जो कि पुद्गल हैं...' वह तो जड़ पुद्गल हैं न ? आहा... हा...!'**वे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने योग्य (ज्ञात होने योग्य) हैं...**' आहा... हा...! रंग, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं '**(किन्तु) इन्द्रियों के द्वारा वे भी युगपद् (एक साथ) ग्रहण नहीं होते (जानने में नहीं आते),....**' आहा... हा...! पाँच इन्द्रियों से ग्रहण होता है लेकिन पाँचों इन्द्रियों के विषय एक साथ ग्रहण नहीं होते। अभी और विशेष कहेंगे.... आहा... हा...!

इन्द्रियज्ञान हेय है, दुःखरूप है, खेद है। आहा... हा...! (अज्ञानी जीव) इस इन्द्रियज्ञान में अनादि से सुख मान रहा है, उसके लिए बात कहते हैं - आहा... हा...! पर जीव तो हेय हैं, शुभाशुभभाव भी हेय है परन्तु इन्द्रियज्ञान भी हेय है; ज्ञान में इन्द्रियज्ञान भी हेय है। आहा... हा...! वास्तव में तो इन्द्रियज्ञान से जो शास्त्र सुनने में आया और शास्त्र का

ज्ञान हुआ, वह भी इन्द्रियज्ञान है। आहा... हा... ! दुःखरूप है। श्रवण करके अपनी पर्याय में ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा का नहीं है, वह तो शब्दों का ज्ञान, शास्त्र का ज्ञान हुआ। आ... हा... हा... ! वह भी दुःखरूप है – ऐसी बात है ! आहा... हा... ! सुखरूप तो यह आत्मा अन्तर आनन्दमूर्ति प्रभु है, उसकी दृष्टि करने से जो ज्ञान में से ज्ञान आता है और उसके साथ अतीन्द्रिय आनन्द आता है, उस ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है, समझ में आया ?

'इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने योग्य (ज्ञात होने योग्य) हैं, (किन्तु) इन्द्रियों के द्वारा वे भी युगपद् (एक साथ) ग्रहण नहीं होते (जानने में नहीं आते), क्योंकि क्षयोपशम की उस प्रकार की शक्ति नहीं है,' (अर्थात्) क्षयोपशम ज्ञान में इतनी शक्ति नहीं है कि सबको एक साथ जाने। आहा... हा... ! क्षयोपशम समझते हो ? ज्ञान का जो विकास है – वह क्षयोपशम। इस क्षयोपशम में भी इतनी ताकत नहीं है कि एक साथ पाँचों इन्द्रियों के विषय जाने। आहा... हा... ! **क्योंकि क्षयोपशम की उस प्रकार की शक्ति नहीं है।**

इन्द्रियों के जो क्षयोपशम नाम की अन्तरङ्ग ज्ञातृशक्ति है... (यानि कि) जानने की (शक्ति है) **वह कौवे की आँख की पुतली की भाँति...** कौवा होता है न कौवा ? कौवे को एक पुतली होती है, आँखें दो (होती हैं)। आँखें दो होती हैं, पुतली एक होती है, एकदम इस ओर घूमे तो यहाँ का देखे और दूसरी ओर घूमे तो वहाँ का देखे। पुतली एक ही होती है। लोगों को ख्याल नहीं आता कि यह दो हैं या एक है। कौवा होता है ना कौवा ? वह चपल कहा जाता है, उसके आँखें दो होती हैं लेकिन देखने की पुतली एक ही होती है। इस ओर घूमे तो भी दिखे और दूसरी ओर घूमे तो भी दिखे। आहा... हा... ! (इस तरह) **कौवे की आँख की पुतली की भाँति क्रमिक प्रवृत्तिवाली...** होती है। जैसे उसकी पुतली भी एक के बाद एक जानती है (अर्थात्) इस ओर रखे तो यहाँ का देखे, एक साथ दोनों को नहीं जान सकती। इस प्रकार इन्द्रियज्ञान क्रमिक प्रवृत्तिवाला होने से (अर्थात्) क्रमिक एक विषय को जाने तो दूसरे को नहीं जाने अर्थात् एक छोड़कर दूसरे को जाने, आ... हा... हा... !

अनेकतः प्रकाश के लिये (एक ही साथ अनेक विषयों को जानने के लिये) असमर्थ है,... एक राजा था, (उसकी बात) सुनी थी कि आहार ले, सामने वैश्या नाच करे, बाग के फूलों (के बीच) बैठे, इसलिए सुगन्ध ले सके – ऐसा माने कि पाँचों इन्द्रियों को एक साथ (ग्रहण करे), एकदम विषय फिरता है – एक में लक्ष्य होता है, उस समय दूसरे में नहीं होता, दूसरे में होता है, उस समय तीसरे में नहीं होता, उसकी भी कहाँ खबर है ? आँख से रूप देखे, तब सुनने में लक्ष्य नहीं होता। आहा... हा... ! सुनने में लक्ष्य हो तो आँख से नहीं देखता। एक इन्द्रिय का एक ही विषय देखता है, ऐसा है, समझ में आया ? आहा... हा... ! (इस प्रकार) **क्रमिक प्रवृत्तिवाली होने से अनेकतः प्रकाश के लिये (एक ही साथ अनेक विषयों को जानने के लिए) असमर्थ है...** आहा... हा... !

इसलिए द्रव्येन्द्रिय द्वारों के विद्यमान होने पर भी... क्या कहते हैं ? कि, ये द्रव्य इन्द्रियाँ विद्यमान हैं। आँख, कान सब भले हो ! (फिर भी) **समस्त इन्द्रियों के विषयों का (विषयभूत पदार्थों का) ज्ञान एक ही साथ नहीं होता...** एक कान, आँख, नाक, जीभ, स्पर्श (आदि) द्रव्येन्द्रिय तो एक साथ हैं परन्तु एक इन्द्रिय के विषय में दूसरा विषय जान नहीं सकता। आ... हा.... ! क्या कहते हैं यह ? भगवान (आत्मा) तो अनइन्द्रिय है न ! अनादि काल से पाँच इन्द्रिय की ओर के झुकाव के कारण एक इन्द्रिय के विषय पर लक्ष्य (हो तब दूसरे विषय का लक्ष्य नहीं होता)। द्रव्येन्द्रियाँ पाँचों पड़ी हैं परन्तु सुनने में लक्ष्य हो, तब रूप को नहीं देख सकता, रूप पर लक्ष्य हो तो उस समय सुन नहीं सकता। आ... हा... ! ज्ञान ऐसा अल्प और अधीर है। आ... हा... ! ऐसा तो ज्ञान क्रमिक (है)। कहाँ तक ले गये हैं ?!

आत्मा के अलावा दूसरे पदार्थ तो हेय हैं, तेरे में हैं ही नहीं। स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा, मकान ये तो धूल हैं, बाहर हैं, अन्तर में कर्म हैं वे भी हेय हैं।

श्रोता : हेय हैं कि ज्ञेय हैं ?

समाधान : हेय है, हेयरूप ज्ञेय है और आत्मा उपादेयरूप ज्ञेय है। बापू ! बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! आहा... हा... ! ज्ञेय – जानने लायक तो दोनों चीज हैं परन्तु ये इन्द्रिय से

ज्ञेय जानते हैं, वह हेय है और अतीन्द्रिय (ज्ञान से) अन्तर में जानते हैं, वह उपादेय है – आत्मा उपादेय है – ऐसी बातें! आहा... हा...!

वह कब निवृत्ति ले और अपनी चीज अन्दर में परमात्मस्वरूप विराजमान है (उसको जाने)? उस ओर वर्तमान ज्ञान की पर्याय का झुकाव करने से... पर्याय का झुकाव करने से, पर्याय स्वतन्त्र है (तो) स्वतन्त्ररूप से चैतन्यमूर्ति भगवान पर दृष्टि करने से उसको जो ज्ञान – आत्मज्ञान होता है, वह सच्चा ज्ञान है और इस ज्ञान में सुख है। इस पैसे में, स्त्री-पुत्र में सुख नहीं है – ऐसा कहते हैं, आहा... हा...!

श्रोता : घर में क्लेश होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्लेश तो अन्दर तू करता है, तेरी इन्द्रियों से (इन्द्रिय) ज्ञान में मजा है, यह क्लेश करता है। आ... हा... हा...! 'मृग की नाभि में कस्तूरी, मृग को खबर नहीं!' हिरन... हिरन! (उसकी) नाभि में कस्तूरी (है लेकिन) पता नहीं। कस्तूरी की गन्ध मानो बाहर से आती है (– ऐसा मानकर बाहर ढूँढता है), आ...हा...! इस प्रकार मृग जैसे मनुष्य, सुख तो अन्दर में है परन्तु सुख मानो बाहर से कहीं से मिलेगा... आ...हा...! इन्द्रिय से सुख मिलेगा (– ऐसा मानकर बाहर ढूँढता है)।

श्रोता : मृग जैसे मनुष्य?

समाधान : मृग से भी हलके! मृग को तो सुनने का योग भी नहीं है और इसे तो सुनने का योग है, फिर भी छोड़ता नहीं है!! आहा...हा...! उसकी कस्तूरी की बेचारे को खबर नहीं है। शिकारी उसे मारे, तब नाभि में से कस्तूरी निकलती है, वह कस्तूरी शिकारी ले जाता है। आहा...हा...! नाभि में कीमती कस्तूरी होती है! आ...हा...!

इसी प्रकार अन्दर यह परमात्मस्वरूप भगवान, द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय से भी पार (विराजमान है)। यह तो जड़ द्रव्येन्द्रिय है और एक-एक विषय को जाने वह भावेन्द्रिय है, उससे भी पार अन्दर भिन्न है। आ...हा...हा...! ऐसे परमात्मा को अन्तर्मुख होकर जानना, वह आनन्द का कारण है, बाकी इन्द्रियज्ञान तो दुःख का कारण है। आहा...हा...! पुण्य दुःख का कारण है, दुःखरूप है; पाप का परिणाम दुःखरूप है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना – ये भाव दुःखरूप हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के

परिणाम राग हैं, दु:खरूप हैं। ओ...हो...हो... ! इससे भी आगे (कहते हैं कि) इन्द्रिय से ज्ञान करता है, वह भी दु:खरूप है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! कहाँ तक ले गये हैं !

श्रोता : पैसा मिलना, वह दु:खरूप है ?

समाधान : पैसा दु:ख का निमित्त है। दु:ख तो ममता उत्पन्न करती है – पैसा मेरा, मैंने कमाये, मैं पैसेवाला हुआ – ऐसी ममता दु:खरूप है। पैसा दु:ख में निमित्त है। आहा...हा... ! पैसे की संख्या से ममता नहीं है, चक्रवर्ती का राज्य हो परन्तु सम्यग्दृष्टि है ! आहा...हा... ! छियानवें हजार स्त्रियाँ हैं, छियानवें करोड़ सैनिक हैं, जिसका आहार... कल कहा था न ? चक्रवर्ती को बत्तीस ग्रास का आहार है, बत्तीस ग्रास का (आहार) ! एक ग्रास की अरबों की कीमत ! हीरे की भस्म बनाकर रोटी बनावे, हीरे की भस्म करते हैं और घी में गरम करके (उसमें) भस्म डालते हैं और गेहूँ डालते हैं, गेहूँ भस्म को पी जाते हैं, उस गेहूँ की रोटी बनाते हैं, उसके बत्तीस ग्रास हों, उसे (वे) खाते हैं। एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक पचा नहीं सकते ! आहा...हा... ! फिर भी वे धर्मी-समकिती हैं ! आहा...हा... ! अन्तर (में) भान है कि मैं तो आनन्द और ज्ञान हूँ। यह (बाहर की) चीज मुझे सुखरूप नहीं है, मेरी सुखरूप चीज तो अन्दर है। आ...हा...हा... ! ऐसी चीज में (संयोग के बीच) रहने पर भी, जैसे श्रीफल में (अन्दर) गोला भिन्न रहता है, उसी प्रकार धर्मी, शरीर से श्रीफल के गोले की भाँति भिन्न रहते हैं। आ...हा...हा... ! अज्ञानी को पता नहीं है कि आत्मा क्या है (और) शरीर क्या है ? आ...हा...हा... !

यहाँ पर यह कहते हैं कि **इसलिए द्रव्येन्द्रिय द्वारों के विद्यमान होने पर भी...** यह पहले कहा कि कान हो, नाक हो ये तो जड़-मिट्टी भले हो, (वह) जड़ इन्द्रिय होने पर भी **समस्त इन्द्रियों के विषयों का (विषयभूत पदार्थों का) ज्ञान एक ही साथ नहीं होता....** आ...हा...हा... ! क्या कहते हैं ? पाँच द्रव्य इन्द्रियाँ एक साथ हैं, फिर भी उन पाँचों इन्द्रियों का ज्ञान अज्ञानी को एक साथ नहीं होता। आहा...हा... ! कौवे की पुतली की भाँति, पुतली एक है, आँखें दो हैं तो ऐसे-ऐसे फिरती है। वैसे ही जाननेवाला एक-एक इन्द्रिय द्वारा जाने, दूसरी इन्द्रिय की ओर लक्ष्य करे तो दूसरे को जाने, सामान्यरूप

से ऐसा लगे कि मैं तो सबको एकसाथ जानता हूँ। (किन्तु) ऐसा है नहीं। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें! इन्द्रियज्ञान भी ज़हर और दु:ख! अ...र...र...! इन्सान कब निवृत्त हो?

आनन्दमूर्ति प्रभु है! सुखानन्द की धर्मशाला है! 'मुम्बई' में ऐसा कुछ है न? 'सुखानन्द की धर्मशाला' है। यह आत्मा सुखानन्द की धर्मशाला है! सुख और आनन्दरूपी धर्म की शाला भगवान आत्मा है। आ...हा...हा...! इस ओर अन्तर्मुख देखना (उसके लिए) अनन्त पुरुषार्थ है। अपनी वर्तमान ज्ञानपर्याय को त्रिकाली की ओर ले जाना... आहा...हा...! उसमें जो ज्ञान होता है, वह आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द लेकर ज्ञान होता है। आहा...हा...! और पाँचों इन्द्रियाँ तो एक साथ विद्यमान हैं, फिर भी एक-एक इन्द्रिय का विषय क्रमिक जानते हैं; पाँचों इन्द्रियों का विषय एक साथ नहीं जान सकते। आहा...हा...! है? इसलिए यह इन्द्रियज्ञान आत्मा के लिए प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। आ...हा...हा...! प्रत्यक्ष तो अपना आत्मा के आश्रय से हो, वह प्रत्यक्ष (ज्ञान) है। यह (इन्द्रियज्ञान) प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष है। आहा...हा...! अपने आया था न परोक्ष ज्ञान? कल आया था न? परोक्ष ज्ञान नहीं आया था? सूक्ष्म तो है।

परोक्ष ज्ञान, चैतन्यसामान्य - चैतन्य भगवान सामान्य नित्यानन्द प्रभु के साथ अनादिरूढ़ सम्बन्ध होने पर भी... आ...हा...हा...! अपने स्वभाव से भिन्न है। क्या कहा? उसमें आया था न? ५५ गाथा! (दूसरे पन्ने पर टीका की) चौथी पंक्ति है। '**परोक्षज्ञान...**' आ...हा...हा...! इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, वह परोक्षज्ञान है। '**चैतन्य सामान्य के साथ....**' भगवान चैतन्य सामान्यरूप कायम रहनेवाली ध्रुव वस्तु है। आहा...हा...! '**(आत्मा का) अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी...**' आ... हा...हा...! भाषा दूसरी! क्या कहते हैं? कि जो यह इन्द्रिय से एक-एक इन्द्रिय का ज्ञान होता है, वह सब परोक्ष ज्ञान है और यह परोक्ष ज्ञान जो है (वह) प्रत्यक्ष नहीं है (क्योंकि) आत्मा के आश्रय से (नहीं हुआ, इसलिए) परोक्ष है। उस कारण से... आहा...हा...! चैतन्य सामान्य के साथ... थोड़ी सूक्ष्म बात है। चैतन्य सामान्य जो त्रिकाली है, ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा! ध्रुव सामान्य स्वरूप जो ध्रुव है... आहा...हा...! उसके साथ '**अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी...**' चैतन्य सामान्य जो ध्रुव भगवान आत्मा! उसके साथ परोक्षज्ञान का सम्बन्ध

अनादि का है। अनादि से इन्द्रियज्ञान ही किया है परन्तु (उसका) सम्बन्ध चैतन्य सामान्य के साथ है। आ...हा...हा...!

चैतन्य सामान्य जो आनन्दकन्द प्रभु है, उसका विशेष हो तो आनन्द, ज्ञान और शान्ति मिले परन्तु वह विशेष ज्ञान नहीं करके, चैतन्य सामान्य में अनादि से इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से अनादिरूढ़ दृढ़तर हो गया है। आहा...हा...! है? '**अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकार समूह) द्वारा आवृत्त हो गया है,...**' आ...हा...हा...! शब्द अलग प्रकार के हैं!

चैतन्य आनन्दकन्द की गाँठ है, प्रभु! त्रिकाल एकरूप सामान्य! उस पर यह इन्द्रिय ज्ञान '**आ...हा...हा...! अनादिसिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढ़तर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकार समूह) द्वारा आवृत्त हो गया है, ऐसा आत्मा, पदार्थ को स्वयं जानने के लिए असमर्थ होने से...**' आ...हा...हा...! अपनी पर्याय में अपने से जानने को असमर्थ हुआ। बाहर ढूँढता है कि प्रकाश मिले, इन्द्रिय ठीक मिले तो मैं जानूँ! (ऐसे) पराधीन हो गया है। आहा...हा...! अब क्या करना? इन्द्रिय से ज्ञान करे, वह भी दुःखरूप! तो अब उसे जाना कहाँ? पैसे दुःख का निमित्त, स्त्री दुःख का निमित्त, मकान बड़े-बड़े पच्चीस-पच्चीस लाख के मकान दुःख का निमित्त!

(बड़ोदरा में मन्दिर के लिए पैसे इकट्ठे हुए तो कहते हैं कि) पैसे तो दासी हैं, पैसे पुण्य की दासी हैं। आहा...हा...! धूल में क्या है? चक्रवर्ती का राज! जिन्हें छियानवें करोड़ सैनिक! नव निधान! सोलह हजार देव! एक क्षण में छोड़ दिया! जैसे कफ में निकाल दे वैसे! बलगम निकाल दे ऐसे एक क्षण में छोड़ दिया! चले गये जङ्गल में! हमारा आनन्द का नाथ वहाँ है, उस आनन्द को साधने को वन में चले जाते हैं। आहा...हा...! इन बगीचे, स्त्रियों के वृन्द में कहीं सुख नहीं है। आहा...हा...! एक क्षण में बलगम / कफ छोड़कर जङ्गल में चले जाते हैं। आहा...हा...!

'शान्तिनाथ' का पुराण आता है। 'शान्तिनाथ' चक्रवर्ती थे न? छियानवे स्त्रियाँ थीं। वे जब दीक्षित हुए, दीक्षा लेने को जाते हैं, उस समय स्त्रियाँ बाल खींचती हैं, तो प्रभु कहते हैं 'हे स्त्रियों! मैं अभी तक रहा था, वह आप के कारण नहीं रहा था। मुझे

राग था तो रहा था। माता! अब मेरा राग टूट गया है, तुम क्या करोगी?' आ...हा...हा...!

'भर्तृहरि' (राजा की बात) नहीं आयी थी? (हमने) तो बहुत नाटक भी देखे हैं न! (बड़े नाटक होते थे)। भर्तृहरि! (एक) अमरफल उनके पास आया तो राजा ने रानी को दिया। रानी ने अश्वकुमार को दिया, अश्वकुमार यानि घोड़े का बड़ा अधिकारी (ऊपरी को दिया)। उसने वेश्या को दिया, वैश्या ने लाकर वापिस राजा को दिया! आहा...हा...! (राजा को देखकर लगा) अरे...रे...! इस अमरफल का क्या हुआ? मेरे पास आया था। मैंने स्त्री को – 'पिंगला' को दिया था तो यह मेरे पास कहाँ से आया? तो वेश्या ने कहा, 'मुझे तो अश्वपाल ने दिया है।' अश्वपाल कहता है, ''मुझे 'पिंगला' ने दिया है!'' अर...र...! (राजा कहता है) 'देखा नहीं कुछ सार, जगत् में देखा नहीं कुछ सार....' इस प्रकार अन्दर में बोलता है ''प्यारी मेरी रानी 'पिंगला', अश्वपाल की यार' अरे...! यह संसार ऐसा है? आहा...हा...! मैंने मेरी स्त्री को प्रेम से दिया तो उसने 'अश्वपाल' को दिया! आहा...हा...! छोड़ दिया.... गृहस्थाश्रम, राज–कुटुम्ब छोड़ दिया! 'भर्तृहरि' को उनके गुरु कहते हैं 'जाओ! आज 'पिंगला' के पास आहार ले आओ!' आ...हा...हा...! नाटक में आता है। देखा है कि नहीं? नहीं देखा? हमने तो सब नाटक भी देखे हैं और 'मुम्बई' में फिल्म भी देखी है! मेरी तो ऐसी आदत थी कि नाटक के पैसे देते थे तो कहते थे कि किताब दो। आप लोग बोलते हो वह किताब दो! पैसे ले लो! आप लोग क्या बोलते हो, उसका हमें पता चले, ऐसे ही बोलते रहो... (ऐसे नहीं चलेगा) आहा...हा...!

'भर्तृहरि' (राज) छोड़ देते हैं। उनके गुरु कहते हैं कि 'जाओ, 'पिंगला' के पास!' (राजा) 'पिंगला' के पास गया (और कहा) 'माता! आहार दे!' रानी कहती है कि 'राजन! मुझे माता मत कहो!' आहा...हा...! (वे) थे तो अज्ञानी, लेकिन वैराग्य में साधु हुये थे, 'भर्तृहरि' का वैराग्यशतक बनाया है। पढ़ा है, सब पढ़ा है, ('भर्तृहरि' कहते हैं) 'माता! आहार दे!' (तो 'पिंगला' कहने लगी) 'राजन्! माता मत कहो! मेरे पास आहार नहीं है, मैं उदास हूँ, मेरी बात बाहर आ गयी है, मुझे कहीं चैन नहीं है, एक क्षण खड़े रहो!' आहा...हा...! आ...हा...! 'एक क्षण में खीर बनाती हूँ, बाकी मेरे पास राजन्! कुछ नहीं

है!' 'खीर रे बनाऊँ क्षण एक में, जमता जाओ योगीराजजी!' (इसलिए राजा कहते हैं कि), 'माता मैं खड़ा नहीं रह सकता! मेरी टोली चली जा रही है!' आ...हा...हा...! अज्ञानी थे, उन्हें समकित नहीं था। आहा...हा...! ऐसा यह संसार! जिसके प्रति मेरा प्रेम था (उसके साथ) यह हुआ? आहा...हा...! गुप्त हो तब तक मालूम नहीं पड़ता, (बात) खुल जाती है तो मालूम पड़ता है।

इन्द्रियज्ञान के रसिकजनों! इन्द्रियज्ञान में मजा माननेवाले दु:खी हैं। यहाँ यह कहते हैं कि पाँच इन्द्रियों की अस्ति होने पर भी एक साथ सबका काम नहीं ले सकते।

भावार्थ : 'कौवे की दो आँखें होती हैं...' भावार्थ है न? **'कौवे की दो आँखें होती हैं किन्तु पुतली एक ही होती है।'** देखने की पुतली एक होती है। वह भी मालूम नहीं होता। **'कौवे को जिस आँख से देखना हो उस आँख में पुतली आ जाती है;...'** ऐसे घूमा लेता है। **'उस समय वह दूसरी आँख से नहीं देख सकता।'** कौवा एक आँख से देखता है, दूसरी (आँख से) नहीं देखता। **'ऐसा होने पर भी वह पुतली इतनी जल्दी दोनों आँखों में आती-जाती है कि लोगों को ऐसा मालूम होता है कि दोनों आँखों में दो भिन्न-भिन्न पुतलियाँ हैं, किन्तु वास्तव में वह एक ही होती है।'** लोग देखे तो ऐसा लगे कि दो आँखें हैं, दो पुतलियाँ हैं लेकिन उसे एक ही पुतली होती है। आहा...हा...! देखो! कुदरत का नियम! आँखें दो होती हैं, पुतली एक है। आहा...हा...! यह तो दृष्टान्त देकर सिद्धान्त कहेंगे।

'ऐसी ही दशा क्षायोपशमिक ज्ञान की है।' लो! ऐसी दशा क्षयोपशम (ज्ञान की है)। इन्द्रियज्ञान का अल्प विकास है, ऐसी दशा है। **'द्रव्य-इन्द्रियरूपी द्वार तो पाँच हैं....'** आँख, कान, नाक, जीभ, स्पर्श - ये द्रव्येन्द्रियाँ पाँच हैं। **'किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय एक इन्द्रिय द्वारा ही जाना जा सकता है;...'** आ...हा...हा...! **'उस समय दूसरी इन्द्रियों के द्वारा कार्य नहीं होता। जब क्षायोपशमिक ज्ञान नेत्र के द्वारा वर्ण को देखने का कार्य करता है...'** (यानि) आँखों से रूप देखे **'तब वह शब्द, गन्ध, रस या स्पर्श को नहीं जान सकता;...'** आहा...हा...! किन्तु इस प्रकार एकदम ज्ञान घूमता है तो मालूम नहीं पड़ता। आ...हा...हा...! **'अर्थात् जब उस ज्ञान का**

उपयोग नेत्र के द्वारा वर्ण के देखने में लगा होता है, तब कान में कौन से शब्द पड़ते हैं या नाक में कैसी गन्ध आती है इत्यादि ख्याल नहीं रहता।' आ...हा...हा...! इसका भी कब विचार किया है ? आ...हा...!

'यद्यपि ज्ञान का उपयोग एक विषय में से दूसरे में अत्यन्त शीघ्रता से बदलता है...' जैसे कौवे की पुतली एकदम घूमती है न ? वैसे यहाँ ज्ञान एक को जाने कि तुरन्त रूप को देखे, रूप देखकर तुरन्त सुनता है तो उसे लगता है कि मैं एक साथ सब जानता हूँ, किन्तु ऐसा नहीं है। **'इसलिए स्थूलदृष्टि से देखने में ऐसा लगता है कि मानों सभी विषय एक ही साथ ज्ञात होते हों...'** आ...हा...हा...!

यहाँ तो अतीन्द्रिय प्रभु भगवान आत्मा! पूर्णानन्द का नाथ! अतीन्द्रिय साहब! आ...! हा...! हा...! जिसे कोई इन्द्रिय या निमित्त की जरूरत नहीं है, ऐसा प्रभु है। आहा...हा...! ऐसे भगवान आत्मा को अन्दर देख! तुझे आनन्द होगा, आत्मा का ज्ञान होगा और जन्म-मरण का अन्त होगा। आहा...हा...! चौरासी लाख (योनि में) जन्म-मरण करते-करते अनन्त काल बीत गया। आहा...हा...! ऐसे विचार का अवकाश भी कहाँ है कि क्या यह होता है या नहीं ? पाँच इन्द्रियाँ होने पर भी मैं एक ही इन्द्रिय से जान सकता हूँ, (उस समय) दूसरी इन्द्रिय से नहीं जान सकता हूँ – ऐसा विचार भी कब किया है ? अवसर कहाँ है ? दुनिया की होली जल रही हो (यह सब देखने का कहाँ अवसर है ?) आ...हा...हा...! चारों ओर हो...हा...! हो...हा...! धन्धे में हो...हा...! क्लेश! स्त्री-पुत्र को सम्भालने में क्लेश! उन्हें प्रसन्न रखने में क्लेश! आ...हा...हा...! उसमें यह विचार करने का अवसर कब निकले ? ऐसा मनुष्यभव का अवसर तो अनन्त काल के बाद मिलता है। (तो) कहते हैं कि उसमें इन्द्रियज्ञान को हेय करके अतीन्द्रियज्ञान स्वसंवेदन प्रगट नहीं किया;... आ...हा...हा...! जो अतीन्द्रियज्ञान है – यह स्वसंवेदन (यानि) अपने से वेदन होता है, उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (है) – ऐसा यदि नहीं किया (तो) चौरासी के अवतार में भटकेगा! आहा...हा...! कुदरत के नियम में कुछ दूसरा नहीं होगा। दुनिया प्रशंसा करे कि ओ...हो...हो...! यह तो उद्योगपति हैं, पैसेवाले हैं, दान बहुत देते हैं! किन्तु दुनिया वहाँ काम में नहीं आयेगी, आ...हा...!

श्रोता : यहाँ भी कहाँ काम में आती है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है न ! श्वेताम्बर में तो शास्त्र में एक लेख है कि बहुत पैसे इकट्ठे किये हो तो मरण के समय...हाय...हाय... ! मुझे कोई बचाओ ! मुझे कोई बचाओ ! मुझे पीड़ा हो रही है, दुःख हो रहा है ! कौन बचाये ? जाओ ! पैसे का ढेर करके बोल ! उसके पास प्रार्थना कर ! दस लाख, बीस लाख, करोड़-दो करोड़ इकट्ठे किये हों ! (उसके पास जाकर बोल कि) बचाओ ! मैंने तेरे लिये सारी जिन्दगी निकाली है, अब बचाओ ! धूल बचा सकती है ?

श्रोता : अच्छे से अच्छा डॉक्टर बुलायें !

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर मर गया ! डॉक्टर के आने से पहले (मर गया) ! कहा था ना ? (एक व्यक्ति के पास) दो अरब चालीस करोड़ ! 'गोवा !' चालीस लाख का मकान है, दस-दस लाख के दो मकान हैं, साठ लाख के तीन मकान हैं। पत्नी को हेमरेज हो गया था इसलिए 'बम्बई' आया था। दो-चार दिन के बाद रात को ड़ेढ बजे उठा... दो सौ चालीस करोड़ ! कहने लगा, 'दुःखता है।' (तो दूसरे मित्र से कहा) 'डॉक्टर को बुलाओ !' डॉक्टर को बुलाने गये उतने में तो देह छूट गया ! हाय...हाय... ! जाओ ! चार गति में भटकने ! अर...र...र... !

'सिकन्दर' ने नहीं कहा ? 'मैंने अपने अरबों रुपया इकट्ठा किया है। मैंने हकीम को पैसे दिये हैं। अभी मुझे कोई मदद नहीं करता। मेरे मरण के बाद उस हकीम के पास मेरा जनाजा उठवाना !' उसका खाया है तो कुछ तो करे ! आता है न उसमें ? 'मेरा जनाजा उसी हकीम के कन्धे पर उठाना' हकीम होते हैं न वैद्य ! मुसलमान ! आ...हा...हा... ! आता है, पहले बोलते थे, अब भूल गये, आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं, तेरी लाख-करोड़ (की) सब मिलकत (सम्पत्ति) पड़ी हो, बड़ा बँगला हो और मकान में दस-पन्द्रह लाख का फर्नीचर भरा हो.... आहा...हा... ! वह बिस्तर पर पड़ा बोले कि अरे...रे... ! मुझे दुःख हो रहा है ! कोई डॉक्टर को बुलाओ ! कोई तेरी (सुननेवाला) नहीं है। डॉक्टर खुद नहीं मर जाते क्या ? मर जाते हैं कि नहीं ? 'भावनगर' के डॉक्टर ! पूरे अस्पताल के बड़े सर्जन ! किसी का काम कर रहे थे (इतने

में) कहा कि मुझे दु:ख रहा है। हार्टफेल हो गया! देह की स्थिति पूरी हो, उसे रोके कौन? आहा...हा...!

अरे...! एक बार देह को छोड़कर जाना है। कहाँ जाना है? कहाँ तुझे निवास करना है? आहा...हा...! वंटोलिया... वंटोलिया कहते हैं? क्या कहते हैं? चक्रवात! (आँधी)! आँधी में तिनका उड़ता है तो कहाँ जाकर गिरेगा? वैसे ही जिसको मिथ्यात्वभाव है (अर्थात्) इन्द्रियज्ञान मेरा है, इन्द्रिय में सुख है (ऐसा जो मानता है वह) आँधी में कहीं भी गिरेगा। कोई रिश्तेदार नहीं, कोई परिचित क्षेत्र नहीं, उसमें जन्म ले। आहा...हा...! यहाँ से मरकर सिंह आदि हो। (वहाँ से) मरकर नरक में चला जाये। आहा...हा...! अरे...रे...! ऐसे भव! पुण्य और पाप के भाव दु:खरूप है – ऐसा ख्याल न आवे और इन्द्रिय का ज्ञान दु:खरूप है – ऐसा ख्याल न आवे, तब तक अतीन्द्रियज्ञान भगवान आत्मा की ओर का झुकाव नहीं होता। आहा...हा...!

अन्तर्मुख परमात्मा है, उस ओर का झुकाव (कर)! बाहर का पैसा और इन्द्रिय का ज्ञान भी दु:ख है तो दूसरे पुण्य-पापभाव तो दु:ख है ही। आहा...हा...! सुखी होना हो तो अन्दर में जा, जहाँ भगवान विराजते हैं! आ...हा...हा...! देहदेवल में-मन्दिर में भगवान विराजते हैं, आ...हा...! कैसे माने?

श्रोता : दिखता नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु देखने का प्रयत्न कहाँ करता है? जितना पर में रस है, उतना (रस अन्तर में देखने का) कहाँ आया है? लड़का है, (उसे) हजार-बारह सौ का वेतन हो, उसमें कितना रस है! 'बापू!' ऐसा कहे! आहा...हा...! पर में रस है तो अपने में रस आया नहीं। आहा...हा...! अन्दर में (जाना) है (तो) उसे कौन रोकता है? कि पर में रस-मीठास है। कोई राग में, कोई इज्जत में, कोई पुण्य में, कोई पाप में (रस है)। आ...हा...हा...! अन्दर में उपयोग (से) जाना है (वह) तो सूक्ष्म है, तो सूक्ष्म उपयोग नहीं है उसका कारण क्या? कि स्थूल उपयोग बाह्य चीज में घूमता है। आ...हा...हा...! सूक्ष्म बहुत, भाई! दुनिया के खेल से (ये) सब बात अलग है, आहा...हा...!

(यहाँ) कहते हैं कि जब **'नेत्र के द्वारा वर्ण को देखने का कार्य करता है, तब वह शब्द, गन्ध, रस, या स्पर्श को नहीं जान सकता; अर्थात् जब उस ज्ञान का उपयोग नेत्र के द्वारा वर्ण के देखने में लगा होता है तब कान में कौन से शब्द पड़ते हैं या नाक में कैसी गन्ध आती है - इत्यादि ख्याल नहीं रहता।'** आहा...हा...! **'यद्यपि ज्ञान का उपयोग एक विषय में से दूसरे में अत्यन्त शीघ्रता से बदलता है,...'** सुनने में से रूप में, रूप में से सुनने में एकदम बदलता है। आहा...हा...! **'इसलिए स्थूलदृष्टि से देखने से ऐसा लगता है कि मानों सभी विषय एक ही साथ ज्ञात होते हों....'** आ...हा...हा...! ज्ञान की क्षयोपशमदशा एक-एक विषय को जानने में क्रम से होती है परन्तु एकदम स्थूलदृष्टिवाले को लगता है कि मैंने उसको जाना, उसको जाना... मैं एक साथ सबको जानता हूँ, पाँचों इन्द्रिय के विषय एक साथ जानता हूँ आहा...हा...!

'यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय में एक ही इन्द्रिय के द्वारा प्रवर्तमान होता हुआ स्पष्टतया भासित होता है।' आ...हा...हा...! 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में तो इससे भी विशेष लिया है। एक इन्द्रिय का विषय है - जैसे, शब्द, रूप, गन्ध (तो) रूप में लक्ष्य है, उस समय गन्ध में नहीं (है)। स्पर्श के विषय में भी आठ स्पर्श हैं - ऐसे लिया है। एक स्पर्श के प्रति लक्ष्य हो, उस समय दूसरे पर नहीं होता। स्पर्श में (भी) ठण्डे के प्रति (लक्ष्य) हो, तब गरम के प्रति नहीं (होता); गरम के प्रति हो, तब ठण्डे के प्रति नहीं। आ...हा...! ऐसी बात ली है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक'! 'टोडरमल'! आ...हा...! दुनिया से यह मत अलग है, बापू!

भगवान तीर्थङ्करदेव जिनेश्वरदेव की पुकार यह है कि इन्द्रिय का ज्ञान एक के बाद एक क्रम से होता है, इसलिए वह हेय है, दु:खरूप है। आहा...हा...! बाकी दूसरी चीज की तो क्या बात करना? आहा...हा...! कुटुम्ब-कबीले तो सब ठग हैं, धूर्तों की टोली है। 'नियसमार!' 'नियमसार' है न! उसमें आता है कि स्त्री, पुत्र, कुटुम्बीजन ये सब धूर्तों की टोली (है)। हमें सम्भालना होगा, हमें यह चाहिए, हमें वह चाहिए... आ...हा...हा...! आहा...हा...! तू कौन है? कहाँ का है? तेरा उसके साथ क्या सम्बन्ध है? आहा...हा...!

पर को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे, (लेकिन) उसमें कोई (प्रसन्न) नहीं हो सकता। आहा...हा... !

'सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर क्षायोपशमिक ज्ञान एक समय में एक ही इन्द्रिय के द्वारा प्रवर्तमान होता हुआ स्पष्टतया भासित होता है।' अर्थात् परोक्षरूप से एक को देखे। **'इस प्रकार इन्द्रियाँ अपने विषयों में भी क्रमशः प्रवर्तमान होने से परोक्षभूत इन्द्रियज्ञान हेय है।'** लो! (कहने का) तात्पर्य यह है। आहा...हा... ! अरे... ! इन्द्रियज्ञान भी हेय है तो दया, दान,व्रत, भक्ति का परिणाम तो राग, प्रत्यक्ष जहर है। अरे...रे... ! क्या हो ? दुनिया के सामने यह बात रखना, जगत को कठिन पड़ता है। आहा...हा... ! आँख बन्द होते ही (मरकर) कहाँ चला जायेगा! एक पैसा भी साथ में आनेवाला नहीं है।

श्रोता : मुख में चवन्नी रखी हो वह भी निकाल लेते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चवन्नी भी निकाल लेते हैं! उसकी अर्थी दरवाजे को छूने नहीं देते! दरवाजे में से निकालते हैं न ? तो अर्थी को छूने नहीं देते! छू ले और यदि वापिस आयेगा तो ?! सुना है ? मकान में मर गया हो तो दोनों बाजू अर्थी को छूने नहीं देते। बाहर से ऐसा बोलते हैं कि उसे छूने से ऐसा होता है। लेकिन हेतु यह है कि छू ले और दरवाजे में से वापिस आयेगा तो ? आहा...हा... ! रिश्तेदार सब ऐसे हैं! (तू) अकेला आया और अकेला जायेगा, बापू! आ...हा... ! और अभी इस समय भी तू अकेला ही है। 'एकडे एक और बगड़े बे' आहा...हा... !

वह दृष्टान्त दिया है न ? मनुष्य को दो पैर होते हैं, तब तक मनुष्य कहा जाता है; स्त्री के साथ शादी करता है, तब दो में से चार पैर होते हैं तो पशु हुआ। चार पैर पशु को होते हैं और सन्तान होती है, तब छह पैर हुए तो छह पैरवाला भंवरा हुआ। भंवरे को छह पैर होते हैं और उसकी पत्नी हो, तब आठ पैर होते हैं, तो वह हुआ मकड़ी! मकड़ी को आठ पैर होते हैं। फिर मकड़ी की भाँति ये करूँ... उसका करूँ... उसका करूँ... उसका करूँ.... उसका करूँ... लड़के की शादी करूँ., लकड़ी को ऐसा करूँ.... अमुक ऐसा करूँ... अमुक ऐसा करूँ... आहा...हा... ! जीवन चला जा रहा है, भाई! आ...हा... !

हमारे 'खुशालभाई' कहते थे। मैंने दीक्षा के लिये कहा कि मैं तो दीक्षा लूँगा। (तो

उन्होंने कहा कि), 'आप अकेले रहो! गाँव में अपना मकान है, वहाँ रहो। आपको खर्च के लिये पैसे देंगे, आप दुकान पर मत आईये।' मेरा छोटा भाई था। बीस वर्ष की उमर। शरीर से एकदम तन्दुरुस्त! शादी के दो साल बाद वह मर गया। कन्या बहुत सुन्दर थी। बाद में 'खुशालभाई' कहते थे कि 'अरे...रे...! मैंने 'कानजी' को तो इजाजत दे दी, यह इजाजत बिना जा रहा है।' आ...हा...! दो साल शादी को हुये थे। ऐसा रोग आया आठ दिन... जाओ! आ...हा...हा...! अपने आत्मा का कुछ किया नहीं, फिर पशु और ऐसे अवतार में चला जाता है। पशु होता है, पशु! आहा...हा...!

श्रोता : ऐसा सुनकर भय लगता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : भय लगे तब तो (आत्मा में) जायेगा न! ऐसे कहा है, 'योगीन्द्रदेव' ने कहा है, 'भवभय से डर चित्त' 'योगीन्द्रदेव' के दोहे में आता है। जो भव के भय से डरता है, वह आत्मा की ओर जाता है। आहा...हा...! भव के भय से डरता है, वह आत्मा के काम पर आता है। भव के भय का डर नहीं है। अरे...! यहाँ से कहाँ जाऊँगा? बापू! अकेला जायेगा! अनजाने क्षेत्र में, देह दूसरा, भाव दूसरे... आहा...हा...! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे... आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) '**इस प्रकार इन्द्रियों अपने विषयों में भी क्रमशः प्रवर्तमान होने से परोक्षभूत इन्द्रियज्ञान हेय है।**' ठीक! 1

मुनिराज : प्रचुर समाधिसुख के प्रति उत्सुक

मुनिराज समाधिपरिणत तो हैं परन्तु सनातन शुद्ध निज ज्ञायकद्रव्य सामान्य का अवलम्बन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्राप्त करने के लिये वे अति आतुर हैं। जैसे, पाँच लाख रुपये का स्वामी, पच्चीस लाख कमाने की भावना करता है; इसी प्रकार मुनिराज, निज ज्ञायक के उग्र अवलम्बन से प्रचुर समाधिसुख प्रगट करने के लिये अति उत्सुक हैं। *(वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 204)*

गाथा – ५७

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति -

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि।।५७।।

परद्रव्यं तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि।
उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति।।५७।।

आत्मानमेव केवलं प्रति नियतं किल प्रत्यक्षम्। इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरूपलभ्योपजन्यमानं न नामात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति।।५७।।

अथेन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षं न भवतीति व्यवस्थापयति - **परदव्वं ते अक्खा** तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्यं भवन्ति। कस्य। आत्मनः। **णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा** योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मनः संबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि। कस्मात्। भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात्। **उवलद्धं तेहि** उपलब्धं ज्ञातं यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूतं वस्तु तैरिन्द्रियैः **कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि** तद्वस्तु कथं प्रत्यक्षं भवत्यात्मनो, न कथमपीति। तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पजालरूपं यन्मनस्तद-पीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्षं भवतीति ज्ञात्वा किंकर्तव्यम्।सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभा- समयपरमज्योतिःकारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभाव नासमुत्पन्नपरमाह्लादैकलक्षण- सुखसंवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः।।५७।।

अब, यह निश्चय करते हैं कि इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है –

हैं इन्द्रियाँ परद्रव्य, आत्म-स्वभाव उनको नहीं कहा।
उनके निमित्त जु ज्ञान, वो प्रत्यक्ष कैसे आत्म का॥

अन्वयार्थ : [तानि अक्षाणि] वे इन्द्रियाँ **[परद्रव्यं]** परद्रव्य हैं **[आत्मनः स्वभावः इति]** उन्हें आत्मस्वभावरूप **[न एव भणितानि]** नहीं कहा है; **[तैः]** उनके

द्वारा **[उपलब्धं]** ज्ञात **[आत्मनः]** आत्मा का **[प्रत्यक्षं]** प्रत्यक्ष **[कथं भवति]** कैसे हो सकता ?

टीका : जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो, वह (ज्ञान) वास्तव में प्रत्यक्ष है। यह (इन्द्रियज्ञान) तो, जो भिन्न अस्तित्ववाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई हैं, और आत्मस्वभावत्व को किञ्चित्मात्र स्पर्श नहीं करतीं (आत्मस्वभावरूप किञ्चित्मात्र भी नहीं हैं) ऐसी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियों के निमित्त से पदार्थों को जानकर) उत्पन्न होता है, इसलिए वह (इन्द्रियज्ञान) आत्मा के लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

भावार्थ : जो सीधा आत्मा के द्वारा ही जानता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रियज्ञान परद्रव्यरूप इन्द्रियों के द्वारा जानता है, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है॥ ५७॥

प्रवचन नं. ५६ का शेष **दिनाङ्क ०३ मार्च १९७९**

'अब, यह निश्चय करते हैं कि इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है' इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह मकान प्रत्यक्ष देखते हैं! इन्द्रिय का निमित्त है, तब देखता है। प्रत्यक्ष तो आत्मा के आश्रय से हो वह प्रत्यक्ष है। अन्दर इन्द्रिय लक्ष्य में है, तब वह (इन्द्रियज्ञान होता) है। आहा...हा...! ५७ (गाथा)।

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि।।५७।।

हैं इन्द्रियाँ परद्रव्य, आत्म-स्वभाव उनको नहीं कहा।
उनके निमित्त जु ज्ञान, वो प्रत्यक्ष कैसे आत्म का॥

(**'हैं इन्द्रियाँ परद्रव्य'** अर्थात्) यह इन्द्रिय परद्रव्य-परवस्तु हैं। न्याय देते हैं। आ...हा...! **'जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो, वह (ज्ञान) वास्तव में प्रत्यक्ष है।'** क्या कहते हैं? एक भगवान शुद्ध चिदानन्द प्रभु! उसके आश्रय से जो ज्ञान हो - आत्मा के प्रति नियत-निश्चय हो, वह (ज्ञान) वास्तव में प्रत्यक्ष है। आहा...हा...! **'यह**

(इन्द्रियज्ञान) तो, जो भिन्न अस्तित्ववाली होने से...' परद्रव्य हैं। ये जड़ हैं और परद्रव्य हैं। उसका अस्तित्व परद्रव्य है। यह स्वद्रव्य का अस्तित्व नहीं है। आहा...हा...! है ? वास्तव में तो **'(इन्द्रियज्ञान) तो, जो भिन्न...'** अपने से भिन्न **'अस्तित्ववाली'** (अर्थात्) आत्मा की अस्ति से – विद्यमानता से भिन्न अस्तित्ववाली **'होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई है,...'** आहा...हा...! **'और आत्मस्वभावत्व को किञ्चित्मात्र स्पर्श नहीं करतीं...'** आ...हा...हा...! इन्द्रियाँ **'(आत्मस्वभावरूप किञ्चित्मात्र भी नहीं हैं)...'** क्या कहते हैं ? ये इन्द्रियाँ जो हैं, वे जड़-परद्रव्य हैं और परद्रव्य हैं तो परद्रव्य का लक्ष्य करती हैं परन्तु आत्मा में बिलकुल इन्द्रियज्ञान से लक्ष्य नहीं होता। आहा...हा...! बहुत फेरफार! बाहर में जो लक्ष्य है, उसे अन्दर में ले जाना। आहा...हा...! जहाँ प्रभु विराजते हैं!

चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द का नाथ! आहा...हा...! देहदेवल में-मन्दिर (में) है। उसमें भी आता है न ? मन्दिर में देव नहीं, तनमन्दिर में देव हैं! 'योगीन्द्रदेव' में आता है न ? वहाँ भी हैं, वह प्रतिमा है, वहाँ कहाँ देव है ? वह तो प्रतिमा है। देव तो यहाँ अन्दर है। शुभभाव हो, तब भक्ति आदि होती है। देव तो देह में विराजते हैं! आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान है। आ...हा...!

इन्द्रियाँ **'(आत्मस्वभावरूप किञ्चित्मात्र भी नहीं हैं) ऐसी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियों के निमित्त से पदार्थों को जानकर) उत्पन्न होता है, इसलिए वह (इन्द्रियज्ञान) आत्मा के लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।'** इन्द्रियज्ञान से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता और इन्द्रियज्ञान से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान कहने में नहीं आता। आहा...हा...! प्रत्यक्ष (ज्ञान) तो भगवान आत्मा अन्दर (है, उसका आश्रय लेकर), पाँचों इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छोड़कर, वह 'इन्द्रियजनित' आया था न ? ३१ गाथा, जड़ इन्द्रियाँ, भाव इन्द्रियाँ। विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. ५७ दिनाङ्क ०४ मार्च १९७९

'जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो वह (ज्ञान) वास्तव में प्रत्यक्ष है।'

क्या कहते हैं ? कि पाँच इन्द्रियों का लक्ष्य छोड़कर, मन का भी लक्ष्य छोड़कर, अतीन्द्रिय ज्ञायकस्वभाव, पूर्णानन्द प्रभु जो आत्मा है, उसका आश्रय करके... है ? '**केवल आत्मा के प्रति ही नियत**' एक आत्मा शुद्ध चैतन्य, उसके आश्रय से जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान 'ज्ञान' कहने में आता है। आहा...हा... ! यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। दया, दान, व्रत, भक्ति के जो परिणाम हैं, वे तो धर्म नहीं परन्तु इन्द्रियज्ञान से धर्म नहीं। आहा...हा... ! इन्द्रियज्ञान भी दुःखरूप है। आहा...हा... ! अभी (उसे) 'पराधीन' कहेंगे।

'**आत्मा के प्रति...**' भगवान आत्मा ! शुद्ध चैतन्यस्वरूप ! उसके आश्रय से जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। धर्मी को प्रथम सम्यग्दर्शन होता है, तब आत्मा का स्वसंवेदनज्ञान होता है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? स्वसंवेदन ! चैतन्यभगवान पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञानस्वरूप ! उसका-स्व का 'सं' (अर्थात्) प्रत्यक्ष वेदन। आनन्द के वेदन के साथ जो ज्ञान (होता) है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। आहा...हा... ! है ? '**केवल आत्मा के प्रति ही...**' आहा...हा... ! मन नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, शुभराग नहीं, एक आत्मा अन्दर ज्ञायकस्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभु के आश्रय से। '**आत्मा के प्रति ही नियत...**' निश्चय ! आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है। उसका नाम प्रत्यक्षज्ञान है। प्रत्यक्षज्ञान है, वही ज्ञान है। आ...हा...हा... !

'**यह (इन्द्रियज्ञान) तो, जो भिन्न अस्तित्ववाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई हैं,...**' वे पाँच इन्द्रियाँ जो जड़ हैं (और) भाव इन्द्रिय भले हो, वह '**भिन्न अस्तित्ववाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई हैं,...**' यह इन्द्रिय तो जड़, मिट्टी, परद्रव्य है, तो इन्द्रियज्ञान परद्रव्य से होता है। (इसलिए) वह अपना ज्ञान नहीं। वह सच्चा ज्ञान है ही नहीं। आ...हा...हा.... ! कठिन काम है !

'**(इन्द्रियज्ञान) तो, जो भिन्न अस्तित्ववाली होने से...**' यह इन्द्रियज्ञान तो भिन्न अस्तित्व-पृथक् अस्तित्व, आत्मा के अस्तित्व से भिन्न है। आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु है, उससे तो ये इन्द्रियाँ तो परद्रव्यस्वरूप भिन्न हैं। आहा...हा... ! ऐसा है ! ये परद्रव्य स्वरूप जड़ आदि उसका निमित्त होकर जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान परोक्ष है, खेदखिन्न है, दुःख है। आ...हा...हा... ! यह मार्ग ऐसा है ! वीतरागमार्ग ! शुभ-अशुभ - दया, दान, व्रत,

भक्ति, पूजा का भाव तो राग है, वह तो धर्म नहीं परन्तु इन्द्रिय से ज्ञान होता है, वह ज्ञान नहीं। आहा...हा...! दो बातें कीं। आत्मा के प्रति नियत हो, वह वास्तव में प्रत्यक्ष है। वह वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान है और '**(इन्द्रियज्ञान) तो, जो भिन्न अस्तित्ववाली होने से...**' परद्रव्य स्वरूप को प्राप्त हुई है। वह तो परद्रव्यस्वरूप को प्राप्त करके ज्ञान हुआ। (इसलिए) वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, वह आत्मा के आश्रय से नहीं (हुआ)। आहा...हा...! इन्द्रिय से शास्त्र आदि का ज्ञान सुनने में आया, वह भी परद्रव्य के निमित्त से (हुआ)। इन्द्रिय का ज्ञान परोक्ष है, वह भी सच्चा ज्ञान नहीं है। आ...हा...हा...!

अनादि(काल में) ग्यारह अङ्ग का ज्ञान हुआ, अनन्त बार जैन साधु हुआ, दिगम्बर साधु हुआ, ग्यारह अङ्ग पढ़े, परन्तु वह सब इन्द्रियज्ञान है। आहा...हा...! (वह) आत्मज्ञान नहीं। आहा...हा...! आत्मज्ञान में तो साथ में आनन्द आता है, अतीन्द्रिय आनन्द! आत्मा जो है, उसके प्रति नियत करके जो ज्ञान होता है, (जिसमें) कोई पर(पदार्थ की) अपेक्षा नहीं (है), उस ज्ञान में तो अतीन्द्रिय आनन्द आता है। आहा...हा...! प्रथम दर्जा में - चौथे गुणस्थान में समकिती को अपने आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आनन्दसहित है। आ...हा...हा...! और मिथ्यादृष्टि ग्यारह अङ्ग पढ़ डाले... पढ़ डाले! (तो भी) वह शब्दज्ञान है, इन्द्रियज्ञान है। आ...हा...हा...! उसमें आत्मा का कुछ लाभ नहीं है, नुकसान है। आ...हा...हा...! वाँचन करके, सुनकर जो ज्ञान हुआ, वह इन्द्रियज्ञान है। इन्द्रियाँ परद्रव्यस्वरूप हैं।

यद्यपि इन्द्रियाँ तो तीन प्रकार की गिनने में आयी हैं। ३१ गाथा, 'समयसार!' (१) जड़ इन्द्रियाँ - वे जड़। (२) भावेन्द्रियाँ - जो एक-एक क्षयोपशम से एक विषय को जाने और (३) स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश, भगवान और भगवान की वाणी, यह सब इन्द्रियों में गिनने में आया है। आहा...हा...! ३१ (गाथा में) ऐसा लिखा है। '**जो इंदिये जिणित्ता**' - जो इन्द्रिय को जीते अर्थात् द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषय की ओर का लक्ष्य छोड़कर '**णाणसहावं**' - ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा! आहा...हा...! जो ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव है, उसको पकड़कर जो वेदन हो, उसका नाम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन कहने में आता है। आहा...हा...! कठिन बात है यह!

शुभराग तो धर्म नहीं (परन्तु) इन्द्रियज्ञान भी धर्म नहीं। आ...हा...! आत्मा अन्दर आनन्दप्रभु है! सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा! अखण्डानन्द परमात्मस्वरूप! जिनस्वरूपी प्रभु! आ...हा...हा...! उसके आश्रय से, निश्चय से उसके आश्रय से जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहने में आता है। मति-श्रुतज्ञान भी अपने अनुभव में प्रत्यक्ष कहने में आता है। समझ में आया? आहा...हा...! मति-श्रुतज्ञान जो है, (उसमें) सम्यग्दृष्टि को अन्दर प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव होता है; वह ज्ञान आत्मा को प्रत्यक्ष करता है। इन्द्रियज्ञान में ग्यारह अङ्ग पढ़ डाले, अरबों श्लोक (कण्ठस्थ) करे परन्तु उसमें आत्मा के आश्रय से ज्ञान और आनन्द नहीं है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग कठिन लगता है! मार्ग यह है, प्रभु का मार्ग यह है। जिनेश्वरदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं। दो पंक्ति में दो (बात कह दी)! आहा...हा...!

स्वद्रव्य चिदानन्द के अवलम्बन से जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। क्यों? (क्योंकि) उसमें स्व का आश्रय है, पर का आश्रय नहीं। और इन्द्रिय के आश्रय से ज्ञान होता है, वह पर के आश्रय से होता है तो व्यवहार पराश्रित है। आहा...हा...! निश्चय स्वआश्रित है। लो! यह नय आया! स्वआश्रित (निश्चय) पराश्रित व्यवहार। जो आत्मा सीधा अन्दर, राग और मन के अवलम्बन बिना, इन्द्रिय के अवलम्बन बिना, चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर (है), उसका प्रत्यक्ष ज्ञान करे तो वही निश्चय स्वाश्रय है और निश्चय ज्ञान है।

श्रोता : इतना सब याद कैसे रहे?

समाधान : संसार का कितना याद रखता है? हीरा-माणिक का कितना याद रखता है? उसका ये भाव है, उसका ये भाव है और इसका ये भाव है। आहा...हा...! हमारे यहाँ दुकान में 'आनन्दजी' करके (एक आदमी) था तो वह इतना याद रखता था... बहुत याद रखता! दुकान में हजारों प्रकार के माल होते थे, वह कब आया, कितना बिक गया, कितना बाकी है, नया कितना आया? और नये भाव से कितना आया? वह सब याद रखे। 'आनन्दजी' था न 'आनन्दजी'? मर गया। आहा...हा...! हजारों (प्रकार का माल रहता था) क्योंकि बड़ा व्यापार था न! 'पालेज' से 'मुम्बई' का पास था। क्योंकि महीने

में चार-पाँच बार माल लेने के लिये 'मुम्बई' जाना पड़े। व्यापार बड़ा! 'पालेज!' दुकान है न, अभी भी दुकान है। मैं भी वहाँ दुकान पर (बैठता था) न! तो मैं भी 'मुम्बई' माल लेने के लिये जाता था।

श्रोता : आपकी कृपा से चलता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो पुण्य हो, वैसे चलता है। आ...हा...! यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बार सुन तो सही! पुण्य के कारण मिले, उसमें तो पराश्रय हुआ। पराश्रय है, वह पराधीन है, गरीब है, निर्धन है। अपने आत्मा के आश्रय से जो ज्ञानादि हुआ, वह सधन है। आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु! सूक्ष्म बात है!

'प्रवचनसार' है! प्रवचन अर्थात् वीतराग की दिव्यध्वनि! परमात्मा विराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, वहाँ से यह वाणी आयी है। 'कुन्दकुन्दाचार्य' दिगम्बर सन्त! संवत-४९ में वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से यह वाणी आयी है। आ...हा...हा...! भगवान की साक्षात् वाणी सुनकर आये। थे तो मुनि! भावलिङ्गी सन्त थे! प्रचुर स्वसंवेदन आनन्द का वेदन था। आ...हा...हा...! वे ऐसा कहते हैं कि जितना आत्मा के अवलम्बन से ज्ञान हो, वह प्रत्यक्ष और सुखरूप है। इन्द्रियाधीन जितना ज्ञान है, वह सब दुःखरूप और परोक्ष है। आहा...हा...!

(कोई कहे कि) परोक्ष प्रमाण कहते हैं न? (परन्तु) परोक्ष प्रमाण कब (कहते हैं)? निश्चय (प्रगट) हुआ हो, तब व्यवहार को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। जैसे, निश्चय आत्मा का अनुभव दृष्टि हुई हो तो रागादि को व्यवहार कहने में आता है। वैसे ही आत्मा के अवलम्बन से प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभव हो, तब व्यवहार इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ज्ञानी को भी इतना व्यवहार तो होता है - परद्रव्य के आश्रय से, इन्द्रिय के आश्रय से होता है। परसत्तावलम्बी (व्यवहार)! आहा... हा...!

यहाँ तो दो पंक्ति में ऐसा कह दिया। **केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो, वह (ज्ञान) वास्तव में प्रत्यक्ष है।** वह ज्ञान वास्तव में सुखदायक है। आ...हा...हा...! ये सब वकीलों का ज्ञान और डॉक्टरों का ज्ञान (परोक्षज्ञान है)।

श्रोता : वकीलों का ज्ञान और डॉक्टरों का ज्ञान तो लोगों के उपयोग में आता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी लोगों के उपयोग में नहीं आता! अभिमान में जाता है कि मुझे ज्ञान है और मैं सबको जिता सकता हूँ, आहा...हा... !

यहाँ तो परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ की वाणी-दिव्यध्वनि में आया... प्रवचन है न? प्र + वचन। प्र अर्थात् विशेषरूप से दिव्यध्वनि का वचन। आ...हा...हा... ! भगवान ऐसा कहते हैं, प्रभु! तुझे जो पाँच इन्द्रिय से ज्ञान (होता है) वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य के निमित्त से और अधीन (होकर) हो, वह ज्ञान तो परोक्ष है और वह परद्रव्य के अधीन (होता है), वह तो दु:खरूप है। आ...हा...हा... ! दो पंक्ति आयी।

(अब आगे कहते हैं) **और आत्मस्वभावत्व को किञ्चित्‌मात्र स्पर्श नहीं करतीं...** आ...हा... ! क्या कहते हैं? कि इन्द्रिय का ज्ञान जो है, वह परद्रव्य - इन्द्रिय के निमित्त से होता है। वह **आत्मस्वभावत्व को किञ्चित्‌मात्र स्पर्श नहीं करतीं...** आ...हा...हा... ! **(आत्म-स्वभावरूप किञ्चित्‌मात्र भी नहीं हैं)....** क्या कहते हैं? इन्द्रिय का ज्ञान सुनने में आया, देखने में आया, सुँघने से आया, स्पर्श से आया, वह ज्ञान परद्रव्य के अधीन है। इसलिए वह ज्ञान आत्मा को किञ्चित् स्पर्श नहीं (करता)। आहा...हा... ! है? इन्द्रियाँ **आत्मस्वभावत्व को किञ्चित्‌मात्र स्पर्श नहीं करतीं (आत्मस्वभावरूप किञ्चित्‌मात्र भी नहीं हैं)...** अर्थात्? जो इन्द्रियज्ञान है, वह आत्मस्वभावरूप किञ्चित् (भी) नहीं। चाहे तो ग्यारह अङ्ग पढ़ डाले, इन्द्रिय से करोड़ों श्लोकों, अरबों श्लोकों का ज्ञान करे, किन्तु उसमें आत्मा का किञ्चित् स्पर्श नहीं। आ...हा...हा... ! प्रभु का मार्ग ऐसा ही है! ऐसा है।

(आत्मस्वभावरूप किञ्चित्‌मात्र भी नहीं हैं)... इन्द्रिय से ज्ञान हुआ, उसमें आत्मा के स्वभाव का अंश नहीं, वह तो सब जड़ का अंश है! आ...हा...हा... ! शब्दज्ञान है, इन्द्रियज्ञान है! आ...हा...हा... ! भगवान चैतन्यमूर्ति के आश्रय से निश्चय से अन्दर जो (ज्ञान) होता है तो वह आत्मस्वभाव को स्पर्श करके हुआ उसका नाम प्रत्यक्षज्ञान, सुखरूपज्ञान, शान्तिरूपज्ञान कहने में आता है। आहा...हा... ! बहुत कठिन पड़ता है! एक ओर व्यापार-धन्धे से, पाप से फुरसत नहीं मिलती, उसमें ऐसा सुनने मिले तो क्या पकड़ेगा?

श्रोता : रुपये कमाकर धर्म में खर्च करे!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में धर्म में खर्च करे! राग मन्द करे तो पुण्य है और वह पैसे मैंने दिये, मेरे पैसे हैं – ऐसा माने तो मिथ्यात्व है। पैसा तो जड़ है, परद्रव्य है, वह आत्मा का द्रव्य है? तो परद्रव्य मैंने दिया, परद्रव्य मेरा है और मैंने दिया (ऐसा मानता है तो) वह परद्रव्य का स्वामी हुआ, मिथ्यात्व हुआ। रुपये कहाँ उसके बाप के थे?

दो हजार साल में 'अफ्रीका' में कभी दिगम्बर मन्दिर नहीं हुआ। ज्येष्ठ सुदी ११ के दिन खासमुहूर्त किया। 'अफ्रीका' में 'नैरोबी!' उसके खासमुहूर्त में लाखों रुपये दे तो उसमें राग मन्द किया हो इतना पुण्य है। आ...हा...! धर्म नहीं। अरे...! अरे...! ऐसी बातें...! यहाँ सौ-दो सौ (रुपये) दे तो नाम पट्टिका लगाते हैं!

अरे... भाई! प्रभु! तू परमात्मस्वरूप है! और जिनस्वरूपी (है)! 'घट-घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन, मत मदिरा के पान सो मतवाला समझै न!' घट-घट अन्तर जिन है! भगवान वीतरागी स्वरूपी ही अन्दर है! उसका स्वभाव ही वीतराग अकषायस्वरूप है। आ...हा...हा...! अन्दर वीतराग चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा है! राग से भिन्न है, इन्द्रिय के ज्ञान से भिन्न है। आ...हा...हा...! ऐसे आत्मा का ज्ञान करना। ज्ञायकभाव में, अनादि अनन्त ज्ञायक ध्रुव स्वभाव में लक्ष्य करके उसमें एकाग्रता होना, बस! यही सम्यग्ज्ञान और (सम्यक्)दर्शन है। बाकी सब बातें हैं! आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **आत्मस्वभावत्व को किञ्चित्मात्र स्पर्श नहीं करतीं (आत्मस्वभावरूप किञ्चित्मात्र भी नहीं हैं)....** कौन? इन्द्रियज्ञान। **ऐसी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्धि करके...** (अर्थात्) यह जड़ और पर भावेन्द्रिय आदि द्वारा (उपलब्ध) करके। **(ऐसी इन्द्रियों के निमित्त से पदार्थों को जानकर) उत्पन्न होता है, इसलिए वह (इन्द्रियज्ञान) आत्मा के लिये प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।** पाँचों इन्द्रियों की ओर से जो ज्ञान होता है, उसमें आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता। आ...हा...! वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बातें...!

भावार्थ : जो सीधा आत्मा के द्वारा ही जानता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। सीधा आत्मा को (जाने)। मन और राग की अपेक्षा नहीं। अरे...! इन्द्रियज्ञान होता है, उसकी

अपेक्षा नहीं। इन्द्रियज्ञान हुआ तो हम अन्दर में जा सकते हैं – ऐसी जिसको अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! शास्त्र से सुनकर ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की भी अन्दर अतीन्द्रिय ज्ञान में अपेक्षा नहीं है। है? यह ज्ञान प्रत्यक्ष **सीधा आत्मा के द्वारा...** (होता है)। इन्द्रियज्ञान से भी नहीं (होता)। कुछ इन्द्रियज्ञान हुआ तो लक्ष्य हुआ कि नहीं? (तो कहते हैं कि) इससे आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है!

सीधा आत्मा के द्वारा ही जानता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इन्द्रियज्ञान परद्रव्यरूप इन्द्रियों के द्वारा जानता है.... इन्द्रियज्ञान तो परद्रव्यस्वरूप, इन जड़ इन्द्रियों द्वारा जानता है। **इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है।** आ...हा...! एक गाथा में कितना भर दिया है! स्वद्रव्य के आश्रय से जो ज्ञान (होता है), वह ज्ञान (है)। परद्रव्य के आश्रय से ज्ञान (होता है वह) व्यवहार (है) और व्यवहार हेय (है)। आ...हा...हा...! व्यवहार पराश्रित है और पराश्रित हेय (है), स्वद्रव्य आश्रय उपादेय (है)। आहा...हा...! अन्दर भगवान आत्मा के अन्तर में स्व के आश्रय से जो ज्ञान होता है, वह निश्चयज्ञान है, प्रत्यक्षज्ञान है, सुखरूपज्ञान है और इन्द्रिय द्वारा, परद्रव्य द्वारा, परद्रव्य के अवलम्बन से होता है, वह इन्द्रियज्ञान है, दुःखरूप है, परोक्ष है। अपने आत्मा का इन्द्रियज्ञान में किञ्चित् स्पर्श नहीं। ऐसा स्वरूप (है)! आहा...हा...! तो क्या करना? ऐसा कहते हैं।

अन्दर ('जयसेनाचार्यदेव' की टीका में) लिया है **सकलैकाखण्डप्रत्यक्ष-प्रतिभासमयपरमज्योतिःकारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावना-समुत्पन्न-परमाह्लादैक-लक्षणसुखसंवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्रायः।** संस्कृत है। अपना आत्मा... सकल एक अखण्ड आत्मा है। अखण्ड, एक अखण्ड! ('समयसार' की) ३२० गाथा में अखण्ड एक आता है। त्रिकाल सकल निरावरण प्रभु अन्दर है, अखण्ड है और एक है। यहाँ एक और अखण्ड लिया। आहा...हा...! सर्व काल, एक, अखण्ड, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय! आ...हा...हा...! यहाँ भी ऐसे लिया है कि भगवान तो प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। मति और श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष होता है। आ...हा...हा...! शास्त्र में 'तत्त्वार्थसूत्र' में मति श्रुत(ज्ञान) को परोक्ष कहा (है), वह तो पर की अपेक्षा से कहा है परन्तु अपना ज्ञान है, वह तो प्रत्यक्ष

है और प्रत्यक्षज्ञान बिना सम्यग्ज्ञान कहने में नहीं आता है। ग्यारह अङ्ग पढ़ डाले तो भी मिथ्या है। आ...हा...हा...!

आ...हा...! **परमज्योतिःकारणभूते** परमज्योति प्रभु आत्मा! आ...हा...! वह जिस ज्ञान में कारणरूप हो, उसका नाम ज्ञान। **परमज्योतिः... स्वशुद्धात्मस्वरूप-भावना-समुत्पन्नपरमाह्लादै** देखा? आत्मा से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें परम आह्लाद आता है। आ...हा...! 'जयसेनाचार्य' की टीका में संस्कृत में है। अपना जो सम्यग्ज्ञान हो, वह परम आह्लादरूप होता है! आ...हा...हा...! है? **परमाह्लादैकलक्षणसुख-संवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसंवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या।...** यह सुनकर अन्दर स्वसंवेदनज्ञान की भावना करना। आ...हा...हा...! भारी काम! संसार के पाप के कारण, अभी सुनने के लिये फुरसत नहीं है, उसे कहते हैं अन्दर आत्मा में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कर! आहा...हा...! परोक्षज्ञान भी छोड़ दे, इन्द्रिय का ज्ञान भी छोड़ दे और स्व-प्रत्यक्ष है, उसकी भावना कर! आहा...हा...! यह बात है, भाई! सत्य तो यह है। 1

आत्मज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित दशा

अहा! आषाढ़ माह की घनघोर मेघ से भरपूर रात हो, जङ्गल में चारों ओर गहन अन्धकार व्याप्त हो परन्तु मुनिराज को अन्दर आत्मा में आत्मज्ञान में, आत्मानुभूति में प्रकाश व्याप्त हो गया है। अहा! जो चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से अर्थात् उनके उग्र अवलम्बन से मुनिराज को प्रकाश का ज्वार आया है। बाहर में भले ही अन्धकार हो परन्तु अन्दर में उन्हें आत्मज्ञान का अनुपम प्रकाश फैल गया है।

(वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 195)

गाथा - ५८

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति -

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।५८।।

यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति मणितमर्थेषु।
यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम्।।५८।।

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते। यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिं संस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्म-स्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते। इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभि-प्रेतमिति।।५८।।

अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणं कथयति - **जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदं** यत्परतः सकाशाद्विज्ञानं परिज्ञानं भवति तत्पुनः परोक्षमिति भणितम्। केषु विषयेषु। **अट्ठेसु** ज्ञेयपदार्थेषु। **जदि केवलेण णादं हवदि हि** यदि केवलेनासहायेन ज्ञातं भवति हि स्फुटम्। केन कतृभूतेन। **जीवेण** जीवेन। तर्हि **पच्चक्खं** प्रत्यक्षं भवतीति। अतो विस्तर :- इन्द्रियमनःपरोपदेशालोकादि-बहिरङ्गनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशम-जनितार्थग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूप-संस्काराच्चान्तरङ्गकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञानं तत्पराधीनत्वात्परोक्ष-मित्युच्यते। यदि पुनः पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मनः सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मानं प्रतीत्ये त्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्षं भवतीति सूत्राभिप्रायः।।५८।।

अब, परोक्ष और प्रत्यक्ष के लक्षण बतलाते हैं –

द्रव्य का जो ज्ञान पर से, होय वो तो परोक्ष है।
जीवमात्र से जाने यदि, तो ज्ञान वो प्रत्यक्ष है॥

अन्वयार्थ : [परतः] पर के द्वारा होनेवाला **[यत्]** जो **[अर्थेषु विज्ञानं]** पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है, **[तत् तु]** वह तो **[परोक्षं इति भणितं]** परोक्ष कहा गया है, **[यदि]** यदि **[केवलेन जीवेण]** मात्र जीव के द्वारा ही **[ज्ञातं भवति हि]** जाना जाये तो **[प्रत्यक्षं]** वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

टीका : निमित्तता को प्राप्त (निमित्तरूप बने हुए) ऐसे जो परद्रव्यभूत अंतःकरण (मन), इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि[१], संस्कार या प्रकाशादिक हैं, उनके द्वारा होनेवाला जो स्वविषयभूत पदार्थ का ज्ञान, वह पर के द्वारा प्रादुर्भाव[२] को प्राप्त होने से 'परोक्ष' के रूप में जाना जाता है और अन्तःकरण, इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि संस्कार[३] या प्रकाशादिक[४] सब परद्रव्य की अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके सव द्रव्य-पर्यायों के समूह में एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान वह केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होने से 'प्रत्यक्ष' के रूप में जाना जाता है।

यहाँ (इस गाथा में) सहज सुख का साधनभूत ऐसा यही महाप्रत्यक्ष ज्ञान इच्छनीय माना गया है - उपादेय माना गया है (ऐसा आशय समझना) ॥ ५८ ॥

प्रवचन नं. ५७ का शेष **दिनाङ्क ०४ मार्च १९७९**

(अब) ५८ (गाथा) **अब, परोक्ष और प्रत्यक्ष के लक्षण बतलाते हैं -**

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।५८।।

द्रव्य का जो ज्ञान पर से, होय वो तो परोक्ष है।
जीवमात्र से जाने यदि, तो ज्ञान वो प्रत्यक्ष है॥

1. उपलब्धि = ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न पदार्थों को जानने की शक्ति। (यह 'लब्ध' शक्ति जब 'उपयुक्त' होती है, तभी पदार्थ ज्ञात होता है।)
2. प्रादुर्भाव को प्राप्त = प्रगट, उत्पन्न।
3. संस्कार = पूर्व ज्ञात पदार्थ की धारणा।
4. चक्षुइन्द्रिय द्वारा रूपी पदार्थ को देखने में प्रकाश भी निमित्तरूप होता है।

टीका : निमित्तता को प्राप्त (निमित्तरूप बने हुये) ऐसे जो परद्रव्यभूत.... (अर्थात्) जिस ज्ञान में ये परद्रव्य(स्वरूप) जड़ इन्द्रियों निमित्त बनती हैं। आ...हा...हा... ! अरे... ! जिस ज्ञान में भगवान और भगवान की वाणी भी निमित्त बनती है, वह ज्ञान परोक्ष है। आहा...हा... ! **(निमित्तरूप बने हुए) ऐसे जो परद्रव्यभूत अन्तःकरण (मन),...** मन है, मन यहाँ है ! मन के अवलम्बन से होता है, वह परोक्ष है। **'इन्द्रिय,...'** इन्द्रिय से होता है, वह परोक्ष है। **'परोपदेश...'** पर के उपदेश से (जो ज्ञान होता है वह) परोक्ष है। आ...हा...हा... !

त्रिलोकनाथ समवसरण में विराजते हैं और दिव्यध्वनि छूटती है, (उसे) सुनते हैं परन्तु वह सुनना वह भी परोपदेश, पराधीन है। आहा...हा... ! **परोपदेश** है कि नहीं ? परोपदेश ! तो भगवान का उपदेश आया कि नहीं ? वह पराधीन है - उपदेश से ज्ञान हुआ, वह परोक्ष है। वह ज्ञान 'ज्ञान' नहीं। आ...हा...हा... !

जिस ज्ञान में **(निमित्तरूप बने हुए) ऐसे जो परद्रव्यभूत अन्तःकरण (मन),....** यह मन जिस ज्ञान में निमित्त है, वह भी परोक्षज्ञान है। आहा...हा... ! (वह) यथार्थ ज्ञान नहीं। मन से ज्ञान होता है, वह भी आत्मा को स्पर्श किये बिना होता है। आ...हा...हा... ! ऐसा (समझने के) लिये कब निवृत्त हो ? आहा...हा... ! भगवान का उपदेश ! वस्तु ऐसी है ! कठिन काहे या सत्य कहो जो है, यह है। आहा...हा... ! अभी तो ब्रह्मचर्य (पालो), बाहर की इन्द्रिय का ज्ञान, दया, दान, व्रत, पूजा और यात्रा करो (तो) धर्म होगा (ऐसा कहते हैं)। धूल भी (धर्म) नहीं है। वह तो राग है और उस ओर का ज्ञान इन्द्रियज्ञान है। आहा...हा... ! भगवान जानने में आये - गिरनार में, शत्रुञ्जय में हो, सम्मेदशिखर में हो, ये सब (जानने में) आया वह तो इन्द्रियज्ञान है, आहा...हा... !

श्रोता : प्रतिमाजी का ज्ञान होता है वह ?

समाधान : वह भी इन्द्रियज्ञान है, आँख से होता है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई !

यहाँ परमात्मा कहते हैं **निमित्तता को प्राप्त (निमित्तरूप जाने हुए) ऐसे जो परद्रव्यभूत अन्तःकरण (मन)...** ज्ञान करने में मन निमित्तरूप होता है। **इन्द्रिय....**

निमित्तरूप होती है। **परोपदेश...** निमित्तरूप है। **उपलब्धि...** *(नीचे अर्थ दिया है)* 'ज्ञानावरणयी कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न पदार्थों को जानने की शक्ति। (यह 'लब्ध' शक्ति जब 'उपयुक्त' होती है, तभी पदार्थ ज्ञात होता है)।' ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम अपनी पर्याय की योग्यता से हुआ, परन्तु वह पर तरफ का भाव है। आ...हा...हा...!

अपना ज्ञानस्वरूप भगवान! निरालम्बी – पर के आलम्बनरहित, ऐसे सीधा आत्मा का ज्ञान का अवलम्बन लेते हैं तो वह ज्ञान है। कठिन बात है!

श्रोता : आत्मग्राह्य शब्द कठिन लगता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा स्वयं वस्तु है, वही ग्राह्य है। इन्द्रियज्ञान तो अग्राह्य है। ऐसी बात है, भाई! वीतराग मार्ग जगत से अलग है। जगत में ऐसा कहीं है नहीं! बाहर से मान लिया है कि ऐसे धर्म होता है... ऐसे धर्म होता है। यात्रा, भक्ति आदि सब इन्द्रिय के विषय हैं। आ...हा...!

श्रोता : शास्त्र पढ़ना वह भी इन्द्रियज्ञान है?

समाधान : वह भी इन्द्रिय है। शास्त्रवाँचन से जो ज्ञान होता है, वह भी इन्द्रियज्ञान है। आहा...हा...! यहाँ आया न? **निमित्तता को प्राप्त...** (अर्थात्) निमित्त बने। निमित्त है – भगवान की वाणी निमित्त है, भगवान भी निमित्त है; समवसरण में जाते हैं और सुना है, वह भी निमित्त से सुना है। वह ज्ञान 'ज्ञान' नहीं। आहा...हा...! समवसरण में भी अनन्त बार गया। जब महाविदेह में जन्म लिया (तो वहाँ) महाविदेह में तो तीर्थङ्कर भगवान कायम रहते हैं। महाविदेह में तीर्थङ्कर का विरह नहीं होता। हमेशा बीस तीर्थङ्कर जाए तो दूसरे बीस, तीसरे बीस (होते हैं)। अनन्त बीस (होते हैं)! भगवान तो अभी विराजते हैं। वहाँ महाविदेह में अनन्त बार जन्म लिया है। आहा...हा...! तो समवसरण में भी अनन्त बार गया है, लेकिन वह सब ज्ञान निमित्ताधीन हुआ। आ...हा...हा...!

(निमित्तरूप बने हुए)... देखा? परोपदेश भी निमित्तरूप बना (हुआ है)। आहा...हा...! सुना हुआ ज्ञान है, वह निमित्तरूप से ज्ञान हुआ है, अपने स्वभाव से नहीं। **उपलब्धि...** पूर्व का संस्कार (अर्थात्) थोड़ा क्षयोपशम हो, वह भी पर का क्षयोपशम है।

उससे ज्ञान नहीं होता। आहा...हा... ! **संस्कार...** आहा...हा... ! है ? पूर्व का संस्कार है, वह यथार्थज्ञान नहीं। आहा...हा... !

श्रोता : आप तो कहते हो, संस्कार जमाओ !

पूज्य गुरुदेवश्री : संस्कार जमाओ (इसका अर्थ कि) अन्दर ज्ञायक है... ज्ञायक है... उसमें पर की अपेक्षा नहीं। है बात, सूक्ष्म बात है, भाई ! त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप भगवान आत्मा ! चैतन्यज्योति ! 'स्वयं ज्योति सुखधाम !' स्वयं चैतन्यज्योति और आनन्द का धाम प्रभु आत्मा है। आहा...हा... ! उसका अन्दर में संस्कार डालना कि मैं तो यह हूँ... यह हूँ... पर की अपेक्षा बिना। सूक्ष्म बात है, भाई ! यहाँ तो कहते हैं कि संस्कार हो तो भी वह पर का आश्रय हुआ।

प्रकाशादिक हैं... (यानि) प्रकाशादिक मिले। जो इन्द्रियज्ञान में निमित्त-प्रकाश आदि (मिले)। दीपक का प्रकाश हो, सूर्य का प्रकाश हो। **उनके द्वारा होनेवाला जो स्वविषयभूत पदार्थ का ज्ञान...** जो पदार्थ अपना विषय है, **वह पर के द्वारा प्रादुर्भाव को प्राप्त होने से...** आहा...हा... ! (अर्थात्) पर के द्वारा प्रगट-उत्पन्न होने से। संस्कार है न अन्दर ? (संस्कार का अर्थ नीचे दिया है) संस्कार = पूर्व ज्ञात पदार्थ की धारणा। पूर्व में ज्ञात पदार्थ ही धारणा की हो तो वह धारणा को भी निमित्त कहा। आ...हा...हा... ! पर से सुनकर धारणा (की है) वह भी परोक्षज्ञान है। आ...हा... ! अपना-स्व का ज्ञान करने में बिलकुल मदद(रूप) नहीं है। आहा...हा... !

भगवान आत्मा ! चिदानन्द स्वावलम्बी प्रभु ! उसका ज्ञान करने में सुनने का ज्ञान हुआ, उपदेश से हुआ, संस्कार में हुआ **उनके द्वारा होनेवाला जो स्वविषयभूत पदार्थ का ज्ञान, वह पर के द्वारा...** आ...हा...हा... ! **प्रादुर्भाव को प्राप्त होने से...** पर के द्वारा उत्पन्न हुआ। आ...हा...हा... ! ग्यारह अङ्ग की धारणा हो गई, अरबों श्लोक सुनकर (कण्ठस्थ हुए) परन्तु वह तो पर के द्वारा प्राप्त हुआ है, अपने भगवान आत्मा के आश्रय से नहीं हुआ। ऐसी बात है ! निमित्त है, लेकिन निमित्त से तो पराश्रय हुआ। पराश्रय व्यवहार है और व्यवहार हेय हो गया। आहा...हा... ! (इस प्रकार) **(पर के द्वारा) प्रादुर्भाव को प्राप्त होने से 'परोक्ष' के रूप में जाना जाता है,....** आ...हा...हा... !

अब, **परद्रव्य की अपेक्षा रखे बिना...** अब, प्रत्यक्ष की बात करते हैं। (पहले) परोक्ष की (बात) कही। उपदेश, प्रकाश, इन्द्रिय, मन से मात्र उस विषय सम्बन्धित ज्ञान होता है, वह सब परोक्षज्ञान है; सच्चा ज्ञान नहीं। आहा...हा...! प्रकाश आदि जो चार कहे, कहा ना? मन, इन्द्रिय, संस्कार, उपलब्धि, परोपदेश उन सब **परद्रव्य की अपेक्षा रखे बिना...** इसमें सब खा गया। चार बोल हैं न? आ...हा...! मन के अवलम्बन बिना, इन्द्रिय के अवलम्बन बिना, परद्रव्य के अवलम्बन बिना, परद्रव्य को सुने उसके अवलम्बन बिना। **सब परद्रव्य की अपेक्षा रखे बिना...** आ...हा...हा...!

एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके... आ...हा...हा...! **एकमात्र आत्मस्वभाव को ही!** मन का अवलम्बन नहीं, इन्द्रिय का नहीं, सुनने का नहीं, परोपदेश नहीं, संस्कार नहीं। राग की मन्दता से क्षयोपशम हुआ, वह वह भी नहीं। आहा...हा...! अपना **एकमात्र आत्मस्वभाव को ही कारणरूप से ग्रहण करके...** (अर्थात्) भगवान त्रिलोकीनाथ परमात्मा अपना स्वरूप कारणपरमात्मा जो है, उसकी आश्रय से - उसके अवलम्बन से। **सर्व द्रव्य-पर्यायों के समूह में एक समय ही व्याप्त होकर...** यहाँ केवलज्ञान लेना है ना? (इसलिए कहा कि) **सर्व द्रव्य-पर्यायों के समूह में....** आ...हा...हा...! अनन्त आत्माओं, अनन्त परमाणुओं, उसकी अनन्ती पर्याय, उसके अनन्त गुण - ये द्रव्य-पर्याय का समूह (है उसमें) **एक समय ही व्याप्त होकर....** आहा...हा...! एक 'क' बोलने में असंख्य समय जाते हैं, उसके एक समय में सर्व व्याप्त होकर **प्रवर्तमान ज्ञान वह केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होने से 'प्रत्यक्ष' के रूप में जाना जाता है।** आ...हा...हा...! पूर्णरूप की बात कही, परन्तु अन्दर में प्रत्यक्ष है। इन पाँच की अपेक्षा बिना एकमात्र आत्मस्वभाव को कारणरूप से ग्रहण करके सर्व द्रव्य-पर्याय के समूह को एक समय में प्राप्त होता है। निश्चय (से) तो एक समय में सब जानने की शक्ति, उपयोग क्रमिक (होता) है। श्रुतज्ञान परोक्ष है लेकिन एक समय में ही जानने की ताकत है, परन्तु स्व के आश्रय से ही वह। तो वह परोक्ष (नहीं रहा) प्रत्यक्ष (हुआ)। आत्मा को जाना इसलिए प्रत्यक्ष है। आ...हा...हा...! **प्रवर्तमान ज्ञान वह केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होने से 'प्रत्यक्ष' के रूप में जाना जाता है।** आ...हा...हा..! ऐसा

सुनने मिले नहीं तो उसे समझे कब? आ...हा...! दुनिया की मजदूरी की, फिर मरकर जाए चार गति में रगड़ने! आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि परोपदेश का भी अवलम्बन नहीं। भगवान की वाणी सुनने से भी आत्मज्ञान नहीं होता। आहा...हा...! आत्मज्ञान (कहा) न? आत्मज्ञान अर्थात् आत्मा जो ज्ञायकस्वरूप है, उसका ज्ञान। पर का ज्ञान नहीं, इन्द्रिय का नहीं, मन का नहीं, राग का नहीं, एक समय की पर्याय का नहीं, आत्मज्ञान... आत्मज्ञान... (अर्थात्) आत्मा पूर्ण है, उसका ज्ञान। उसका आश्रय लेकर जो (ज्ञान) हुआ, (उसको) पर की अपेक्षा छूट गई। इसलिए यहाँ ज्ञान प्रत्यक्ष कहने में आता है। आहा...हा...! कठिन पड़े! आ...हा...! क्या हो? मार्ग तो ऐसा है, भैया!

स्व-आश्रय निश्चय, पराश्रय व्यवहार। पराश्रय व्यवहार सब हेय है और स्व-आश्रय निश्चय उपादेय है। यह महासिद्धान्त (है)! आहा...हा...! (समयसार) २७२ गाथा।

श्रोता : व्यवहार करते-करते निश्चय होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : (व्यवहार) करते-करते बिलकुल होगा नहीं। व्यवहार परम्परा (कारण) कहा है, उसका कारण दूसरा है। अनुभव में साथ में राग है तो वर्तमान में सहचारी साथ में है, इस अपेक्षा से राग को, जिसको निश्चय अनुभव है, उसको परम्परा कारण कहने में आया है। वह भी जब पूर्णानन्द का नाथ में पूर्ण अनुभव करेगा, तब राग भी छूट जायेगा। तब निश्चय से तो स्व के आश्रय से ही केवलज्ञान प्राप्त होता है। व्यवहार से भी उत्पन्न नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा कठिन है! यहाँ तो सब जगह यही सुनने को मिले, ये करो... ये करो.... ये करो... व्रत करो, उपवास करो, तपस्या करो। कहाँ तपस्या थी, बापू? भगवान आत्मा अन्दर चैतन्यज्योति विराजता है! उसके समीप जाने से, अन्दर वास करने से उपवास होता है। बाकी तो सब अपवास है - अनिष्ट वास (निवास) है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न होने से 'प्रत्यक्ष' के रूप में जाना जाता है।** आ...हा...हा...! बात तो कठिन है लेकिन वस्तु तो ऐसी है। आ...हा...! देह तो जड़ है, तो इन्द्रियाँ जड़ हैं। भावेन्द्रिय है, वह भी वास्तव में तो आत्मा का स्वभाव

नहीं है और इन्द्रिय का विषय जो है, वह कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहा...हा...! तो ऐसा भी आया कि जो क्षयोपशम है, उससे भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। आहा...हा...! अन्दर क्षयोपशम (अर्थात्) ज्ञान का जो थोड़ा विकास है, उससे भी आत्मज्ञान नहीं होता। आ...हा...हा...! आत्मज्ञान तो स्व के आश्रय से, क्षयोपशम के आश्रय-अवलम्बन बिना सीधा परम स्वभावभाव ज्ञायकभाव नित्यभाव आनन्दभाव प्रभु! सच्चिदानन्द प्रभु के अवलम्बन से ज्ञान होता है। आत्मा के आश्रय से ज्ञान हो, वह ज्ञान है। आहा...हा...! यह धार्मिक ज्ञान है। इन्द्रिय का ज्ञान अधर्म का ज्ञान है। आहा...हा...! कठिन बात है, भाई!

यहाँ (इस गाथा में) सहज सुख का साधनभूत.... है ? **ऐसा वही महाप्रत्यक्ष ज्ञान इच्छनीय माना गया है - सहज सुख का साधनभूत ऐसा वही महाप्रत्यक्ष ज्ञान इच्छनीय....** नाम भावना (करने योग्य) उपादेय माना है। आहा...हा..! अतीन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द का कारण (होने से) वही भाव आदरणीय है। इन्द्रियज्ञान भी आदरणीय नहीं है। आहा...हा...! संसार की ये सब शिक्षा पाते हैं - LL.B., M.A., B.A. ये सब कुज्ञान हैं, इन्द्रियज्ञान हैं, दुःखरूप है।

श्रोता : वह रुपये देता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये वह नहीं देता। वह तो पूर्व के पुण्य हो तो आता है। आहा...हा...! यह कहा था न ? 'राजकोट' में एक बड़ा वेरिस्टर था (लेकिन) एक भी असील (मुवक्किल) नहीं आता था। वेरिस्टर! बड़ा वेरिस्टर हुआ था लेकिन कोई असील आये नहीं। और ये वेरिस्टर (एक मुमुक्षु), इनको असील का पार नहीं, अर्थात् ज्यादा मजदूरी थी। आहा...हा...! बहुत कठिन काम!

यह (शरीर) तो मिट्टी जड़ है, परद्रव्य है। स्वद्रव्य से (भिन्न) परद्रव्य है और अन्दर क्षयोपशम है, वह भी वास्तव में तो परद्रव्य है क्योंकि आत्मा में है ही नहीं। (आत्मा का) तो परमपारिणामिक स्वभाव है। आ...हा...हा...! पर की अपेक्षा से क्षयोपशम को भी परद्रव्य कह दिया है! स्व के आश्रय से (जो ज्ञान) हो, वह तो सम्यग्ज्ञान है, वह तो आनन्द(रूप) है। आहा...हा...! ऐसी बात सुननेवाले को कठिन पड़े। सुननेवाले पाँच-पाँच हजार, दस हजार आदमी इकट्ठे हो, उसे ऐसा लगे कि ये क्या कहते हैं ?

श्रोता : ऐसा सुनने के लिये 'मुम्बई' में बहुत इकट्ठे होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ तो इकट्ठे होते हैं, अब तो होते हैं, आहा...हा...!

यहाँ (इस गाथा में) सहज सुख का साधनभूत.... (अर्थात्) आत्मा का स्वाभाविक आनन्द का **साधनभूत ऐसा यही महाप्रत्यक्ष ज्ञान...** भावनीय है। यह ज्ञान भावना में लेना है, तो यह भावना कब होती है ? कि अपने आत्मा का अवलम्बन लेकर – त्रिकाल का अवलम्बन लेकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान हो वह भावना है। 'आतम भावना भावता जीव लहे केवलज्ञान' आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप का स्पर्श करके जो सम्यग्ज्ञान हुआ उसमें उसकी भावना (करने पर) अतीन्द्रियज्ञान – केवलज्ञान होता है। यह कोई व्रत करके, तप करते-करते केवलज्ञान होता है, ऐसा है नहीं। आहा...हा...! **(ऐसा आशय समझना)।** लो! ठीक! आ...हा...हा...! 1

काल और क्षेत्र से अप्रभावित मुनिदशा

प्रश्न – यह तो चौथे काल के साधुओं की बात है ?

उत्तर – अरे यह तो पञ्चम काल के साधु की बात है। पञ्चम काल में साधुपना कैसा होता है ? वह यहाँ बतला रहे हैं। चौथे काल के हों अथवा पञ्चम काल के हों, साधु के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। 'एक होय तिन काल में परमारथ का पन्थ' तीनों काल मुनिपना एक ही प्रकार का होता है। जैसे, वस्तु का मूल स्वरूप तीनों काल पवित्र और शुद्ध एक ही प्रकार का होता है; उसी प्रकार उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाली पवित्रता और शुद्धता/मुनिदशा भी तीनों काल एक प्रकार ही होती है। शुभयोग से, शुभभाव से वह पवित्र दशा प्रगट नहीं होती। शुभराग तो निमित्त के आश्रय से प्रगट होता है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। ***(वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 196)***

गाथा - ५९

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति -

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं।।५९।।

जातं स्वयं समंतं ज्ञानमनन्तार्थविस्तृतं विमलम्।
रहितं त्ववग्रहादिभिः सुखमिति ऐकान्तिकं भणितम्।।५९।।

स्वयं जातत्वात्, समन्तत्वात्, अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञानं सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते, अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य। यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया, असमंतमितरद्वारावरणेन, कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया, समलमसम्यगवबोधेन, अवग्रहादिसहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुलं भवति। ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम्। इदं तु पुनरनादिज्ञानसामान्य- स्वभावस्योपरिमहाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया, समन्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोप-योगीभूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृतम् समस्तार्थाबुभुत्सया, सकलशक्ति-प्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलम् सम्यगवबोधेन, युगपत्समर्पित-त्रैसमयिकात्मस्वरूपं लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितम् क्रमकृतार्थ-ग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्षं ज्ञानमनाकुलं भवति। ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम् ।।५९।।

एवं हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थलं गतम्। अथाभेदनयेन पञ्चविशेषणविशिष्टं केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति - **जादं** जातं उत्पन्नम्। किं कर्तृ। **णाणं** केवलज्ञानम्। कथं जातम्। **सयं** स्वयमेव। पुनरपि किंविशिष्टम्। **समत्तं** परिपूर्णम्। पुनरपि किंरूपम्। **अणंतत्थवित्थडं** अनन्तार्थविस्तीर्णम्। पुनः कीदृशम्। **विमलं** संशयादिमलरहितम्। पुनरपि कीदृक। **रहियं तु ओग्गहादिहिं** अवग्रहादिरहितं चेति। एवं पञ्चविशेषणविशिष्टं यत्केवलज्ञानं **सुहं ति एगंतियं भणिय** तत्सुखं भणितम्। कथंभूतम्। एकान्तिकं नियमेनेति। तथा हि - परनिरपेक्षत्वेन चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादानकारणं कृत्वा समुत्पद्यमानत्वात्स्वयं जायमानं

सत्, सर्वशुद्धात्मप्रदेशाधारत्वेनोत्पन्न-त्वात्समस्तं सर्वज्ञानाविभागपरिच्छेदपरिपूर्णं सत्, समस्तावरणक्षये-नोत्पन्नत्वात्समस्तज्ञेयपदार्थग्राहकत्वेन विस्तीर्णं सत्, संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेन सूक्ष्मादिपदार्थपरिच्छित्ति-विषयेऽत्यन्तविशदत्वाद्विमलं सत्, क्रमकरणव्यवधानजनितखेदा-भावादवग्रहादिरहितं च सत्, यदेवं पञ्चविशेषणविशिष्टं क्षायिकज्ञानं तदनाकुलत्वलक्षण-परमानन्दैकरूप-पारमार्थिकसुखात्संज्ञालक्षण-प्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभिन्न-त्वात्पारमार्थिकसुखं भण्यतेइत्यभिप्रायः ।।५९ ।।

अब, इसी प्रत्यक्षज्ञान को पारमार्थिक सुखरूप बतलाते हैं –

सर्वाङ्ग से स्वोत्पन्न, अर्थ अनन्त में फैलाव जो।
अवग्रह आदि से रहित, निर्मल ऐकान्तिक ज्ञान वो॥

अन्वयार्थ : [स्वयं जातं] अपने आप ही उत्पन्न **[समंतं]** समंत (सर्व प्रदेशों से जानता हुआ) **[अनन्तार्थविस्तृतं]** अनन्त पदार्थों में विस्तृत **[विमलं]** विमल **[तु]** और **[अवग्रहादिभिः रहितं]** अवग्रहादि से रहित **[ज्ञानं]** ऐसा ज्ञान **[ऐकान्तिकं सुखं]** ऐकान्तिक सुख है **[इति भणितं]** ऐसा (सर्वज्ञदेव ने) कहा है।

टीका : (१) 'स्वयं उत्पन्न' होने से, (२) 'समन्त'[१] होने से, (३) 'अनन्त-पदार्थों में विस्तृत' होने से, (४) 'विमल' होने से और (५) 'अवग्रहादि रहित' होने से, प्रत्यक्षज्ञान ऐकान्तिक[२] सुख है, यह निश्चित होता है, क्योंकि एक मात्र अनाकुलता ही सुख का कारण है।

(इसी बात को विस्तारपूर्वक समझाते हैं –)

(१) 'पर के द्वारा उत्पन्न' होता हुआ पराधीनता के कारण (२) 'असमंत'[३] होने से इतर[४] द्वारों के आवरण के कारण (३) 'मात्र कुछ पदार्थों में प्रवर्तमान' होता हुआ अन्य पदार्थों को जानने की इच्छा के कारण, (४) 'समल' होने से असम्यक् अवबोध के कारण (– कर्ममलयुक्त होने से संशय–विमोह–विभ्रमसहित जानने के कारण), और (५) 'अवग्रहादि सहित' होने से क्रमशः होनेवाले पदार्थग्रहण[५] के खेद के कारण (– इन

---

१. समन्त = चारों ओर सर्व भागों में वर्तमान; सर्व आत्मप्रदेशों से जानता हुआ; समस्त; सम्पूर्ण, अखण्ड।
२. ऐकान्तिक = परिपूर्ण; अन्तिम, अकेला; सर्वथा।
३. परोक्ष, ज्ञान खण्डित है अर्थात् वह अमुक प्रदेशों के द्वारा ही जानता है। जैसे, वर्ण आँख जितने प्रदेशों के द्वारा ही (इन्द्रियज्ञान से) ज्ञात होता है; अन्य द्वार बन्द हैं।
४. इतर = दूसरे; अन्य; उसके सिवाय के।
5. पदार्थग्रहण अर्थात् पदार्थ का बोध एक ही साथ न होने पर अवग्रह, ईहा इत्यादि क्रमपूर्वक होने से खेद होता है।

कारणों को लेकर), परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुल है; इसलिए वह परमार्थ से सुख नहीं है।

और यह प्रत्यक्षज्ञान तो अनाकुल है, क्योंकि (१) अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर महा विकास से व्याप्त होकर स्वत: ही रहने से 'स्वयं उत्पन्न होता है,' इसलिए आत्माधीन है, (और आत्माधीन होने से आकुलता नहीं होती); (२) समस्त आत्मप्रदेशों में परम समक्ष[१] ज्ञानोपयोगरूप होकर, व्याप्त होने से 'समन्त है', इसलिए अशेष द्वार खुले हुए हैं (और इस प्रकार कोई द्वार बन्द न होने से आकुलता नहीं होती); (३) समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से परमविविधता[२] में व्याप्त होकर रहने से 'अनन्त पदार्थों में विस्तृत है,' इसलिए सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा का अभाव है (और इस प्रकार किसी पदार्थ को जानने की इच्छा न होने से आकुलता नहीं होती); (४) सकल शक्ति को रोकनेवाला कर्मसामान्य (ज्ञान में से) निकल जाने से (ज्ञान) अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश के द्वारा प्रकाशमान (तेजस्वी) स्वभाव में व्याप्त होकर रहने से 'विमल है' इसलिए सम्यक्रूप से (बराबर) जानता है (और इस प्रकार संशयादि रहितता से जानने के कारण आकुलता नहीं होती) तथा (५) जिनने त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत् समर्पित किया है, (एक ही समय बताया है) ऐसे लोकालोक में व्याप्त होकर रहने से 'अवग्रहादि रहित है' इसलिए क्रमशः होनेवाले पदार्थ ग्रहण के खेद का अभाव है। इस प्रकार (उपरोक्त पाँच कारणों से) प्रत्यक्ष ज्ञान अनाकुल है। इसलिए वास्तव में वह पारमार्थिक सुख है।

भावार्थ : क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान एकान्त सुखरूप है॥ ५९॥

अब, इसी प्रत्यक्षज्ञान को पारमार्थिक सुखरूप बतलाते हैं – देखा ? इन्द्रियज्ञान दु:खरूप है और परमार्थस्वरूप प्रत्यक्ष आत्मा का ज्ञान है, वह सुखरूप है, इसमें आनन्द है। आ...हा...हा... ! यह विषयवासना आदि इन्द्रिय की ओर का लक्ष्य है (उसमें) ज्ञान होता है कि ऐसा होता है... ऐसा होता है... वह सब दु:खरूप है। आहा...हा... ! (पैसा) कमाने में जो ज्ञान करता है, वह ज्ञान दु:खरूप है। आ...हा... ! बाई रसोई करने में होशियार हो, पापड़ करे, वड़ी करे, आ...हा... ! दूसरा क्या कहते हैं ? आप लोगों की भाषा भी भूल

१. समक्ष = प्रत्यक्ष

२. परमविविधता = समस्त पदार्थ समूह जो कि अनन्त विविधतामय है।

जाते हैं! पुडला! पुडला करते हैं न पुडला? पुडला करते हैं तो उसमें घी ऊपर नहीं डालते, पुडला की चारों ओर डाले। होशियार होवे तो पुडले अच्छे बना सकती है। अज्ञान है, (विपरीत) मान्यता है। आहा...हा...! ये गूथने का काम करते हैं न? क्या कहते हैं? तोरण! तोरण में मोती गूँथने का काम करते हैं, वह सब ज्ञान कुज्ञान है। इन्द्रियज्ञान कुज्ञान है, दुःखरूप है।

श्रोता : लौकिक में होशियारी गिनी जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया पागल है तो पागल की प्रशंसा करेगी न! पागल में जो ज्यादा पागल होता है, उसे बड़ा कहते हैं! उसको बड़ा कहते हैं। आ...हा...!

अब, इसी प्रत्यक्षज्ञान को पारमार्थिक सुखरूप बतलाते हैं – स्व के आश्रय से प्रत्यक्षज्ञान हो, वह सुखरूप है। आ...हा...हा...! बात को कहाँ ले गये! दया, दान, व्रत, भक्ति (आदि) शुभ उपयोग तो बन्धन का कारण (है), यह तो संसार का कारण (है) परन्तु यह इन्द्रियज्ञान भी संसार का कारण (है)! आ...हा....हा...! ५८ (गाथा) पूरी हुई। (अब) ५९ (गाथा)।

प्रवचन नं. ५७ **दिनाङ्क ०४ मार्च १९७९**

जादं सयं समंतं णाणमणंतत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणिदं।। ५९।।

सर्वाङ्ग से स्वोत्पन्न, अर्थ अनन्त में फैलाव जो।
अवग्रह आदि से रहित, निर्मल ऐकान्तिक ज्ञान वो॥

आ...हा...हा...! आत्मा में एकान्त सुख है। पर में किञ्चित् सुख तीन काल में नहीं है। पर की विषयवासना आदि सब दुःखरूप है। आहा...हा...! लक्ष्मी मिलनी और प्रसन्न होना, वह सब परिणाम दुःखरूप हैं। आ...हा...! आहा...हा...!

टीका : (१) 'स्वयं उत्पन्न' होने से... प्रत्यक्ष ज्ञान कैसा है? कि स्वयं अपने आत्मा से उत्पन्न होता है, कोई पर की अपेक्षा उसमें नहीं है। भगवान के उपदेश से भी

स्वयं ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। आहा...हा...! **(१) 'स्वयं उत्पन्न' होने से, (२) 'समन्त' होने से...** (समन्त अर्थात्) चारों ओर-सर्व भागों में वर्तमान; सर्व आत्मप्रदेशों से जानता हुआ; समस्त; सम्पूर्ण; अखण्ड। आहा...हा...! प्रत्यक्षज्ञान सम्पूर्ण, अखण्ड चारों ओर से देखता है।

(३) 'अनन्त पदार्थों में विस्तृत' होने से... कितना है प्रत्यक्षज्ञान? अनन्त पदार्थ में। लोकालोक और द्रव्य, गुण, पर्याय, जिसका आदि-अन्त नहीं उसको भी जानता है - ऐसा यह विस्तृत ज्ञान है। आहा...हा...! **(४) 'विमल' होने से...** लो! यह तो निर्मल है। प्रत्यक्षज्ञान-सर्वज्ञपना-केवलज्ञान तो निर्मल है। आहा...हा...! **(४) और 'अवग्रहादि रहित' होने से...** (अर्थात्) एक (पदार्थ को) जानना, फिर उसे पकड़ना, फिर विचार करना, निर्णय करना - ऐसा उसमें है नहीं। (ऐसी) अवग्रहादि क्रिया रहित है। मतिज्ञान में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा होती है, यह अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणारहित प्रत्यक्षज्ञान है। भगवान को यह प्रत्यक्षज्ञान सुखरूप है। आ...हा...हा...!

प्रत्यक्षज्ञान एकान्तिक सुख है... है? (एकान्तिक का अर्थ नीचे दिया है) परिपूर्ण; अन्तिम; अकेला; सर्वथा सुख है। आहा...हा...! कथञ्चित् सुख है और कथञ्चित् दुःख है, - ऐसा अनेकान्त नहीं (है)। एकान्त सुख है और दुःख किञ्चित् भी नहीं है, उसका नाम अनेकान्त (है)। (किसी को लगे कि) जैन में तो एकान्त नहीं होता न? (तो कहते हैं कि) अरे...! यह एकान्त है, सुन तो सही! आ...हा...! 'श्रीमद्' में आया न? अनेकान्त भी स्वरूप की एकता बिना-स्वरूप के आश्रय बिना - अपने आश्रय बिना अनेकान्त भी यथार्थ नहीं होता। निज (आश्रय के) हेतु सिवाय अनेकान्त होता नहीं। आ...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **(प्रत्यक्षज्ञान) एकान्तिक सुख है यह निश्चित होता है,...** आ...हा...हा...! एक आदमी यहाँ आया था। (कहने लगा कि) 'मैं तीर्थङ्कर हूँ। चार कर्म का नाश हुआ है। मेरे लिये व्यवस्था कर दो! क्योंकि तीर्थङ्कर को चार कर्म का नाश होता है और चार अघाति बाकी है तो भगवान के पास भी पैसा नहीं है तो मेरे पास भी पैसे नहीं हैं!' पागल था! कौन से गाँव का था? 'प्रतापगढ़' का था। पागल जैसा! लेकिन ऐसे

पागल नहीं था। मानता था (कि) 'मुझे केवलज्ञान हुआ है! और मेरे केवलज्ञान में साधनवाले सब तैयार हो गये हैं!' अरे... ! तुझे मिथ्यात्व का भ्रम है। वस्त्रसहित मुनिपना होता नहीं (तो) केवल(ज्ञान) कहाँ से हो गया? मिथ्यादृष्टि! यह भी सुना, फिर वन्दन करे! ऐसी भ्रमणा! 'प्रतापगढ़' का था।

यहाँ कहते हैं कि एकान्त सुख तो केवलज्ञान में है। आहा...हा... ! विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. ५८ **दिनाङ्क ०५ मार्च १९७९**

'प्रवचनसार' गाथा – ५९। मूल गाथा में तो यह लेना है। टीका फिर से लेते हैं। **'(१) 'स्वयं उत्पन्न' होने से...** (अर्थात्) अतीन्द्रियज्ञान जो है (वह) अपने से स्वयं उत्पन्न होता है। अपना केवलज्ञान अपने से स्वयं उत्पन्न होता है। एक बात (हुई)। (दूसरी बात) **'समन्त' (होनेसे)...** चारों ओर से अपने से उत्पन्न होता है। असंख्य प्रदेश में है ना? (समन्त अर्थात्) चारों ओर–सर्व भागों में वर्तमान; सर्व आत्मप्रदेशों में जानता हुआ; समस्त; सम्पूर्ण; अखण्ड केवलज्ञान! यहाँ कहना है कि केवलज्ञान सुख है – यह लेना है। इन्द्रियज्ञान दुःख है। आहा...हा... ! अतीन्द्रियज्ञान सुख है तो अतीन्द्रिय सुख का साधन अपना आत्मा जो निर्विकल्प अखण्ड ज्ञायक (है) उसकी दृष्टि करके अनुभव करना, यह अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का उपाय है। आ...हा... ! (यह) **समन्त** (का अर्थ हुआ)।

अनन्त पदार्थों में विस्तृत (अर्थात्) केवलज्ञान तो अनन्त पदार्थ को जानता है। **विमल** (अर्थात्) निर्मल है। **'अवग्रहादि रहित' होने से....** प्रत्यक्ष है। अवग्रह, ईहा आदि जो मतिज्ञान के भेद हैं – क्रम (हैं), उस क्रम से रहित प्रत्यक्षज्ञान **ऐकान्तिक सुख हैं..** आ...हा... ! ऐकान्तिक (अर्थात्) परिपूर्ण; अन्तिम; अकेला; सर्वथा। **यह निश्चित होता है, क्योंकि एकमात्र अनाकुलता ही सुख का लक्षण है।...** आहा...हा... ! इन्द्रियज्ञान है, शुभराग है, अशुभराग है, वह तो दुःखरूप ही है। आहा...हा... ! परन्तु इन्द्रियज्ञान भी दुःखरूप है। आहा...हा... ! शुभराग, अशुभराग के शुभ उपयोग, अशुभ उपयोग है, वह तो आकुलता उत्पन्न करनेवाली चीज है। राग है न (इसलिए)।

आ...हा...हा... ! यह इन्द्रियज्ञान (है), यह ज्ञान तो अपनी पर्याय में होता है परन्तु पर्याय में इन्द्रियाँ – यह जड़ इन्द्रिय आदि निमित्त हैं। इस निमित्त के कारण पराधीन है (और) पराधीनता के कारण वह दु:खरूप है। आहा...हा... ! यहाँ (तक) जाना !

(इसी बात को विस्तारपूर्वक समझाते हैं –)

(१) 'पर के द्वारा उत्पन्न' होता हुआ... पाठ यह है। **(१) 'पर के द्वारा उत्पन्न' होता हुआ पराधीनता के कारण...** इन्द्रियज्ञान पर के द्वारा (अर्थात्) ये पाँच जड़ इन्द्रियों (है) इन पर के द्वारा इन्द्रिय का ज्ञान होता है। आ...हा... ! ज्ञान होता है पर्याय में, परन्तु पर के द्वारा – इन्द्रिय के द्वारा अन्दर ज्ञान होता है, यह ज्ञान दु:खरूप है। आहा...हा... !

(२) 'असमन्त' होने से... (अर्थात्) सर्व प्रदेशों में उसका प्रकाश नहीं है। **इतर द्वारों के आवरण के कारण 'असमन्त'** है न ? पूर्ण नहीं (है)। **इतर द्वारों के आवरण** (अर्थात्) अन्दर कुछेक आवरण हैं (और) कुछेक प्रदेश खिले हैं, (विकसित हुए हैं) बाकी तो आवरण हैं। (इसलिए) इन्द्रियज्ञान दु:खरूप है। आ...हा... !

(३) 'मात्र कुछ पदार्थों में प्रवर्तमान' होता हुआ अन्य पदार्थों को जानने की इच्छा के कारण... दु:खरूप है। कुछेक पदार्थ जानता है, दूसरे को नहीं जानता है – ऐसी इच्छा के कारण दु:खरूप है। कठिन बात है।

(४) 'समल' होने से असम्यक् अवबोध के कारण... (अर्थात्) इन्द्रियज्ञान मैवाला, मलिन है और असम्यक् है – सम्यक्ज्ञान नहीं (है)। **'असम्यक् अवबोध के कारण (कर्ममलयुक्त होने से संशय-विमोह-विभ्रमसहित जानने के कारण)...'** इन्द्रियज्ञान में तो संशय होता है, मोह-विमोह होता है, विभ्रम होता है। आहा...हा... !

(५) 'अवग्रहादि सहित' होने से... (अर्थात्) अवग्रह, ईहा आदि क्रम(पूर्वक) जानने की योग्यता होने से **पदार्थग्रहण के खेद के कारण....** (अर्थात्) एक पदार्थ को जानने से फिर दूसरे पदार्थ को जानने जाता है (तो) वहाँ खेद होता है। आ...हा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई !

यह 'प्रवचनसार' है ! भगवान त्रिलोकनाथ (की) जो दिव्यध्वनि निकली, उसका

यह सार है!! दुनिया पर में सुख मानती है, वह तो दूर रह गया परन्तु इन्द्रियज्ञान में सुख नहीं (है)। आ...हा...! शरीर से सुख मानते हैं, पैसा से सुख मानते हैं, इज्जत (से सुख मानते हैं), करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ पैसा है तो सुखी है - (ऐसा माननेवाले) सब दु:खी हैं।

श्रोता : पैसे के कारण दु:ख है?

समाधान : ममता के कारण दु:ख है। (अर्थात्) ये पैसे मेरे, मैं पैसे का स्वामी (ऐसी ममतावाला) मिथ्यादृष्टि, मूढ़, दु:खी है। आ...हा...हा...! अज्ञानी है न! दु:खी है। आ...हा...! मकान, पाँच-पच्चीस लाख का मकान है तो मैं सुखी हूँ! धूल में भी सुख नहीं, दु:ख है! आहा...हा...! पराधीनता के कारण दु:ख है, ऐसा कहा न? **समल** है।

(५) 'अवग्रहादि सहित' होने से क्रमशः होनेवाले पदार्थग्रहण के खेद के कारण... आहा...हा...! (पदार्थग्रहण अर्थात्) 'पदार्थ का बोध एक ही साथ न होने पर अवग्रह, ईहा इत्यादि क्रमपूर्वक होने से खेद होता है।' आ...हा...हा...! **(इन कारणों को लेकर), परोक्ष ज्ञान अत्यन्त आकुल है;...** आ...हा...! इन्द्रियाँ पर, जड़ हैं, उसके अवलम्बन से जो ज्ञान होता है, (वह) खेद है। आहा...हा...! दु:ख है। ऐसी बात...!

दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का परिणाम है, वह शुभ है, वह दु:ख है। आहा...हा...! परन्तु यहाँ तो (कहते हैं कि) इन्द्रियज्ञान दु:ख है। अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु आत्मा में भरा है। आ...हा...! और केवली को (अतीन्द्रिय) ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द उत्पन्न होता है। उसका उपाय भी अतीन्द्रिय आनन्द(स्वरूप) जो आत्मा है... आहा...हा...! उसमें दृष्टि (लगाना)। (यही बात) आगे कहेंगे। उसमें एकाकार होकर सामान्य जो ज्ञायकस्वभाव है, उस पर पर्याय को एकाग्र (करना)... आ...हा...हा...! यह केवलज्ञान और अनन्त अनाकुल सुख की उत्पत्ति का कारण है।

(परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुल है); इसलिए वह परमार्थ से सुख नहीं है। भाई! आहा...हा...! परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुलतावाला है, इसलिए परमार्थ से सुख नहीं है, भाई! आ...हा...हा...! हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना ये पापभाव तो दु:खरूप हैं ही... आहा...हा...! परन्तु दया, दान, व्रत, तप के जो विकल्प उठते हैं, वे शुभराग भी

दु:खरूप ही हैं। यहाँ इससे आगे कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान दु:खरूप है - यह सिद्ध करना है। अपने ज्ञान में इन्द्रिय का निमित्त पड़ता है, (इसलिए) पराधीनता है... आ...हा...! खेदखिन्न ज्ञान है। (मूल) पाठ में अतीन्द्रिय(ज्ञान की) बात है परन्तु पहले इन्द्रिय(ज्ञान की) बात कही। सब पाठ की (बात कहते हैं)।

और यह प्रत्यक्षज्ञान... जो है (अर्थात्) भगवान को प्रत्यक्ष केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। आ...हा...! तीर्थङ्करदेव केवलज्ञानी परमात्मा (को) अरिहन्त पद में भी; सिद्धपद में पूर्ण आनन्द (होता है वैसे) अरिहन्त पद में भी अनाकुल अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान प्रगट हुआ है। आ...हा...! इन्द्रियातीत ज्ञान और इन्द्रियातीत सुख अरिहन्त भगवान को उत्पन्न हुआ है, यह सुख उपादेय है। आहा...हा...! इन्द्रियज्ञान हेय है। कठिन बातें हैं! अभी तो यहाँ शुभराग हेय करने में पसीना उतरता है! कहते हैं, 'शुभ में कुछ है!' शुभ राग है, भाई! तुझे मालूम नहीं, प्रभु! वह विकल्प है, राग है, आकुलता है। आहा...हा...! वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं। भगवान आत्मा! अनाकुल आनन्द और अनाकुल अतीन्द्रिय ज्ञानमय, शुभभाव से प्राप्त हो - ऐसा नहीं (है)। दु:ख से सुख प्राप्त हो? आ...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि एक बार सुन तो सही, प्रभु! यह पाँच इन्द्रिय के अधीन जो ज्ञान है, वह खेदरूप और दु:ख है। आ...हा...हा...! अरे...! इन्द्रिय से शास्त्र का ज्ञान होता है, वह भी पराधीन दु:ख है। समझ में आया? भगवान अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति प्रभु! उसकी दृष्टि किये बिना और उसका आश्रय किये बिना सम्यक्ज्ञान और आनन्द कभी होता नहीं। सम्यग्दृष्टि को... सम्यग्दृष्टि! चौथे गुणस्थान में! अनाकुल अतीन्द्रियज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है उसके अवलम्बन से - आश्रय से अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का अंश आता है और यह अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द, पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख का साधन है। आ...हा...हा...! कहो, ये पैसे में सुख है, इसकी तो (यहाँ ना कहते हैं)!

श्रोता : आप भले ना कहो, दुनिया नहीं मानेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया पागल है! दुनिया पागल है, दुनिया को कहाँ भान है? दुनिया पागल की अस्पताल है! जहाँ-तहाँ हम सुखी हैं, हम सुखी हैं (मानते हैं)। पैसे

पाँच-पचास करोड़ मिल जाये तो हम सुखी हैं! स्त्री-पुत्र अच्छे हैं (तो) हम सुखी हैं!

श्रोता : उसके बिना अपना काम कहाँ चलता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके बिना ही चलता है। भगवान आत्मा पर के अभाव से टिक रहा है, अपने आनन्द से टिक रहा है, पर के कारण से नहीं। आ...हा...हा... ! अपने कारण से अपनी मौजूदगी है, पर के कारण से उसकी मौजूदगी नहीं। (इस प्रकार) अस्ति-नास्ति है। सप्तभङ्गी हैं न ? स्व चतुष्टय से अस्ति है, पर चतुष्टय से नास्ति है। आ...हा...हा... !

श्रोता : वह तो सब शास्त्र में लिखा है, रोज के काम में कैसे आवे ?

समाधान : (बाहर की चीज) बाहर में क्या काम आती है ? यह मकान (आदि) सब मिट्टी-जड़-धूल है। आ...हा... ! ऐसी बात है, बापू ! सूक्ष्म बात है, भाई !

अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप प्रभु आत्मा है। दूसरी रीत से कहें तो 'जिन सो ही आत्मा' (अर्थात्) जिनस्वरूपी आत्मा है। प्रत्येक का, हाँ ! वीतराग हो तब तो जिन पर्याय में होता है परन्तु यह वस्तु-द्रव्य है, वह जिनस्वरूप है। आ...हा...हा... ! 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन' जैनपना अन्दर में है, जैनपना बाहर की क्रियाकाण्ड में नहीं है। आ...हा...हा... ! 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट घट अन्तर जैन' वीतरागमूर्ति प्रभु ! वीतराग चैतन्य प्रतिमा है ! उसके अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, वह जैनपना है। जैनपना कोई व्रत, तप करे और बाहर का लिबास पहने और तिलक-टीके लगा दे, इसलिए जैन है - ऐसा नहीं। आ...हा...हा.... ! ऐसा है, प्रभु ! क्या हो ? मार्ग तो प्रभु का ऐसा है ! यह कहते हैं, देखो !

और यह प्रत्यक्ष ज्ञान तो अनाकुल है... इन्द्रिय और मन के निमित्त बिना अपने आत्मा से ज्ञान-केवलज्ञान होता है, वह अतीन्द्रिय है। यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अनाकुल है। आहा...हा... ! क्यों (अनाकुल है) ? (इसके लिये) सब सिद्धान्त कहते हैं। **क्योंकि (१) अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर महा विकास से व्याप्त होकर स्वतः ही रहने से 'स्वयं उत्पन्न होता है,'...** ओ...हो...हो...हो... ! एक पंक्ति में कितना भरा है, देखो ! अनादि ज्ञानसामान्यरूप जो वस्तु (अर्थात्) त्रिकाली ज्ञानस्वरूप भगवान सामान्य-

पर्याय बिना का। आ...हा...हा...! इन्द्रियज्ञान बिना का, राग बिना का (तो है परन्तु) पर्याय बिना का (है)। जो अनादि... आ...हा...हा...! ज्ञानसामान्य जो त्रिकाली समझने का पिण्ड (है), जो ज्ञान ध्रुव है, इस **सामान्यरूप स्वभाव पर...** सामान्य स्वभाव पर (यानि) ध्रुव स्वभाव पर आ...हा...हा...!

महा विकास से व्याप्त होकर.... केवलज्ञान महा सामान्य जो ज्ञानस्वरूपी अपना त्रिकाली कारणपरमात्मा (है), उस पर महा विकास प्राप्त करके... आहा...हा...! **महा विकास से व्याप्त होकर...** क्या कहते हैं? भगवान तेरी चीज जो नित्य ध्रुव है, सामान्य जो त्रिकाल है, वह तो ध्रुव है। उसके आश्रय से उस पर पर्याय में विकास प्राप्त हुआ। आ...हा...हा...! ध्रुव तो ध्रुव है, सामान्य है, एकरूप है, सदृश है। ऐसे सदृशरूप सामान्य पर है? **सामान्यरूप स्वभाव पर...** स्वभाव पर! **महा विकास से व्याप्त होकर...** आ...हा...हा...! पर्याय में महा विकास से (व्याप्त होकर)। सामान्य के ऊपर महा विकास व्याप्त हुआ है! आ...हा...हा...! ये केवलज्ञान! यह आनन्दरूप है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? दोनों (बात कही) हैं। सामान्य (और) विशेष। आ...हा...हा...!

आत्मा नित्य-परिणामी हैं (अर्थात्) कायम रहकर (उसकी) अवस्था बदलती है। यहाँ तो कहते हैं कि नित्य जो अनादि सामान्य वस्तु है, ध्रुव चैतन्य भगवान! उस पर (अर्थात्) सामान्य के ऊपर। आहा...हा...! **महा विकास से व्याप्त होकर...** महा विकास! क्षयोपशम है वह तो (साधारण है), यह तो महा विकास-पूर्ण विकास हुआ! आ...हा...! जो शक्ति में सर्वज्ञ स्वभाव था... शक्ति में सर्वज्ञ स्वभाव था, वह महा सामान्य था। आ...हा...हा...! (इस) महा सामान्य पर -उसका आश्रय लेकर महा विकास प्राप्त हुआ। (अर्थात्) पर्याय में महा विकास व्यक्त-प्राप्त हुआ। आ...हा...हा....! ऐसी भाषा...! वह सब तो आसान था *मिच्छामि दुक्कडम्* (कर लिया) जाओ! कोई अर्थ का भी भान नहीं और भाव का भी (भान नहीं)! मार्ग बापू अलग है, भाई!

वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की गैरहाजिरी हुई, परन्तु उनकी वाणी है। आहा...हा...! यह वाणी ऐसा कहती है कि एक बार सुन तो सही, प्रभु! इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है, वह तो आकुलता और दुःख है, प्रभु! वह छोड़ने लायक है। आ...हा...हा...! अतीन्द्रियज्ञान

है, यह उपादेय और आदरणीय है। क्योंकि अनादि सामान्य स्वरूप जो ध्रुव वस्तु है... है... है... है.... आनन्द, ज्ञान और शान्ति आदि अनन्त गुण का धाम प्रभु! अनन्त गुण का धाम है... है... है... ऐसे सामान्य ऊपर विकास प्राप्त हुआ। जो शक्ति में था वह व्यक्ति में - पर्याय में आया। आहा...हा...! समझ में आया?

जैसे, लींडीपीपर है, छोटी पीपर कहते हैं न? वह कद में छोटी, रंग में काली (है) परन्तु अन्दर 'चौंसठ पोरी' चरपराई-तीखाश भरी है। हमारी गुजराती भाषा में 'तीखाश' (कहते हैं) आपकी हिन्दी (भाषा में) 'चरपराई' (कहते हैं) और हरा रंग पड़ा है। वह पूरा हरा रंग और पूरी चरपराई अन्दर पड़ी है। (उसे) घूँटने पर (घोंटना-पीसना) चौंसठ पोरी होती है। चौंसठ पोरी नाम पूर्ण तीखापन और हरा रंग अन्दर पड़ा है, वह घूँटने से बाहर आता है। वह अन्दर शक्ति (है, उसकी) प्राप्त की प्राप्ति है। 'है' उसमें से आता है। आ...हा...हा...! ऐसा मार्ग सुनने मिले नहीं, उसे क्या करना? वह कहाँ जाये? ऐसा जो भगवान आत्मा का स्वभाव (है);... जैसे वह चौंसठ पोर शक्तिरूप है, उसे घूँटने पर चौंसठ पोरी पर्याय में - विशेष में (प्रगट होती है)। सामान्यरूप से चौंसठ पोरी शक्तिरूप है और घूँटने से पर्याय में - विशेष में चौंसठ पोरी पर्याय सामान्य पर प्रगट होती है। लींडीपीपर! इस तरह सब आत्मा (पर उतारते हैं)।

भगवान आत्मा! शरीर प्रमाण भिन्न प्रभु है और जिसमें अनादि अनन्त अनाकुल आनन्द और ज्ञान सामान्यरूप में पड़े हैं, जैसे वह चौंसठ पोरी तीखापन भरी है, वैसे आत्मा में चौंसठ नाम (पूर्ण) अनाकुल आनन्द और ज्ञान पड़ा है। ऐसी बात है, भाई! यह सामान्यरूप आनन्द और ज्ञान जो ध्रुवरूप था, उस सामान्य पर-ध्रुव पर एकाग्र होकर सर्व विकास पर्याय में प्रगट हुआ। सामान्य ऊपर विशेष प्रगट हुआ। आहा...हा...! ऐसा उपदेश सुनना कैसे (और) समझना कैसे? (आपके) व्यापार में तो ऐसी बात कहीं आती नहीं। आहा...हा...! आहा...हा...! ऐसी बात है, बापू! अलौकिक बात है!! प्रभु! एक बार सुन तो सही! आ...हा...!

लींडीपीपर में - छोटी पीपर में चौंसठ पोरी चरपराहट - तीखापन भरा है तो उसे घूँटने से शक्ति में से व्यक्ति नाम बाहर आती है तो वह सामान्य ऊपर विशेष-चौंसठ पोरी

(प्रगट) हो गई। पूरा रुपया-सोलह आना हो गई। वैसे भगवान सामान्यरूप से अनन्त ज्ञान, आनन्त आनन्द (आदि) अनन्त गुण का धाम आत्मा है। अनन्त गुण का धाम सामान्य है उस पर एकाग्र होने से सर्व विकास हो गया। जितने अनन्त गुण हैं, उन सबकी पर्याय का विकास हो गया। आहा...हा...!

ऐसा 'नैरोबी' में कहीं मिले ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो पैसे दे उसे भी धर्म नहीं होता, ऐसा कहा। 'नैरोबी' में दिगम्बर मन्दिर हुआ। (पिछले) दो हजार वर्ष में मन्दिर नहीं (बना) था, उसका ज्येष्ठ सुदी, ११ को मुहूर्त हुआ। पन्द्रह लाख का मन्दिर करनेवाले हैं! यहाँ के मुमुक्षु वहाँ (रहते हैं)। (वास्तु में लाखों रुपये दे तो भी) उसमें राग मन्द हो तो पुण्य है, धर्म नहीं। खर्च कौन करे? जड़ को आत्मा खर्च कर सके? प्रभु! यह कठिन बात है, भाई! जड़ तो आत्मा से पर है। पर को (आत्मा) खर्च कर सके या दे सके यह आत्मा में है नहीं। आहा...हा...! आत्मा पाँच, पच्चीस लाख का दान दे (उसमें) राग मन्द हो तो पुण्य होता है, धर्म नहीं। उससे जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। आ...हा...! वह वतो (जन्म-मरण का अन्त तो) महा सामान्य भगवान अन्दर जो चैतन्य ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु है (उसके आश्रय से होता है)। अनन्त... अनन्त.... अनन्त... अनन्त... गुण की संख्या का पार नहीं, ऐसा अनन्त... अनन्त... संख्या से गुण का धाम आत्मा सामान्य है... आ...हा...हा...! इस सामान्य पर दृष्टि करके, सामान्य में एकाग्र होकर है? **अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर...** अनादि अनन्त ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर... बापू! यह तो अध्यात्म की बात है, यह कोई कथा नहीं, वार्ता नहीं है। यह तो भगवान की - त्रिलोकनाथ की वाणी है! आहा...हा...!

भगवान परमात्मा विराजते हैं, वहाँ 'कुन्दकुन्दाचार्य' गये थे। महाविदेह में परमात्मा विराजते हैं, 'सीमन्धर भगवान!' केवलज्ञानी परमात्मा! दिव्यध्वनि - इच्छा बिना ॐ ध्वनि निकलती है। तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर अरिहन्त पद में प्रभु हैं, उनके पास 'कुन्दकुन्दाचार्य' गये थे। २००० वर्ष पहले! वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया। भगवान ऐसा कहते हैं! आ...हा...हा...!

जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि तेरा जो अनादि सामान्य ज्ञान है,... सामान्य अर्थात् ? एकरूप ध्रुव। आ...हा... ! ज्ञान सामान्य, आनन्द सामान्य, शान्ति सामान्य-सामान्य अर्थात् ध्रुव। आ...हा... ! स्वच्छता सामान्य, ईश्वरता सामान्य - ऐसी अनन्त शक्तियों का उसका सामान्यरूप है। आ...हा...हा... ! **अनादि ज्ञानसामान्यरूप...** यह कोई नया नहीं है, (ऐसा) कहते हैं। अनादि ज्ञानसामान्यरूप, इसी तरह अनादि-अनन्त आनन्दसामान्यरूप, वैसे अनादि शान्तिसामान्यरूप - त्रिकाल शान्ति। अन्दर ऐसा अनन्त स्वभाव पड़ा है। आहा...हा... ! कठिन पड़ता है आदमी को ! ऐसे **स्वभाव पर महा विकास से व्याप्त होकर....** महा विकास ! आ...हा...हा... ! पहले क्षयोपशमज्ञान में तो अल्प विकास था। क्षायिकज्ञान में तो महा विकास (है) ! एक समय में तीन काल तीन लोक जाने, ऐसा सामान्य (स्वभाव) पर महा विकास हो गया। सामान्य ऊपर लक्ष्य और ध्यान करने से पर्याय में विकास (हो गया)। आहा...हा... ! यह पंक्ति बहुत ऊँची है !

अनादि ज्ञानसामान्य, ऐसे अनादि आनन्दसामान्य, ऐसे अनादि शान्ति... शान्ति... अकषाय सामान्य स्वभाव, वैसे अनादि जिनस्वभाव सामान्य आहा...हा... ! अनादि ईश्वरस्वभाव सामान्य - ऐसे-ऐसे अनन्त सामान्य गुण (हैं), उसमें यहाँ एक ज्ञानसामान्य प्रधानरूप से लिया है। आ...हा...हा... ! भगवान कहते हैं, वह ये वाणी है ! आहा...हा... ! सन्तों के आढतिया होकर वीतराग का माल जगत को देते हैं। भगवान का माल ऐसा है ! आ...हा...हा... ! अरे... ! सुनने में न आये वह विचार में कब ले और कब ज्ञान ध्रुवस्वरूप (पर दृष्टि करे ?)

ध्रुव (अर्थात्) महा सामान्य और यह विकास-पर्याय होती है, वह उत्पाद-व्यय(रूप) पर्याय। 'उत्पादव्ययध्रुवयुक्तंसत्' 'उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्तं सत्' (उसमें) उत्पाद है, वह पर्याय है; ध्रुव है वह सामान्य गुण है। यह सामान्य जो त्रिकाली द्रव्य है (वह) अनन्त गुण का पिण्ड द्रव्य सामान्य है, उस पर **महा विकास से...** आहा...हा... ! **व्याप्त होकर....** (अर्थात्) केवलज्ञान महा सामान्य ऊपर व्याप्त होकर **स्वतः ही रहने से...** (अर्थात्) अपने से रहता है। कर्म (का आवरण गया) इसलिए हुआ है, ऐसा नहीं (है)। आ...हा...हा... !

भगवान परमात्मा को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, वह **स्वतः ही रहने से...** (अर्थात्) वह सब अपने से रहता है। आ...हा...हा...! स्वयं उत्पन्न होने से... **स्वतः ही रहने से...** और **स्वयं उत्पन्न होता है,...** केवलज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है। उस समय की अपनी पर्याय की उत्पाद दशा के कारण से स्वयं केवलज्ञान उत्पन्न होता है। कोई कर्म का अभाव हो तोउत्पन्न होता है अथवा पूर्व की पर्याय से उत्पन्न होता है (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! (पूर्व की पर्याय में) मोक्षमार्ग है तो मोक्षमार्ग से केवल(ज्ञान) उत्पन्न हुआ, ऐसा भी नहीं। महा सामान्य ऊपर महा विकास होकर स्वयं और स्वतः (होता है)। आहा...हा...! है ? **स्वयं** और **स्वतः** दो शब्द हैं ना ? **स्वतः ही रहने से** (अर्थात्) अपने से रहने से। **स्वयं उत्पन्न होता है** आहा...हा...! केवलज्ञान अपने में सामान्य ऊपर एकाग्र होकर स्वयं उत्पन्न होता है। समझ में आया ?

चार घातिकर्म क्षय हुआ तो केवलज्ञान हुआ, वह भी निमित्त की अपेक्षा से कहने में आता है। (वास्तव में तो) वह स्वयं उत्पन्न होता है। उस समय केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न (होने का) जन्मक्षण है। आहा...हा...! सामान्य जो है, उस पर उत्कृष्ट एकाग्रता से स्वयं केवलज्ञान **स्वतः ही रहने से...** स्वतः रहने से और **स्वयं उत्पन्न....** होने से। आहा...हा...! उसको रहने में किसी का आश्रय नहीं और उत्पन्न होने में किसी का आश्रय नहीं। आ...हा...हा...! ऐसा कहाँ है ? आपके जवाहरात में, धन्धे में इतने पैसे कमाये, लाखों (कमाये)! धूल कमाये! धूल कमाये... अरे... प्रभु! क्या करें ? आहा...हा...!

अनन्त काल से प्रभु! तेरी चीज अन्दर ध्रुव (है)। अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान – ऐसा अनन्त अनन्त गुणसम्पन्न प्रभु है, उस पर तेरी दृष्टि नहीं, उसका स्वीकार नहीं, उसका सत्कार नहीं, उसका आदर नहीं, उसकी उपादेयता नहीं। आ...हा...हा...! बाहर के पैसे, इज्जत, स्त्री-पुत्र-कुटुम्ब का आदर (है) और इन्द्रियज्ञान का आदर (है)। आहा...हा...! शुभराग-दया, दान का आदर (है)। उसके आदर में तो आत्मा सामान्य है, वह हेय हो गया। राग का आदर किया तो त्रिकाली भगवान हेय हो गया और त्रिकाली सामान्य को उपादेय (करके) ग्रहण करते हैं तो राग हेय हो गया। आहा...हा...! अलौकिक बात है, भाई! सामान्य (मनुष्य को) तो सुनने मिले नहीं। सम्प्रदाय में तो यह बात ही नहीं

है। हमें तो मालूम है न! आ...हा...! ये करो, व्रत करो, उपवास करो... और ये लोग (कहते हैं) भक्ति करो, कर्म दहन की पूजा करो, सिद्धचक्र की (पूजा करो)...! अरे... प्रभु! लेकिन सुन तो सही! सब (बातें) अलग, बापू! क्या हो? 'दूल्हे बिना बारात जोड़ दी!' उसे बारात नहीं बोलते आदमियों का समूह कहते हैं। भगवान जिसमें आये नहीं, तीन लोक का नाथ पूर्णानन्द स्वरूप सामान्य की दृष्टि नहीं हो, उसमें लीनता नहीं हो तब तक 'एक का बिनानां भींडां' (बिना अंक के शून्य) हैं। आहा...हा...!

श्रोता : शून्य किये हों तो फिर उसमें से एक हो सकता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : शून्य में से एक नहीं होता। एक अंक का शून्य भी अलग तरह का होता है। मात्र शून्य ऐसे होता है और एक अंक का शून्य दूसरी तरह का होता है। एक अंक में पहले शून्य होता है लेकिन वह अलग होता है। सब विचार आ गये हैं! एक अंक के बाद शून्य होते हैं। (अर्थात्) सम्यग्दर्शन हुआ बाद में अन्दर स्थिरता हो तो वह चारित्र कहा जाता है। बाकी सम्यग्दर्शन बिना, ध्रुव चैतन्य के आनन्द के आश्रय बिना जो कोई व्रत आदि किया करे, वह सब संसार में भटकने की चीज है। यहाँ तो इन्द्रियज्ञान दु:ख और संसार का कारण है तो (दूसरे का तो) प्रश्न कहाँ है? आहा...हा...! कठिन पड़े लेकिन वस्तु तो – भगवान का मार्ग तो यह है। तीन लोक के नाथ तीर्थङ्करदेव हाजराहजूर (साक्षात्) विराजते हैं! आहा...हा...! ये यह वाणी है, बापू! यह वाणी अभी कहीं नहीं है। आहा...हा...!

एक पंक्ति में तो सामान्य और विशेष (दोनों आ गये)। आ...हा...हा...! वस्तु जो ध्रुव ज्ञायक, प्रमत-अप्रमत्त अवस्था से भिन्न – ऐसी त्रिकाली ध्रुव चीज को यहाँ 'सामान्य' कहते हैं और सामान्य ऊपर जो पर्याय होती है, वह 'विशेष' है। सामान्य ऊपर महा विकास से प्राप्त – महा विकास (अर्थात्) जो शक्ति में था, इसलिए यहाँ विकास हो गया। शक्ति में सर्वज्ञपद है (तो) पर्याय में सर्वज्ञपर्याय उत्पन्न हो गई। आ...हा...हा...!

भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वरूप ही है! कैसे बैठे? प्रभु! उसमें एक सर्वज्ञ गुण है। आत्मा में ज्ञानगुण है लेकिन वह सर्वज्ञ गुण है; दर्शनगुण है, वह सर्वदर्शी गुण है; आनन्द है वह पूर्ण आनन्द है; वीर्य है वह पूर्ण अनन्त वीर्य का धाम है; प्रभु! आ...हा...हा...! ऐसे

सामान्य ऊपर (यानि) सामान्य स्वभाव ऊपर, ऐसे। **अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर...** सामान्यरूप स्वभाव पर! आ...हा...हा...! **महा विकास से व्याप्त होकर....** महा विकास...! पर्याय में विकास-केवलज्ञान हो गया, पूर्ण विकास हो गया। जैसा शक्ति में सर्वज्ञपद था, ऐसी व्यक्त में पर्याय प्रगट - विकास हो गई। आहा...हा...!

स्वतः ही रहने से... (अर्थात्) अपने से ही यह ज्ञान रहता है। किसी की मदद हो तो केवलज्ञान रहता है, ऐसा है नहीं। और **स्वयं उत्पन्न होता है,....** केवलज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है। आ...हा...हा...! सामान्य ऊपर स्वभाव का आश्रय करके एक समय में केवलज्ञान उत्पन्न होता है। आहा...हा...! चौंसठ पोरी तीखाश-चरपराहट को घूँटने से जैसे चौंसठ पोरी पर्याय बाहार आती है, ऐसे पूर्ण सर्वज्ञपद अन्दर है, उसका अन्तर ध्यान करने से, सामान्य ऊपर पर्याय में सम्पूर्ण विकास हुआ उसका नाम केवलज्ञान (है) और वह सुख का साधन है। यह केवलज्ञान सुख का साधन है। आहा...हा...!

नीचे (के गुणस्थान में) तो केवलज्ञान है नहीं तो अतीन्द्रिय सुख का साधन क्या? (तो कहते हैं कि) सामान्यस्वरूप जो भगवान आत्मा! उसको दृष्टि में लेकर उसमें एकाग्रता होना, वह अतीन्द्रिय केवलज्ञान का और अतीन्द्रिय आनन्द का साधन है। आहा...हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा (आदि) सब राग हैं, वह साधन नहीं। कठिन काम, प्रभु!

आहा...हा...! अनादि काल से वह दुःखी है। उसे मालूम नहीं है कि आनन्द मेरे में (भरा है)! आहा...हा...! मृग की नाभि में कस्तूरी (है लकिन) मृग को कस्तूरी की कीमत नहीं। शिकारी मारे, तब कस्तूरी अलग हो जाती है, उसे शिकारी ले जाता है। आहा...हा...! इस प्रकार आत्मा में अन्दर आनन्द (भरा है)। (जैसे) नाभि में कस्तूरी (है) वैसे अन्तर में आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय शान्ति पड़ी है। आहा...हा...! (वहाँ) अन्तर सामान्य ऊपर एकाग्रता होने से शक्ति में से व्यक्तता - व्यक्ति प्रगट होती है। पूर्ण व्यक्ति प्रगट हो, वह केवलज्ञान है। आ...हा...हा...! यह कैसा धर्म?

'इच्छामि पडिक्कमणं' करतां करतां 'तस्स मिच्छामि दुक्कडम्', 'जीवीआवो ववरोविआ तस्स मिच्छामि दुक्कडम्' - हो गयी सामायिक, 'तस्स उतरी करणेणं ठाणेणं,

मोणेणं, जाणेणं अप्पाणं वोसिरामि', आत्मा है ? और वोसिरामि क्या ? आ...हा...हा... ! एक बाई 'नमोत्थुणं' बोल रही थी। उसे वीसाश्रीमाणि (एक जाति) के साथ विरोध था। (उसमें ऐसा आता है) **'दीवो ताणं'** (उसका) ऐसा अर्थ किया 'दीवा टाणे संघवी पीट्या!' अर्थ आता नहीं। **'दीवो ताणं, सरणं गई पईट्ठा'** 'नमोत्थुणं' में आता है न ? 'दीवा टाणे संघवी पीट्या!' (लोगस्ससूत्र में आता है) **विहुरयमला** (उसका अर्थ ऐसा किया) 'विहा रोई भव्या!' (बाई को ऐसा लगा कि) 'अपने तकरार लोगस्स में कहाँ से आ गई ?' कुछ मालूम नहीं। 'लींमडी' (गाँव की) बाई थी। सेठ का उपासरा है न ? और संघवी का उपासरा था। दोनों को विरोध था। यह तो बहुत साल पहले की बात है। आ...हा... ! अरे... ! अभी तो शब्दार्थ भी मालूम नहीं, भाव तो दूर रह गये, बापू! अरे...रे... !

यहाँ तो परमात्मा (कहते हैं कि) इन्द्रिय के ज्ञान को छोड़! और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अन्दर पड़ा है, उसका आश्रय ले, उसका ध्यान कर, तो तेरी पर्याय में सम्पूर्ण विकास हो जायेगा, वह केवलज्ञान है। वह (प्रगट होने के बाद) है वैसा ही रहेगा और स्वतः उत्पन्न हुआ है। आहा...हा... ! ओ...हो... ! एक इतनी पंक्ति में कितना भरा है !

प्रत्यक्ष ज्ञान तो अनाकुल है,.... पहला शब्द आया न ? **क्योंकि (१) अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर महा विकास से व्याप्त होकर स्वतः ही रहने से...** स्वतः ही रहने से (अर्थात्) अपने से रहने से। आ...हा...हा... ! पर्याय पर्याय से रहने से, ऐसा कहते हैं। और **...स्वयं उत्पन्न होता है, इसलिए आत्माधीन है,....** अतीन्द्रियज्ञान आत्माधीन है। आत्मा के अधीन होकर ही अतीन्द्रियज्ञान होता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? पहला बोल हुआ। प्रत्यक्ष ज्ञान तो अनाकुल है, क्यों ? (उसके उत्तर में यह बताया)। **(और आत्माधीन होने से आकुलता नहीं होती);....** आ...हा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप, पर्याय में अनाकुल होने से दुःख नहीं होता। (आत्माधीन) होने से आकुलता नहीं होती। है ? केवलज्ञान एक समय में पूर्ण उत्पन्न होता है, उसमें आकुलता नहीं है। आ...हा...हा... ! (अब) दूसरा बोल।

(२) समस्त आत्मप्रदेशों में परम समक्ष ज्ञानोपयोगरूप होकर, व्याप्त होने से 'समन्त है,...' समन्त अर्थात् प्रत्यक्ष। क्या कहते हैं ? समस्त **अशेष द्वार खुले हुए हैं... समस्त आत्मप्रदेशों में....** (अर्थात्) आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। आहा...हा...! जैसे सोने की साँकल में हजार कड़ी होती हैं, हजार। साँकल होती है न ? (उसमें कड़ी है) ऐसे भगवान में असंख्य प्रदेश हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेश... प्रदेश... प्रदेश... प्रदेश... (ऐसे) असंख्य प्रदेश हैं। आहा...हा...! चैतन्यघन असंख्य प्रदेश में है। आ...हा...! समस्त **अशेष द्वार खुले हुए हैं...** असंख्य प्रदेश के सभी द्वार खुल गये हैं। आ...हा...! है ?

आत्मप्रदेशों में परम समक्ष.... (समक्ष यानि) प्रत्यक्ष **ज्ञानोपयोगरूप होकर...** आ...हा...हा...! असंख्य प्रदेशों में परम समक्ष - प्रत्यक्ष! परम प्रत्यक्ष!! **ज्ञानोपयोगरूप होकर,....** ज्ञानोपयोगरूप होकर! (अर्थात्) जो शक्तियाँ थी वह नहीं (किन्तु) उपयोगरूप होकर। आहा...हा...! **व्याप्त होने से...** (अर्थात्) प्रसरने से। **...'समन्त है'...** (अर्थात्) प्रत्यक्ष है। **इसलिए अशेष द्वार खुले हुये हैं (और इस प्रकार कोई द्वार बन्द न होने से आकुलता नहीं होती);...** आ...हा...हा...! (अज्ञानी जीव) 'णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं...' किया करे, परन्तु अरहन्त का केवलज्ञान कैसा है, इसकी खबर नहीं। आ...हा...! 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं...' पहाड़ा बोल ले! आहा...हा...!

जिनका ज्ञान समस्त प्रदेश से खिल उठा है। है न ? **समस्त आत्मप्रदेशों में...** इन्द्रिय(ज्ञान में तो) कुछेक प्रदेश खुले हुये है। यह तो समस्त प्रदेश - असंख्य प्रदेश खिल गये हैं। जैसे कली खिलती है, कली! वैसे अन्दर असंख्य प्रदेश खिल गये हैं। आ...हा...हा...! ऐसा उपदेश...! **समस्त आत्मप्रदेशों में परम प्रत्यक्ष...** प्रत्यक्ष **ज्ञानोपयोगरूप...** ज्ञान के उपयोगरूप **होकर, व्याप्त होने से 'समन्त है'...** नाम प्रत्यक्ष है। **इसलिए...** है ? **अशेष द्वार खुले हुए हैं (और इस प्रकार कोई द्वार बन्द न होने से आकुलता नहीं होती);...** इन्द्रियज्ञान में तो कुछेक खुले हैं, बाकी आवरण है तो एक जानने में दूसरा जानने की इच्छा होती है तो खेद होता है। आ...हा...! पूर्ण जान सके नहीं, (इसलिए) खेद (होता है कि) अरे...रे...! यहाँ (पूर्ण ज्ञान में तो) सारे असंख्य प्रदेश खिल गये हैं। अनन्त आनन्द के ध्यान में से असंख्य प्रदेश (का) पूरा विकास हो गया

है। आहा...हा... ! उसे कोई भी द्वार बन्द नहीं। असंख्य प्रदेश खुला हो गया है ! आ...हा...हा... ! **(...कोई द्वार बन्द न होने से आकुलता नहीं होती);....** आ...हा...हा... !

(कोई) ऐसा कहे कि तीन काल-तीन लोक को जानते हैं तो आकुलता (नहीं) है ? वे तो जानते हैं अपनी पर्याय को। पर्याय को जानते हैं, उसमें तीन काल - तीन लोक का ज्ञान आ जाता है। आहा...हा... ! क्या कहते हैं ? तीन लोक में तीन काल में उपयोग देना नहीं पड़ता। है ? उसमें आ गया न ? **ज्ञानोपयोग होकर** आ...हा...हा... ! केवली को लोकालोक देखने में उपयोग नहीं जोड़ना पड़ता। आहा...हा... ! क्या ? उपयोग ! समस्त प्रदेश में ज्ञानोपयोगरूप हुआ उसका नाम अनाकुल सुख है। आहा...हा... ! **आकुलता नहीं....** है न ? दो बोल हुये।

(अब तीसरा) **समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से...** क्या कहते हैं ? आत्मा के अलावा जितने अनन्त आत्मा हैं, अनन्त परमाणु हैं, उनकी तीन काल की पर्याय हैं, (उन) सबको ज्ञान पी गया है ! पी गया का अर्थ ? पीने में मुँह बड़ा और पीने की चीज कम (होती है)। यह तो पी गये ! तीन काल तीन लोक की भविष्य की अनन्त-अनन्त पर्यायें, भूत(काल की) अनन्त-अनन्त दशा, वह सब केवलज्ञान पी गया है। (अर्थात्) केवलज्ञान में जानने में आ गया है। आ...हा...हा... ! ऐसा केवलज्ञान है !! यह सुखरूप है। आ...हा... ! है ?

समस्त वस्तुओं के.... समस्त वस्तु ! **ज्ञेयाकारों....** जितने जानने लायक हैं (उन) ज्ञेयाकारों को **सर्वथा पी जाने से....** अन्दर ज्ञानाकार ज्ञेयाकारों को पी गया। ज्ञान में सब ज्ञेयाकार का ज्ञान हो गया। आ...हा...हा... ! तीन काल में अनादि अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु। आत्मा अनन्त है और आत्मा में अनन्तगुने परमाणु हैं - यह मिट्टी (शरीर)। आत्मा एक है और परमाणु अनन्त हैं। ऐसे अनन्तगुने परमाणु और अनन्त आत्माएँ सबके तीनों काल के द्रव्य, गुण, पर्याय को केवलज्ञान की पर्याय पी गयी है। आहा...हा... ! यह धन है ! और यह धन है वह धन्य है ! आ...हा... ! (बाहर का धन) धूल में कहाँ था ? दुःख का (धन) है। आ...हा... ! 'मुम्बई' में एक आदमी हीरा पहनकर निकला था। हीरा होगा पच्चीस हजार का ! (उसे पहनकर निकला होगा उतने में) कोई

डाकू आया (और) हीरा लेकर मार डाला! सुख का साधन वह दु:ख का साधन (हो गया)! आहा...हा...! सुख था कब धूल में? आ...हा...! पैसा तो धूल है, पुद्गल है, अजीव है, जड़ है, मूर्त है। प्रभु तो उससे भिन्न है।

श्रोता : धूल के दाने आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दाने-दाने के कारण आते हैं। वह तो कहा नहीं? 'खानेवाले का नाम दाने-दाने पर है' अपने काठियावाड़ में बोलते हैं 'खानारनुं नाम दाणे-दाणे होय छे।' अर्थात् कि जो दाना आनेवाला है, वह आयेगा। तू प्रयत्न कर तो आयेगा और नहीं कर तो (नहीं आयेगा - ऐसा नहीं है)। जो परमाणु आनेवाले हैं, वह आयेंगे। आहा...हा...! राग करे तो उससे आते नहीं, ऐसा कहते हैं। ज्ञाता-दृष्टा हो जा! आनेवाला आयेगा, नहीं आनेवाला नहीं (आयेगा)। तेरी चीज ज्ञाता-द्रष्टा है। आहा...हा...! ज्ञाता-द्रष्टा में रहकर ज्ञाता-द्रष्टा पूर्ण अतीन्द्रियज्ञान हो जायेगा। तेरी शान्ति वहाँ पूर्ण होगी। आहा...हा...!

समक्ष ज्ञानोपयोगरूप होकर... कहा न? बाद में उपयोग करना नहीं पड़ता, ऐसा कहते हैं। केवलज्ञानी को उपयोग जोड़ना नहीं पड़ता। आहा...हा...! प्रत्यक्ष **ज्ञानोपयोगरूप होकर, व्याप्त होने से...** प्रसरने से **...समन्त है...** (अर्थात्) प्रत्यक्ष है। **इसलिए अशेष द्वार खुले हुए हैं (और इस प्रकार कोई द्वार बन्द न होने से आकुलता नहीं होती);....** लो, दो बोल हुये। (अब) तीसरा।

समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से परम विविधता में व्याप्त होकर.... आ...हा...हा...! समस्त वस्तुओं के (अर्थात्) जितने ज्ञान में जानने लायक ज्ञेय हैं - तीन काल-तीन लोक (उन सब) **ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से....** तीन काल-तीन लोक का ज्ञान एक समय में आ गया। आ...हा...हा...! 'पी गया' का अर्थ (स्वभाव में ज्ञान) बहुत बाकी रहा है, ऐसा कहते हैं। (अर्थात्) इससे अनन्तगुना होता तो भी ज्ञान जान लेता! आ...हा...! **सर्वथा पी जाने से...** सारा ज्ञेय (उसमें) अनन्त केवली हैं वे ज्ञेय हैं। उसको भी केवलज्ञान ज्ञेयाकार में पी गया! आ...हा...हा...! एक केवलज्ञान में अनन्त सिद्ध हैं तो वह भी पी गया। (वह) ज्ञेयाकार है, पर है। पञ्च परमेष्ठी पर हैं, अनन्त सिद्ध भी पर हैं। ये ज्ञेयाकार जो हैं उन सबको केवलज्ञान पी गया! आ...हा...हा...! अरे... अरे...! ऐसी गजब बातें...!

अरे...रे... ! मनुष्यपना मुश्किल से मिला, उसमें यदि ऐसा तत्त्व अन्दर समझ में न आये तो वह पशु जैसा अवतार है ! पशु में और (मनुष्य) अवतार में फर्क कहाँ (रहा) ? आ...हा... ! पशु भी पेट भरता है, वह भी विषय लेता है (विषय सेवन करता है) वैसे ये भी पेट भरे और विषय (सेवन करे) उसमें फर्क कहाँ (रहा) ? आ...हा...हा... ! अन्दर भगवान आत्मा ! पूर्ण सामान्य ध्रुव ! उसकी दृष्टि न हो और पर्यायबुद्धि रहे, तब भी मिथ्यात्व है। राग से लाभ माने तो भी मिथ्यात्व है, पर में सुख माने तो भी मिथ्यात्व है, एक समय की पर्याय जितना मैं हूँ, ऐसा माने तो भी मिथ्यात्व है। आहा...हा... !

पूर्णानन्द का नाथ प्रभु ! अन्दर सामान्यस्वरूप में विराजमान है, जिनस्वरूप ! उसके सभी प्रदेश खिल गये हैं। आहा...हा... ! जितने ज्ञेयाकार हैं (अर्थात्) अनन्त केवली हैं, अनन्त सिद्ध हैं न ? बीस तीर्थङ्कर हैं, महाविदेह में लाखें केवली विराजते हैं (उन) सब ज्ञेयाकार को केवलज्ञान की पर्याय मानो पी गई है ! कोई बाकी है नहीं। आ...हा...हा... !

परम विविधता में व्याप्त होकर.... (परम विविधता अर्थात्) समस्त पदार्थ समूह जो कि अनन्त विविधतामय हैं। विधविध है न ? एक परमाणु और उसकी अनन्ती पर्याय, दूसरे परमाणु की अलग अनन्ती पर्याय, एक केवलज्ञान की अनन्ती पर्याय, ऐसे अनन्त केवली, किसी के क्षयोपशमज्ञान का भेद, ऐसे असंख्य भेद-प्रकार, (ये) सब जो जगत की विविध चीज हैं (उन सबको) भगवान का ज्ञान एक समय में पी गया। आहा...हा... ! इसलिए वह अनाकुल ज्ञान, अनाकुल सुख का कारण है। आहा...हा... ! बाकी कोई सुख का कारण (नहीं है)। बाहर में पैसे, इज्जत (कोई सुख का कारण नहीं है)। इन्द्रियज्ञान सुख का कारण नहीं (है) तो तेरी धूल तो कहाँ रह गई ! आ...हा... !

श्रोता : पुत्रादि सुख का कारण नहीं ?

समाधान : पुत्रादि तो पर हैं। वे सुख का कारण थे कब ? पुत्र है वह आत्मा को कहाँ है ? आत्मा को राग नहीं है। एक समय की पर्याय भी आत्मा की नहीं तो फिर पुत्र कहाँ से आया ? कठिन बात है, ,बापू ! ये मेरी पत्नी, ये मेरा पुत्र ! अर्धाङ्गिनी कहते हैं न ? अर्धाङ्गिनी ! मेरी अर्धाङ्गिनी है ! बाई कहती है कि, 'मेरे घरवाले हैं !' धनी कहता है कि,

'मेरी घरवाली है!' घर तेरा था कब, सुन न! गप चलती है, पागलपन! (ऐसा) कहते हैं।

श्रोता : तो बोलना कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोले कौन? बोले जड़! आहा...हा...!

श्रोता : ये पागलपन कहाँ से आया?

समाधान : अनादि से है। अज्ञान में, पर्यायबुद्धि में द्रव्य देखा नहीं। (ऐसी) पर्यायबुद्धि में अज्ञान पड़ा है। साधु हुआ तो भी अज्ञान पड़ा है। दिगम्बर साधु अनन्त बार हुआ! आहा...हा...! पञ्च महाव्रत पाले, अट्ठाईस मूलगुण पाले किन्तु वह तो राग है। राग की क्रिया में आनन्द नहीं, तो उसमें भी अज्ञान से दुःख हुआ था। आहा...हा...! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रैवेयक उपजायो!' 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रैवेयक उपजायो, तो भी आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो' आहा...हा...! वह सब दुःख है। पञ्च महाव्रत का परिणाम आस्रव है, दुःख है। भगवान आत्मा दुःख से भिन्न है। उसका ज्ञान किया नहीं तो चार गति में भटका। साधु होकर, नग्न दिगम्बर, हाँ! आहा...हा...! कठिन बात है, भाई! है न?

ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से परम विविधता में व्याप्त होकर... विविध प्रकार (यानि) परमाणु, पर्याय, आत्मा... (आदि) **....'अनन्त पदार्थों में विस्तृत है', इसलिए सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा का अभाव है।** भगवान को कुछ जानने की इच्छा है नहीं। पूर्ण जानते हैं। **(और इस प्रकार किसी पदार्थ को जानने की इच्छा न होने से आकुलता नहीं होती);....** लो! विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. ५९ **दिनाङ्क ०६ मार्च १९७९**

('प्रवचनसार'-५९ गाथा चलती है।) फिर से यहाँ से लेते हैं। **यह प्रत्यक्ष ज्ञान तो अनाकुल है,....** क्या कहते हैं? कि केवलज्ञान जो प्रत्यक्ष है, यह सुखरूप है; अनाकुल है - सुखरूप है। यह इन्द्रियज्ञान जो है, (वह) दुःखरूप है। आ...हा...! पुण्य-पाप का भाव तो दुःखरूप ही है परन्तु इन्द्रिय से पराधीन ज्ञान करता है, यह भी दुःखरूप

है। अतीन्द्रिय केवलज्ञान एक ही सुखरूप है। आहा...हा...! **प्रत्यक्ष ज्ञान तो अनाकुल है,....** पहला शब्द है ? **यह प्रत्यक्ष ज्ञान तो अनाकुल है,....** है ना वहाँ ?

प्रत्यक्ष ज्ञान अनाकुल है (अर्थात्) अतीन्द्रियज्ञान – केवलज्ञान, जो आत्मा में से उत्पन्न होता है, वह सुखरूप है। है न ? **'क्योंकि...'** (अब) कारण देते हैं। **(१) अनादि ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर....** आ...हा...हा...! भगवान ज्ञानस्वरूप ध्रुव, ध्रुव सामान्यज्ञान, सामान्य आनन्द, सामान्य शान्ति! जो ध्रुव सामान्य सदृश शक्ति पड़ी है, सामान्यरूप ध्रुव! आहा...हा...!

श्रोता : सामान्य न समझा।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं समझे ? यहाँ तो सामान्य का मतलब वर्तमान पर्याय बिना की चीज। पर्याय जो है, उसके बिना की चीज। जैसे कि सोना। सोने को सामान्य क्यों कहते हैं ? क्योंकि उसकी अँगूठी आदि जो अवस्था है, उससे रहित जो चीज (है), उसे सामान्य कहते हैं और अवस्थाएँ – अँगूठी, कड़ा आदि हों उसे विशेष कहते हैं। ऐसे भगवान आत्मा....! ये तो अलौकिक बातें हैं, बापू! दुनिया में कहीं (मिले ऐसी नहीं है)। आहा...हा...!

सामान्य अर्थात् एकरूप रहनेवाला प्रभु! विज्ञानघन! चैतन्य अतीन्द्रिय आनन्दघन! वह सामान्य अर्थात् पर्याय बिना की चीज। राग बिना की तो है ही, परन्तु वर्तमान पर्याय बिना की चीज। सामान्य ध्रुव नित्यानन्द, नित्य ध्रुव वह सामान्य (है)। **ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव....** ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव! आ...हा...! ये बात तुम्हारे हिसाब की पुस्तक में आये नहीं, उसमें दूसरी तरह की बातें! यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु! तू है कि नहीं ? तू एक चीज है कि नहीं ? वह त्रिकाली ध्रुव चीज है, उसे सामान्य कहने में आता है और अवस्था – दशा पलटे... पलटे उसे विशेष कहने में आता है। यहाँ तो सामान्य नाम त्रिकाली भगवान अन्दर विराजमान है। पूर्णस्वरूप, एकरूप, सदृश, ध्रुव, सामान्य – इतने तो विशेषण दिये। उस पर (अर्थात्) **स्वभाव पर...** महा सामान्यरूप स्वभाव! महा सामान्यरूप स्वभाव! आ...हा...हा...! उस पर **महा विकास से व्याप्त होकर....** पर्याय-दशा महा विकास होकर आ...हा...! जो शक्ति और सामान्यरूप ध्रुव है, उसके अवलम्बन से

उसकी पर्याय में – अवस्था में महा विकासरूप प्रगट होकर। ये तो दुनिया से अलग तरह की बात है, भाई!

आहा...हा...! **महा विकास से व्याप्त होकर....** (कौन?) पर्याय–अवस्था। सामान्य ऊपर – त्रिकाल ध्रुव ऊपर वर्तमान में पर्याय में पूर्ण विकास होकर। **व्याप्त होकर स्वतः ही रहने से....** (अर्थात्) पर्याय अपने से रहती है। आ...हा...हा...! पर्याय अपने से रहती है। द्रव्य के आधार पर नहीं (रहती), अपने से रहती है। पर्याय (में) जो केवलज्ञान हुआ, वह अपने आधार से रहा है और स्वतः उत्पन्न हुआ है। कल तो कहा था, इस (विषय) पर बहुत कहा था। आज तो फिर से लिया। आहा...हा...!

यह शरीर, वाणी, मन जड़ (है)। उसकी बात यहाँ नहीं (है)। अन्दर पुण्य–पाप का भाव होता है, वह भी भिन्न (है), उसकी बात नहीं (है)। पर्याय में जो विचार आदि का क्षयोपशम है, वह भी नहीं। त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव को यहाँ सामान्य ज्ञान कहते हैं। आ...हा...हा...! यह सामान्यज्ञान... **ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव...** ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव! कायमी, त्रिकाली। उस पर **महा विकास से व्याप्त होकर....** आ...हा...हा...! केवलज्ञान (की) पर्याय महा विकास (से) व्याप्त होकर (अर्थात्) प्रसरकर **स्वतः ही रहने से....** केवलज्ञान अपने से रहा है। आहा...हा...!

निश्चय से केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है, वह षट् कारक से उत्पन्न होती है। केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान (है)। यह इन्द्रियज्ञान पराधीन, दुःखरूप (है)। यह वकालत का ज्ञान, डॉक्टर का ज्ञान, ये आपका क्या कहते हैं? लादी का ज्ञान, हीरे का ज्ञान, वह तो कुज्ञान है। आहा...हा...!

श्रोता : उससे पैसे आते हैं न!

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे धूल भी आते नहीं। कुज्ञान में दुःख है। दुःख है! पैसा मिला – ऐसा लक्ष्य जाता है, वह दुःख है। वह तो आनन्दस्वरूप की विपरीत भावना है। आ...हा...हा...!

यहाँ ज्ञान सामान्य लिया है, (वैसे) आनन्दरूप सामान्यरूप आत्मा – अतीन्द्रिय आनन्दयप सामान्य आत्मा (है)। ज्ञान प्रधान है न, इसलिए ज्ञान की बात कही है।

ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर महा विकास से व्याप्त होकर.... केवलज्ञान होता है (वह) महा विकास-पूर्ण विकास हो गया। जैसे (पूर्णिमा के) पूर्ण चन्द्र में पूर्ण विकास है, चन्द्र का पूर्ण विकास है... आ...हा...! वैसे भगवान आत्मा में केवलज्ञान होता है, वह पूर्ण विकास हो गया।

ऐसा **स्वतः ही रहने से...** केवलज्ञान अपने से रहा है। आहा...हा...! वास्तव में तो केवलज्ञान अपने कर्तापने से उत्पन्न हुआ है। लक्ष्य भले सामान्य ऊपर हो परन्तु वह स्वतन्त्र कर्ता है। अरे...! अरे...! यह **स्वतः रहने से** आया न? कल शाम को कहा था कि जो मोक्ष की - केवलज्ञान की पूर्ण ज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है, वह स्वतः अपनी पर्याय से कर्ता होकर, महासामान्य ऊपर कर्ता होकर विकास होता है। ऐसी तो भाषा (भी) आपके यहाँ नहीं मिलेगी। (सब) भाई मिलकर बातें करो तो यह (बात) मिलगी? नहीं।

श्रोता : धन्धे की कोई मुद्देवाली बात तो मिल जाये न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी मिले नहीं। मात्र दुःख है। आहा...हा...! यहाँ तो पुण्य-पाप का भाव तो दुःख है - कमाना, विषयभोग आदि तो दुःख है, परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम दुःख है। वह तो दुःख है परन्तु इन्द्रियज्ञान भी दुःख है। भगवान आत्मा अतीन्द्रियस्वरूप है, वह इन्द्रिय की अपेक्षा रखकर जो ज्ञान करता है, वह पराधीन दुःखरूप है। आहा...हा...! यह (शरीर) तो जड़-मिट्टी है। अन्दर जड़ इन्द्रिय की अपेक्षा से (जो) ज्ञान करे वह ज्ञान तो पराधीन है, दुःखरूप है। आ...हा...हा...! समझ में आया? यह तो सुखरूप (है)। आत्मा की पूर्ण विकास दशा को सुखरूप कहते हैं। आ...हा...!

(अब कहते हैं) **स्वयं उत्पन्न होता है,....** अपनी पर्याय स्वयं कर्ता (होकर), स्वतः अपने से रही है और स्वयं अपने से उत्पन्न हुई है। आ...हा...हा...! वास्तव में तो षट् कारक के दो कारक रख दिये हैं (इसलिए) षट् कारक आ गये हैं। आ...हा...! टीका तो टीका है! इस संसार का जितना ज्ञान है - विज्ञान, वह सब दुःखरूप और महापाप है।

श्रोता : महापाप कहकर बहुत डराते हो!

पूज्य गुरुदेवश्री : महापाप ही है! उसमें और क्या? पाँच हजार का वेतन मिले, इस हजार का वेतन मिले, पचास हजार का वेतन महीने का मिले वह 'मुझे मिला' वह भाव

ही दु:ख है। दु:ख है, आकुलता है। आहा...हा...! सेठ माने हेठ, सेठ बैठा हेठ। वह सेठ दु:ख में बैठा है। आहा...हा...! बातें अलग, भाई! दुनिया तो... आ...हा...हा...! 'अमेरिका' गया हो और महीने का बीस हजार का वेतन हो जाये तो ओ...हो...हो...! (मानो) हो गये सुखी! अकेले (सिर्फ) दु:खी हैं, हैरान हैं। आहा...हा...! वहाँ तो दस हजार का वेतन तो भंगी को मिलता है! भंगी मोटर लेकर आये और (साफ करे)। 'अमेरिका' में दस-दस हजार का वेतन तो भंगी को होता है, उसमें क्या नवीनता है? बनिये का लड़का यहाँ से गया हो और वहाँ दस हजार का वेतन हो तो... ओ...हो...हो...! (हो जाये)। उसमें बचे कितने? वह पूरी पराधीन... पराधीन... वस्तु है। भगवान आत्मा का स्व आश्रय लिये बिना जितना इन्द्रिय के अवलम्बन से ज्ञान होता है, वह सब पराधीन, दु:खरूप है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं कि) **ज्ञानसामान्यरूप स्वभाव पर महा विकास से व्याप्त होकर स्वतः ही रहने से....** केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न हुई, वह स्वत: रहने से (अर्थात्) अपने से रही है। आ...हा...हा...! सामान्य ऊपर पर्याय अपने से रही है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! धर्म कोई साधारण चीज नहीं है कि मन्दिर में दो-पाँच लाख दे दे, खर्च कर दे इसलिए धर्म हो जाये! ऐसा है? नहीं। 'अफ्रीका' में पन्द्रह लाख का मन्दिर बन रहा है। (उसमें लाखों रुपये दिये हो) उसमें क्या हुआ? राग की मन्दता की हो तो पुण्य (है) और पुण्य माने दु:ख। (वीतराग साहित्य छपवाने में पैसे दिये हो उसमें) राग मन्द किया हो तो शुभभाव - पुण्य है और दु:ख है।

श्रोता : धर्म की प्रभावना के लिये है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभावना अन्दर में होती है या बाहर में होती है? आत्मा आनन्दस्वरूप का भान होकर अतीन्द्रिय आनन्द की 'प्र' (अर्थात्) विशेष भावना प्रगट हो, वह प्रभावना है। दुनिया से अलग जात है, भाई! आहा...हा...! श्वेताम्बर की यात्रा तो गृहीत मिथ्यात्व है। श्वेताम्बर मत ही गृहीत मिथ्यात्व से शुरु हुआ है। कठिन बात है, बापू! आहा...हा...! स्थानकवासी और श्वेताम्बर दोनों मत गृहीत मिथ्यादृष्टि है। वह जैन धर्म ही नहीं है। ऐसी बात जगत को कठिन पड़े लेकिन क्या हो?

श्रोता : कठिन धर्म हो तो कठिन ही रहेगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो ऐसी है। आहा...हा...! स्त्री को मुक्ति बताई, भगवान को रोग कर दिया, भगवान को दवाई, भगवान को आहार... आ...हा...! वस्त्रसहित मुनिपना, भयंकर अपराध कर दिया है। वह शास्त्र ही झूठे हैं। दिगम्बर शास्त्र मुनियों ने - सन्तों ने कहे हुये (लिखे हुये) (शास्त्र) सर्वज्ञ ने कहे हुये शास्त्र हैं। परिवर्तन किया इसलिए सब खुलासा करते हैं, पहले (कहते तो) लोग भड़कते! अब तो ४४ वर्ष हो गये। मार्ग तो यह है बापू! आहा...हा...! लेकिन उसे कहाँ पड़ी है, बनिये को फुरसत कहाँ है? सारा दिन पाप किया करे, उसी में फँस गये - हिसाब की बही में और लेन-देन में (फँस गये)। उसमें सत्य क्या है, सत्य-असत्य क्या है? - उसका निर्णय करने का समय ही कहाँ है? आहा...हा...! अरे...रे...! ऐसा मनुष्यभव चला जा रहा है और यहाँ से कहाँ जायेगा? अन्दर में (आत्मा के) भान बिना मिथ्याश्रद्धा को पकड़ी रखी है.... आहा...हा...! वह कौन से भव में जायेगा? परमात्मा कहते हैं कि उसका कोई ठिकाना नहीं है, बापू! आ...हा...!

इसलिए केवलज्ञान उत्पन्न करने का साधन आत्मा स्वसंवेदन आनन्दरूप है, उसका वेदन करके आनन्द में रहना, वह केवलज्ञान की उत्पत्ति और सुख का साधन है। आहा...हा...! यहाँ यह बताते हैं कि **....'स्वयं उत्पन्न होता है', इसलिए आत्माधीन है,...** देखो! **(और आत्माधीन होने से आकुलता नहीं होती);** केवलज्ञान आत्माधीन होने से (आकुलता नहीं होती), पराधीन हो तो दु:ख है। यह तो आत्मा के अधीन होता है। अन्दर परमात्म शक्ति पड़ी है, उसके आश्रय से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है तो वह सुखरूप है।

(२) समस्त आत्मप्रदेशों में परम समक्ष ज्ञानोपयोगरूप होकर... आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। आहा...हा...! जैसे हजार कड़ी की सोने की साँकल (चैन) होती है, वैसे यह भगवान असंख्य प्रदेश की कड़ी है, असंख्य प्रदेशरूपी कड़ी की साँकल है। असंख्य प्रदेश! आ...हा...! कहते हैं **समस्त आत्मप्रदेशों में परम समक्ष...** (अर्थात्) प्रत्यक्ष **ज्ञानोपयोगरूप होकर, व्याप्त होने से 'समन्त है',....** आ...हा...हा...! **इसलिए**

अशेष द्वार खुले हुये हैं.... (अर्थात्) सब असंख्य प्रदेश खुल गये। आहा...हा...! एक केवलज्ञान ही सुखरूप है। आहा...हा...! **(और इस प्रकार कोई द्वार बन्द न होने से आकुलता नहीं होती);....** मूल तो आकुलता नहीं है, यह बताना है ना?

(३) समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से.... यह कल आया था। जगत में जितने ज्ञेय हैं (अर्थात्) जानने लायक चीज। अनन्त आत्माओं, अनन्त परमाणुओं। एक-एक परमाणु (और एक-एक) आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण और अनन्ती पर्याय, ये सब ज्ञेय - जानने लायक हैं। सब **ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से....** सब ज्ञेयाकार ज्ञान में आ गये हैं (अर्थात्) ज्ञान में सब ज्ञेयाकार का ज्ञान आ गया है। कोई ज्ञेयाकार ज्ञान बिना का रहा है - ऐसा है नहीं। तीन काल तीन लोक ज्ञेय है, वह ज्ञान में जानने में आ गया। आहा...हा...! है? **सर्वथा पी जाने से....** सर्वथा पी जाने से! आ...हा...हा...! लोकालोक जो ज्ञेय है... आत्मा में जो केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें लोकालोक पी जाते हैं। आ...हा...! उससे अनन्तगुना यदि ज्ञेय हों तो भी जानने की शक्ति अपार है! आ...हा...हा...! ऐसा केवलज्ञान!

आ...हा...! केवलज्ञान उपेय है अर्थात् प्राप्त करने लायक है और उसका उपाय आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (प्रगट करना यह है)। ज्ञायकभाव का दर्शन, ज्ञायकभाव का ज्ञान और ज्ञायकभाव का आचरण, यह उपाय (है) और केवलज्ञान उपेय है। इस उपाय का वह फल (है)। आ...हा...! समझ में आता है? 'समयसार' में अन्त में उपाय-उपेय आता है न? यहाँ केवलज्ञान उपेय है, ऐसा बताना है। पूर्णज्ञान, पूर्ण आनन्द उपेय है - फल है। किसका? उपाय का। उपाय क्या? कि ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा! उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसका आचरण करना यह उपाय है और इस उपाय से केवलज्ञान उपेय प्राप्त होता है, आहा...हा...! कोई दया, दान, व्रत, तप, भक्ति करने से वह प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आ...हा...!

बाहर की भक्ति, अरे...! साक्षात् दिगम्बर में भी परमात्मा की भक्ति आदि है, वह शुभभाव है; वह धर्म नहीं। आये... पाप से बचने को (आये), लेकिन वह धर्म नहीं। आहा...हा...! ज्ञायकस्वरूप भगवान चिदानन्द प्रभु! पूर्ण अनन्त गुण का एकरूप प्रभु!

उसके सन्मुख होकर प्रतीति, ज्ञान और आचरण होना, यह केवलज्ञान उपेय नाम आनन्द के कारण का यह उपाय है। आ...हा...हा... !

श्रोता : उपाय तो अपूर्ण है और उपेय पूर्ण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा का अपूर्णरूप से परिणमन होना, यह उपाय (और) पूर्ण परिणमन होना, वह उपेय (है)। ज्ञान का ही दो भाग। भगवानस्वरूप का सम्पूर्ण परिणमन - ज्ञानस्वरूप परिणमन हों! वह उपाय और उसका पूर्ण परिणमन, वह उपेय - उसका फल।

श्रोता : आपने जो ज्ञान कहा वह तो अपूर्ण है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपूर्ण है, इसलिए तो उपाय कहा और पूर्ण उसका फल (है)। आहा...हा... ! अपेक्षा से (बात है)। बाकी तो सर्व सामान्य वस्तु है, उसके आश्रय से केवलज्ञान होता है। उपाय कहा वह अपेक्षित कहा। बाकी तो त्रिकाल भगवान आनन्द का नाथ प्रभु! सच्चिदानन्द स्वभाव! सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का सागर! उसके अवलम्बन से - आश्रय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उपाय से (उत्पन्न होता है) - ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। यहाँ **'स्वयं उत्पन्न होता है'** ऐसा कहा न? पूर्व (पर्याय के) कारण से उत्पन्न होता है - ऐसा नहीं कहा। आ...हा...हा... ! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! धर्म - वीतराग धर्म - जिनेश्वर का धर्म अलौकिक है! जैन सम्प्रदाय में जन्म लिया उसको मालूम नहीं तो अन्य को कहाँ मालूम होगा!

(यहाँ कहते हैं) है? **ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाने से परम विविधता में व्याप्त होकर....** विविधता (अर्थात्) परमाण, जड़, चेतन सबकी विविधता है, (उन) सबका ज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान में सबका ज्ञान हो जाता है। विविधता भिन्न-भिन्न का सबका ज्ञान (हो जाता है)। **परम विविधता में व्याप्त होकर रहने से 'अनन्त पदार्थों में विस्तृत है',....** ज्ञान अनन्त पदार्थ में विस्तृत नाम प्राप्त हुआ है। **इसलिए सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा का अभाव है...** बाद में भगवान को पदार्थ जानने की इच्छा का अभाव है। **(और इस प्रकार किसी पदार्थ को जानने की इच्छा न होने से आकुलता नहीं होती);...** कोष्ठक में जोड़ दिया है। कुछ भी जानने की इच्छा नहीं इसलिए

अनाकुलता है। आकुलता है नहीं, इच्छा हो तो आकुलता है। कुछ भी जानने की इच्छा रहे तो वह आकुलता है। आ...हा...हा.... !

श्रोता : पैसे प्राप्त करना आकुलता है ?

समाधान : पैसा-फैसा धूल की कौन बात करे ? खर्च कौन करे और प्राप्त कौन करे ? वह तो जड़ है। जड़ को आत्मा खर्च कर सकता नहीं, जड़ को आत्मा रख सके नहीं, जड़ को आत्मा प्राप्त कर नहीं सकता। ऐसा है, बापू! आहा...हा... ! जगत से उल्टा है ! आहा...हा... ! लोग उसे एकान्त कह देते हैं कि 'सोनगढ़वाले एकान्त हैं... एकान्त है... एकान्त है...' बात सच्ची है, सम्यक् एकान्त है ! सत्य एकान्त है ! आहा...हा... !

प्रभु ! यहाँ कहते हैं कि ज्ञान में सर्व पदार्थ का ज्ञान हो गया, इसलिए आकुलता नहीं है। तीन बोल हुए। कल यहाँ तक चला था।

(४) सकल शक्ति को रोकनेवाला... चौथा (बोल) है न ? **सकल शक्ति को रोकनेवाला कर्म सामान्य (ज्ञान में से) निकल जाने से (ज्ञान) अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश के द्वारा प्रकाशमान....** ज्ञान अन्दर से पूर्ण तेजस्वी प्रकाशमान हो गया ! सूर्य का प्रकाश जैसे पूर्ण खिलता है, वैसे भगवान का ज्ञान - केवलज्ञान पूर्ण खिलता है। आ...हा... ! **(तेजस्वी) स्वभाव में व्याप्त होकर रहने से 'विमल है'....** (अर्थात्) निर्मल ज्ञान है। निर्मल ज्ञान ! केवलज्ञान निर्मल है। इन्द्रियज्ञान समल है। आहा...हा... ! इन्द्रियज्ञान समल है, इन्द्रियज्ञान दुःखरूप है, इन्द्रियज्ञान आकुलता है। भगवान का ज्ञान - केवलज्ञान निर्मल है, इसलिए अनाकुल है।

इसलिए सम्यक्रूप से (बराबर) जानता है (और इस प्रकार संशयादि रहितता से जानने के कारण आकुलता नहीं होती);... कोष्ठक में उसका सारांश देते हैं। भगवान को आकुलता नहीं है। समस्त **(...संशयादि रहितता से जानने के कारण आकुलता नहीं होती);....** चार बोल (हुए)।

(५) जिनने त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत् समर्पित किया है (एक ही समय बताया है) ऐसे लोकालोक में व्याप्त होकर रहने से... क्या कहते हैं ? जगत की जो सब चीज हैं, वह केवलज्ञान में एक समय में अर्पित हो गई है। एक सेकेण्ड के

एक समय में सब ज्ञान हो गया है। आहा...हा...! **(५) जिनने त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत् समर्पित किया है (एक ही समय बताया है) ऐसे लोकालोक में व्याप्त होकर रहने से 'अवग्रहादि रहित है'....** (अर्थात्) पदार्थ को पहले थोड़ा जानना, फिर निर्णय करना, फिर धारणा (करनी) ये भगवान को है नहीं। एकदम एक समय में लोकालोक का ज्ञान आ गया है। आहा...हा...! यह तो 'णमो अरिहंताणं' में केवलज्ञान कैसा है, उसकी बात चलती है। 'णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं...' बोला करे (लेकिन उसके स्वरूप की खबर नहीं) और ये संसार के सयाने संसार में गहरे – नीचे चले जायेंगे! (अर्थात् बहुत परिभ्रमण करेंगे)। आ...हा...! केवलज्ञान के सयाने सुख में जायेंगे! आहा...हा...! एक पागल-सयाने और एक चतुर-सयाने! दुनिया के सयाने वे पागल-सयाने! आ...हा...! ऐसी बात अलग है, बापू!

अन्तर आनन्दमूर्ति प्रभु! आनन्द का धाम! स्वयं ज्योति सुखधाम! स्वयं ज्योति और आनन्द का स्थान! आनन्द वहाँ है। उस आनन्द के साथ जो केवलज्ञान हुआ, वह अनाकुल ज्ञान हुआ। इस अनाकुल ज्ञान में सब पदार्थ एक समय में अर्पित कर देते हैं। लोकालोक ज्ञान में आ जाता है। आ जाता है अर्थात् उसका ज्ञान (हो जाता है)। चीज तो वहाँ रहती है। समझ में आया? है न उसमें? **त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत्....** (अर्थात्) दूसरे पदार्थ **त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत्...** (अर्थात्) एक साथ **समर्पित किया है....** तीन काल तीन लोक के पदार्थ एक समय में ज्ञान में जानने में आ गये। **(एक ही समय बताया है)**

ऐसे लोकालोक में व्याप्त होकर रहने से 'अवग्रहादि रहित है'.... अवग्रह अर्थात् एक के बाद एक जानना, उससे रहित है। **इसलिए क्रमशः होनेवाले पदार्थ ग्रहण के खेद का अभाव है।** क्रम से जानना तो खेद है। आहा...हा...! विशेष जानने की इच्छा.... इच्छा... इच्छा... तो खेद है। इस क्रम से जानने की इच्छा का अभाव हो गया। आ...हा...हा...! **इस प्रकार (उपरोक्त पाँच कारणों से) प्रत्यक्ष ज्ञान अनाकुल है। इसलिए वास्तव में वह पारमार्थिक सुख है।** पारमार्थिक सुख यह है, और कहीं सुख है नहीं।

भावार्थ : क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान एकान्त सुखस्वरूप है। लो! ५९ (गाथा पूरी) हुई। ज्ञान अधिकार है न? वह अव्याबाध हो गया, केवलज्ञान हो गया बाद में बाधा है नहीं। वह तो निमित्त में सातावेदनीय टले, इसलिए अव्याबाध कहने में आता है। (वहाँ) दु:ख नहीं है। सम्यक्ज्ञान तो उत्पन्न होता है चौथे गुणस्थान से, समकित हुआ तब से। पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान। आहा...हा...! और बाद में सिद्ध होते हैं तब, अनन्त ज्ञान जो हुआ, उसे अव्याबाध कहने में आता है। ज्ञान चढ़ गया ऐसा कुछ है नहीं; ज्ञान तो पूर्ण है। आहा...हा...!

श्रोता : सुख में कुछ अन्तर है?

समाधान : नहीं, सुख में कुछ अन्तर नहीं। मात्र वहाँ निमित्त में संयोग प्रतिकूल था, उसका अभाव हुआ तो अव्याबाध हो गया – ऐसा (कहने में आता है)। आहा...हा...! 1

सहज अद्भुत शान्त मुनिदशा

मुनिराज को देह में भी उपशमरस बरसता है, शरीर भी शान्त... शान्त... शान्त। अरे! वचन में भी कहीं चपलता अथवा चञ्चलता दिखाई नहीं देती – ऐसे शान्त होते हैं। उन मुनिराज को निर्ग्रन्थ गुरु कहा जाता है। उनको देह की नग्नदशा निमित्तरूप होती ही है परन्तु वह अथवा पञ्च महाव्रत के शुभविकल्प भी चारित्र नहीं हैं, उनसे मोक्ष नहीं है; मोक्ष तो अन्दर शुद्धात्मद्रव्य -सामान्य के उग्र अवलम्बन से प्रगट होनेवाली स्वरूप स्थिरता से ही होता है। वह स्वरूप स्थिरता उस मुनिदशा में है। अन्तरङ्ग में प्रगट होनेवाली वह सहज मुनिदशा अद्भुत है। मुनिराज की मुद्रा भी शान्तरस से नितरती होती है। अहा! ऐसी बात है।

(-वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 197)

गाथा - ६०

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य संभवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे -

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा।।६०।।

यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं परिणामश्च स चैव।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं जातानि।।६०।।

अत्र को हि नाम खेदः, कश्च परिणामः, कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात्। खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम्। घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः। यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्ति स्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः। ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः। यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशानन्तशक्तितया सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कुटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम्। ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः। अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम्।।६०।।

अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेऽपि खेदोऽस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह - **जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं** यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं भवति, तस्मात् **खेदो तस्स ण भणिदो** तस्य केवलज्ञानस्य खेदो दुःखं न भणितम्। तदपि कस्मात्। **जम्हा घादी खयं जादा** यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षयं गतानि। तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दुःखकारणं भविष्यति। नैवम्। **परिणमं च सो चेव** तस्य केवलज्ञानस्य संबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति। इदानीं विस्तरः- ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे सति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सुखमेव। तथैव तस्य भगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थ-युगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूपं प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमयं स्वरूपं

परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो, न च केवलज्ञानाद्भिन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति। अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यानं क्रियते - युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेऽपि वीर्यान्तरायनिरवशेष-क्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारणं नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानानां सहजशुद्धानन्दैक-लक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मनः सकाशादभिन्नामनाकुलतां प्रति खेदो नास्ति। संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभेदरूपेण परिणममानं केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते। ततः स्थितमेतत्केवलज्ञानाद्भिन्नं सुखं नास्ति। तत एव केवलज्ञाने खेदो न संभवतीति।। ६०।।

अब, ऐसे अभिप्राय का खण्डन करते हैं कि केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा खेद[1] का सम्भव होने से केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख नहीं है –

जो ज्ञान 'केवल', सुख वही अरु वो ही है परिणाम भी।
कारण नहीं वो खेद का, हो घातिकर्म विनाश से॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो **[केवलं इति ज्ञानं]** 'केवल' नाम का ज्ञान है **[तत् सौख्यं]** वह सुख है **[परिणामः च]** परिणाम भी **[सः च एव]** वही है **[तस्य खेदः न भणितः]** उसे खेद नहीं कहा है (अर्थात् केवलज्ञान में सर्वज्ञदेव ने खेद नहीं कहा) **[यस्मात्]** क्योंकि **[घातीनि]** घातिकर्म **[क्षयं जातानि]** क्षय को प्राप्त हुए हैं।

टीका : यहाँ (केवलज्ञान के सम्बन्ध में), (१) खेद क्या, (२) परिणाम क्या तथा (३) केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक (–भेद) क्या, कि जिससे केवलज्ञान को ऐकान्तिक सुखत्व न हो?

(१) खेद के आयतन (–स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणाममात्र नहीं। घातिकर्म महा मोह के उत्पादक होने से धतूरे की भाँति अतत्[2] में तत् बुद्धि धारण करवाकर आत्मा को ज्ञेयपदार्थ के प्रति परिणमन कराते हैं; इसलिए वे घातिकर्म, प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो–होकर थकनेवाले आत्मा के लिये खेद के कारण होते हैं। उनका (घातिकर्मों का) अभाव होने से केवलज्ञान में खेद कहाँ से प्रगट होगा? (२) और तीनकालरूप तीन भेद जिसमें किये जाते हैं, ऐसे समस्त पदार्थों की ज्ञेयाकाररूप (विविधता को प्रकाशित

१. खेद = थकावट; सन्ताप; दुःख।
२. अतत् में तत्बुद्धि = वस्तु जिस स्वरूप न होये उस स्वरूप होने की मान्यता; जैसे कि – जड़ में चेतनबुद्धि (अर्थात् जड़ में चेतन की मान्यता) दुःख में सुखबुद्धि आदि।

करने का स्थानभूत केवलज्ञान, चित्रित् दीवार की भाँति, स्वयं) ही अनन्तस्वरूप स्वयमेव परिणमित होने से केवलज्ञान ही परिणाम है। इसलिए अन्य परिणाम कहाँ हैं कि जिन से खेद की उत्पत्ति हो ? (३) और, केवलज्ञान समस्त स्वभावप्रतिघात[१] के अभाव के कारण निरंकुश अनन्त शक्ति के उल्लसित होने से समस्त त्रैकालिक लोकालोक के-आकार में व्याप्त होकर कूटस्थतया[२] अत्यन्त निष्कम्प है, इसलिए आत्मा से अभिन्न ऐसा सुख-लक्षणभूत अनाकुलता को धारण करता हुआ केवलज्ञान ही सुख है, इसलिए केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक कहाँ है ?

इससे, यह सर्वथा अनुमोदन करनेयोग्य है (आनन्द से सन्मत करने योग्य है) कि 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है।'

भावार्थ : केवलज्ञान में भी परिणाम होते रहने से वहाँ भी थकान लगेगी और इसलिए दुःख होगा; अतः केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख कैसे हो सकता है ? ऐसी शङ्का का समाधान यहाँ किया गया है -

(१) परिणाम मात्र थकावट या दुःख का कारण नहीं है किन्तु घातिकर्मों के निमित्त से होनेवाला परोन्मुख परिणाम थकावट या दुःख का कारण है, केवलज्ञान में घातिकर्म अविद्यमान होने से वहाँ थकावट या दुःख नहीं है। (२) केवलज्ञान स्वयं ही परिणमनशील है; परिणमन केवलज्ञान का स्वरूप ही है उपाधि नहीं। यदि परिणाम का नाश हो जाये तो केवलज्ञान का ही नाश हो जाये। इस प्रकार परिणाम केवलज्ञान का सहज स्वरूप होने से केवलज्ञान को परिणाम के द्वारा खेद नहीं हो सकता - नहीं होता। (३) केवलज्ञान समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार को (समस्त पदार्थों के त्रैकालिक ज्ञेयाकारसमूह को) सर्वदा अडोलरूप से जानता हुआ अत्यन्त निष्कम्प-स्थिर-अक्षुब्ध-अनाकुल है और अनाकुल होने से सुखी है - सुखस्वरूप है, क्योंकि अनाकुलता सुख का ही लक्षण है। इस प्रकार केवलज्ञान और अक्षुब्धता - अनाकुलता भिन्न नहीं होने से केवलज्ञान और सुख भिन्न नहीं है।

---

१. प्रतिघात = विघ्न; रुकावट; हनन; घात।

२. कूटस्थ = सदा एकरूप रहनेवाला; अचल (केवलज्ञान सर्वथा अपरिणामी नहीं है, किन्तु वह एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय के प्रति नहीं बदलता - सर्वथा तीनों काल के समस्त ज्ञेयाकारों को जानता रहता है, इसलिए उसे कूटस्थ कहा है)

इस प्रकार (१) घातिकर्मों के अभाव के कारण, (२) परिणमन कोई उपाधि न होने से और (३) केवलज्ञान निष्कम्प-स्थिर-अनाकुल होने से केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है ॥ ६० ॥

प्रवचन नं. ५९ का शेष **दिनाङ्क ०६ मार्च १९७९**

६० (गाथा) **अब, ऐसे अभिप्राय का खण्डन करते हैं कि 'केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा...'** आ...हा...हा... ! भारी (कमाल का) खुलासा करते हैं ! **खेद का सम्भ्घव होने से केवलज्ञान एकान्तिक सुख नहीं है** - क्या कहते हैं ? कि आत्मा में पूर्णस्वरूप केवलज्ञान होता है, परन्तु (वह भी) परिणमन है न ? वह परिणाम है न ? परिणमता है न ? (इसलिए) परिणाम है तो खेद है - ऐसा अज्ञानी प्रश्न करता है। कहाँ तक ले गये, देखा ! **केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा खेद का सम्भव...** (खेद अर्थात्) थकावट, सन्ताप, दुःख। क्या कहते हैं ?

ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ! केवलज्ञान पाया तो केवलज्ञान परिणमन करता है न परिणमन ? परिणमन करता है न ? वह कोई ध्रुव नहीं है। ध्रुव सामान्य के ऊपर तो केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तो वह तो परिणमन करता है (और) परिणमन करता है तो थकान लगेगी कि नहीं ? परिणमन करता है तो दुःख होगा कि नहीं ? परिणमन तो आत्मा का स्वतः स्वभाव है। आहा...हा... ! **खेद का सम्भव होने से...** कोई-कोई कहते हैं न ? कि, तीन काल-तीन लोक जानना, परिणमन ऐसे ही रहना - (ऐसे) परिणमन (करना) तो खेद है। (तो कहते हैं कि) खेद नहीं है, वह तो परिणमन का तो स्वतः स्वभाव है। केवलज्ञान एक समय में है, दूसरे समय में ऐसा ही परिणमन, तीसरे (समय में) ऐसा ही परिणमन... ऐसा परिणमन है (वह) तो उसका स्वभाव है, वह दुःख नहीं। आहा...हा... ! क्या कहते हैं ?

भगवान आत्मा में अन्तर सामान्य चीज ध्रुव है, उस पर जो केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न हुई, उस केवलज्ञान में परिणमन तो है, तो परिणमना वह खेद है कि नहीं ? - ऐसा अज्ञानी को प्रश्न है। **खेद का सम्भव होने से केवलज्ञान एकान्तिक सुख नहीं है** - ऐसा

अज्ञानी कहता है। आहा...हा...! (एक तारणपन्थीवाला आया था, वह कहता था कि) 'सिद्ध में भी पर्याय ?' कुछ मालूम नहीं। वहाँ भी पर्याय चिपकी ? दाढ़ी रखते थे, (सब तो) मर गये। (ऐसा कहते थे) 'देश की सेवा करनी, ये करना...' धूल भी नहीं करता, अभिमान है। तेरी सेवा कर न! पर की सेवा कौन कर सकता है ? आहा...हा...! वह कहते थे 'सिद्ध में भी पर्याय ? सिद्ध को भी परिणमन ? वहाँ भी पर्याय चिपक गई ?' यहाँ यह प्रश्न है। **खेद का सम्भव होने से केवलज्ञान एकान्तिक सुख नहीं है** – ऐसा अज्ञानी कहता है। उसका उत्तर।

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा।। ६०।।

(सोक्खं परिणमं च सो चेद।) परिणमन भी वही है, आनन्द का ही परिणमन है। ज्ञान का परिणमन है, वह आनन्द का ही परिणमन है।

जो ज्ञान 'केवल', सुख वही अरु वो ही है परिणाम भी।
कारण नहीं वो खेद का, हो घातिकर्म विनाश से॥

टीका : 'यहाँ (केवलज्ञान के सम्बन्ध में), (१) खेद क्या, (२) परिणाम क्या तथा (३) केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक (भेद) क्या, कि जिससे केवलज्ञान को सैद्धान्तिक सुखत्व न हो ?' यह बताते हैं। क्या कहा ? **'यहाँ (केवलज्ञान के सम्बन्ध में), (१) खेद क्या,...'** परिणमना ये खेद है ? **'(२) परिणाम क्या...'** परिणाम क्या है ? परिणाम क्या खेद है ? **'(३) केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक (भेद) क्या,....'** (अर्थात्) केवलज्ञान होने से वहाँ आनन्द भिन्न होता है ? **'कि जिससे केवलज्ञान को सैद्धान्तिक सुखत्व न हो ?'** आहा...हा...!

'(१) खेद के आयतन (स्थान) घातिकर्म हैं,...' घातिकर्म (कहा है परन्तु) वास्तव में तो भावघाति है, वह खेद का स्थान है। आ...हा...! उस घातिकर्म का तो भगवान को नाश हो गया। भावघाति हाँ! आ...हा...! अपनी ज्ञान की परिणति हीन – कम करते हैं तो उसमें खेद है। समझ में आया ? तो उस हीनदशा का तो नाश हो गया। आ...हा...हा...! **'खेद के आयतन (स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणाममात्र नहीं।'** केवल

परिणाममात्र नहीं! खेद का स्थान केवल परिणाममात्र नहीं। खेद का कारण केवल परिणाम करना यह नहीं (है)। आ...हा...!

'घातिकर्म महा मोह के उत्पादक होने से...' घातिकर्म जो जड़ ज्ञानावरणादि है... (ऐसा पढ़कर अज्ञानी कहे कि) कर्म के कारण (होता है)। यहाँ तो निमित्त से कथन है। घातिकर्म जड़ है, जड़ क्या घात करे? अपनी पर्याय में घात करता है - हीन दशा (करता है) तो घातिकर्म को निमित्त कहते हैं और अपने गुण-शक्ति की जो पर्याय है, उसमें हीन दशा उत्पन्न करके घात करता है, वह दुःख है। उसका तो नाश किया है। सर्वज्ञ परमात्मा ने हीन दशा - कम दशा का तो नाश किया है। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा कैसा उपदेश? कुछ दया पालन को कहे, व्रत करने को कहे, उपवास करने को कहे, यात्रा करने को कहे, पैसा खर्च करने को कहे तो कुछ समझ में तो आये! इसमें क्या समझना? आहा...हा...!

भाई! तू क्या चीज है? प्रभु! तेरा स्वरूप अकेला ज्ञान और आनन्द तेरा स्वरूप है, तो ज्ञान और आनन्द शक्तिरूप है, उस पर ज्ञान और आनन्द की व्यक्त दशा हो गई तो परिणमन है। परिणमन है ये खेद है? परिणमन में ज्ञान और आनन्द साथ में है। परिणमन में ज्ञान और आनन्द साथ में है। आ...हा...हा...! अभी तो केवलज्ञान की व्याख्या भी बराबर समझे नहीं! (और) 'णमो अरिहंताणं...' बोले जाये!

'खेद के आयतन (स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणाममात्र नहीं।' क्या कहते हैं? घातिकर्म खेद के स्थान हैं, केवल परिणाममात्र नहीं। (अर्थात्) परिणमन करना मात्र खेद नहीं। आहा...हा...! **'घातिकर्म महा मोह के उत्पादक होने से...'** (अर्थात्) पर में सावधानी का उत्पादक होने से **'धतूरे की भाँति...'** आ...हा...हा...! **'अतत् में तत् बुद्धि धारण करवाकर...'** (अर्थात्) जो चैतन्य है, उसे जड़ माने और जड़ को चैतन्य माने। है नीचे? (अतत् में तत्बुद्धि अर्थात्) 'वस्तु जिस स्वरूप न होय उस स्वरूप होने की मान्यता; जैसे कि जड़ में चेतनबुद्धि (अर्थात्) जड़ में चेतन की मान्यता दुःख में सुखबुद्धि इत्यादि।'

जो पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप हैं। इन्द्रियज्ञान दुःखरूप हैं, उस दुःख में सुखबुद्धि,

वह मिथ्यात्वभाव-महा पाप है। उस मिथ्यात्व का तो यहाँ नाश हुआ है। आहा...हा...! समझ में आया? शुभ-अशुभ भाव और इन्द्रियज्ञान दु:खरूप है, उस दु:ख का तो नाश हुआ। इन्द्रियज्ञान का भी नाश हुआ और शुभाशुभभाव का भी नाश हुआ। परिणमन मात्र सुखरूप है। अब वहाँ कोई परिणमन दु:खरूप नहीं है। आहा...हा...! है? '**धतूरे की भाँति अतत् में तत् बुद्धि....**' आहा...हा...! शुभभाव में दु:ख है, वहाँ अज्ञानी ठीक-सुख मानता है। पुण्यभाव जो है - दया, दान, व्रत, भक्ति आदि भाव, ये शुभभाव पुण्य है, उसमें धर्म मानते हैं। यह दु:ख - मिथ्याबुद्धि है। (जैसे) मिथ्यात्वभाव का तो भगवान को नाश हुआ है। आहा...हा...! और इन्द्रियज्ञान-दु:खरूप है, उसका नाश हुआ है।

अतत् में तत्बुद्धि धारण करवाकर आत्मा को ज्ञेयपदार्थ के प्रति... आ...हा...हा...! **परिणमन कराते हैं;...** घाति अपनी पर्याय का घात करके '**आत्मा को ज्ञेयपदार्थ के प्रति...**' (अर्थात्) जानने के पदार्थ में '**परिणमन कराते हैं;...**' ज्ञेयार्थ में परिणमन कराता है, वह तो दु:खरूप है। '**इसलिए वे घातिकर्म, प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो-होकर....**' अल्पज्ञान प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित होकर, एक-एक पदार्थ को (जानता होने से) '**थकनेवाले आत्मा के लिये...**' (अर्थात्) वह इन्द्रिय का ज्ञान करते-करते थक जाता है। थक जाये - बहुत पढ़े तो थक जाये, हिसाब की वही लिखते-लिखते थक जाये, क्योंकि इन्द्रियज्ञान है, दु:खरूप है।

श्रोता : बड़ा चाय का प्याला पीकर वापिस लिखने बैठे!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं है, (चाय का) प्याला पीने का भाव दु:खरूप है। आहा...हा...! थोड़ी देर अफीम पीये तो नशा चढ़ जाये! वह तो दु:ख है, वह भाव ही राग और दु:ख है। आहा...हा...!

'**इसलिए वे घातिकर्म, प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो-होकर...**' (अर्थात्) एक-एक पदार्थ को जानने में रुकता होने से थकान लगती है। ये '**आत्मा के लिये खेद के कारण होते हैं। उनका (घातिकर्मों का) अभाव होने से...**' भगवान (को) केवलज्ञान में तो भावघातिकर्म का नाश होने से-उसके कारण से द्रव्यघातिकर्म का तो नाश होता ही है। आहा...हा...! केवलज्ञान जो वस्तु है, उसमें जो घात करता है,

अल्पज्ञान करके वहाँ रुक जाता है, उस अल्पज्ञान का घात कर दिया, घात करके सर्व ज्ञान उत्पन्न कर दिया। आहा...हा...! ऐसा है। **'उनका (घातिकर्मों का) अभाव होने से केवलज्ञान में खेद कहाँ से प्रगट होगा ?'** भावघातिकर्म का नाश होने से केवलज्ञान में भेद कहाँ से प्रगट होता है ? आहा...हा...! भाषा अलग, भाव अलग...! आ...हा...!

(२) और तीन काल रूप तीन भेद जिसमें किये जाते हैं ऐसे समस्त पदार्थों की ज्ञेयाकाररूप (विविधता को प्रकाशित करने का स्थानभूत केवलज्ञान...) आहा...हा...! तीन काल (जानने में) एक काल में एक को जाने और (दूसरे काल में) दूसरे को जाने, ऐसा है नहीं। भगवान तो तीन काल को एक समय में जानते हैं। समझ में आया ? (पहले) भूतकाल का जाने, बाद में भविष्य का जाने और (बाद में) वर्तमान को जाने (जैसे) भेद होवे वह तो खेद है। आहा...हा...!

तीनकालरूप तीन भेद जिसमें किये जाते हैं ऐसे समस्त पदार्थों की ज्ञेयाकाररूप (विविधता को प्रकाशित करने का स्थानभूत केवलज्ञान, चित्रित् दीवार की भाँति, स्वयं...) दीवार में जैसे (कोई चित्र) चित्रित हो (तो) एक समय में सब दिखता है। भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमान के तीर्थङ्करों (दीवार पर) चित्रित करे, वैसे ज्ञान में लोकालोक भूत, भविष्य और वर्तमान (सहित) एक समय में जानने में आता है। ऐसी बातें...! आहा...हा...! **(...केवलज्ञान, चित्रित् दीवार की भाँति, स्वयं) ही अनन्तस्वरूप स्वयमेव परिणमित होने से...** स्वयं ही। है ? **स्वयं ही!** आहा...हा...! **अनन्तस्वरूप स्वयमेव परिणमित होने से केवलज्ञान ही परिणाम है।** केवलज्ञान ही परिणाम है (और यह) परिणाम ही आनन्द है। यह आनन्द ही परिणाम है। आ...हा...! **इसलिए अन्य परिणाम कहाँ हैं कि जिन से खेद की उत्पत्ति हो ?** दूसरे परिणाम कहाँ है ? वह तो ज्ञान और आनन्द के परिणाम हैं। उसमें खेद है नहीं। आहा...हा...! (दो) बोल हुए।

(३) और, केवलज्ञान समस्त स्वभावप्रतिघात के अभाव के कारण... (प्रतिघात अर्थात्) विघ्न; रुकावट; हनन; घात। स्वभावप्रतिघात (अर्थात्) स्वभाव को घात करनेवाले (के) **अभाव के कारण....** घात करनेवाले का तो अभाव हो गया।

निरंकुश अनन्त शक्ति के उल्लसित होने से... जिसकी शक्ति निरंकुश (अर्थात्) उसके ऊपर कोई दबाव नहीं। अंकुश बिना केवलज्ञान ही शक्ति प्रगट हो गई है। आहा...हा...! **निरंकुश अनन्त शक्ति के उल्लसित होने से समस्त त्रैकालिक लोकालोक के-आकार में व्याप्त होकर कूटस्थतया अत्यन्त निष्कम्प है,....** आहा...हा...! केवलज्ञान कूटस्थ है, (ऐसा) कहते हैं! कूटस्थ का अर्थ? परिणमन तो है लेकिन एक समान परिणमन है। पहले क्रम परिणमन, बाद में विशेष (परिणमन हो तो) वह तो भेदवाला (परिणमन) आया। यह तो एक समय में कूटस्थ नाम तीन काल-तीन लोक का एक समय में ज्ञान, ऐसा दूसरे समय में, ऐसा तीसरे समय में (रहता है)। कूटस्थ नाम ऐसा ही ऐसा होता है, इस अपेक्षा से कूटस्थ है। है तो परिणमन। क्या कहा ये? कूट नाम शिखर होता है न शिखर? पत्थर का शिखर होता है न? वह हिलता नहीं है। वैसे यह केवलज्ञान हिलता नहीं - ऐसा कहते हैं। वैसी की वैसी पूर्ण पर्याय... पूर्ण पर्याय... पूर्ण पर्यायरूप से परिणमते हैं, उसको यहाँ कूटस्थ कहा है। कूटस्थ अर्थात् ध्रुव की तरह कूटस्थ नहीं परन्तु परिणमन के रूप में एक धारा (चली आ रही है), इसलिए कूटस्थ है - ऐसा कहते (हैं) आहा...हा...! अरहन्त का केवलज्ञान किसे कहें? - अभी तो उसकी भी खबर नहीं और उसे धर्म हो जाये! अरे...! उसने अनन्त काल भटकने में व्यतीत किया है। आ...हा...! **अत्यन्त निष्कम्प....** देखा? **कूटस्थतया अत्यन्त निष्कम्प है,....** (जो) परिणमन है, वह अत्यन्त निष्कम्प है। आहा...हा...! भले परिणमन किया करे.... समय... समय... समय... समय.... समय.... परन्तु वह एक जाति का परिणमन है। उसमें फेरफार नहीं (होता) इसलिए कूटस्थ कहने में आता है। आहा...हा...!

इसलिए आत्मा से अभिन्न ऐसा सुख.... आत्मा से अभिन्न ऐसा सुख-लक्षणभूत अनाकुलता को धारण करता हुआ... आ...हा...हा...! **केवलज्ञान ही सुख है, इसलिए केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक कहाँ है?** (अर्थात्) केवलज्ञान और आनन्द में भिन्नता कहाँ (है)? जो केवलज्ञान है, वही आनन्द है; आनन्द है, वहीं केवलज्ञान है। ज्ञान और आनन्द में भिन्नता है नहीं। आ...हा...! समयभेद है नहीं। एक समय में ज्ञान और आनन्द साथ में हैं। भले गुणभेद है लेकिन उत्पन्न होने में साथ में हैं।

ज्ञान–केवलज्ञान उत्पन्न हुआ (तो) साथ में अतीन्द्रिय आनन्द (भी उत्पन्न हुआ)। आ...हा...हा... ! इन्द्र करोड़ों अप्सराओं के विषय में रहे, वह दु:ख है, उससे तो यह भिन्न प्रकार (का) अतीन्द्रियसुख (है)। आहा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्दरूप ही ज्ञान है। आनन्दरूप ही परिणमन है तो उसमें व्यतिरेक (अर्थात्) जुदाई कहाँ है ? **केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक कहाँ है ?** आहा...हा... !

कूटस्थ का नीचे अर्थ किया है। कूटस्थ = 'सदा एकरूप रहनेवाला; अचल (केवलज्ञान सर्वथा अपरिणामी नहीं है,...)' केवलज्ञान पलटता नहीं – ऐसा नहीं। पलटता तो है, '(...किन्तु वह एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय के प्रति नहीं बदलता...)' (अर्थात्) एक ज्ञेय को जाने बाद में दूसरे को जाने ऐसे नहीं पलटता। '(...सर्वथा तीनों काल के समस्त ज्ञेयाकारों को जानता रहता है, इसलिए उसे कूटस्थ कहा है)।' क्या कहा ये ? केवलज्ञान समय... समय... समय... परिणमता तो है परन्तु एक प्रकार का (ही परिणमन है)। (अर्थात्) एक ज्ञेय को जाने फिर दूसरे को जाने, ऐसा परिणमन नहीं है। एक साथ एक समय में तीन काल–तीन लोक को जाने – ऐसा परिणमन तो अनाकुल है – सुखरूप है। आहा...हा... ! इसलिए उसे कूटस्थ कहा है। वरना कूटस्थ तो उसे कहते हैं कि जो परिणमन न करे। पलटे नहीं उसको कूटस्थ कहते हैं, परन्तु यहाँ (तो) पलटता है, पलटता है लेकिन एक प्रकार में पलटता है। एक ज्ञेय को जानने में पलटे, फिर दूसरे को (जानने में) पलटे वह कूटस्थ नहीं (है)। वह खेदवाला इन्द्रियज्ञान है। आ...हा...हा... ! भाषा सब अलग जात की ?

श्रोता : सादृश परिणमन !

पूज्य गुरुदेवश्री : एकरूप परिणमन है। सादि–अनन्त केवलज्ञानमय धारा ! जिस समय उत्पन्न हुआ, उस समय से दूसरे समय में वैसा ही, तीसरे समय वैसा ही, चौथे समय वैसा ही, वह नहीं परन्तु वैसा ही, उसे यहाँ कूटस्थ कहने में आता है। आहा...हा... ! भाषा फेर, भाव फेर ! लेकिन निवृत्त कहाँ है ऐसा निर्णय करने के लिये ? स्त्री–पुत्र को सम्भाले, इज्जत कमाये, दुनिया में कुछ ठीक गिने जाएँ, दूसरे से कमाई में कुछ बढे हैं, वहाँ रुके या (ऐसा निर्णय करने में) रुके ? जहाँ लाभ माने वहाँ रुके। धूल में लाभ माने तो वहाँ अटके। आहा...हा... !

आनन्द का नाथ भगवान आत्मा! केवलज्ञान का जो निर्णय करे... आ...हा...हा...! निर्णय करे कि केवलज्ञान ऐसा है, वह अपनी पर्याय को गुण में मिलाकर, गुण को द्रव्य में अभेद करके (अभेद की) दृष्टि करे। आता है न? (प्रवचनसार की) ८० गाथा! '**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।**' (अर्थात्) भगवान की पर्याय को–केवलज्ञान को जाने कि अनन्त आनन्दमय है तो वह अपने अन्दर (देखता है कि) मेरी पर्याय पूर्ण नहीं है, तो वह पर्याय को गुण में मिलाये, गुण को द्रव्य में मिलाये और अभेद दृष्टि करे, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। दुनिया की शिक्षा से अलग बात! अभी तो धर्म के नाम पर शिक्षा चलती है वह भी सब झूठा! बाकी तो ये वकालत की पढ़ाई, डॉक्टर की पढ़ाई तो कुज्ञान और दु:खरूप है। आहा...हा...! यह बात तो सम्प्रदाय में चलती नहीं। वह तो (कहते हैं) दया पालो, व्रत करो, उपवास करो... बस! (हो गया धर्म!) श्वेताम्बर में (कहते हैं कि) यात्रा करो, कर्मदहन की पूजा करो, सिद्धचक्र (की पूजा करो), यात्रा करके साधु को आहार दो, 'पालीताना' यात्रा करके साधु को आहार दे तो बहुत लाभ होगा (ऐसा कहते हैं)! परन्तु साधु किसको कहें उसकी खबर नहीं। आहा...हा...!

(यहाँ चलते विषय में) क्या कहते हैं? **इससे, यह सर्वथा अनुमोदन करनेयोग्य है...** (अर्थात्) परमात्मा का केवलज्ञान, पूर्णस्वरूप, आनन्दस्वरूप परिणमन होने पर भी आनन्द का परिणमन है। इस कारण से **यह सर्वथा अनुमोदन करनेयोग्य है...** अर्थात्? **(आनन्द से सम्मत करने योग्य है)...** आ...हा...हा...! केवलज्ञान को आनन्द से सम्मत करने योग्य है। अर्थात्? आ...हा...हा...! भगवान आत्मा आनन्दमूर्ति की सन्मुख होकर, आनन्द का अनुभव करके केवलज्ञान को मानना है। आ...हा...हा...! है? **(आनन्द से सम्मत करने योग्य है)...** केवलज्ञान अन्दर में सम्मत हो तो आनन्द होता है। आत्मिक आनन्द का अनुभव होवे तो केवलज्ञान की यथार्थ प्रतीति आयी। आहा...हा...! **कि 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है।' (आनन्द से सम्मत करने योग्य है) कि 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है।'** आहा...हा...! इसके अलावा और कहीं सुख नहीं है। भावार्थ कहेंगे....

प्रवचन नं. ६० **दिनाङ्क ०७ मार्च १९७९**

'प्रवचनसार' ६० (नम्बर की) गाथा का भावार्थ है। केवलज्ञान की बात चलती है। आत्मा में जो पूर्ण ज्ञान होता है, वह सुखरूप है। सब अनिष्ट का नाश हो गया है और पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो गई है। आ...हा...! इसमें बहुत तकरार है न? श्वेताम्बर में (कहते हैं कि) केवली होते हैं, उनको भी आहार (होता है)। क्षुधा लगती है, आहार लेते हैं। दवाई लेते हैं।

श्रोता : बीमार हो तो दवाई ले!

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को बीमारी क्या? भगवान को रोग है, भगवान को आहार (है) – वह सब विपरीत मान्यता है। केवलज्ञान है तो अनन्त सुख है, वहाँ क्षुधा कैसी। तृषा कैसी? आहार कैसा? रोग कैसा? आ...हा...!

श्रोता : जिन्हें राग गया उन्हें रोग कैसा!

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है नहीं। रोग हो तो भी वह कोई राग के कारण से नहीं, पूर्व के पाप के कारण से होता है। भगवान को तो ऐसा है नहीं। पूर्ण ज्ञान प्राप्त अरहन्त परमात्मा को क्षुधा नहीं, तृषा नहीं, आहार आये तो सुख नहीं, न होवे तो दुःख नहीं। केवली को तो केवलज्ञान का अनन्त सुख है। आहा...हा...! (अरहन्त) देव को जानना, केवलज्ञान की क्या दशा (है यह जानना) भी अलौकिक बात है!

श्रोता : ग्यारह परीषह कहे हैं!

पूज्य गुरुदेव : परीषह उपचार से हैं। वस्तु नहीं, नाममात्र है। वह तो अन्दर में उदय है तो गिनने में आता है। अन्तर (में) तो अतीन्द्रिय आनन्द का रस पूर्ण प्राप्त हो गया है। आहा...हा...! उनको परीषह क्या? क्षुधा क्या? देव का स्वरूप कोई अलौकिक है, भाई! आहा...हा...! यह कहते हैं।

भावार्थ : केवलज्ञान में भी परिणाम होते रहने से... कोई ऐसा कहे कि केवलज्ञान भी परिणमन तो करता है। परिणाम है, केवलज्ञान परिणाम है – केवलज्ञान गुण नहीं। क्या कहते हैं? केवलज्ञान परिणाम है, पर्याय है, गुण नहीं। गुण तो त्रिकाली ध्रुव है।

आहा...हा... ! अनादि सामान्य ज्ञान है, वह तो ध्रुव है। एकरूप त्रिकाली ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... सदृश सामान्य, वह अपने आ गया – अनादि ज्ञानसामान्य पर, अनादि ज्ञानसामान्य स्वभाव पर पूर्ण विकास हो गया है। आहा...हा...! अनादि ज्ञानसामान्य स्वभाव ध्रुव (है) और केवलज्ञान पूर्ण विकास हो गया है, वह पर्याय है। आ...हा... ! पर्याय भी दु:ख है (ऐसा) कोई मानता है। परिणमता है न ? परिणमन आया न ? (इसलिए दु:ख है)। दु:ख नहीं, परिणमन तो स्वभाव है। परिणमन वह तो स्वभाव है। आ...हा... !

(कोई कहता था कि) 'सिद्ध में भी पर्याय लगी है ?' कुछ मालूम नहीं। सिद्ध भी पर्याय है, केवलज्ञान पर्याय है। सिद्ध पर्याय है। संसार, विकारी पर्याय है (और) सिद्ध, निर्विकारी पर्याय है। केवलज्ञान पूर्ण निर्विकारी पर्याय है। मतिज्ञान आदि अपूर्ण अविकारी पर्याय है। वह सब पर्याय (है)। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, केवल(ज्ञान) सब पर्याय हैं। गुण तो त्रिकाली है। आहा...हा... ! त्रिकाली अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... जो ज्ञान सामान्य स्वभाव है, वह तो त्रिकाल है। वह तो एकरूप अनादि से चला आता है। ऊपर जो परिणमन-पर्याय होती है, उसमें केवलज्ञान होता है।

श्रोता : पर्याय कार्यकारी कहलायेगी ?

समाधान : पर्याय ही सुखरूप है, ऐसा कहते हैं। केवलज्ञान ही सुखरूप है। ध्रुव में सुख है, वह कहाँ अनुभव में आता है ? पर्याय में सुख है, वह अनुभव में आता है – यह बात है। आहा...हा... ! सिद्ध को जो आनन्द है, वह पर्याय का आनन्द है। ध्रुव तो सदृश एकरूप पड़ा है। उसमें से कुछ बाहर निकलता नहीं। परिणमन उसका नहीं है, परिणमन तो पर्याय का है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई !

अरहन्त को केवलज्ञान में भी परिणाम होते रहने से केवलज्ञान परिणमता तो है, समय-समय में केवलज्ञान में परिणति होती है और **वहाँ भी थकान लगेगी....** जैसे संसार के काम में गद्दी पर बैठा हो तो छह-आठ घण्टे में थक जाये। क्या कहते हैं उसे ? भूल गये ! साईकिल ! साईकिल लेकर दो-चार-पाँच कोस घूमने जाये तो थक जाये। वैसे (केवलज्ञान में भी) थकान होगी क्या ? आहा...हा.. !

भगवान आत्मा! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! उसका अनुभव होने से पर्याय में जो आनन्द आता है, वह पर्याय है। यह पर्याय पूर्ण होती है तो पूर्ण आनन्द के साथ केवलज्ञान प्राप्त होता है। आ...हा...! लोगों को तत्त्व क्या है (उसकी) खबर नहीं और ऐसे ही धर्म हो जायेगा (– ऐसा मानते हैं)!

यहाँ कहते हैं **केवलज्ञान में भी परिणाम होते रहने से...** (अर्थात्) पलटना होने से–पर्याय का बदलना होने से **वहाँ भी थकान लगेगी और इसलिए दुःख होगा। अतः केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख कैसे हो सकता है?** अज्ञानी का प्रश्न है कि केवलज्ञान में ऐकान्तिक आनन्द ही है, सुख ही है, (यह) कैसे हो सकता है? **ऐसी शङ्का का समाधान यहाँ किया गया है** – आहा...हा...!

(१) परिणाममात्र थकावट या दुःख का कारण नहीं है.... है? परिणाममात्र (अर्थात्) पलटना, बदलना वह परिणाम – पर्याय है तो पर्याय – परिणमन वह सब दुःखरूप नहीं (है)। है? **किन्तु घातिकर्मों के निमित्त से होनेवाला परोन्मुख परिणाम...** (अर्थात्) परसन्मुख का परिणाम **थकावट या दुःख का कारण है,....** है? परोन्मुख अर्थात् परसन्मुख **थकावट या दुःख का कारण है,....** आहा...हा...! **केवलज्ञान में घातिकर्म अविद्यमान होने से...** अपनी पर्याय का घात (स्वयं से) होता है, (उसमें) घातिकर्म (से घात होता है यह) निमित्त से कहा परन्तु पर्याय में घात होता है, उस पर्याय को नाश कर दिया और पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त किया। आ...हा...! आहा... हा....! अपने उपादान से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। कोई पूर्व के ज्ञान से नहीं (होती), कर्म का नाश हुआ, उस कारण से भी नहीं। आहा...हा...! ज्ञान में घातिकर्म का नाश होने से **वहाँ थकावट या दुःख नहीं है।** वहाँ थकावट नहीं (है)। परिणमता है (फिर भी थकावट नहीं है)। जब से केवलज्ञान हुआ (तब से), एक समय में केवलज्ञान है (ऐसा ही) दूसरे समय में (केवलज्ञान है)। ऐसा ही (है) लेकिन वह नहीं। आहा...हा...!

केवलज्ञान एक समय की पर्याय है तो एक समय में जो पर्याय है, वह दूसरे समय में वही नहीं (है)। वैसी (ही है) लेकिन वह नहीं (है)। आहा... हा....! यह सब समझना पड़ेगा, वहाँ धूल में (पैसे में) कहीं सुख नहीं है।

श्रोता : आप तो समझा रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन समझाये ? समझने की योग्यता उसकी है, दूसरा तो निमित्तमात्र है। आहा...हा... ! अनादि काल से चौरासी के अवतार में रुलते-रुलते केवलज्ञान की पर्याय कैसी है ? उसकी भी खबर नहीं। 'णमो अरिहंताणं.... णमो अरिहंताणं.... णमो अरिहंताणं....' (बोल ले), परन्तु अरहन्त कैसे हैं ? केवलज्ञान क्या है ? केवलज्ञान पर्याय है, गुण नहीं और वह परिणमन है, गुण नहीं। गुण परिणमते नहीं, पर्याय परिणमती है। समझ में आया ? आहा...हा... !

'नियमसार' की 'शुद्धभाव अधिकार' की ३८वीं गाथा है। वहाँ तो ऐसा कहा '**जीवादिबहित्तच्चं हेयम्**' जीव की एक समय की संवर, निर्जरा और केवलज्ञान की पर्याय भी हेय हैं ! आहा...हा... ! धर्मी को तो त्रिकाली ज्ञायकभाव उपादेय है। आ...हा... हा... ! ('शुद्धभाव अधिकार' की) पहली गाथा है न ? 'नियमसार' ! '**जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।**' 'जीवादि' अर्थात् जीव की एक समय की पर्याय, जीवद्रव्य नहीं। जीव की एक समय की पर्याय, अजीव के ज्ञान (की) पर्याय, आस्रव-पुण्य-पाप के भाव, बन्ध (अर्थात्) ये पर्याय जो रुचती है (वह), संवर, निर्जरा और मोक्ष निर्मल पर्याय (है)। संवर, निर्जरा, अपूर्ण निर्मल पर्याय (है और) केवल(ज्ञान) पूर्ण निर्मल पर्याय (है) लेकिन है पर्याय। आहा...हा... ! इस कारण से सम्यक्दृष्टि को वह '**बहित्तच्चं**' (अर्थात्) बहिर्तत्त्व है। अन्तरतत्त्व जो भगवान ज्ञायकस्वरूप है, वह आदरणीय है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

श्रोता : आदरणीय, हेय और उपादेय समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया में भी करते हैं न ? माल लेने जाते हैं तो (देखते हैं कि) ये माल कैसा है ? गेहूँ कैसा है ? ज्वार कैसी है ? बाजरा कैसा है ? चाय कैसी है ? चीनी कैसी है ?

श्रोता : आप सब खरीदते थे, इसलिए आपको सब अनुभव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हम तो सब करते थे। पाँच साल किया था। १७ वर्ष से २२ वर्ष - पाँच साल किया था। 'बम्बई' से 'पालेज' (माल) लाने को आखिर में ४०० मन (मन

अर्थात् चालीस सेर का वजन) चावल लिये थे। ४०० मन! और खजूर (लिया था)। कितना लिया था (याद नहीं है)। बड़ा व्यापार करते थे। ४०० मन (चावल)! (संवत्) १९६८ के माघ महीने में। ६८! ६८! बस, बाद में बन्द कर दिया। दुकान छोड़ दिया। माघ महीने में लाया, वैशाख में छोड़ दी। वह सब पाप की दुकान थी। यह तो धर्म की दुकान है! आहा...हा...! समझ में आया? और उस दिन ऐसा हुआ, ४०० मन लाया तो आते ही एक मन में चार आना भाव बढ़ गया! उस वक्त '६८ साल! सौ गौन में सौ रुपया! आते ही सौ रुपये आ गये।' ६८ के साल की बात है और '६८ के वैशाख में दुकान छोड़ दिया।' ६८ (की साल में) अभ्यास किया, ७० (की साल में) दीक्षा ली। ढूंढिया की दीक्षा! दीक्षा थी कहाँ? समझ में आया? अरे...! दीक्षा किसे कहें, भाई! आहा...हा...! जहाँ देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा का ठिकाना नहीं, वहाँ दीक्षा कैसी, समकित कैसा? आहा...हा...!

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ की यह वाणी है! दिगम्बर सम्प्रदाय जैनपना वह अनादि सनातन है, यह कोई नया नहीं है। अनादि सनातन जैनधर्म वह दिगम्बर जैनधर्म है। आहा...हा...! पहले आ गया कि श्वेताम्बर में तो (ऐसा कहते हैं कि) केवलज्ञान में भी आहार होता है, क्षुधा लगती है, दवाई लेते हैं! ये सब झूठ हैं। एक समय केवलज्ञान, दूसरे समय केवलदर्शन – श्वेताम्बर शास्त्र ऐसा कहते हैं। ऐसा होता है? आ...हा...! जिस समय केवलज्ञान, उसी समय दर्शन और उसी समय आनन्द (होता है)। आ...हा...हा...! परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का, अमृत का स्वाद! पूर्ण अमृत का स्वाद केवलज्ञान में आता है। सम्यग्दर्शन में भी... अपने स्वरूप का ज्ञायकभाव आनन्द का कन्द प्रभु की ओर झुकने से सम्यग्दर्शन होता है, उसमें भी सम्यक्ज्ञान और सम्यक् आनन्द का – अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है परन्तु अल्प (आता है)। समझ में आया? केवलज्ञान में तो पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द है। भाई! आ...हा...हा...!

अन्दर पूर्णानन्द का नाथ आत्मा! उसका जहाँ पूर्ण आश्रय हुआ, पूर्ण आश्रय – अवलम्बन हुआ (तो) पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो गया। आहा... हा...! कोई क्रियाकाण्ड से उत्पन्न नहीं होता कि व्रत किया, तप किया, उपवास किया उससे केवलज्ञान (हुआ) – ऐसा है नहीं। आहा...हा...! अरे...! निवृत्ति कहाँ (है)? अपना क्या होता है?

ओ...हो...हो... ! इस लड़के का बारबार याद आता है, भाई ! आहा...हा... ! लड़का जैसे बैठकर खड़ा होता था। सामने खड़ा रहकर ढोक देता था। शरीर लट्ठ, उसके बाप का एक ही पुत्र और सवा वर्ष की शादी, सामने बैठता था। अभी उनका पत्र आया था, वह असाध्य हुआ, तब ऐसा बोला कि, 'महाराज के दर्शन करने जाना है ! महाराज के दर्शन करने जाना है, भगवान के दर्शन करने जाना है ! एक सो एक रुपये रखो !' पचीस वर्ष की उम्र ! सवा साल की शादी ! उसके पिता का एक ही लड़का, उसकी माँ मर गई थी। एक लड़का और उसकी बहु, ऐसे तीन जन थे। आहा...हा... ! अभी यहाँ आये थे। ओ...हो... ! कब देह छूटेगा, बापू ये (कहाँ मालूम है) ? अभी निरोग है तो नहीं छूटेगा, ऐसा है क्या ? आहा...हा... ! कोई भाई ऐसा कहते थे कि ये रोग ऐसा आया कि ये रोग कोई नया ही उत्पन्न हुआ। पेट में दुखना शुरु हुआ तो खलास ! मरण हो जाये – ऐसा रोग था ! कोई नया रोग हुआ था। थोड़ा खाया तो दुःख उत्पन्न हुआ (तो उसे) 'बढ़वाण' ले गये। असाध्य (हो गया और) असाध्य (स्थिति में) यह बोल दिया कि 'भगवान का दर्शन करना है, महाराज का दर्शन करना है, महाराज के पास एक सौ एक रुपया रखो !' आ...हा...हा... ! ये देह की स्थिति, बापू ! किस क्षण देह छूटेगा –(यह निश्चित नहीं)। उसमें ऐसा नहीं है कि अभी हम निरोगी हैं इसलिए (नहीं छूटेगा)। वह तो अन्दर एक क्षण – (एक) समय में पलट जायेगा, आहा...हा... ! इसलिए मृत्यु के पहले, देह छूटने से पहले (आत्महित का) कुछ काम कर ले ! आहा...हा... ! बाद में नहीं होगा, आ...आ...आ... मुँह फट जायेगा ! बापू !

यहाँ यह कहते हैं (कि) केवलज्ञान परिणमन है परन्तु घातिकर्म का नाश होने से थकावट का – दुःख का कारण है, ऐसा है नहीं। '**केवलज्ञान में घातिकर्म अविद्यमान होने से वहाँ थकावट या दुःख नहीं है।**' आहा...हा... ! दुकान पर बैठे और कमाई अच्छी होती हो तो आठ-आठ घण्टे बैठ जाये (तो) शाम को थकावट लगे। ज्यादा कमाई होती हो और ग्राहक अच्छे हो तो (ऐसा कहे कि) 'एक चाय ले आओ तो पी लेंगे, खाना शाम को खायेंगे।' फिर शाम को थकावट लगे (तो बोले कि) 'बहुत थकान लगी है।' ऐसे होता होगा ? केवलज्ञान परिणमता है तो थकावट लगती है ?

श्रोता : भगवान का विहार तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विहार जड़ की पर्याय होती है। उसके कारण से होता है। कर्म का उदय आता है तो उस प्रकार चलते हैं, वे तो जानते हैं, देखते हैं। वे तो केवलज्ञान हुआ, तब से देखते हैं कि ये शरीर ऐसे चलेगा, ऐसे चलेगा, ऐसे होगा। आहा...हा...! पाँच सो धनुष ऊपर! नीचे नहीं, ऊपर चलते हैं।

आ...हा...हा...! केवलज्ञान अरहन्त माने क्या चीज! आ...हा...! जिनका परम औदारिक शरीर (है)! तीर्थङ्कर (का) तो जन्म से परम औदारिक शरीर (है)। उनको आहार होता है परन्तु निहार नहीं (होता)। आहा...हा...! ऐसी ही प्रकृति लेकर आये हैं। तीन ज्ञान, समकित सहित परमात्मा तीर्थङ्कर माता के पेट में आते हैं तो भी कहते हैं कि जन्म के बाद निहार नहीं (है), आहार लेते हैं (लेकिन) निहार नहीं (है)। आहा...हा...! रोग नहीं (होता)। आ...हा...! तो केवलज्ञान होने के बाद (रोग आदि कैसे हो?) दूसरे समकिती हों, तीर्थङ्कर नहीं हो, सामान्य जीव हो, उसे केवलज्ञान होता है तो उसका शरीर परम औदारिक हो जाता है। ऐसा (सामान्य) शरीर नहीं रहता। आहा...हा...! परम औदारिक! रोग नहीं, तृषा नहीं, क्षुधा नहीं। अनन्त... अनन्त... आनन्द में विराजमान परमात्मा निर्विघ्न निरन्तर अपने आनन्द का अनुभव करते हैं। आहा...हा...!

श्रोता : परम औदारिक शरीर श्वेताम्बर में शब्द भी नहीं है!

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर में नहीं है। श्वेताम्बर में कल्पित बनाया है। बेचारों को दुःख लगे लेकिन क्या करे? कल्पित शास्त्र बनाये हैं। हमने तो सब देखे हैं, करोड़ों श्लोक देखे हैं। श्वेताम्बर के करोड़ों श्लोक! ७६ की साल.... कितने वर्ष हुये? ५८ वर्ष हुये! ५८ साल के पाँच महीने में ४५ सूत्र पढ़े थे! 'दामनगर!' 'दामनगर' में चातुर्मास था। वहाँ 'दामोदर सेठ' थे, वहाँ सब शास्त्र थे, संस्कृत में थे। हम तो संस्कृत पढ़ते थे। करोड़ों श्लोक! (वैसे तो) संस्कृत पढ़े नहीं थे, लेकिन संस्कृत पढ़ते थे तो ४५ (आगम) पढ़े उनके करोड़ों श्लोक देखे थे। परन्तु यह चीज वहाँ नहीं है। आहा...हा...! ७८ (की साल में) जब 'समयसार' मिला... ओ... हो...! कहा, हमने तो लोगों को कहा, 'दामोदर सेठ' को कहा 'सेठ! यह पुस्तक अशरीरी (होने का) है! सिद्ध होने का यह पुस्तक है!!'

आ...हा...हा... ! यह मार्ग है, बापू! आ...हा...हा... ! उस वक्त तो (सम्प्रदाय में) थे तो कोई विरोध नहीं करता था। मुँहपट्टी में थे इसलिए कोई विरोध नहीं करते थे। (ऐसा समझे कि) महाराज कहते हैं तो ठीक कहते होंगे! लेकिन जब मुँहपट्टी उतारी... खलबली... खलबली... !

आ...हा... ! यहाँ कहते हैं कि प्रभु ! तू एकबार सुन तो सही ! अरहन्त का केवलज्ञान कैसा है और इस केवलज्ञान में कितना सुख है ! थकावट नहीं है, पलटता है फिर भी थकावट नहीं है। आ...हा... ! समय-समय में पलटता है, एक मिनट भी नहीं ! एक सेकेण्ड भी नहीं ! एक सेकेण्ड में तो असंख्य समय जाते हैं। भगवान का केवलज्ञान एक समय (अर्थात्) (एक) सेकेण्ड के असंख्य भाग में परिणमन करता है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? फिर भी थकावट नहीं है। है (पाठ में) ? **दुःख नहीं है।** दुःख का कारण नहीं है। एक बात (हुई)।

(२) केवलज्ञान स्वयं ही परिणमनशील है;..... स्वयं परिणमनशील है (अर्थात्) कोई परिणमावे तो परिणमता है - ऐसा है नहीं। कालद्रव्य परिणमन में निमित्त है परन्तु अपना स्वभाव स्वतः परिणमनशील है। कालद्रव्य है तो परिणमन कराता है, ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! **केवलज्ञान स्वयं ही परिणमनशील है;....** (अर्थात्) वह बदलने के स्वभाववाला है। एक-एक समय में परिणमन (होता है), पर्याय बदलती है। ऐसा उसका परिणमन का स्वभाव है।

परिणमन केवलज्ञान का स्वरूप ही है.... (अर्थात्) पलटना, बदलना यह स्वरूप ही है, **उपाधि नहीं।** आ...हा...हा... ! समझ में आया ? आ...हा... ! **यदि परिणाम का नाश हो जाये तो केवलज्ञान का ही नाश हो जाये।** परिणमन का नाश हो जाये तो केवलज्ञान का नाश हो जाये (और केवलज्ञान का नाश हो जाये तो) वस्तु ही नहीं रहेगी। आ...हा...हा... ! अरे... ! वास्तविक तत्त्व की दृष्टि नहीं की, ज्ञान नहीं किया, उस ओर प्रयत्न नहीं किया, बाकी दुनिया में हैरान... हैरान होकर मर गया !

भगवान का केवलज्ञान कैसा है ? कि **परिणमनशील है; परिणमन केवलज्ञान का स्वरूप ही है...** पलटना, बदलना वह तो उसका स्वरूप ही है, **उपाधि नहीं। यदि**

परिणाम का नाश हो जाये.... पलटने का नाश हो जाये। **तो केवलज्ञान का ही नाश हो जाये। इस प्रकार परिणाम केवलज्ञान का सहज स्वरूप होने से केवलज्ञान को परिणाम के द्वारा खेद नहीं हो सकता...** आ...हा...हा...! अन्दर इसकी घड़ीबैठ जाना चाहिए (अर्थात्) ऐसे ही समझे बिना मान ले, ऐसा नहीं। कपड़ा होता है न कपड़ा? अटलस! अटलस! अटलस होती है न? उसकी घड़ी बैठ जाती है। जैसे ही (समेट ले) तो घड़ी नहीं होती। अटलस आता है न? क्या कहते हैं? उसे खोलकर वापिस घड़ी जैसी होती है, वैसी बिठाये तो बैठे, नहीं तो नहीं बैठती। आहा...हा...! वैसे यहाँ ज्ञान में घड़ी बैठनी चाहिये। (अर्थात्) **यह चीज ऐसी है उसका भाव में भासन होना चाहिये।** आहा...हा...! जैसे ही धारणा कर ले, सुन ले (तो) उसमें क्या है? **इस प्रकार परिणाम केवलज्ञान का सहज स्वरूप होने से केवलज्ञान को परिणाम के द्वारा एक नहीं हो सकता - नहीं होता।** है? दो बोल (हुये)।

(३) केवलज्ञान समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार को (समस्त पदार्थों के त्रैकालिक ज्ञेयाकारसमूह को) सर्वदा अडोलरूप से जानता हुआ... एक समय में सब जानते हैं। यदि पहले थोड़ा जाने बाद में दूसरे को जाने तो खेद हो जाये। यह तो एक समय में तीन काल-तीन लोक (जानता है)। आहा...हा...! है? **केवलज्ञान समस्त त्रैकालिक लोकालोक के...** त्रिकाली लोकालोक - भूतकाल, वर्तमान और भविष्य। सबको एक समय में आकार को नाम स्वरूप को - त्रिकाली ज्ञेयाकारसमूह को सर्वदा (जानते हैं)। सर्व को और सर्वदा **अडोलरूप से जानता हुआ अत्यन्त निष्कम्प-स्थिर...** (है)। आ...हा...हा...! भगवान का ज्ञान अत्यन्त निष्कम्प है, स्थिर है, **अक्षुब्ध...** अर्थात् क्षुब्ध नहीं (है), **अनाकुल है;...** (अर्थात्) आनन्द है। आ...हा...हा...! है? **और अनाकुल होने से सुखी है - सुखस्वरूप - है,** केवलज्ञान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। ये इन्द्रियों में सुख मानते हैं, वह सुख नहीं, वह तो दुःख है। (अज्ञानी जीव) पाँच इन्द्रिय में सुख मानते हैं। रूप देखकर, स्पर्श करके, सुनकर, गन्ध सूँघकर, रस चखकर सुख मानते हैं, वह तो राग है - दुःख है। आ...हा...! भगवान को वीतरागी ज्ञान है तो अतीन्द्रिय आनन्द है। उनको थोड़ी भी क्षुब्धता होती नहीं। **क्योंकि अनाकुलता सुख का ही लक्षण है।...** आहा...हा...!

इस प्रकार केवलज्ञान और अक्षुब्धता - अनाकुलता भिन्न नहीं होने से... केवलज्ञान और अनाकुलता भिन्न नहीं होने से **केवलज्ञान और सुख भिन्न नहीं हैं।** आ...हा...हा.... ! परिणमन में दु:ख नहीं (है) और दोनों भिन्न नहीं (हैं) कि ज्ञान भिन्न और आनन्द भिन्न। ज्ञान के साथ आनन्द आता है आ...हा... ! उसका नाम केवलज्ञान में कहने में आता है।

इस प्रकार (१) घातिकर्मों के अभाव के कारण, (२) परिणमन कोई उपाधि न होने से.... आहा...हा... ! पलटना कोई उपाधि नहीं है। यह जगत का पलटना (जो होता है उसे) जानने में सब उपाधि है। एक को जानकर दूसरा जानने की इच्छा में उपाधि-आकुलता है। आ...हा... ! **(३) केवलज्ञान निष्कम्प-स्थिर-अनाकुल होने से केवलज्ञान सुखस्वरूप ही है।** 1

ज्ञान वैरागय शक्ति से युक्त मुनिदशा

छठवें गुणस्थान में मुनिराज को देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति, विनय इत्यादि के उपरान्त पञ्च महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि का विकल्प तथा तद्नुरूप प्रवर्तन होता है किन्तु किसी भी संयोग में चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में वर्तनेवाले समकिती की ज्ञान-वैराग्य-शक्ति कोई अलग ही रहती है। समयसार, निर्जरा अधिकार में कहा है कि भगवान ज्ञायक का यथार्थ ग्रहण, वह ज्ञान है और रागादि का अभाव वह वैराग्य है। अहो ! ज्ञानी की यह ज्ञान-वैराग्यधारा कोई अलौकिक ही होती है। *(-वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 200)*

गाथा – ६१

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति -

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं।।६१।।

ज्ञानमर्थान्तगतं लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः।
नष्टमनिष्टं सर्वमिष्टं पुनर्यत्तु तल्लब्धम्।। ६१।।

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्। आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः, तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः। ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम्। किंच केवलं सौख्यमेव; सर्वानिष्टप्रहाणात्, सर्वेष्टोपलम्भाच्च। यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायते, ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन।।६१।।

अथ पुनरपि केवलज्ञानस्य सुखस्वरूपतां प्रकारान्तरेण दृढयति - **णाणं अत्थंतगयं** ज्ञानं केवलज्ञानमर्थान्तगतं ज्ञेयान्तप्राप्तं **लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी** लोकालोकयोर्विस्तृता दृष्टिः केवलदर्शनम्। **णट्ठमणिट्ठं सव्वं** अनिष्टं दुःखमज्ञानं च तत्सर्वं नष्टं **इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं** इष्टं पुनर्यद् ज्ञानं सुखं च हि स्फुटं तत्सर्वं लब्धमिति। तद्यथा - स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं सुखं भवति। स्वभावो हि केवलज्ञानदर्शनद्वयं, तयोः प्रतिघात आवरणद्वयं, तस्याभावः केवलिनां, ततः कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुखं भवति। यतश्च परमानन्दैकलक्षण-सुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वेत्पादकमनिष्टं दुःखमज्ञानं च नष्टं, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखाविनाभूतं त्रलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रकाशकमिष्टं ज्ञानं च लब्धं, ततो ज्ञायते केवलिनां ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्रायः।।६१।।

अब, पुनः 'केवल (अर्थात् केवलज्ञान) सुखस्वरूप है' – ऐसा निरूपण करते हुए उपसंहार करते हैं –

पदार्थ के है पार ज्ञान, अरु दर्शन विस्तृत विश्व में।
है नष्ट सर्व अनिष्ट अरु; जो इष्ट, वह सब प्राप्त है॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानं] ज्ञान **[अर्थान्तगतं]** पदार्थों के पार को प्राप्त है **[दृष्टिः]** और दर्शन **[लोकालोकेषु विस्तृताः]** लोकालोक में विस्तृत है; **[सर्व अनिष्टं]** सर्व अनिष्ट **[नष्टं]** नष्ट हो चुका है **[पुनः]** और **[यत् तु]** जो **[इष्टं]** इष्ट है **[तत्]** वह सब **[लब्धं]** प्राप्त हुआ है। (इसलिए केवल अर्थात् केवलज्ञान सुखस्वरूप है।)

टीका : सुख का कारण स्वभावप्रतिघात का अभाव है। आत्मा का स्वभाव दर्शन ज्ञान है; (केवलदशा में) उनके (दर्शन-ज्ञान के) प्रतिघात का अभाव है, क्योंकि दर्शन लोकालोक में विस्तृत होने से और ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त होने से वे (दर्शन-ज्ञान) स्वच्छन्दतापूर्वक (स्वतन्त्रतापूर्वक, बिना अंकुश, किसी से बिना दबे) विकसित हैं (इस प्रकार दर्शन-ज्ञानरूप स्वभाव के प्रतिघात का अभाव है) इसलिए स्वभाव के प्रतिघात का अभाव जिसका कारण है, ऐसा सुख अभेदविवक्षा से केवलज्ञान का स्वरूप है।

(प्रकारान्तर से केवलज्ञान की सुखस्वरूपता बतलाते हैं) और, केवल अर्थात् केवलज्ञान सुख ही है, क्योंकि सर्व अनिष्टों का नाश हो चुका है और सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो चुकी है। केवल अवस्था में, सुखोपलब्धि के विपक्षभूत दुःखों के साधनभूत अज्ञान का सम्पूर्णतया नाश हो जाता है और सुख का साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए केवल ही सुख है। अधिक विस्तार से बस होओ॥ ६१ ॥

प्रवचन नं. ६० का शेष **दिनाङ्क ०७ मार्च १९७९**

अब, पुनः 'केवल (अर्थात् केवलज्ञान) सुखस्वरूप है' ऐसा निरूपण करते हुए उपसंहार करते हैं : केवलज्ञान की व्याख्या यहाँ पूर्ण करते हैं। आहा...हा...! ६१ (गाथा)।

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं।।६१।।

नीचे हरिगीत -

पदार्थ के है पार ज्ञान, अरु दर्शन विस्तृत विश्व में।
है नष्ट सर्व अनिष्ट अरु; जो इष्ट, वह सब प्राप्त है॥

आहा...हा...! **टीका : सुख का कारण स्वभावप्रतिघात का अभाव है।** (अर्थात्) भगवान को सुख के कारण में स्वभाव का प्रतिघात है, वह नहीं है। **आत्मा का स्वभाव दर्शन-ज्ञान है;...** पहले जैसे कहा कि **सुख का कारण स्वभावप्रतिघात अभाव है।** स्वभाव का प्रतिघात का अभाव है। ये क्या (कहा) ? कि **आत्मा का स्वभाव दर्शन-ज्ञान है;....** दो लिया। **(केवलदशा में) उनके (दर्शन-ज्ञान के) प्रतिघात का अभाव है,....** भगवान को एक समय में दर्शन और ज्ञान परिपूर्ण हैं। समझ में आया ? श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं कि जब केवलज्ञान है, तब दर्शन का उपयोग नहीं (है) और दर्शन का होगा, तब केवलज्ञान का नहीं (है)। झूठ (बात) है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

श्रोता : चेतनागुण तो एक ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण की कहाँ बात है, पर्याय की बात है। केवलज्ञान गुण नहीं है।

श्रोता : चेतनागुण के दो भेद हैं, दर्शन और ज्ञान।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण दो हैं तो पर्याय दो हैं। गुण दो हैं तो एक समय में पर्याय भी दो हैं। एक समय में एक पर्याय और (दूसरे) समय दूसरी पर्याय ऐसा (नहीं है)। अन्दर दो गुण साथ में हैं। एक समय की पर्याय में दो हैं - केवलज्ञान, केवलदर्शन एक समय में हैं। एक समय में ज्ञान और दूसरे समय में दर्शन ऐसा होता ही नहीं। ऐसा (समझने का) कहाँ (समय है) ? सम्प्रदाय में जन्म लिया और 'जय नारायण' करके (भव) पूरा करते हैं ! किसको विचार करना है कि क्या वस्तु है ? जिस कुल में जन्म लिया, जिसका संग हुआ (उसमें) यह मेरा-तेरा सम्प्रदाय करके मर गया ! अज्ञानी ममता में लुब्ध हो गये। सत्य क्या है ? - उसकी परीक्षा नहीं करते। आहा...हा...!

श्रोता : भगवान ने कहा वह सत्य ही हो ना ?

समाधान : भगवान क्या है ? और भगवान ने क्या कहा ? यह जानना पड़ेगा या नहीं ? भगवान कौन है ? भगवान का ज्ञान (कैसा) है ? (यह जानना होगा)। भगवान को आहार नहीं, भगवान को क्षुधा नहीं, भगवान को तृषा नहीं, भगवान के शरीर में रोग नहीं, भगवान को औषध नहीं, भगवान को वस्त्र नहीं। भगवान को वस्त्र नहीं (है)। यहाँ तो भगवान को लंगोटी लगाते हैं ! भाई ! क्या कहें, ऐसा ही कोई तत्त्व है ! आहा...हा...!

भगवान तो दीक्षित होते हैं, तब निर्वस्त्र (होते) हैं। वस्त्र है नहीं। फोटो में वस्त्र नहीं रखते तो पेड़ की डाली आड़े रखते हैं।

(भगवान) तो नग्न दिगम्बर (होते हैं)। आहा...हा...! पूर्ण आनन्दकन्द (हैं)! वस्त्र का धागा तो मुनि को होता नहीं। सच्चे मुनि होते हैं, उनको वस्त्र का धागा नहीं (होता) और वस्त्र का धागा रखकर मुनि माने तो निगोद में जायेगा, ऐसा पाठ है। आहा...हा... !

श्रोता : मुनि तो सब नग्न ही हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला नग्न(पना) नहीं। अन्दर भावनग्न(पना होना चाहिए)। ऐसा है। अन्दर में वस्त्र का विकल्प नहीं (होता और) बाहर में वस्त्र का धागा नहीं (होता)। मात्र नग्न होते हैं, वह मुनि नहीं (है), ऐसा मुनिपना तो अनन्तबार लिया है। आ...हा...! समझ में आया?

आज (एक पेपर में) आया है कि 'ज्ञान का परिणमन-पर्याय है, वह क्रमबद्ध (है) परन्तु क्रिया जो साधन है, वह अक्रम (है)।' कोई 'बुलन्दशहर' का है। अरे... भगवान! क्या करें? उसे जो बैठा हो वही करेगा न! 'जामें जितनी बुद्धि है उतना दिये बताय, वांको बुरो न मानिये और कहाँ से लाय।' आ...हा...! अरे... भगवान! तेरी शक्ति भी भगवान है, प्रभु! तेरी पर्याय में भूल है। अन्दर वस्तु तो भगवानस्वरूप ही है। भूल है तो पर्याय में है। आ...हा...! पर्याय में मिथ्यात्व आदि की भूल है, अन्दर में-द्रव्य में भूल है नहीं, वस्तु में कोई भूल है नहीं। आ...हा...!

सच्चिदानन्द प्रभु! वीतराग चैतन्य अमृत का सरोवर भरा है। अमृत का दरिया-समुद्र है! आ...हा...हा...! मिथ्यात्व और राग, द्वेष की भूल उसमें कहाँ है, पर्याय में है। पर्याय में संसार, पर्याय में मोक्ष और पर्याय में मोक्ष का मार्ग। आहा...हा...! ऐसी बात है। (अज्ञानी को तो) पर्याय क्या होगी (यह भी मालूम नहीं)। यह कहते हैं, देखो!

सुख का कारण स्वभावप्रतिघात का अभाव है। आत्मा का स्वभाव दर्शन-ज्ञान है;... देखिये! दो लिया! उसका स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है। जानना और देखना ये दो

मुख्य स्वभाव है, बाकी तो अनन्त गुण हैं। **उनके (दर्शन-ज्ञान के) प्रतिघात का अभाव है,...** भगवान को दर्शन (अर्थात्) देखना, ज्ञान (अर्थात्) जानना उसके विरोध का (प्रतिघात का) अभाव है। **क्योंकि दर्शन लोकालोक में विस्तृत होने से....** भगवान का दर्शन तो लोकालोक को देखते हैं। दर्शन एक समय में लोकालोक को सामान्यरूप से देखते हैं **और ज्ञान पदार्थों के पार को प्राप्त होने से...** जितना लोकालोक है, जितना तीन काल है, सबको ज्ञान **स्वच्छन्दतापूर्वक...** आ...हा...हा...! देखो! यह स्वच्छन्द आया! **(स्वतन्त्रतापूर्वक,...)...** स्वच्छन्द (अर्थात्) स्वतन्त्रता। **स्वच्छन्दतापूर्वक (स्वतन्त्रतापूर्वक, बिना अंकुश...)** किसी के दबाव बिना दर्शन, ज्ञान **(किसी से बिना दबे) विकसित हैं...** आहा...हा...! **(इस प्रकार दर्शन-ज्ञानरूप स्वभाव के प्रतिघात का अभाव है) इसलिए स्वभाव के प्रतिघात का अभाव जिसका कारण है - ऐसा सुख अभेदविवक्षा से केवलज्ञान का स्वरूप है।** आहा...हा...!

(प्रकारान्तर से केवलज्ञान की सुखस्वरूपता बतलाते हैं) और, केवल अर्थात् केवलज्ञान सुख ही है,... अब क्या कहते हैं ? देखो! भगवान का पूर्ण ज्ञान सुख है। आहा...हा...! **क्योंकि सर्व अनिष्टों का नाश हो चुका है...** ओ...हो...हो...! क्या कहा ? अनिष्ट जो अज्ञान और दुःख (है), वह अनिष्ट है। भगवान के ज्ञान में अनिष्ट का नाश हुआ है। अनिष्ट का अर्थ अज्ञान और दुःख, उन सबका नाश हो गया है। आ...हा...हा...! है ? **और सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो चुकी है।** सम्पूर्ण इष्ट नाम केवलज्ञान और केवलदर्शन जो इष्ट है (उनकी) प्राप्ति हो गई है। आहा...हा...!

राग-द्वेष, अज्ञान, दुःख अनिष्ट हैं। इस अनिष्ट का तो भगवान को नाश हो गया है और इष्ट-ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता (आदि) सब इष्ट प्रगट हो गया (है)। जो प्रिय है, वह प्रगट हो गया है, जो अप्रिय है उसका नाश हो गया है। आहा...हा...! जगत की चीज प्रिय-अप्रिय नहीं (है)। जगत की कोई चीज प्रिय-अप्रिय नहीं। जगत् की चीज तो ज्ञेय है। जितने पदार्थ हैं, वे सब जानने लायक ज्ञेय हैं। परन्तु यहाँ जो इष्ट अनिष्ट कहा वह जगत के पदार्थ नहीं। अज्ञान और दुःख है, वह अनिष्ट हैं। परवस्तु अनिष्ट

है – ऐसा नहीं। स्वरूप का अज्ञान और स्वरूप से विरुद्ध दु:ख, अनिष्ट है। ये अनिष्टता का तो प्रभु को नाश हो गया है। वस्तु अनिष्ट है – ऐसा नहीं। कोई वस्तु इष्ट है–अनिष्ट है, ऐसा नहीं। वस्तु तो सब ज्ञेय–जानने लायक हैं। अज्ञानी मानता है कि यह ठीक है और यह अठीक है, वह तो अज्ञानी ज्ञेय में विभाग करता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

परवस्तु जितनी हैं, वह तो सब ज्ञेय है – जानने लायक हैं। उसमें कोई इष्ट–अनिष्ट की छाप नहीं मारी है और इष्ट–अनिष्ट है भी नहीं। आ...हा...हा... ! यह रोग अनिष्ट है और निरोग इष्ट है – ऐसी कोई चीज नहीं (है)। वह तो पर्याय है। पर्याय में तो इष्ट–अनिष्ट(पना) है ही नहीं, परन्तु उसकी मान्यता करता है कि ये मुझे ठीक है, अनिष्ट है वह अठीक है, ये दु:ख है। आहा...हा... ! यह दु:ख अनिष्ट है। आहा...हा... ! और उसके स्वभाव का अज्ञान है, वह दु:ख है। स्वभाव का अज्ञान और स्वभाव से विरुद्ध दु:ख उसका तो (भगवान को) नाश हुआ। अज्ञान और दु:ख का नाश हुआ और ज्ञान व आनन्द प्रगट हुआ है। व्याख्या में 'इष्ट–अनिष्ट' शब्द डालने में बहुत गम्भीरता है !

कोई पदार्थ इष्ट – भगवान इष्ट है और शत्रु अनिष्ट है, ऐसी कोई चीज है नहीं। समझ में आया ? भगवान भी ज्ञान में जानने लायक ज्ञेय हैं। आ...हा...हा... ! और जो शत्रु है, वह भी कोई शत्रु नहीं (है), वह तो ज्ञान में जानने के लायक है। शत्रु–मित्र कोई ज्ञेय में है नहीं। आहा...हा... ! अपनी स्त्री प्रिय है – इष्ट है और दुश्मन अनिष्ट है, ऐसी कोई चीज नहीं। आ...हा...हा... ! स्त्री है वह भी ज्ञान में जानने लायक ज्ञेय है और दुश्मन (भी) ज्ञान में जानने (लायक) ज्ञेय है। ये जानने लायक चीज में कोई इष्ट–अनिष्ट है नहीं। अपने स्वरूप के विरुद्ध अज्ञान और दु:ख, वह अनिष्ट है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह प्रिय मित्र है, यह शत्रु अप्रिय है, स्त्री अर्धाङ्गिनी (है), हमारी घरवाली प्रिय है, पत्नी और पति दोनों प्रिय हैं, ऐसी कोई चीज है नहीं।

श्रोता : भगवान की मूर्ति प्रिय है ?

समाधान : भगवान की मूर्ति प्रिय नहीं, जानने लायक है। सूक्ष्म बात है, भाई ! वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। उनकी भक्ति का भाव आता है वह शुभ(भाव) है, धर्म नहीं। आहा...हा... ! निश्चय से तो ज्ञेय हैं। भगवान ज्ञेय हैं, सर्प ज्ञेय है, बिच्छु ज्ञेय है।

श्रोता : व्यापार में नुकसान जाये वह (क्या है)?

समाधान : वह (भी) ज्ञेय है। नुकसान क्या कहना? जानना कि वह तो ज्ञेय है – जानने लायक है। जानने लायक है, उसमें मुझे नुकसान हुआ – (ऐसी) उसकी मान्यता विपरीत है। पाँच-पच्चीस लाख मिले तो मुझे इष्ट है, वह (मान्यता) तो मिथ्यात्व है। वस्तु में इष्टता-अनिष्टता है ही कहाँ? वस्तु तो जानने लायक ज्ञेय है और भगवान (आत्मा) जानने लायक ज्ञान है। आहा...हा...! अरे...! उसे कितना सुधारना पड़े! आ...हा...हा...! यह मेरा प्रिय पुत्र है, मेरा एक ही पुत्र मुझे बहुत प्यारा है, मतलब क्या? मतलब क्या लेकिन? वह आत्मा पर है, शरीर पर है, उसमें तेरा कहाँ आ गया? आ...हा...! संयोगी चीज तो ज्ञेय है। ज्ञान में जानने लायक संयोगी चीज है, उसमें ये मेरा पुत्र और ये मेरा नहीं, यह आया कहाँ से? 'श्रीमद्' ने एक दृष्टान्त दिया है कि पचास लड़के हो, (उन्हें) देखे (तो उसमें देखता है कि) ये मेरा (लड़का)! परन्तु मेरा कहाँ से आया? वे सब देखने लायक हैं। पचास मकान की गली हो... तो पचास मकान की गली है, वह जानने लायक है, (उसमें) 'यह मकान मेरा', (ऐसा) कहाँ से आया? ऐसी बात है।

(मन्दिर आदि) चीज तो ज्ञेय हैं। उसमें 'मैंने (पैसे) दिये' यह भाव राग है। राग है, वह पुण्य का-बन्ध का कारण है। 'यह हमारी धर्मशाला हमने बनाई!' (ऐसा कहते हैं लेकिन) वह तो ज्ञेय पदार्थ है, तेरी धर्मशाला कहाँ से आयी?

यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि अनिष्ट हो तो तेरी पर्याय में अज्ञान और दुःख है, वह अनिष्ट है और इष्ट है तो ज्ञान और आनन्द इष्ट है। आहा...हा...! गजब बात है, भाई! वीतराग का मार्ग-परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनवरदेव का मार्ग कोई अलौकिक है! लोगों को बेचारों को सुनने नहीं मिला है। आ...हा...हा...!

'नैरोबी' में मन्दिर हुआ। ज्येष्ठ शुक्ल ११ को (मुहूर्त था)। उन्होंने विनती की है। पन्द्रह लाख का मन्दिर होगा। (वह तो जो) पर्याय होनेवाली हो, वह होगी, होगी और होगी।

श्रोता : आप विराजमान हो वहाँ तो होवे ही!

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी को लेकर कुछ आता नहीं। (जो) पैसा आनेवाला होता है, वह आता है, ढेर होते हैं!

श्रोता : लोग ऐसा कहते हैं कि आपकी लकड़ी में जादू है !

पूज्य गुरुदेवश्री : लोग कहते हैं ! शरीर में रोग आता है, तब लकड़ी कहाँ गई ? अरे...रे... ! आहा...हा... ! शरीर की जो पर्याय जिस समय होनेवाली है, वह होती है, (वह) ज्ञेय है। शरीर की जवान पर्याय हो, वृद्ध पर्याय हो, बालक की पर्याय हो, रोगी हो या निरोगी हो, वह सब ज्ञान का ज्ञेय हैं। यह रोगी है और वह निरोगी है, ऐसा उसमें कहाँ है ? आहा...हा... ! पर्याय का परिणमन ऐसा है। वह खराब हो तब लोग ऐसा कहते हैं कि रोग हुआ। (लेकिन) वह तो पर्याय है। पर्याय में रोग कैसा ? और पर्याय में अरोग कैसा ? आहा...हा... ! वैसे ही मकान में यह ठीक है और यह अठीक है, ऐसा कहाँ है ? वैसे ही लड़के में यह ठीक है और यह अठीक है, ऐसा कहाँ है ? वैसे ही लड़के में यह ठीक है और यह अठीक है, ऐसा कहाँ है ? वैसे ही स्त्री में यह मेरी और यह तेरी, ऐसा है कहाँ ? आहा...हा... ! अज्ञान में भ्रम करता है, दो विभाग कर देता है - यह मुझे ठीक है और यह मुझे ठीक नहीं है, यह मेरा है और यह तेरा है। वह तो अज्ञान है। आहा...हा... !

यहाँ तो परमात्मा कहते हैं कि इष्ट-अनिष्ट क्या है ? (तो कहते हैं कि) कोई चीज इष्ट-अनिष्ट है नहीं। अपने स्वरूप का अज्ञान और दुःख है, वह अनिष्ट है। ऐसी बात है। आहा...हा... !

श्रोता : कुगुरु-सुगुरु का भेद नहीं समझे तो बात समझ में नहीं आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो समझने की योग्यता उपादान की हो तो निमित्त आये बिना रहे नहीं। भगवान विराजते हैं, वहाँ क्यों जन्म नहीं लिया ? अपनी योग्यता से है। अपने उपादान की योग्यता तैयार हो तो निमित्त-केवलज्ञानी तो जगत् में विराजते हैं, वहाँ क्यों नहीं जाये ? आहा...हा... ! समय-समय की अपनी उपादान पर्याय उल्टी या सुलटी हो परन्तु वह अपने से होती है। पर को इष्ट-अनिष्ट मानकर होवे - ऐसा है नहीं।

इसलिए यहाँ परमात्मा कहते हैं कि (केवलज्ञानी को) **सर्व अनिष्टों का नाश हो चुका है...** है ? अनिष्ट कौन ? परपदार्थ नहीं। अपने स्वरूप का अज्ञान अनिष्ट है और अपने स्वरूप से विरुद्ध राग-द्वेष आता है, वह अनिष्ट है। आहा...हा... ! राग-द्वेष और

अज्ञान अनिष्ट हैं और अपना आनन्द और ज्ञान इष्ट है। ऐसा सब फेर... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! है उसमें ? देखो ! **सर्व अनिष्टों का नाश हो चुका है...** आ...हा...हा... ! **और सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो चुकी है।** आ...हा...हा... ! इष्ट क्या (है) ? सम्यक्ज्ञान और आनन्द (इष्ट हैं)। अपना केवलज्ञान और आनन्द इष्ट हैं। (उसकी) प्राप्ति हो गई है। आहा...हा... ! समझ में आया ? अरिहन्त इष्ट है, वह तो व्यवहार से कहने में आता है। इष्टदेव है, वह व्यवहार से है। (बाकी) इष्ट तो अपना ज्ञान और आनन्द इष्ट है, वह भगवान को प्रगट हो गया है। आहा...हा... ! इष्ट प्रगट हुआ है, अनिष्ट का नाश हो गया है। अज्ञान और दुःख का नाश हुआ है, वह अनिष्ट है। कोई चीज अनिष्ट है, (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! बहुत संक्षिप्त में भर दिया है। आहा...हा... ! **सम्पूर्ण इष्ट की प्राप्ति हो चुकी है।**

केवल-अवस्था में, सुखोपलब्धि के विपक्षभूत दुःखों के साधनभूत.... देखो ! यह अनिष्ट (है)। **केवल-अवस्था में, सुखोपलब्धि विपक्षभूत दुःखों के साधनभूत अज्ञान का सम्पूर्णतया नाश हो जाता है...** आहा...हा... ! ये अनिष्ट ! (अर्थात्) **केवल-अवस्था में, सुखोपलब्धि के विपक्षभूत दुःखों के साधनभूत अज्ञान...** देखा ? दुःख और अज्ञान। दुःख का साधन अज्ञान, वह अनिष्ट है। आहा...हा...हा... ! आहार अनुकूल है, मैसूरपाक या रसगुल्ला इष्ट है और जहर अनिष्ट है - ऐसा है ही नहीं। सर्प अनिष्ट है और मक्खन इष्ट है - ऐसा है नहीं। अरे... ! ऐसी बातें... ! वह तो जानने लायक ज्ञेय हैं, अनिष्ट यह (है) - **सुखोपलब्धि के विपक्षभूत दुःखों के साधनभूत अज्ञान का सम्पूर्णतया नाश हो जाता है और सुख का साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान....** देखो ! ज्ञान, सुख का साधन (कहा)। वह **उत्पन्न होता है, इसलिए केवल ही सुख है।** केवल सुख ही है। इष्ट की प्राप्ति हो गई, अनिष्ट का नाश हो गया। आ...हा...हा... ! **अधिक विस्तार से बस होओ।** आचार्य कहते हैं 'अलम्' - विशेष तुमको क्या कहें ? अधिक (विस्तार से) बस हो !

अपने स्वरूप का अज्ञान(रूप) साधन दुःख, वह अनिष्ट है। अपने स्वरूप का साधन ज्ञान और आनन्द सुख है, यह इष्ट है। बाकी कोई इष्ट-अनिष्ट है नहीं।

विशेष कहेंगे...। 1

गाथा - ६२

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति -

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।।६२।।

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम्।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति।।६२।।

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्य-पारमार्थिकी सुखमिति रूढिः। केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाता-भावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम्। न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्याः पश्यन्ति। ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति। ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ।।६२।।

अथ पारमार्थिकसुखं केवलिनामेव, संसारिणां ये मन्यन्ते तेऽभव्या इति निरूपयति - **णो सद्दहंति** नैव श्रद्दधति न मन्यन्ते। किम्। **सोक्खं** निर्विकारपरमाह्लादैकसुखम्। कथंभूतं न मन्यन्ते। **सुहेसु परमं ति** सुखेषु मध्ये तदेव परमसुखम्। केषां संबन्धि यत्सुखम्। **विगदघादीणं** विगतघातिकर्मणां केवलिनाम्। किं कृत्वापि न मन्यन्ते। **सुणिदूण** `जादं सयं समत्तं' इत्यादिपूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण श्रुत्वापि। **ते अभव्वा** ते अभव्याः। **ते हि जीवा** वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुनः सर्वथा। **भव्वा वा तं पडिच्छंति ये** वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्तिपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानीं मन्यन्ते। ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्तया भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्रे श्रद्धानं कुर्युरिति।अयमत्रार्थः :- मारणार्थं तलवरगृहीत-ततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखमिष्टं न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहितः सन्निरुपरागस्वात्मोत्थसुखमलभमानः सन् सराग-सम्यग्दृष्टिरात्मनिन्दादिपरिणतो हेयरूपेण तदनुभवति। ये पुनर्वीतरागमम्यग्दृष्टयः शुद्धोपयोगिनस्तेषां, मत्स्यानां स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव वा, निर्विकारशुद्धात्म-सुखाच्चयवनमपि दुःखं प्रतिभाति। तथा चोक्तम् - ``समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः। स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः''।।६२।।

अब, ऐसी श्रद्धा कराते हैं कि केवलज्ञानियों को ही पारमार्थिक सुख होता है –

'घातिकर्म-विहीन का सुख, परम है, उत्कृष्ट है।'
यह वचन सुनकर जो न श्रद्धे; भव्य नहीं, वो अभव्य है॥

अन्वयार्थ : '[**विगतघातिनां**] जिनके घातिकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका [**सौख्यं**] सुख [**सुखेषु परमं**] (सर्व) सुखों में परम अर्थात् उत्कृष्ट हैं' [**इति श्रुत्वा**] ऐसा वचन सुनकर [**न श्रद्दधति**] जो श्रद्धा नहीं करते [**ते अभव्याः**] वे अभव्य हैं; [**भव्याः वा**] और भव्य [**तत्**] उसे [**प्रतीच्छन्ति**] स्वीकार (आदर) करते हैं – उसकी श्रद्धा करते हैं।

टीका : इस लोक में मोहनीयआदिकर्मजालवालों के स्वभावप्रतिघात के कारण और आकुलता के कारण सुखाभास होने पर भी उस सुखाभास को 'सुख' कहने की अपारमार्थिक रूढ़ि है और जिनके घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं – ऐसे केवलीभगवान के, स्वभावप्रतिघात के अभाव के कारण और अनाकुलता के कारण सुख के यथोक्त कारण[1] का और लक्षण[2] का सद्भाव होने से पारमार्थिक सुख है – ऐसी श्रद्धा करने योग्य है। जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है, वे मोक्षसुख के सुधापान से दूर रहनेवाले अभव्य-मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते (अनुभव करते) हैं; और जो उस वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं, वे शिवश्री के (मोक्षलक्ष्मी के) भाजन-आसन्नभव्य हैं और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूरभव्य हैं।

भावार्थ : 'केवलीभगवान के ही पारमार्थिक सुख हैं' – ऐसा वचन सुनकर जो कभी इसका स्वीकार, आदर, श्रद्धा नहीं करते वे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते; जो उपरोक्त वचन सुनकर अन्तर से उसकी श्रद्धा करते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं, जो वर्तमान में श्रद्धा करते हैं, वे आसन्नभव्य हैं और जो भविष्य में श्रद्धा करेंगे, वे दूरभव्य हैं॥ ६२॥

प्रवचन नं. ६१ **दिनाङ्क ०८ मार्च १९७९**

(प्रवचनसार) ६२ गाथा। **अब, ऐसी श्रद्धा कराते हैं कि केवलज्ञानियों को**

1. सुख का कारण स्वभाव प्रतिघात का अभाव है।
2. सुख का लक्षण अनाकुलता है।

ही पारमार्थिक सुख होता है -

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।।६२।।

नीचे हरिगीत -

'घातिकर्म-विहीन का सुख, परम है, उत्कृष्ट है।'
यह वचन सुनकर जो न श्रद्धे; भव्य नहीं, वो अभव्य है॥

आहा...हा...! **टीका : इस लोक में मोहनीयआदिकर्मजालवालों के स्वभाव-प्रतिघात के कारण....** मोहनीयकर्म आदि की जाल जिसे निमित्तरूप से विघ्न(रूप) है - ऐसे **स्वभावप्रतिघात के कारण....** (अर्थात्) अपना स्वभाव आनन्द है, उसके (घात के कारण)। मोहकर्म के निमित्त से अपनी पर्याय में आकुलता के कारण, इस **आकुलता के कारण सुखाभास...** जो मानता है कि इन्द्रियों में सुख है, वह तो सुखाभास है। सुख का आभास है - दुःख है। आहा...हा...! पाँच इन्द्रियों की ओर के जुड़ाववाला जो मोहभाव है, वह तो आत्मा की शान्ति और सुख का घात करनेवाला है। आहा...हा...!

उस सुखाभास को 'सुख' कहने की अपारमार्थिक रूढ़ि है;.... ये पैसेवाले सुखी हैं, कुटुम्ब-कबीला बहुत है तो सुखी है, पाँच-पचास करोड़ रुपये हो तो सुख का साधन है - ऐसे कहना वह तो अपारमार्थिक बात है - झूठ है। आ...हा...! वह तो मोहनीयकर्म के अधीन आकुलता का कारण है - दुःख का कारण है, उसे सुख कहना (वह तो) अज्ञानी की अनादि की अपारमार्थिक रूढ़ि है। आ...हा...! पैसे-टके(वाले) सुखी है, ऐसा लोग कहते हैं न? राजपाट है, कुटुम्ब अनुकूल है, बाग-बगीचा, महल, मकान (है तो) सुखी है, ऐसा कहते हैं।

(एक मुमुक्षु) कहते थे कि '(हमारे समधी) सुखी हैं!' (लेकिन) सुखी की व्याख्या क्या? यहाँ वही बात कहते हैं कि मोहनीय (कर्मजालवालों के स्वभावप्रतिघात के) कारण इन्द्रिय की आकुलता के सुख को अज्ञानी सुख कहते हैं। आहा...हा...! वह

तो दु:ख है, उसे सुख कहते हैं! वह अपारमार्थिक, झूठी जगत की – अज्ञानी की रूढ़ि है। आ...हा...!

श्रोता : एयर-कन्डीशन में आराम से रहते हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी एयर-कन्डीशन में आराम नहीं। दु:ख है दु:ख! आ...हा...हा...! दु:ख की जाल में उलझ गये हैं। यहाँ कहा न? **मोहनीयआदि-कर्मजालवाला** है। कर्म की जाल (अर्थात्) राग, द्वेष, अज्ञान (की) जाल में उजझ गया है। आहा...हा...!

इस **स्वभावप्रतिघात के कारण....** भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का स्वभाव उसका तो प्रतिघात (अर्थात्) घात करनेवाला यह भाव है। आहा...हा...! **आकुलता के कारण सुखाभास....** दुनिया उसे (सुख कहती है लेकिन वह) सुख का आभास है। जैसे मृगजल दिखता है, (उसमें जल) है नहीं, वैसे ही इन्द्रिय आदि में सुख भासित होता है लेकिन है नहीं। आहा...हा...! अज्ञानी को उसमें सुख भासित होता है। मूढ़ जीवों को स्त्री के विषय में, कीर्ति में, मकान, बड़े महल में, दो-पाँच करोड़ का मकान बनाये, वास्तु करे, कार्यवाहक को बुलाये (तो उसे ऐसा लगता है कि) ओ...हो...! आज तो (बड़ा) महोत्सव हुआ! दु:ख का (महोत्सव) है। आ...हा...हा...! लोक की – दुनिया की दृष्टि विरुद्ध है। भगवान आत्मा में आनन्द है उसकी तो नजर नहीं और बाहर के साधनों में सुखाभास का आनन्द मानते हैं, सुख है नहीं लेकिन अज्ञानी को सुख जैसा आभास होता है। अभी विशेष कहते हैं।

और जिनके घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं.... आहा...हा...! भावघाति (नष्ट हो चुके हैं, अर्थात् कि) ज्ञान की हीनदशा, दर्शन की हीनदशा, वीर्य की हीनदशा... आहा...हा...! इस दशा का नाश होकर जिन को आत्मा का अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द प्रगट हुआ। आ...हा...! **घातिकर्म नष्ट हो चुके हैं, ऐसे केवलीभगवान के, स्वभावप्रतिघात के अभाव के कारण...** (अर्थात्) स्वभाव का घात करनेवाले भाव का अभाव है **और अनाकुलता के कारण...** अनाकुलता – आनन्द.... आनन्द.... आनन्द.... अतीन्द्रिय आनन्द **सुख के यथोक्त कारण का....** (अर्थात्) सुख का यथार्थ कारण (अर्थात्)

'सुख का कारण स्वभाव प्रतिघात का अभाव है।' सुख का कारण स्वभाव प्रतिघात जो दु:ख-इन्द्रिय का दु:ख है, उसका अभाव है। आहा...हा...!

यथोक्त कारण का और लक्षण का.... (लक्षण अर्थात्) 'सुख का लक्षण अनाकुलता है।' (इसका) **सद्भाव होने से पारमार्थिक सुख है....** वास्तव में तो सर्वज्ञ परमात्मा आत्मा होता है, उनको सुख है। **ऐसी श्रद्धा करने योग्य है।** ऐसा परमात्मा कहते हैं। आहा...हा...! ऐसी श्रद्धा करने योग्य है (कि) केवली परमात्मा (को) पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ, (इसलिए) वे सुखी हैं, ऐसी श्रद्धा करने योग्य है। आ...हा...हा...!

जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है.... जिनको ऐसी श्रद्धा नहीं है **वे - मोक्षसुख के सुधापान से दूर रहनेवाले....** आ...हा...हा...! मोक्ष का सुख जो सुधा (अर्थात्) अमृत का पान! मोक्ष का - केवलज्ञान का सुख, अमृत का पान! सुधा अर्थात् अमृत। आ...हा...! अज्ञानी मधुर अमृतपान से दूर है। आहा...हा...! **मोक्षसुख के सुधापान से दूर रहनेवाले अभव्य....** हैं। आहा...हा...! अभव्य अर्थात् सर्वथा अभव्य, ऐसे नहीं परन्तु नालायक है। (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत) टीका में है - **'ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्य-भावादभव्या भण्यन्ते, न पुनः सर्वथा।'** अभव्य जीव नहीं लेना परन्तु अभव्य अर्थात् नालायक है। आहा...हा...! पाठ में तो अभव्य है। उसका अर्थ वह भव्य नहीं - लायक नहीं। आहा...हा...! धर्म के लायक नहीं। पारमार्थिक सुख भगवान को - केवलज्ञानी को ही है। आहा...हा...!

यहाँ 'प्रतापगढ़' का एक आदमी आया था। सुना था? 'प्रतापगढ़' का एक आदमी आया था। (उसने कहा) 'हम तीर्थङ्कर हैं, मुझे केवलज्ञान हुआ है!' एक महीने पहले पत्र भी आया था, फिर आया (और कहने लगा) 'केवली भगवान को चार घातिकर्म का नाश हुआ है, परन्तु चार अघाति बाकी हैं तो उनके पास पैसे नहीं हैं! मेरे भी चार घातिकर्म का नाश हुआ है, केवलज्ञान है परन्तु पैसे नहीं हैं। एक आश्रम बनाओ (तो) हमारे जैसे यहाँ रहें!' (हमने कहा) अरे....! यह (बातें) मिथ्यात्व का भ्रम है। साधारण गरीब इन्सान था। वैसे पागल नहीं था लेकिन मिथ्यात्व का पागलपन बहुत था। भ्रमणा... भ्रमणा... मैं तीर्थङ्कर हूँ! मैं केवलज्ञानी हूँ! चार घातिकर्म का नाश हुआ है। व्याख्यान में बैठा था। एक

घण्ट व्याख्यान सुना, बाद में अन्दर आया (और कहने लगा) 'मैं केवलज्ञानी हूँ, मुझे चार घातिकर्म का नाश हुआ है।' अरे...! मिथ्या भ्रम! महा मिथ्यात्व (है)। कपड़ेसहित मुनिपना नहीं होता, अभी सम्यग्दर्शन क्या है ? – उसका ठिकाना नहीं (तो) केवलज्ञान कहाँ से आया ? वह भी सुने। (हमने कहा) 'मिथ्यात्व का भ्रम है।' (फिर) खड़े होकर ढोक दे! कुछ भान नहीं। वैसे पागल नहीं था, हाँ! पागल नहीं (था), किन्तु मिथ्यात्व का पागल (था)। ऐसी भ्रमणा उसे हो गई। 'प्रतापगढ़' का था। आहा...हा...! (कहता था कि) ''हमारे जैसे (आदमी) के लिये यहाँ आश्रम बनाओ! जो पैसेवाले नहीं हैं, केवली हैं, पैसेवाले नहीं हैं, उसके लिये आश्रम बनाओ! यहाँ ('सोनगढ़' में) इज्जत नहीं हुई तो 'अगास' में इज्जत होगी।'' 'श्रीमद्' का आश्रम है न वहाँ ? वहाँ इज्जत होगी, यहाँ इज्जत नहीं होगी। वहाँ ऐसे कोई मूर्ख है क्या ? आ...हा...हा...! अरे... प्रभु! तुझे अभी सम्यग्दर्शन क्या है उसकी खबर नहीं... आहा... हा...! और (तुझे) केवलज्ञान हुआ! पागलपन में क्या कहता है ?

यहाँ कहते हैं कि जो इन्द्रियाधीन सुख में जो कोई सुख मानते हैं और पारमार्थिक सुख केवलज्ञानी को है – (ऐसा) नहीं मानते हैं, वह अभव्य जीव है, नालायक है। आत्मा का स्वभाव समझने के लिये, वह नालायक है। आ...हा...हा...! भगवान आत्मा! अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु है! आहा...हा...! अन्दर सुधारस – अमृत का पिण्ड प्रभु आत्मा है। अमृतरस से भरा है! आ...हा...हा...! जैसे रसगुल्ला दूध की मिठास से भरा है, वैसे भगवान अन्दर में परमात्मा – स्वयं आत्मा अमृतरस से भरा है.... आ...हा...हा...! उसकी खबर नहीं और इन्द्रियाधीन सुख में सुख मानता है और केवलज्ञानी को परमार्थ सुख है – ऐसा नहीं मानता, (वह) अभव्य है। आ...हा...हा...! नालायक है। भले अरबोंपति हो, राजा हो, चक्रवर्ती हो! आहा...हा...!

श्रोता : वे सब सुखी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी सुखी नहीं हैं, महा दुःखी हैं बेचारे! आहा...हा...! 'ब्रह्मदत्त' जैसा चक्रवर्ती! छह खण्ड का राजा, छियानवे हजार स्त्रियाँ! छियानवे करोड़ सैनिक! ओ...हो...हो...! जिसका भोजन बत्तीस ग्रास का! एक ग्रास की अरबों रुपये की

कीमत! हीरे की भस्म की रोटी बनावे उसे खाये! मूढ़ मानता था कि मैं सुखी हूँ। आहा...हा... ! मरकर नरक में गया। सातवें नरक में गया, हाँ! सातवें नरक में! आ...हा...हा... ! वह दुःख सुने नहीं जायें, भाई! आहा...हा... !

श्रोता : पैसावाला भी सुखी नहीं, बिना पैसावाला भी सुखी नहीं ?

समाधान : कोई सुखी नहीं है, सुखी (तो) आत्मा का आनन्दवाला सुखी है। 'सुखिया जगत में संत, दुरिजन दुखिया।' जिसको आत्मा के आनन्द का भान है, वह सुखी है। भले अपूर्ण सुख है। सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा का भान - ज्ञान हुआ, (वह सुखी है)। 'सुखिया जगत् में सन्त, दुरिजन दुखिया रे... ' पूरी दुनिया दुरिजन है, दुःखी है। आहा...हा... !

अमृत के सागर से अन्दर सागर भरा है! अन्दर अमृत का सागर लबालब भरा है! अतीन्द्रिय आनन्द की अपरिमित-बेहद शक्ति से भरा है। उसमें आनन्द है - ऐसा न माने और इन्द्रियों में आनन्द है, ऐसा माने और केवलज्ञानी को परम परमार्थ पूर्ण सुख है - ऐसा न माने, वह तो अभव्य जीव है। (ऐसा) कहते हैं। अभव्य का अर्थ अभव्य जीव नहीं लेना परन्तु अभव्य अर्थात् नालायक है, ऐसे लेना। समझ में आया ? अभव्य का अर्थ ही यह है - नालायक है। चाहे तो अरबपति हो या एक दिन की कमाई करोड़ों की हो (फिर भी वह नालायक है)।

अभी है कि नहीं, 'ईरान' में ? एक घण्टे की डेढ़ करोड़ की कमाई है! मुसलमान है, अरब... अरब... ! तेल निकला है, (उसे) क्या कहते हैं ? पेट्रोल! देश छोटा है परन्तु कुएँ बहुत निकले हैं तो (उसमें से) पेट्रोल निकला है। एक घण्टे की डेढ़ करोड़ की कमाई! और दूसरा एक देश है, नाम भूल गये, (उसमें) एक दिन की (एक) अरब की कमाई! एक अरब!! मरकर नरक में जायेंगे बेचारे! आ...हा... ! इतना अभिमान (होता है कि) उसकी पाँच लाख, पच्चीस लाख की मोटर हो और उसके लड़के उसमें बैठकर निकले हो (तो) वह ध्यान नहीं रखे, सामने बच्चे हो (या) कोई भी हो उसे कुचलकर मार दे! उसने क्यों ध्यान नहीं रखा ? बादशाह का लड़का निकला है तो तुमने क्यों ध्यान नहीं रखा ? आहा...हा... ! दिमाग फट जाये! मरकर नरक में - एकदम नरक में जायेगा।

उस (नरक के) दु:ख की पीड़ा... भगवान तो ऐसा कहते हैं कि अरे...! नरक के दु:ख की बात करोड़ भव में और करोड़ जीभ से नहीं कह सके, प्रभु! तू सब भूल गया है। ऐसे दु:ख तूने सहन किये हैं। करोड़ भव में और करोड़ जीभ से उस नरक के दु:ख का वर्णन नहीं कर सकते। आहा...हा...! प्रभु! तू उस नरक में अनन्त बार गया है। आहा...हा...! भूल गया... भूल गया...! वर्तमान को देखकर भूल गया। भूल गया, इसलिए नहीं था – ऐसा कैसे कहें, प्रभु? (इस भव में) जन्म लेने के बाद बारह महीने क्या था, इसकी खबर है? इसलिए नहीं था? मालूम नहीं है इसलिए नहीं था? ऐसा कौन कहे? आहा...हा...! इस प्रकार नरक में अनन्त बार दु:ख सहन किये (लेकिन अभी) भूल गया, मालूम नहीं है, इसलिए नहीं था, ऐसा कौन कहे, प्रभु? आ...हा...हा...! तेरे दु:ख तूने इतने सहन किये कि देखनेवाले को रोना आया! ऐसे दु:ख तूने अनन्त बार सहन किये हैं। वह (सहन किये) मिथ्यात्व के कारण, विपरीत श्रद्धा (के कारण)। आहा...हा...! इन्द्रिय में सुख है, राग से धर्म होता है (– ऐसी मान्यता के कारण सहन किये)। आहा... हा...!

श्रोता : राग से (धर्म होगा ऐसा माना) कि पुण्य से धर्म होगा (– ऐसा माना)?

समाधान : राग कहो कि पुण्य कहो (एक ही बात है)। पुण्य से धर्म होता है (–ऐसी मान्यता) मिथ्यात्व है, महापाप है। आ...हा...! (राग) होता है, ज्ञानी को राग आता है परन्तु उसको जानते हैं; अपना है – ऐसा नहीं मानते हैं। देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति का, विनय का राग तो आता है परन्तु (वे) राग को जानते हैं (कि) मेरी चीज नहीं। आहा...हा....! अज्ञानी को तो राग आया (तो ऐसा लगता है कि) यह मेरी चीज है और मैं सुखी हूँ। आहा...हा...!

('प्रतापगढ़' से आदमी आया था तो कहता था कि) 'मैं तीर्थङ्कर हूँ!' देखो! मूर्खता भी (कैसी)! ऐसे (लोग) भी यहाँ आते हैं! यहाँ व्याख्यान सुनने को बैठा था। एक घण्टा सुना (फिर) आहार करने बैठे थे वहाँ आया (और कहने लगा कि) 'मैं केवली हूँ!' अ...र... र...र...! अज्ञानी को भ्रम (हो जाता है)। अरे... भगवान! केवली कहाँ, परमात्मा कहाँ! आहा...हा...!

जिन्हें दिव्यध्वनि इच्छा बिना निकले! इच्छा बिना (निकलती) वाणी के भी कर्ता

नहीं। तीन लोक के नाथ! अनन्त आनन्द का सागर जहाँ उछल गया है! वे सुखी हैं, यह (बात) यहाँ कहते हैं।

आहा...हा...! **ऐसे केवलीभगवान के, स्वभावप्रतिघात के अभाव के कारण और अनाकुलता के कारण सुख के यथोक्त कारण का और लक्षण का सद्भाव होने से...** वास्तव में तो सुख का लक्षण भगवान को प्रगट हुआ है। आ...हा...हा...!

'मैसूर' गये था न? 'मैसूर' न? साढ़े तीन करोड़ का मकान! राजा को निकाल दिया। साढ़े तीन करोड़ का एक मकान! हम देखने को गये थे। 'मैसूर' में! बेचारे दुःखी! सरकार ने निकाल दिया। आ...हा...! यह दुःखी...! मकान छोड़कर कहीं चला गया। उसे तो सरकार ने निकाला। यहाँ तो माल-मिलकत और पैसा (होने पर भी दुःखी हैं)। आहा...हा...! 'सिकन्दर' के पास अरबों रुपये (थे)! (फिर भी) हाथ खुले रखकर चला गया! और ऐसा कहा, 'मेरा बखसिन खानेवाले हकीम मुझे नहीं रख सके तो मेरे मुर्दे को....' आहा...हा...! क्या कहते हैं उसे? 'जनाजा! उसके कन्धे पर उठवाना! बखसिन खाया है, उसके कन्धे पर उठवाना! मरकर नरक में जाये, बेचारा!'

यहाँ तो परमात्मा - 'कुन्दकुन्दाचार्य' ऐसा कहते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा (को) पूर्ण ज्ञान है, वही सुख का साधन है, तो पूर्ण ज्ञान (जिन्हें) हुआ, वही सुखी हैं। ऐसा उसमें सुख है। ऐसा नहीं माने वह अभव्य जीव हैं। आ...हा....हा....! पहले तो आ गया है (कि) श्वेताम्बर भी, भगवान को आहार लेते हैं, आहार मिले तो सुखी होते है - ऐसा मानते हैं - यह विपरीत मान्यता है। आहा...हा...! भगवान को रोग होता है और औषध लेते हैं। औषध (लेते हैं) तो रोग मिट जाता है तो सब मनुष्यों को सन्तोष होता है! अ...रे...रे...!

यहाँ कहते हैं कि परमात्मा को सुख नहीं माने और ऐसा कोई दुःख - आहार लेना और क्षुधा लगे, ऐसा माने वह अभव्य जीव है! आ...हा...हा...! (केवली भगवान को ही पारमार्थिक सुख है) - **ऐसी श्रद्धा करने योग्य है। जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है वे - मोक्षसुख के सुधापान से दूर....** आ...हा...! सम्यग्दर्शन में अमृत का स्वाद - सुख का स्वाद थोड़ा आता है, उससे अनुमान करते हैं कि परमात्मा को पूर्ण सुख है। आहा...हा...! (सम्यग्दृष्टि को) आनन्द का नमूना आ गया। सम्यग्दर्शन में शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु!

पूर्णानन्द के नाथ में–ज्ञायक में एकाग्र होते हैं (तो) ज्ञान सम्यक् होता है, सम्यग्दर्शन होता है और आनन्द का स्वाद आता है। उससे अनुमान करते हैं कि परमात्मा को पूर्ण आनन्द होता है। आहा...हा...! (परमात्मा को) ऐसा पूर्ण आनन्द नहीं माने (वे) अभव्य हैं, आहा...हा...!

(मोक्षसुख के) सुधापान से दूर रहनेवाले अभव्य – मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते (– अनुभव करते) हैं;.... आ...हा...हा...! टीका में तो बहुत लिया है, अन्दर (दृष्टान्त दिया है)। मछली है न मछली? मच्छ! (वह) स्थल में (जमीन पर) आवे तो दुःखी है। मच्छ... मच्छ! तो अग्नि में जाये तो? बहुत दुःखी (होवे)। देखो! इसमें अन्दर है। दृष्टान्त दिया है। है कि नहीं अन्दर? 'जयसेनाचार्यदेव' की टीका में है। **'शुद्धोपयोगिनस्तेषां, मत्स्यानां स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव वा,....'** आहा...हा...! मच्छ को जब जमीन पर लावे तो दुःखी है। ऐसे भगवान आत्मा! आहा...हा...! अशुभभाव में आये, शुभभाव में आये तो दुःखी है! आहा...हा...! जैसे मच्छ को स्थल में लावे तो दुःखी है – इसी प्रकार भगवान आत्मा शुभभाव में आये तो दुःखी है। जैसे (मच्छ) स्थल में आता है वैसे। और मच्छ अग्नि में जाता है, वैसे; आत्मा अशुभभाव में आवे तो अग्नि जैसा दुःख है। आ...हा...हा...! अन्दर पाठ है। (संस्कृत) टीका में है।

मच्छ को कोई पानी में से निकालकर...! आ...हा...हा...! आचार्यों ने तो बहुत करुणा करके बहुत बातें ली हैं! जैसे, मच्छ स्थल में आये तो दुःखी है तो अग्नि में जाये तो कितना दुःख? वैसे ही भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु! शुभभाव में आता है तो दुःखी है – (मच्छ का) स्थल में आने जैसा। (वैसे) अशुभभाव में आना तो अग्नि जैसा दुःख है। आ...हा...हा...! ये पैसे कमाने के काम में, दुकान पर बैठने के अशुभभाव (में) अग्नि जैसा दुःख है! आ...हा...हा...!

श्रोता : अग्नि के धुएँ को अग्नि में दुःख नहीं लगता!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बात (यहाँ लागू नहीं होती)। वह तो उसकी उत्पत्ति का स्थान है। अग्नि में धुआँ उत्पन्न होता है तो अग्नि उसकी योनि है। वह बाहर निकले तो दुःखी है! 'खस' (नाम के गाँव में ऐसा हुआ था)। वहाँ (निम्भाडा अर्थात् आवां –

कुम्हार की भट्ठी से) धुआँ निकला! निम्भाड़ा (यानि) कुम्हार अग्नि करता है न? उसमें (से) धुआँ (निकला)! अग्नि का धुआँ! अग्नि में उत्पन्न हुआ! (अग्नि में से) बाहर निकले तो मर जाये! उसमें अन्दर धुआँ उत्पन्न हुआ। धुआँ उत्पन्न हुआ! अग्नि योनि का! आ...हा...हा...! वह बाहर निकले तो दुःखी है, मर जाये! वहाँ (ऐसा) धुआँ देखा था। लोग कहते थे कि 'वहाँ निम्भाड़ा है, उसमें धुआँ था।' अग्नि की योनि की उत्पत्ति (है)। भगवान भी कहते हैं। धुएँ आदि अग्नि की योनि में भी उत्पन्न होते हैं परन्तु अन्दर में रहते हैं। बाहर निकले तो मर जाये। आहा...हा...! वैसे (अज्ञानी जीव) इन्द्रियाधीन दुःख में रहते हैं, बाहर निकले तो ठीक नहीं लगता! दुःख से निकलता है तो ठीक नहीं लगता!! आ...हा...हा...!

पाँच-दस पुत्र हो, जवान हो, आहा...हा...! और एक-एक पुत्र एक महीने की पाँच-पाँच लाख की कमाई करते हों और उसका विवाह होता है... और पाँच-दस लाख का खर्च होता है तो ओ...हो... हो...! देख लो पागलपन! देखो ये पागल! उसका पागलपन! और उसकी माँ होवे तो इतनी चिल्लाकर बोले कि गला खराब हो जाये! आहा...हा...! गला खराब हो जाये, कुछ तेल का खाया हो, घी का खाया हो और बोलती ही रहे कि ऐसा है.... ऐसा है.... वैसा है....! आ...हा...हा...! वह दुःख की दरिद्रता में पड़े हैं, बेचारे! उसमें सुख माने वह भ्रमणा (है), (वह) अभव्य है। पूरी दुनिया ऐसी है। ऐसी यह बात है। आहा...हा...!

आचार्य महाराज तो पुकार करते हैं, हैं? - **ऐसी श्रद्धा करने योग्य है।** ऐसी श्रद्धा न करे, वह अभव्य है। आ...हा...हा...! तुम आत्मा के धर्म के लायक नहीं, आत्मा का अनुभव करना, उसके लायक तुम नहीं। आहा...हा...! टीका में है - **'ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्यभावादभव्य भण्यन्ते, न पुनः सर्वथा।'** संस्कृत में है। सर्वथा नहीं। सर्वथा अभव्य नहीं माना। ऐसा ('श्री जयसेनाचार्यदेव' की) टीका में है। आहा...हा...! (ऐसे अभव्य जीव) **मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते (- अनुभव करते) हैं;....** मृगजल में पानी देखते हैं। मृगजल में जल नहीं है। सूर्य की किरण और खाली जमीन के कारण जल जैसा दिखता है, वहाँ जल है (- ऐसा दिखता

है)। आहा...हा...! ऐसे (अज्ञानी जीव) इन्द्रिय के सुख में मृगजल की भाँति उसमें (सुख) मानते हैं। आहा...हा...! कठिन काम है, भाई! आ...हा...! पाँच इन्द्रिय में स्पर्श का विषय, रूप का विषय, शब्द का विषय, कोई प्रशंसा करे तो ठीक लगे, निन्दा करे तो ठीक नहीं लगना – ये विषय हैं। वह दुःखी है। आहा...हा...! ऐसे दुःखी जीव **मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते (– अनुभव करते) हैं;....** मृग मृगजल में जल देखता है, वैसे ही अज्ञानी जिसमें सुख नहीं, उसमें सुख मानता है। आहा...हा...! *बहु संकेलवुं पड़े* (अर्थात् सभी विषयों से सुखबुद्धि छोड़ देनी पड़ेगी)। आहा...हा...!

और जो उस वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं.... आ...हा...हा...! भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ही सुखी है। उनको परमानन्द है। आहार नहीं, पानी नहीं, औषध नहीं, रोग नहीं; फिर भी सुखी हैं। आ...हा...हा...! तीर्थङ्कर के आत्मा को जन्म से ही आहार लेते हैं लेकिन निहार नहीं होता। रोग नहीं, भगवान को रोग नहीं (होता)।

यहाँ तो (श्वेताम्बर में) कहते हैं कि भगवान अरहन्त को रोग आया! छह माह झाड़ा... क्या कहते हैं? लोहीखंड जाड़ो! (एक प्रकार का जुलाब)। जुलाब में लहू निकला, रुधिर! (ऐसा) श्वेताम्बर में आता है। यह सब बात कल्पित (हैं)। मिथ्यादृष्टि ने शास्त्र बनाये। आहा...हा...! समझ में आया? और माँस खाते हैं, ऐसा भी उसमें आया है!! पन्द्रहवें शतक में संस्कृत टीका है। हमने तो सब देखा है। (उसमें ऐसा कहा है) भगवान को जब रोग आया तो कुकुड़ का माँस खाया। आहा...हा...! श्वेताम्बर में एक पण्डित थे। वे हमारे पास आये तो हमने कहा, 'उसमें यह क्या लिखा है?' (तो उन्होंने कहा कि) 'वृद्ध की मान्यता है।' अ...र...र...र...! (ऐसा) लिखा है, संस्कृत टीका में है। हमने तो सब देखा है, चिह्न किये हैं। ...सूत्र देखे हैं। भगवान को भी माँस का आहार है! आ...हा...हा...! रोटी का आहार नहीं और उसको माँस का आहार! ऐसे सिद्धान्त में लेख है और टीका में है। 'भगवती' के पन्द्रहवें शतक में (है)। एक स्थानकवासी पण्डित थे उनको कहा 'यह क्या है?' (तो कहा कि) 'यह तो वृद्धों की मान्यता है।' अरे...रे...रे...! ऐसी मान्यता! प्रभु को आहार नहीं होता। अनन्त आनन्द... अनन्त आनन्द के रस में जहाँ अमृत का घोलन है,... उन्हें आहार कहना... उन्हें रोग कहना... आहा...हा...! उन्हें माँस

का आहार.... ! अ...र...र...र... ! सम्यक्दृष्टि को माँस का आहार नहीं होता (तो भगवान को कैसे हो सकता है ?) समझ में आया ? ऐसी लिलावट खाये तो लोग बेचारे क्या करें ? भगवान का कहा हुआ है, ऐसा मानकर (समाधान कर लेते हैं कि) उसे झूठा कैसे कह सकते हैं ?

यहाँ कहते हैं... आ...हा... ! **और जो उस वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं....** आनन्द... परमानन्द ! केवलज्ञानी का ज्ञान ही सुख का साधन है और वे ही सुखी हैं। ऐसी वर्तमान में तत्काल श्रद्धा करते हैं। आहा...हा... ! है ? **उस वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं...** देखो ! वचन कहा ! आगम ! इस आगम को इसी समय तत्काल स्वीकार करते हैं। आ...हा...हा... ! ये आगम ! भगवान की वाणी कहो या आगम कहो ! आहा...हा... ! अरे... ! आदमी को कहाँ पड़ी है ? जहाँ जन्म लिया वहाँ धन्धा-व्यापार करे, उसमें पाँच-पच्चीस लाख कमाये हो तो 'मैं चौड़ा और गली सकड़ी' (अर्थात् अभिमान को जाता है)। आहा...हा... ! अरे...रे... ! भाई ! तुझे कहाँ जाना है ? कहाँ तेरा निवास है ? आहा...हा... !

जो कोई यह बात आगम की वाणी सुनकर... यह भगवान की वाणी है ! आहा...हा... ! **इसी समय स्वीकार करते हैं...** आ...हा...हा... ! अरे... ! पञ्चम काल के प्राणी को आचार्य ऐसा कहते हैं... आ...हा...हा... ! कि परमात्मा को आनन्द है - ऐसा अनुभव में इसी समय स्वीकार करता है तो वह भव्य प्राणी है। आहा...हा... ! है ? **वे शिवश्री के (मोक्षलक्ष्मी के) भाजन-आसन्नभव्य हैं,....** आ...हा...हा... ! इन्द्रिय में सुख नहीं है और अतीन्द्रिय भगवान को सुख है - ऐसा अन्तर में स्वभाव का आश्रय लेकर... आहा...हा... ! श्रद्धा करते हैं, **वे शिवश्री के (मोक्षलक्ष्मी के) भाजन** (अर्थात्) वे मोक्षलक्ष्मी के भाजन हैं। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है। आहा...हा... !

आहा...हा... ! देखो ! **इसी समय स्वीकार करते हैं, श्रद्धा करते हैं, वे शिवश्री के (मोक्षलक्ष्मी के) भाजन-आसन्नभव्य हैं...** आसन्नभव्य अर्थात् उनको मोक्ष समीप है, उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति समीप है। आहा...हा... ! जिसको, केवलज्ञानी परमानन्द सुखी है, दूसरा कोई सुखी नहीं है, ऐसा आत्मा के आनन्द के आश्रय से आनन्द का

अनुभव करता है और प्रतीत करता है, वह भावी में / अल्प काल में मोक्षलक्ष्मी का भाजन है। आहा...हा... ! यह पञ्चम काल के प्राणी को कहते हैं ! यह पञ्चम काल के मुनि हैं ! 'कुन्दकुन्दाचार्य' पञ्चम काल के मुनि हैं, पञ्चम काल के शिष्य को कहते हैं कि इस मोक्ष की लक्ष्मी में, केवलज्ञान में परम आनन्द है – ऐसा यदि इस अवसर में भी स्वीकार कर ले तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा और मोक्ष की लक्ष्मी का भाजन होगा। आ...हा...हा... ! बहुत बढ़िया गाथा है ! आहा...हा... ! मोक्षलक्ष्मी – केवलज्ञान लक्ष्मी का भाजन ! तेरे भाजन में केवलज्ञान आयेगा ! आ...हा...हा... ! आहा...हा... ! तेरी पर्याय में मोक्ष–केवलज्ञान होगा। आ...हा...हा... ! 'परन्तु प्रभु ! इस समय पञ्चम काल में (केवलज्ञान तो) नहीं है न ?' सुन तो सही !

आत्मा का अनन्त... अनन्त... आनन्द ! सुखी तो परमात्मा हैं। (जैसा) आनन्द परमात्मा को है, ऐसा आनन्द आत्मा में है। ऐसी, आत्मा के आनन्द की जो प्रतीति करते हैं, वे अल्प काल में केवलज्ञानलक्ष्मी के भाजन हैं। आ...हा...हा... ! कोलकरार करते हैं। वह अल्प काल में केवलज्ञान लेगा। आ...हा...हा... ! अन्दर केवलज्ञान का भान हुआ (कि) मैं केवलज्ञानस्वरूप हूँ, मैं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसी प्रतीति अनुभव में हुई तो केवलज्ञानी परमात्मा परम सुखी हैं – ऐसी प्रतीति आयी। आहा...हा... ! ऐसी बात है। आहा...हा... !

('समयसार' की) ३८ वीं गाथा में कहा था न ? अप्रतिबुद्ध जीव है, अप्रतिबुद्ध (अर्थात्) अज्ञानी को गुरु ने समझाया, बारम्बार समझकर के सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान हुआ.... अरे... ! चारित्र हुआ वहाँ तक कह दिया ! आ...हा...हा... ! सम्यग्दर्शन, चारित्र को प्राप्त हुआ... आहा...हा... ! वह अल्प काल में परमात्मा होगा। उसके सम्यग्दर्शन, ज्ञान अप्रतिहत है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? पञ्चम काल के प्राणी की बात करते हैं, देखो ! काल उसको कहाँ बाधा करता है ?

भगवान आत्मा ! अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड प्रभु ! उसे पञ्चम काल या चौथा काल कहाँ बाधा करता है ? काल उसमें है ही कहाँ ? आ...हा... ! कालातीत है। ऐसे आत्मा की श्रद्धा (होती है)। परमात्मा के परमानन्द की (श्रद्धा) करता है तो, अपने

आनन्द की श्रद्धा करता है, वही परमात्मा की श्रद्धा कर सकता है, ऐसा कहते हैं। आ...हा...!

इसी समय स्वीकार करते हैं, वे आसन्नभव्य हैं **और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे...** (अर्थात्) अभी नहीं, भविष्य में करेंगे तो **वे दूरभव्य हैं।** भविष्य में करेंगे तो दूरभव्य हैं। नजदीक भव्य नहीं (अर्थात्) दूरभव्य - उसकी लायकात दूर की है। यह करेगा तो भी वह दूरभव्य है और नहीं करेगा तो अभव्य है। आ...हा...हा...!

भावार्थ : 'केवलीभगवान के ही पारमार्थिक सुख है' ऐसा वचन सुनकर.... ओ...हो...हो...! **जो कभी इसका स्वीकार - आदर- श्रद्धा नहीं करते...** आ...हा...हा...! केवलज्ञान, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द (है) ऐसी प्रतीति नहीं करते - श्रद्धा नहीं करते तो **वे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते;....** इसका स्वीकार-आदर-श्रद्धा अभी नहीं करते, वे कभी मोक्ष प्राप्त नहीं करते। **जो उपरोक्त वचन सुनकर....** आहा...हा...! **अन्तरङ्ग से उसकी श्रद्धा करते हैं....** अन्तरङ्ग से! आहा...हा...! भगवान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप! उसका आनन्द का नमूना लेकर आया, उसको पूर्णानन्द के नाथ की श्रद्धा हुई। आहा...हा...! भगवान पूर्णानन्दस्वरूप (हैं)। यह अल्प आनन्द है तो भगवान को पूर्ण आनन्द है - ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन में हुई। आ...हा...हा...!

श्रोता : बारहवें आने तेरहवें (गुणस्थान) में कोई फर्क नहीं रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे सुखी हैं, उसकी अभी बात नहीं है। यह तो पूर्ण सुख-अनन्त सुख (की बात है)। बारहवें (गुणस्थान में) सुख है लेकिन अनन्त सुख नहीं। केवली को अनन्त सुख (है)। आहा...हा...! जिसका स्वभाव आनन्द है, वह स्वभाव प्रगट हो, उसकी मर्यादा क्या?

ओ...हो...हो...! अनन्त...अनन्त... गुण का धाम प्रभु! उस अनन्तानन्त में आनन्द नाम का भी गुण है और यह आनन्द सभी गुणों में व्यापक है। आहा...हा...! आत्मा में इतने अनन्तानन्त गुण हैं, उनमें प्रत्येक गुण में आनन्द का रूप है। आहा...हा...! ऐसे आत्मा की स्वरूपसन्मुख होकर श्रद्धा करते हैं, वे भविष्य में मोक्ष के लायक हैं। अल्प काल में (मोक्ष में जायेगा)। पञ्चम काल का प्राणी भले हो... ओ...हो...हो...!

(केवली भगवान को ही पारमार्थिक सुख है, ऐसी श्रद्धा नहीं करनेवाले) अज्ञानी **मोक्ष प्राप्त नहीं करते; जो उपरोक्त वचन सुनकर अन्तरङ्ग से उसकी श्रद्धा करते हैं....** अन्तरङ्ग में (अर्थात्) आत्मा का, ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभव करके। आहा...हा...! यह **अन्तरङ्ग** (का भाव है)। अन्तर भगवान अनन्त आनन्दस्वरूप, अनन्त ज्ञानस्वरूप, अनादि आनन्द सामान्यस्वरूप, अनादि आनन्द ध्रुवस्वरूप - (ऐसा) जानकर अनुभव में प्रतीति करते हैं, वे अल्प काल में मोक्ष के लायक हैं। आहा...हा...! और जितनी अनुभव के आनन्द की दृष्टि हुई, उतनी तो वर्तमान मुक्ति हुई। आंशिक मुक्ति तो उसी समय हुई। आहा...हा...!

दूज हुई वह पूर्णिमा को लायेगा। दूज उगी! दूज! वैसे ही सम्यग्दर्शन की दूज प्रगट हुई, उसको पूर्णिमा अर्थात् केवलज्ञान होगा ही होगा। आ...हा...हा...! आचार्यों के वचन तो देखो! दिगम्बर सन्तों की वाणी! आ...हा...हा...! 'श्रीमद्' कहते हैं कि 'दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य समझ में आता है। श्वेताम्बर के फीकेपन के कारण रस ठण्डा हो गया, विपरीत हो गया।' (उनके) शब्दों में आता है। उसे ऐसा नहीं कहा है कि पञ्चम काल है, इतनी प्रतिकूलतायें है, निर्धन भी है, साधन कुछ नहीं है, इसलिए तुम नहीं कर पाओगे - ऐसा नहीं (कहा है)। साधन अन्दर में पड़ा है। आ...हा...हा...! राग से पृथक् होकर - आकुलता से पृथक् होकर अनाकुलता का अनुभव करके प्रतीति कर तो अल्प काल में (मोक्ष प्राप्त होगा)। यह सुनकर कर, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! **अन्तरङ्ग से उसकी श्रद्धा करते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।** आहा...हा...!

जो वर्तमान में श्रद्धा करते हैं, वे आसन्नभव्य हैं... (अर्थात्) समीप में मुक्ति को प्राप्त होने के लायक है। **और जो भविष्य में श्रद्धा करेंगे, वे दूरभव्य हैं।** आ...हा...! (इस प्रकार) ६२ (गाथा में) परमात्मा को परमानन्द सुख (है)। एक समय में तीन काल तीन लोक को जाने - ऐसा ज्ञान ही सुख का साधन है (ऐसा कहा)। आ...हा...हा...! यहाँ तो (अज्ञानी मानता है कि) बाहर की सामग्री और बाहर की अनुकूलता सुख का साधन है! (किन्तु) वह सब दुःख के साधन हैं। आहा...हा...! 1

गाथा - ६३

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति -

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु।।६३।।

मनुजासुरामरेन्द्राः अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु।।६३।।

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते। अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्त-मुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते। ततो व्याधि-स्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम्।।६३।।

एवमभेदनयेन केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते इति कथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थलं गतम्। अथ संसारिणामिन्द्रियज्ञानसाधकमिन्द्रियसुखं विचारयति - **मणुआसुरामरिंदा** मनुजासुरागमरेन्द्राः। कथंभूताः। **अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं** अभिद्रुताः कदर्थिताः दुखिताः। कैः। इन्द्रियैः सहजैः। **असहंता तं दुक्खं** तद्दुःखोद्रेकमसहमानाः सन्तः। **रमंत विसएसु रम्मेसु** रमन्ते विषयेषु सम्याभासेषु इति। अथ विस्तरः- मनुजादयो जीवा अमूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखा-स्वादमलभमानाः सन्तः मूर्तेन्द्रियज्ञान-सुखनिमित्तं तन्निमित्तपञ्चेन्द्रियेषु मैत्रीं कुर्वन्ति। ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते। तां तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति। ततो ज्ञायते पञ्चेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति संसारिणां वास्तवं सुखं नास्ति।।६३।।

अब, परोक्षज्ञानवालों के अपारमार्थिक इन्द्रियसुख का विचार करते हैं -

सुर-असुर-नरपति पीड़ित वर्ते सहज इन्द्रियों बड़े।
नव सही सके ते दुःख तेथी रम्य विषयोमां रमे॥

अन्वयार्थ : [मनुजासुरामरेन्द्राः] मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती) असुरेन्द्र और सुरेन्द्र

[सहजैः इन्द्रियैः] स्वाभाविक (परोक्षज्ञानवालों को जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियों से **[अभिद्रुताः]** पीड़ित वर्तते हुए **[तद् दुःखं]** उस दुःख को **[असहमानाः]** सहन न कर सकने से **[रम्येषु विषयेषु]** रम्य विषयों में **[रमन्ते]** रमण करते हैं।

टीका : प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव के कारण परोक्ष ज्ञान का आश्रय लेनेवाले इन प्राणियों को उसकी (परोक्ष ज्ञान की) सामग्रीरूप इन्द्रियों के प्रति निजरस से ही (स्वभाव से ही) मैत्री प्रवर्तती है। अब इन्द्रियों के प्रति मैत्री को प्राप्त उन प्राणियों को, उदय प्राप्त महामोहरूपी कालाग्नि ने ग्रास बना लिया है, इसलिए तप्त लोहे के गोले की भाँति (जैसे गरम किया हुआ लोहे का गोला पानी को शीघ्र ही सोख लेता है) अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई है; उस दुःख के वेग को सहन न कर सकने से उन्हें व्याधि के प्रतिकार के समान (रोग में थोड़ा-सा आराम जैसा अनुभव करानेवाले उपचार के समान) रम्य विषयों में रति उत्पन्न होती है। इसलिए इन्द्रियाँ व्याधि समान होने से और विषय व्याधि के प्रतिकार समान होने से छद्मस्थों के पारमार्थिक सुख नहीं है॥ ६३॥

प्रवचन नं. ६१ का शेष **दिनाङ्क ०८ मार्च १९७९**

अब, परोक्षज्ञानवालों के अपारमार्थिक इन्द्रिय सुख का विचार करते हैं - अब (जो) परोक्ष ज्ञानवाला है, प्रत्यक्ष केवलज्ञान नहीं है - ऐसा अज्ञानी का अपारमार्थिक इन्द्रियसुख का विचार करते हैं। आहा...हा...!

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु।। ६३।।

सुर-असुर-नरपति पीड़ित वर्ते सहज इन्द्रियों बड़े।
नव सही सके ते दुःख तेथी रम्य विषयोमां रमे॥

आ...हा...हा....! है न टीका? **प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव के कारण परोक्ष ज्ञान का आश्रय लेनेवाले...** आहा...हा...! इन्द्रिय के ज्ञान का आश्रय लेनेवाले **प्राणियों को उसकी (परोक्ष ज्ञान की) सामग्रीरूप इन्द्रियों के प्रति....** आ...हा...हा...! परोक्षज्ञान

की सामग्री (रूप) इन्द्रियाँ जानने में निमित्त (हैं)। आहा...हा...! (अज्ञानी को उन इन्द्रियों के प्रति) **निजरस से ही (स्वभाव से ही) मैत्री प्रवर्तती है।...** क्योंकि (उसे ऐसा लगता है कि) मेरा ज्ञान तो इन्द्रियाँ है तो होता है, तो जड़ इन्द्रियों के प्रति उसकी मैत्री वर्तती है। आहा...हा...! जड़ इन्द्रियाँ ऐसे रखुँ, ऐसे बनाऊँ तो मुझे विशेष सुख मिलेगा। आ...हा...हा...! है?

अज्ञानी को **(परोक्ष ज्ञान की) सामग्रीरूप इन्द्रियों के प्रति निजरस से ही (स्वभाव से ही) मैत्री प्रवर्तती है।...** आहा...हा...! ये पाँच इन्द्रियों के प्रति मैत्री प्रवर्तती है। (वह इस प्रकार कि) पाँच इन्द्रियाँ ठीक रहे तो मैं ज्ञान कर सकता हूँ। आहा...हा...! इन्द्रियों को – द्रव्येन्द्रियों को – जड़ को अनुकूल रखने के अभिप्राय से, ऐसा खाना, ऐसा पीना, ऐसी दवाई लेना (आदि चेष्टाएँ अज्ञानी करता है)। पाँच इन्द्रियाँ अनुकूल होगी तो मुझे सुख होगा, ऐसा परोक्षज्ञान(वाले) अज्ञानी मानते हैं। आ...हा...हा...! बहुत बातें हैं, भाई!

अब इन्द्रियों के प्रति मैत्री को प्राप्त.... आ...हा...हा...! ये पाँच जड़ इन्द्रियाँ हैं उनके प्रति मैत्री को प्राप्त जीव। **उन प्राणियों को, उदय प्राप्त महामोहरूपी कालाग्नि ने ग्रास बना लिया है,....** अरे...रे...! इन जड़ इन्द्रियों पर जिनको प्रीति है, उन प्राणियों को उदय प्राप्त मोह (अर्थात्) मिथ्यात्व का उदय है, (वह) कालाग्नि से ग्रास (अर्थात्) मोहरूपी कालाग्नि से ग्रसित हो गया है। आहा...हा...! मिथ्यात्वभाव ने तो आत्मा को ग्रास बना लिया है – दृष्टि में आत्मा का नाश कर दिया है।

इन्द्रियों के प्रति मैत्री को प्राप्त उन प्राणियों को, उदय प्राप्त महामोहरूपी... मिथ्यात्वरूपी **कालाग्नि ने...** कालरूपी अग्नि ने ग्रास बना लिया है। आहा...हा...! मिथ्यात्व की भ्रान्ति में आत्मा का नाश कर दिया है। आहा...हा...! इन्द्रियों के सुख में लम्पटी (व्यभिचारी), इन्द्रियों के प्रति की मैत्रीवाला... आहा...हा...! परोक्षज्ञानवाले को मिथ्यात्व ने ग्रास बना लिया है। पूरे आत्मा को ग्रास कर लिया है। महाप्रभु आत्मा– अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ! उसको इन्द्रियों की प्रीतिवाले मिथ्यादृष्टि ने ग्रास बना लिया है – नाश कर दिया है। आ...हा...हा...! भारी कठिन काम....!

इसलिए तप्त लोहे के गोले की भाँति.... लोहे का गोला अग्नि से तप्त हुआ न? (उसकी बात करते हैं)। **(जैसे गरम किया हुआ लोहे का गोला पानी को शीघ्र ही सोख लेता है)** पानी डालो तो शीघ्र ही सूख (जाता है)। (ऐसे तप्त लोहे के गोले की भाँति अज्ञानी को) **अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई है;...** अज्ञानी को इन्द्रियों की मैत्री में ऐसी अत्यन्त तृष्णा उत्पन्न हुई। आहा...हा...! **उस दुःख के वेग को सहन न कर सकने से...** इन्द्रिय के प्रेम में उसे दुःख हुआ (लेकिन) दुःख की उसे खबर नहीं (और) उसके प्रेम में अपने को नाश करके **दुःख के वेग को सहन न कर सकने से उन्हें व्याधि के प्रतिकार के समान....** जैसे रोग हो और दवाई लेता है, ऐसे **व्याधि के प्रतिकार के समान....** दुःख का वेग आता है, (उसे) सहन न कर सकने से इन्द्रिय के विषय में झुक जाता है। आहा...हा...! है (पाठ में)?

व्याधि के प्रतिकार के समान (रोग में थोड़ा-सा आराम जैसा अनुभव करानेवाले उपचार के समान) रम्य विषयों में रति उत्पन्न होती है। आ...हा...हा...! उसे जड़ इन्द्रियों की ओर की मैत्री में रम्य विषयों में रति अर्थात् प्रेम उत्पन्न होता है। आ...हा...हा...! भारी बात! अतीन्द्रिय भगवान आत्मा! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर! उसका अनादर करके परोक्षज्ञानी (परोक्षज्ञानवाला) इन्द्रिय से ज्ञान होता है (ऐसा मानता है) तो इन्द्रियों के प्रति मैत्री (करके) रोग के समान विषय में रमता है। आ...हा...हा...! है?

इसलिए इन्द्रियाँ व्याधि समान होने से... ये इन्द्रियाँ – पाँच जड़ इन्द्रियाँ व्याधि है – रोग है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! **और विषय व्याधि के प्रतिकार समान....** है। इन्द्रियाँ व्याधि समान हैं और उनके विषय (में) रमणता करना, यह व्याधि का प्रतिकार अर्थात् उसका उपाय **होने से छद्मस्थों के पारमार्थिक सुख नहीं है।** आहा...हा...! छद्मस्थ को – अज्ञानी को परमार्थ सुख है नहीं। वह अज्ञान के कारण (सुख) मानता है। यह ६३ (गाथा) कही, ६४ गाथा में विशेष कहेंगे।]

गाथा - ६४

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेवं वितर्कयति -

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।। ६४।।

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम्।। ६४।।

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम् ; किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशान्तशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव, विनष्टकर्णशूलस्य वस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपन-दानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासो। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ।।६४।।

अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दुःखमेवेति कथयति - **जेसिं विसयेसु रदी** येषां निर्विषयातीन्द्रिय-परमात्मस्वरूपविपरीतेषु विषयेषु रतिः **तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं तेषां** बहिर्मुखजीवानां निजशुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्ननिरुपाधिपारमार्थिकसुखविपरीतं स्वभावेनैव दुःखमस्तीति विजानीहि। कस्मादिति चेत्। पञ्चेन्द्रियविषयेषु रतेरवलोकनात्। **जइ तं ण हि सब्भावं** यदि तद्दुःखं स्वभावेन नास्ति हि स्फुटं **वावारो णत्थि विसयत्थं** तर्हि विषयार्थं व्यापारो नास्ति न घटते। व्याधिस्थानामौषधेष्विव विषयार्थं व्यापारो दृश्यते चेत्तत एव ज्ञायते दुःखमस्तीत्यभिप्रायः।।६४।।

अब, जहाँ तक इन्द्रियाँ हैं, वहाँ तक स्वभाव से ही दुःख है, ऐसा न्याय से निश्चित करते हैं –

जो विषयों में हैं रत उनको, दु:ख स्वाभाविक जानना।
यदि दु:ख न हो स्वभाव से, तो विषयों में व्यापार ना॥

अन्वयार्थ : [येषां] जिन्हें **[विषयेषु रतिः]** विषयों में रति है, **[तेषां]** उन्हें **[दु:खं]** दु:ख **[स्वाभावं]** स्वाभाविक **[विजानीहि]** जानो; **[हि]** क्योंकि **[यदि]** यदि **[तद्]** वह दु:ख **[स्वभावं न]** स्वभाव न हो तो **[विषयार्थं]** विषयार्थ में **[व्यापारः]** व्यापार **[न अस्ति]** न हो।

टीका : जिनकी हत (निकृष्ट, निंद्य) इन्द्रियाँ जीवित (विद्यमान) हैं, उन्हें उपाधि के कारण (बाह्य संयोगों के कारण, औपाधिक) दु:ख नहीं है किन्तु स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनकी विषयों में रति देखी जाती है। जैसे, हाथी हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीर-स्पर्श की ओर, मछली बंसी में फँसे हुए माँस के स्वाद की ओर, भ्रमर बन्द हो जानेवाले कमल की गन्ध की ओर, पतङ्गा दीपक की ज्योति के रूप की ओर और हिरन शिकारी के सङ्गीत के स्वर की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं। उसी प्रकार दुर्निवार इन्द्रियवेदना के वशीभूत होते हुए वे यद्यपि विषयों का नाश अति निकट है (अर्थात् विषय क्षणिक हैं) तथापि, विषयों की ओर दौड़ते दिखाई देते हैं और यदि 'उनका दु:ख स्वाभाविक है' - ऐसा स्वीकार न किया जाये तो जैसे जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है, वह पसीना आने के लिये उपचार करता तथा जिसका दाह्यज्वर उतर गया है, वह काँजी से शरीर के ताप को उतारता तथा जिसकी आँखों का दु:ख दूर हो गया है, वह वटाचूर्ण (शंख इत्यादि का चूर्ण) आँजता तथा जिसका कर्णशूल नष्ट हो गया हो वह कान में फिर बकरे का मूत्र डालता दिखाई नहीं देता और जिसका घाव भर जाता है, वह फिर लेप करता दिखाई नहीं देता - इसी प्रकार उनके विषय व्यापार देखने में नहीं आना चाहिए; किन्तु उनके वह (विषयप्रवृत्ति) तो देखी जाती है। इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं - ऐसे परोक्षज्ञानियों के दु:ख स्वाभाविक ही हैं।

भावार्थ : परोक्षज्ञानियों के स्वभाव से ही दु:ख है, क्योंकि उनके विषयों में रति वर्तती है; कभी-कभी तो वे, असह्य तृष्णा की दाह से (तीव्र इच्छारूपी दु:ख के कारण) मरने तक की परवाह न करके क्षणिक इन्द्रियविषयों में कूद पड़ते हैं। यदि उन्हें स्वभाव

से ही दु:ख न हो तो विषयों में रति ही न होनी चाहिए। जिसके शरीर का दाह-दु:ख नष्ट हो गया हो, वह बाह्य शीतोपचार में रति क्यों करेगा ? इससे सिद्ध हुआ कि परोक्षज्ञानियों के दु:ख स्वाभाविक ही है ॥ ६४ ॥

प्रवचन नं. ६२ **दिनाङ्क ०९ मार्च १९७९**

'प्रवचनसार' ६४ गाथा। **अब, जहाँ तक इन्द्रियाँ हैं....** अर्थात् जहाँ तक इन्द्रिय सम्बन्धी व्यापार है, **वहाँ तक स्वभाव से ही दु:ख है,....** आहा...हा... ! ये इन्द्रियों की ओर का व्यापार है, वह स्वाभाविक दु:ख है। आहा...हा... ! **ऐसा न्याय से निश्चित करते हैं** - ऐसा न्याय बताकर निर्णय करते हैं।

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।। ६४।।

नीचे हरिगीत -

जो विषयों में हैं रत उनको, दु:ख स्वाभाविक जानना।
यदि दु:ख न हो स्वभाव से, तो विषयों में व्यापार ना॥

आचार्य महाराज ऐसा बताते हैं कि ये इन्द्रियाँ हैं - भाव इन्द्रिय और जड़ इन्द्रिय की ओर का जो व्यापार है, वह दु:ख है। दु:खी प्राणी दु:ख का वेदन करते हैं। स्वाभाविक दु:ख है। आहा...हा... ! क्योंकि अनिन्द्रिय भगवान आत्मा ! उसके अतीन्द्रिय सुख की तो खबर नहीं (है)। आ...हा... ! अज्ञानी को तो इन्द्रिय व्यापार में रति होती है, वह दु:ख है। आहा...हा... ! यह कहते हैं।

टीका : जिनकी हत... हत अर्थात् **(निकृष्ट, निन्द्य) इन्द्रियाँ...** हैं। आहा...हा... ! इन्द्रियाँ निन्द्य नहीं (लेकिन) इन्द्रियों का व्यापार (निन्द्य है)। इन्द्रियाँ तो भगवान को भी होती हैं परन्तु उनको अन्दर अनिन्द्रिय का व्यापार - केवलज्ञान का व्यापार है। आहा...हा... ! यह इन्द्रिय जड़-मिट्टी (है)। यह पाँच इन्द्रियाँ शरीर के परिणाम हैं। पाँचों इन्द्रियाँ तो शरीर के परिणाम हैं। ये हत (नाम) निन्द्य इन्द्रियाँ हैं। आहा...हा... !

इन्द्रियाँ जीवित.... जिसको इन्द्रियों में रति है, उसको इन्द्रियाँ जीवित हैं। आहा...हा... ! ये पाँच जड़ इन्द्रियों में जिसको प्रेम है, उसकी इन्द्रियाँ जीवित हैं। आहा...हा... ! **उन्हें उपाधि के कारण (बाह्य संयोगों के कारण, औपाधिक) दुःख नहीं है....** संयोग के कारण दुःख नहीं (है)। निर्धनता हो, रोग हो या प्रतिकूल संयोग हो उसे दुःख नहीं। दुःख तो इन्द्रियों की ओर के व्यापार में प्रेम है, यह स्वाभाविक दुःख है। आहा...हा... ! उसमें अज्ञानी सुख मानते हैं तो वे मिथ्यात्व का पोषण करते हैं।

इन्द्रियाँ जीवित (विद्यमान) हैं,.... आहा...हा... ! धर्मीजीव की दृष्टि आत्मा पर है, इस कारण से उनकी इन्द्रियाँ मर गई हैं। आहा...हा... ! उन्होंने इन्द्रियाँ जीत ली हैं। आया न (समयसार की) ३१ गाथा में ? जड़ इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय और उसके विषय के प्रति जिसे प्रेम है, वह स्वाभाविक दुःखी है क्योंकि **उन्हें उपाधि के कारण (बाह्य संयोगों के कारण, औपाधिक) दुःख नहीं है...** (अर्थात्) प्रतिकूल संयोग के कारण से दुःख नहीं, **किन्तु स्वाभाविक ही है,....** पाँच इन्द्रियों की ओर का प्रेम है, वह स्वाभाविक दुःख है। आहा...हा... ! यह बात... !

श्रोता : खा-पीकर सुखी हो उसमें क्या हुआ ?

समाधान : खाना-पीना माने क्या ? यह तो कहते हैं कि संयोग से कोई सुख-दुःख है नहीं। जिसकी इन्द्रिय की ओर के प्रेम में रति है, वह दुःखी है। संयोग अनुकूल हो या प्रतिकूल हो, वह कोई दुःख का कारण नहीं है, वह सुख का कारण नहीं है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भाई !

भगवान आत्मा ! भाव इन्द्रिय और जड़ इन्द्रिय से भिन्न (है)। ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव (जड़ इन्द्रिय से) से भिन्न-अधिक / भिन्न है। आहा...हा... ! उसका जिसको भान नहीं, वह इन्द्रिय के प्रेम में पड़ा है, वह दुःखी है। आहा...हा... ! किन्तु संयोग से दुःख नहीं है, ऐसा कहते हैं। आ...हा... ! प्रतिकूल संयोग आया, इसलिए दुःख है, ऐसा नहीं है। इन्द्रिय के व्यापार की ओर का प्रेम है, वही दुःख है, बस ! आहा...हा... ! यह बात... !

क्योंकि उनकी विषयों में रति देखी जाती है। आहा...हा... ! स्पर्श इन्द्रिय में

प्रेम, चक्षु इन्द्रिय में – रूप देखने में प्रेम, सुँघने में प्रेम, स्वभाव सुनने में प्रेम... आहा...हा... ! रसना इन्द्रिय में प्रेम, यह पर का प्रेम है, यही दु:ख है। आहा...हा... !

श्रोता : सुनने का भी दु:ख है ?

समाधान : सुनने में इन्द्रिय की ओर लक्ष्य रखे और राग (आये), वह दु:ख है। आ...हा... ! सुनने के प्रति प्रेम है – राग (है), यह दु:ख है।

श्रोता : राग तो अच्छे के लिये ही है !

पूज्य गुरुदेवश्री : (राग) अच्छा है नहीं। आ...हा... ! परद्रव्य की ओर का झुकाव है, यही दु:ख है। आहा...हा... !

श्रोता : शून्य हो जाओ !

पूज्य गुरुदेवश्री : पर से तो शून्य ही हो जाओ ! स्व से जागृत हो जाओ ! आहा...हा... ! जगत को धर्म समझना बहुत कठिन ! (उसके पास) पैसे हो, स्त्री ठीक हो, पुत्र-पुत्री ठीक हो, पैसेवाले हो तो बस... ! हम सुखी हैं ! (ऐसा मानता है वह) मूढ़ है !

श्रोता : सब लोग कहते हैं (सुखी है) !

पूज्य गुरुदेवश्री : सब पागल हैं ! आहा...हा... ! वह (बात) तो कही थी न ? (एक मुमुक्षु कहते थे कि) 'हमारे रिश्तेदार सुखी हैं !' मैंने पूछा 'सुखी की व्याख्या क्या है ?' ये पैसे, स्त्री-पुत्र, मकान सुख का कारण है ? उस ओर का – विषय की ओर का प्रेम है, यही दु:ख है। आहा...हा... ! प्रतिकूल संयोग दु:ख नहीं, अनुकूल संयोग सुख नहीं। अनुकूल संयोग की ओर का प्रेम है, यह दु:ख है और प्रतिकूल संयोग की ओर का द्वेष है, यह दु:ख है।

इन्द्रिय की ओर के प्रेम में जो राग आया... आहा... हा... ! पाठ ही ऐसा है न ? देखो ! **उनकी विषयों में रति देखी जाती है** – ऐसा लिखा है ! अज्ञानी को विषय में प्रेम है। आ...हा...हा... ! शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श – ये पाँच इन्द्रिय का विषय है, उसमें जिसको प्रेम है – रति है, वह स्वाभाविक दु:खी है। आ...हा...हा... ! यह बात बैठनी (कठिन पड़े) ! पर्याय में उसका दु:ख ही स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। (मूल) स्वभाव तो

आनन्द है परन्तु पर में रति... आ...हा...हा... ! पर इन्द्रियाँ जो परद्रव्य हैं – जड़ हैं, अरे... ! भाव इन्द्रियाँ हैं, उसके विषय में रति और प्रेम है, वह स्वाभाविक दु:खी है। संयोग के कारण से दु:ख नहीं। आ...हा... ! गले उतरना कठिन है ! आहा...हा... ! है ? **उनकी विषयों में रति देखी जाती है।**

अब दृष्टान्त देते हैं। कैसी (रति देखी जाती है ?) **जैसे – हाथी, हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीर-स्पर्श की ओर,....** हाथी है वह, हथिनी (होती) है न, हथिनी ? उसके **कुट्टनी के शरीर-स्पर्श की ओर,...** (अर्थात्) उसके शरीर-स्पर्श की ओर झुकता है। बड़ा हाथी होता है, (वह) हथिनी के शरीर के स्पर्श के लिये झुकता है, वह तो राग – दु:ख है। आहा...हा... ! यहाँ तो पाँच इन्द्रिय का दृष्टान्त देते हैं। आहा...हा... ! **हाथी हथिनीरूपी कुट्टनी के...** आहा...हा... ! **शरीर-स्पर्श की ओर...** आहा...हा... ! है ? आहा... हा... !

मछली बंसी में फँसे हुए माँस के स्वाद की ओर,.... मछली बंसी में... क्या कहते हैं ? काँटा ! काँटा ! उसमें माँस लगाते हैं न ? माँस ! मछली माँस खाने को जाती है तो काँटा दाढ़ में लगता है (और) उसे खींच लेते हैं। **मछली बंसी में फँसे हुए माँस के स्वाद की ओर,...** आहा...हा... ! बाँस की लकड़ी हो या लोहे की (हो), उसमें माँस रखकर... अरे... ! रोटी रखे, उसके स्वाद में (उसे खाने) जाये। आहा...हा... ! (तो उसके) मुँह में (काँटा) घुस जाता है ! सुख के लिये जाती थी, (लेकिन) दु:ख है ! आहा...हा... ! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सुखस्वरूप (है), उससे विपरीत इन्द्रिय के विषय दु:खरूप (है)। आहा...हा... !

(शादी-विवाह में ३०० आदमियों को जिमाये तो) प्रसन्न... प्रसन्न... सुखी... ! (हो जाता है)। आहा...हा... ! (लेकिन वह) रसेन्द्रिय के विषय में गृद्धि (है) ! ३५ रुपये की थाली ! क्या होगा उसमें ? पहले तो एक वक्त (जिमाने का) तीन आने का खर्च था। (कोई बाई) विधवा होवे तो ५०० रुपये (ब्याज पर रखे)। एक महीने का ब्याज २.५० रुपया था तो इतना बस था। ६०-७० (वर्ष) पहले ! बाई विधवा हो जाये तो उसके मायकेवालों की ओर से ५०० रुपये रखे तो ५०० रुपये का ब्याज २.५० रुपया था। २.५० रुपये में रोटी, दाल, भात, सब्जी खा (लेते थे) ! आहा...हा... ! अभी तो एक-एक रुपये

की सब्जी! लौकी, करेला... फलाना...! आ...हा...हा...! यह इन्द्रिय की गृद्धि (है)। उसमें आईसक्रीम हो!

(यहाँ) कहते हैं कि मछली माँस के स्वाद की ओर झुकती है। **भ्रमर...** भौंरा! भौंरा! **बन्द हो जानेवाले कमल की गन्ध की ओर,....** कमल है, उसमें गन्ध लेने को जाता है, उतने में (कमल) बन्द हो जाता है (तो) अन्दर में मर (जाता है)। कमल खिला हो, उसमें सुगन्ध लेने को जाता है, अन्दर बैठता है उतने में कमल बन्द हो जाता है। आहा...हा...! वह दुःखी है। पाँच इन्द्रिय के दृष्टान्त दिये हैं। आहा...हा...!

पतङ्गा दीपक की ज्योति के रूप की ओर... दीपक की ज्योति-प्रकाश आया तो (पतङ्गा उसे देखकर) अन्दर गिरता है। प्रकाश में गिरता है तो (जल जाता है)। **...पतङ्गा दीपक की ज्योति के रूप की ओर...** झुकने से **और हिरन शिकारी के सङ्गीत के स्वर की ओर...** आ...हा...हा...! हिरन है वह सङ्गीत-स्वर, वीणा होती है, उस स्वर की गृद्धि में खड़ा रह जाता है (तो) शिकारी तीर मारकर मार डालता है। आहा...हा...! है? **हिरन शिकारी के सङ्गीत के स्वर की ओर...** शिकारी सङ्गीत का स्वर-वीणा बजाये, उसे सुनने को आगे झुक जाता है। आहा...हा...! एक-एक इन्द्रिय के विषय में गृद्धि (है) तो दुःखी (है), तो (जिसे) पाँचों इन्द्रियों के विषय में गृद्धि (है, वे कितने दुःखी होंगे?) आ...हा...हा...! **सङ्गीत के स्वर की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं...** हिरन! हिरन!

उसी प्रकार - दुर्निवार इन्द्रिय वेदना के वशीभूत होते हुए... आ...हा...! इन्द्रिय की वेदना के वशीभूत, दुर्निवार (अर्थात्) निवारण नहीं कर सके ऐसा। **यद्यपि विषयों का नाश अति निकट है...** विषय तो अनित्य है, क्षण में नाश हो जाते हैं। आहा...हा...! इन्द्रियाँ भी नाशवान् हैं और उसका विषय भी नाशवान है, क्षण में नाश हो जाता है। अति निकट...! **यद्यपि विषयों का नाश अति निकट है...** आ...हा...हा...! **(अर्थात् विषय क्षणिक हैं,) तथापि विषयों की ओर दौड़ते दिखाई देते हैं।** आहा...हा...!

और यदि 'उनका दुःख स्वाभाविक है' ऐसा स्वीकार न किया जाये... (अर्थात्) इन्द्रियों के प्रेम में स्वाभाविक दुःख है - ऐसा स्वीकार न किया जाये **तो जैसे-**

जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है,.... क्या कहते हैं ? शीत ज्वर / सर्दी का बुखार ! **वह पसीना आने के लिये उपचार करता...** नहीं (दिखाई देता)। सर्दी के बुखारवाला पसीना आने के बाद गरमी का उपचार (करेगा) ? आहा...हा... ! (उसका तो) **शीतज्वर उपशान्त हो गया है,...** सर्दी का बुखार उपशान्त हो गया। बाद में कपड़े ढकता है ? अग्नि की गर्मी लेता है ? **वह पसीना आने के लिये उपचार करता...** नहीं दिखाई देता - ऐसा कहते हैं। आहा... हा... !

तथा जिसका दाह्यज्वर उतर गया है... अर्थात् गरम बुखार ! गरम बुखार ! गरम बुखार आये - एकदम गर्मी... गर्मी... (लगे), **वह काँजी से शरीर के ताप को उतारता...** नहीं दिखाई देता। ठण्डे पानी का (उपचार करता) नहीं दिखाई देता। आहा...हा... !

तथा जिसकी आँखों का दुःख दूर हो गया है, वह वटाचूर्ण (शंख इत्यादि का चूर्ण) आँजता.... नहीं दिखाई देता। आँख का दुःख दूर हो गया, वह चूर्ण आँजता है ? नहीं दिखता है। दुःखी है तो (आँजता हुआ) दिखाई देता है। आहा...हा... !

तथा जिसका कर्णशूल नष्ट हो गया... (अर्थात्) कान में दर्द होता है न ? **वह कान में फिर बकरे का मूत्र डालता दिखाई नहीं देता...** कान में बहुत (दर्द) होता है न ? तो बकरे का पेशाब (मूत्र) डालते हैं। कान में बहुत पीड़ा हो, तब (डालते हैं) परन्तु वह पीड़ा नहीं हो तो वह बकरे का मूत्र नहीं डालता। आहा...हा... !

और जिसका घाव भर जाता है, वह फिर लेप करता दिखाई नहीं देता... घाव बराबर हो गया तो फिर लेप करता है ? आहा...हा... ! ऐसे जिसको विषय की वासना नहीं है, वह विषय का सेवन करता है ? वासना है, वह विषय का सेवन करता है। आ...हा...हा... ! है ? **वह फिर लेप करता दिखाई नहीं देता... - इसी प्रकार उनके विषय व्यापार देखने में नहीं आना चाहिये; किन्तु उनके वह (विषय प्रवृत्ति) तो देखी जाती है।** आ...हा...हा... ! अभी तो जवान लड़के को (खाने में) अण्डे देते हैं ! आ...हा...हा... ! प्रवृत्ति बहुत बदल गई ! और विवाह प्रसङ्ग में रात्रि को नौ बजे, साढ़े नौ बजे, दस बजे भोजन करे ! आ...हा...हा... ! वैसे 'जैन' कहे जाते हों ! शास्त्र में बहुत टीका की है। विवाह के बाद नौ बजे-दस बजे भोजन करें ! आ...हा...हा... ! पतंगे कढ़ी में,

खिचड़ी में, सब्जी में गिरें ! आहा...हा... ! ऐसा भोजन (करते हैं) ! बिजली के प्रकाश में बहुत होते हैं, दिखाई नहीं दे, ऐसे सूक्ष्म होते हैं।

'पालेज' में थे, तब तो कहते थे न ? व्यापार-धन्धा बड़ा (था) ! माल लेने को बाहर जाते थे, तो हम रात्रि को नहीं खाते हैं। एक बार खाकर बैठे थे तो वहाँ बहुत पतंगे दिखे आ...हा...हा... !

श्रोता : उस समय में बिजली के दीपक नहीं थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय वहाँ भी बत्ती खिंची थी, उसमें क्या हुआ ? बिजली के दीपक में तो ज्यादा सूक्ष्म पतंगे अधिक आते हैं। (वे) खिचड़ी, कढ़ी, सब्जी में गिरते हैं (उसे खाना) ! (वह तो) माँस का भोजन (है) ! आहा...हा... ! वास्तव में तो जैन नामधारी को रात्रि का भोजन नहीं (होना) चाहिए। आहा...हा... !

श्रोता : आज तो ऐसे नहीं रह सकते।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं रह सके, ऐसा कहाँ है ? हम व्यापार करते थे, तब बाहर जाते थे परन्तु सूर्य अस्त (होने से) पहले खा लेते थे। बाद में बिलकुल नहीं। आ...हा... ! वीशी (भोजनालय) में भी जाते थे परन्तु (सूर्य) अस्त (होने से) पहले (खा लेते थे)। फिर रात्रि में नहीं खायेंगे। चाहे तो पानी हो, चाय हो या दूध हो, कोई चीज नहीं। औषध नहीं, कोई चीज नहीं। आहा...हा... ! (ऐसा संवत्) ६५ की साल से है - रात्रि में आहार-पानी बिलकुल नहीं। ऐसा भोजन ? बनिये को माँस का भोजन ? लेकिन दुनिया को कहाँ दरकार है ? (कहाँ) पड़ी है ? बाहर के विषय की गृद्धि ! दिन में काम करना, रात्रि में निवृत्ति मिले, नौकरी ऐसी हो ! अरे... रे... ! ऐसे भोजन में जिसमें सूक्ष्म पतंगे गिरें, सूक्ष्म जीव गिरें, वह भोजन माँस जैसा भोजन है ! ! परन्तु विषय के गृद्धि (होते हैं वे) रात्रिभोजन का त्याग नहीं कर सकते। आहा...हा... ! समझ में आया ?

हमने तो ऐसा देखा है, एक बार हम आहार करने बैठे थे। वैसे तो हमारी बहन थी, भांजे की लड़की थी और ऐसे हमारे भागीदार फूफी के लड़के की बहू थी। एक बार आचार दिया, घर में हम तीस आदमी थे। 'डामचिया' (गुदड़ी रखने की जगह) होती है न ? उसके नीचे 'वरणी' (काँच का बर्तन) रखे। उस बर्तन को नीचे रखे और ऊपर

'तणाई' (बहुत रुई भरा बिछौना) रखे। घर में तीस आदमी थे और स्थिति ठीक थी, इसलिए आचार के दो-तीन बर्तन भरते थे। हमारी बहन आचार लाई तो (हमने पूछा) 'बहन, आचार कहाँ से लाई?' (तो उन्होंने कहा) 'इसके नीचे है।' हम अन्दर देखने गये (देखा तो) अरे... रे...! इतना मैलवाला कपड़ा...! बरणी... बरणी...! समझते हैं? (उस पर) मैलवाला कपड़ा था। (उसमें) इतने 'कंथवे' (एक प्रकार के सूक्ष्म जीव) थे, इतना मैल था कि (कपड़े को हटाये) तो वे जीव अन्दर गिरें!! अरे...! यह आचार! बहन तुम कहाँ से लाई? ऐसा आचार नहीं खाना चाहिए। तब से आजीवन आचार का त्याग है। (संवत) ६५-६६ के साल की बात है। यह मार्ग नहीं, बापू! यह आचार हमारे काम का नहीं। आहा...हा...! सूक्ष्म-सूक्ष्म जीव! काँच का बर्तन होता है न? उसके ऊपर ढक्कन होता है और उस पर मैला कपड़ा होता है। मैला कपड़ा! सब लोग हाथ लगाते हैं न? और उसे डोरी बाँधी हो। सूक्ष्म जीव! जैसे खोले... ढक्कन खोले तो सूक्ष्म जीव अन्दर गिरें! ऐसा भोजन! आ...हा...हा...!

'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' की ७४ गाथा में ऐसा कहा है कि जिसमें इन्द्रिय से त्रस (जीव) दिखें, ऐसे त्रस का भोजन करे, वह जैन का (उपदेश) सुनने लायक नहीं। 'अमृतचन्द्राचार्य!' 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय!' जिसमें माँस, दारू, मच्छ (मछली), सूक्ष्म जन्तु (आदि हो), ऐसा भोजन हो, उसका तो त्याग होना चाहिए। सात व्यसन... सात व्यसन (का त्याग होना चाहिए)। वह कोई धर्म नहीं है परन्तु इतना तो साधारण नैतिक जीवन है। आहा...हा...! ऐसे जीवन की खबर नहीं (वे) गृद्धि में दुःखी होकर पाप बाँधते हैं और इस पाप के फल में... आहा...हा...! तिर्यञ्च में जाते हैं, नरक में जाते हैं! ओ...हो... हो...!

यहाँ यह कहते हैं। देखो! **इसी प्रकार उनके विषय व्यापार देखने में नहीं...** आता। जिसका घाव भर गया, जिसका भोजन बन्द हो गया, वह भोजन नहीं खाता। **किन्तु उनके वह (विषयप्रवृत्ति) तो देखी जाती है। इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं...** आ...हा...हा...! (अर्थात्) इन्द्रियों की ओर की जिसको रति और प्रेम है, उसे इन्द्रियाँ जीवित हैं। आहा...हा...! **ऐसे परोक्षज्ञानियों के दुःख**

स्वाभाविक ही है। आहा...हा... ! परोक्षज्ञानी (अर्थात्) इन्द्रिय से देखनेवाला परोक्षज्ञानी (है)। आहा...हा... !

सम्यग्दर्शन तो सूक्ष्म बात है परन्तु ऐसी बाह्य चीज की गृद्धि है, वह महापाप है। आहा...हा... ! समझ में आया ? इसका तो उसे तीव्र पाप (लगता है)। जहाँ त्रस दिखे, ऐसा भोजन लेना, वह तो माँस खाने का भोजन है !! परन्तु कहाँ दरकार (है) ? वर्तमान में हूँक (ऊष्मा, गर्मी) चढ़ गई ! और पाँच-पच्चीस लाख मिले हो, लड़का ठीक हो, स्त्री ठीक हो, सुन्दर हो, हाँ... हाँ... करती हो ! (तो) ओ...हो...हो... ! (हो जाता है)। मर गया बेचारा ! जगत में मर गया, आत्मा को मार डाला ! आहा...हा... ! चैतन्य आनन्दमय प्रभु ! उसकी ओर की दृष्टि नहीं और विषय की ओर की दृष्टि के प्रेम में पूरे आत्मा का नाश कर देता है। आहा...हा... ! ऐसा है, प्रभु ! दुनिया से भिन्न है, बापू ! समझ में आया ? क्या कहते हैं ?

जिसको इन्द्रिय में प्रेम है - रति है, वह स्वाभाविक दुःखी है, बस ! उसे कोई संयोग प्रतिकूल है तो दुःख है, ऐसा है नहीं। आहा...हा... ! इन्द्रिय के विषय में रति है, वह दुःखी है। लोग पैसेवाले को सुखी कहते हैं ! आहा...हा... ! हमारे घर में भी ऐसा था। सब रात्रि को खाये, भोजन ले। अरे... ! यह क्या करते हो, बापू ? परन्तु व्यापार में से निवृत्त नहीं होते। पैसे मिले (इसलिए) शाम तक व्यापार में रुक जाये (फिर) अन्धेरे में रात्रि को भोजन करे ! ऐसी बातें हैं ! आहा...हा... ! (जिसे) पाँच इन्द्रियों के विषयों में रति (है), वह सहज (ही) प्रतिकूल संयोग बिना भी दुःखी है। आहा...हा... !

श्रोता : शरीर अच्छा हो तो भी आप ऐसा कहते हो कि धूल में क्या आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर अच्छा हो तो भी क्या ? वह तो धूल है। आ...हा...हा... ! पाँच पैसे हो तो भी... उसे क्या कहते हैं ? ब्लडप्रेशर ! (रहता है)। अरे... भाई ! यह दुःख है, उसमें तुम सुख मानो कि हम सुखी हैं ! अज्ञानी की भ्रमणा है। धूल में भी (सुख) नहीं है, दुःखी है, बापू ! आहा...हा... ! 'महावीर' का मार्ग कोई भिन्न प्रकार का है। आहा...हा... ! प्रभु का मार्ग वीरों का है, बापू !

पाँच इन्द्रिय के विषय के प्रेम में... 'रति' शब्द पड़ा है न ? विषय में जिसको रति

है, वह सहज दु:खी है। आहा...हा...! अज्ञानी पैसेवाले को, अनुकूलतावाले को सुखी कहता है! आहा...हा...! भगवान उसे दु:खी कहते हैं!! आहा...हा...! (क्योंकि उन्हें) **(विषयप्रवृत्ति) तो देखी जाती है, इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं...** अर्थात् कि इन्द्रियों की ओर का प्रेम है उसे 'जीवित है' (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! **ऐसे परोक्षज्ञानियों के दु:ख स्वाभाविक ही है।**

जिसको अन्दर प्रत्यक्ष आत्मा का ज्ञान नहीं (है) और इन्द्रिय द्वारा परोक्षज्ञानी को तो इन्द्रिय के विषय में रति है तो दु:खी है। आहा...हा...! आठ-आठ, दस-दस, बारह-बारह लड़के हो, एक-एक लड़के को पाँच-पाँच लाख की कमाई हो और बाप ऐसे बैठा हो तो मानो... आ...हा...हा...! (लड़के) बापू... बापू... बापू... करे तो ये भाईसाहब फूले न समाये! आहा...हा...! मर गया है! मार डाला है आत्मा को! आहा...हा...! देखो! यह 'प्रवचनसार'! भगवान की दिव्यध्वनि में यह आया है! आहा...हा...!

भावार्थ : परोक्षज्ञानियों के स्वभाव से ही दु:ख है,... जिसको आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं और परोक्षज्ञानी है तो इन्द्रिय से ज्ञान करते हैं... आहा...हा...! (उन्हें) **स्वभाव से ही दु:ख है, क्योंकि उनके विषयों में रति वर्तती है;...** पाँच इन्द्रिय के विषय की ओर प्रेम है - रति है। आहा...हा...! उसे भगवान आत्मा के प्रति द्वेष है। आहा...हा...!

'द्वेष अरोचक भाव' (अर्थात्) आनन्दमूर्ति आत्मा की जिसे रुचि नहीं, अरुचि (है) और पाँच इन्द्रिय के विषय में रुचि (है), उसे आत्मा के प्रति द्वेष है। आ...हा...हा...! विषय के प्रति रति है, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है। कठिन काम है, बापू! आहा...हा...! सम्यग्दर्शन तो अलौकिक चीज है परन्तु (उसके) पहले उसकी पात्रता भी... आ...हा...हा...! अलौकिक बात है!! ७४ गाथा में तो ऐसा भी कहा कि जो कोई सात व्यसन का सेवन करता है... आहा...हा...! वह जिनधर्म सुनने के लायक नहीं। आहा...हा...! 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय!' 'अमृतचन्द्राचार्य!' (इस शास्त्र के) टीकाकार 'अमृतचन्द्राचार्य' हैं। इन्हीं 'अमृतचन्द्राचार्य' का शास्त्र है। उसमें ऐसा है। आहा...हा...! परस्त्री का सेवन... आहा...हा...! माँस का सेवन, दारू का सेवन... आ...हा...हा...! सड़े हुए धान, जिसमें

त्रस हैं, उसका भोजन... आहा...हा...! ऐसा खाने के लायक (नहीं है)। (जो ऐसा खाता है) वह सुनने के लायक नहीं है। आहा...हा...! वीतरागमार्ग है, भाई! उसे सुनने के लायक नहीं। उसे यह बात नहीं बैठेगी। वह बात को उड़ा देगा! (ऐसा कहेगा कि) मुनि है तो ऐसी बात करते हैं! विषय में प्रेम है – रस है, उसने (इस आत्मा के) रस को चखा कहाँ है? इसलिए इस रस को वह दुःख कहता है। आहा...हा...!

परोक्षज्ञानियों के स्वभाव से ही दुःख है, क्योंकि उनके विषयों में रति वर्तती है; कभी-कभी तो वे, असह्य तृष्णा की दाह से.... क्या कहते हैं? **(तीव्र इच्छारूपी दुःख के कारण) मरने तक की परवाह न करके...** आ...हा...हा...! पतंगा अग्नि में – दीपक में मरने तक की परवाह नहीं करते। वैसे ही इन्द्रियों के विषय का सेवन करनेवाले, (जानते हैं कि इसका सेवन करने से) ऐसा क्षयरोग हो जायेगा, वैसा हो जायेगा (फिर भी) उसकी दरकार नहीं (करते)। आहा...हा...! इस विषय के अन्दर (भोग में) वीर्य के जाने से क्षय (रोग) होगा, शरीर जीर्ण होगा, (उसकी भी) दरकार नहीं। मरण हो तो भी विषय का प्रेम नहीं छोड़ते! आहा...हा...! है न?

कभी-कभी तो वे असह्य तृष्णा की दाह से.... ऐसी तृष्णा की दाह (लगे)...! आ...हा...हा...! तृष्णा की अग्नि (से) **(तीव्र इच्छारूपी दुःख के कारण) मरने तक की परवाह न करके...** आहा...हा...! शरीर जीर्ण हो गया हो और खाने की क्षुधा भी न हो तो भी इन्द्रिय के विषय के प्रेमी – रसीले... आहा...हा...! मरण तक की परवाह नहीं करते। (इससे) मरण होगा (ऐसा जानते हुए भी)!

यहाँ एक क्षयरोगवाला आदमी था। यहाँ है न? 'जिथरी!' उसे अच्छा हो गया था इसलिए उसे छुट्टी देने की तैयारी हो गई। एक बाई उसका काम करती होगी। उसके साथ विषयसेवन किया! (जैसे ही विषयसेवन) किया कि शरीर में एकदम पीड़ा (शुरु हो गई) और देह छूट गया! क्षयरोग हुआ था, अच्छा हो गया था और उसे घर जाने के लिये छुट्टी देने की तैयारी थी। उसकी स्त्री तो नहीं थी लेकिन बाई काम करती थी, (उसके साथ विषयसेवन किया) और आ...हा...हा...! तुरन्त ही वहाँ मर गया! मर गया फिर भी विषय नहीं छोड़ा। आहा...हा...! ऐसी बात है, बापू!

मछली की मरने की तैयारी हो फिर भी माँस को नहीं छोड़ती ! आ...हा... ! हिरन-स्वर का प्रेमी (होने से शिकारी) उसे मार देगा, उसका वह ख्याल नहीं रखेगा। आहा...हा... ! गाय होती है न ? क्या कहते हैं ? चमरी गाय ! उसकी पूँछ कहीं अटक जाये तो वहाँ से निकले नहीं। क्योंकि (उसे ऐसा लगता है कि) अरे... ! मेरी बड़ी पूँछ टूट जायेगी ! शिकारी आकर मारे तो भी निकले नहीं ! आहा...हा... ! मृग की नाभि में कस्तूरी (है) परन्तु कस्तूरी की गन्ध वह बाहर ढूँढने जाता है। मर जाये ! शिकारी मारे और नाभि में से कस्तूरी निकले, उसे ले जाये और यह (हिरन) मर जाये ! आहा...हा... ! इस प्रकार मरण पर्यन्त भी विषयों का सेवन छोड़ता नहीं। आ...हा...हा... ! सूक्ष्म बात है, बापू ! आ...हा...हा... !

धर्मी विषय का सेवन करते हैं, धर्मी को भी राग आता है परन्तु उसमें सुखबुद्धि नहीं। दुःखबुद्धि (दुःख लगता है)। अर...र...र... ! ये (राग) कहाँ आया ? आ...हा... ! समकिती को इन्द्रिय का विषय है, लेकिन है वह दुःख ! दुःख को सुख नहीं मानते। ये (अज्ञानी तो) दुःख को सुख मानकर विषयसेवन करता है। आहा...हा... ! (धर्मी तो) ज़हर का प्याला देखते हैं ! धर्मी को राग आता है परन्तु वह ज़हर का प्याला दिखता है ! अर...र...र... ! आ...हा...हा... ! अज्ञानी को प्रेम के रस में प्रेमरस लगता है। आ...हा... !

(अज्ञानी जीव तृष्णा की दाह से) **मरने तक की परवाह न करके क्षणिक इन्द्रिय विषयों में कूद पड़ते हैं। यदि उन्हें स्वभाव से ही दुःख न हो तो विषयों में रति ही न होनी चाहिए।** विषय में कूदता है ! अन्धा होकर ! आहा...हा... ! यदि स्वाभाविक दुःख न हो तो उसमें कूदे ही क्यों ? ऐसा कहते हैं। है ? **स्वभाव से ही दुःख न हो तो विषयों में रति ही न होनी चाहिए। जिसके शरीर का दाह-दुःख नष्ट हो गया हो....** शरीर में बुखार आदि नष्ट हो गया हो, **वह बाह्य शीतोपचार में रति क्यों करेगा ?** फिर वह ठण्डा उपचार क्यों करेगा ? आहा...हा... ! गाथा तो बहुत बढ़िया है !

इससे सिद्ध हुआ कि परोक्षज्ञानियों के दुःख स्वाभाविक ही है। आ...हा...हा... ! जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं, आनन्द का धाम भगवान !... आहा...हा... ! उसके अनुभव में प्रेम नहीं... आहा...हा... ! वह इन्द्रिय के विषय में कूदकर, मरण होता हुआ देखकर भी कूदता है ! आहा...हा... ! 1

गाथा - ६५

अय मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति -

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो।।६५।।

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः।।६५।।

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीतोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिरसमीचीन-वृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वयमेवायमात्मा सुखतामापद्यते। शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपगच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति।।६५।।

एवं परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दुःखस्थापनार्थं गाथाद्वयं गतम्। अथ मुक्तात्मनां शरीराभावेऽपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीरं सुखकारणं न स्यादिति व्यक्तीकरोति - **पप्पा** प्राप्य। कान्। **इट्ठे विसये** इष्टपञ्चेन्द्रियविषयान्। कथंभूतान्। **फासेहिं समस्सिदे** स्पर्शनादीन्द्रिय-रहितशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणैः स्पर्शनादिभिरिन्द्रियैः समाश्रितान् सम्यक् प्राप्यान् ग्राह्यान्, इत्थंभूतान् विषयान् प्राप्य। स कः। **अप्पा** आत्मा कर्ता। किंविशिष्टः। **सहावेण परिणममाणो** अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभाव-विपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममानः। इत्थंभूतः सन् **सयमेव सुहं** स्वयमेवेन्द्रियसुखं भवति परिणमति। **ण हवदि देहो** देहः पुनरचेतनत्वात्सुखं न भवतीति। अयमत्रार्थः- कर्मावृतसंसारिजीवानां यदिन्द्रियसुखं तत्रापि जीव उपादानकारणं, न च देहः। देहकर्मरहितमुक्तात्मनां पुनर्यदनन्तातीन्द्रियसुखं तत्र विशेषेणात्मैव कारणमिति।।६५।।

अब, मुक्त आत्मा के सुख को प्रसिद्धि के लिये, शरीर का सुख साधन होने की बात का खण्डन करते हैं। (सिद्ध भगवान के शरीर के बिना भी सुख होता है, यह बात स्पष्ट

समझाने के लिये, संसारावस्था में भी शरीर सुख का–इन्द्रियसुख का–साधन नहीं है, ऐसा निश्चित करते हैं) –

इन्द्रिय–आश्रित इष्ट–विषय को, पाकर अपने स्वभाव से।
स्वयं सुखमय होय है जिव, नहीं देह सुखरूप परिणमे॥

अन्वयार्थ : [स्पर्शैः समाश्रितान्] स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ जिनका आश्रय लेती हैं, ऐसे **[इष्टान् विषयान्]** इष्ट विषयों को **[प्राप्य]** पाकर **[स्वभावेन]** (अपने शुद्ध) स्वभाव से **[परिणममानः]** परिणमन करता हुआ **[आत्मा]** आत्मा **[स्वयमेव]** स्वयं ही **[सुख]** सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) होता है **[देहः न भवति]** देह सुखरूप नहीं होती।

टीका : वास्तव में इस आत्मा के लिये सशरीर अवस्था में भी शरीर सुख का साधन हो, ऐसा हमें दिखाई नहीं देता; क्योंकि तब भी, मानों उन्मादजनक मदिरा का पान किया हो ऐसी प्रबल मोह के वश वर्तनेवाली, 'यह (विषय) हमें इष्ट है' इस प्रकार विषयों की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों के द्वारा असमीचीन (अयोग्य) परिणति का अनुभव करने से जिसकी शक्ति[1] की उत्कृष्टता (परम शुद्धता) रुक गई है – ऐसे भी (अपने) ज्ञान–दर्शन–वीर्यात्मक स्वभाव में जो कि (सुख के) निश्चयकारणरूप है – परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखत्व को प्राप्त करता है, (सुखरूप होता है;) और शरीर तो अचेतन ही होने से सुखत्वपरिणति का निश्चयकारण न होता हुआ किञ्चित् मात्र भी सुखत्व को प्राप्त नहीं करता।

भावार्थ : सशरीर अवस्था में भी आत्मा ही सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) परिणति में परिणमन करता है, शरीर नहीं; इसलिए सशरीर अवस्था में भी सुख का निश्चय कारण आत्मा ही है अर्थात् इन्द्रियसुख का भी वास्तविक कारण आत्मा का अशुद्ध स्वभाव है। अशुद्ध स्वभाव में परिणमित आत्मा ही स्वयमेव इन्द्रियसुखरूप होता है। उसमें शरीर कारण नहीं है; क्योंकि सुखरूप परिणति और शरीर सर्वथा भिन्न होने के कारण सुख और शरीर में निश्चय से किञ्चित्मात्र भी कार्यकारणता नहीं है॥ ६५॥

---

1. इन्द्रियसुखरूप परिणमन करनेवाले आत्मा की ज्ञानदर्शन–वीर्यात्मक स्वभाव की उत्कृष्ट शक्ति रुक गयी है, अर्थात् स्वभाव अशुद्ध हो गया है।

प्रवचन नं. ६२ का शेष **दिनाङ्क ०९ मार्च १९७९**

अब, उससे विरुद्ध (बात करते हैं)। **अब, मुक्त आत्मा के सुख की प्रसिद्धि के लिये,...** क्या कहते हैं? सिद्ध भगवान मुक्त हैं। उस आत्मा में सुख की प्रसिद्धि के लिये **शरीर सुख का साधन होने की बात का खण्डन करते हैं।** (अर्थात्) शरीर नहीं है, इसलिए सुख नहीं है, ऐसा नहीं। शरीर सुख का साधन है ही नहीं। आहा...हा...! भगवान परमात्मा सिद्ध हुए तो शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं (फिर भी) अतीन्द्रिय आनन्द है। आहा...हा...! शरीर न हो तो सुखी नहीं होता है, ऐसा नहीं। आ...हा...! यह सिद्ध करते हैं।

(सिद्ध भगवान के शरीर के बिना भी सुख होता है...) शरीर है नहीं तो भी आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द... अतीन्द्रिय आनन्द...! आ...हा...हा...! **(...यह बात स्पष्ट समझाने के लिये, संसारावस्था में भी शरीर सुख का-इन्द्रियसुख का साधन नहीं है,...)** शरीर, सुख का और इन्द्रियसुख का शरीर साधन नहीं (है) **(...ऐसा निश्चित करते हैं)।** आहा...हा...! (अज्ञानी जीव ऐसा कहते हैं कि) शरीर हो तो सुख लगे। शरीर जाने के बाद सुख कहाँ से आता? आहा...हा...! (गुजराती में कहावत है कि) 'पहेलुं सुख ते जाते नर्या।' ऐसा पागल लोग कहते हैं! पहला सुख-निरोग शरीर (का) सुख। दूसरा सुख - घर में चार पुत्र। तीसरा सुख - सुन्दर नारी। चौथा सुख - धरे जुवार-अनाज। ये अज्ञानी का सुख!!

'पहेलुं सुख ते जाते नर्या' (अर्थात्) निरोग शरीर! धूल में भी (सुख) नहीं है। निरोग हो तो क्या हुआ? शरीर प्रति का प्रेम है, वह महादुःखी है। दूसरा सुख - चार पुत्र! चार (क्या), 'विछीया' (गाँव में) बारह देखे हैं। 'मुम्बई' में बारह देखे हैं। दो-दो साल में एक-एक लड़का हो तो चौबीस साल में बारह लड़के होते हैं। आहा...हा...! बारह लड़के (हैं तो) हम सुखी हैं! धूल में भी (सुखी) नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

शरीर सुख का साधन है ही नहीं। शरीर बिना भी आत्मा का आनन्द आत्मा से आता है। आहा...हा...! है? **(सिद्ध भगवान के शरीर के बिना भी सुख होता है यह बात**

स्पष्ट समझने के लिये, संसारावस्था में भी शरीर सुख का-इन्द्रियसुख का-साधन नहीं है, ऐसा निश्चित करते हैं)

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो।।६५।।

नीचे हरिगीत -

इन्द्रिय-आश्रित इष्ट-विषय को, पाकर अपने स्वभाव से।
स्वयं सुखमय होय है जिव, नहीं देह सुखरूप परिणमे॥

आहा...हा....! टीका! ६५ (गाथा की) टीका। **वास्तव में इस आत्मा के लिए शरीर अवस्था में भी, शरीर सुख का साधन हो ऐसा हमें दिखाई नहीं देता;...** आ....हा...हा...! शरीर निरोग हो, वह सुख का साधन है, ऐसा हमें नहीं दिखाई देता - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! लोग कहते हैं न? '६० वर्ष के हुए, ७० वर्ष हुए (लेकिन) कभी सर पर सोंठ नहीं लगाई! कभी बुखार नहीं आया!' उसमें क्या हुआ? आहा.... हा....! ६० वर्ष हुए लेकिन शरीर में कभी बुखार आया नहीं, सोंठ लगाई नहीं! उसमें धूल में क्या है? आहा...हा...!

आत्मा के लिए सशरीर अवस्था में भी शरीर सुख का साधन हो ऐसा हमें दिखाई नहीं देता;... आहा...हा...! **क्योंकि तब भी, मानों उन्मादजनक मदिरा का पान किया हो ऐसी,....** आहा...हा...! **प्रबल मोह के वश वर्तनेवाली, 'यह (विषय) हमें दृष्ट है'....** आहा...हा...! **इस प्रकार विषयों की ओर छोड़ती हुई इन्द्रियों के द्वारा असमीचीन (अयोग्य) परिणति का अनुभव करने में जिसकी शक्ति की उत्कृष्टता (परम शुद्धता) रुक गई है...** आ...हा...हा...! आत्मा परम शुद्ध, भगवान परमानन्द मूर्ति! विषय में गृद्धि में दौड़ते हैं (तो) वहाँ परम शुद्धता रुक गई है आ....हा....हा...! शरीर अनुकूल हो फिर भी विषय के अन्दर गया तो शुद्ध शक्ति है, वह वहाँ रुक गई (अर्थात्) दु:ख में रुक गई। आहा...हा...! है?

मानों उन्मादजनक मदिरा का पान किया हो... आ...हा...! मानों दारू पिया

हो! ऐसे **प्रबल मोह के वश वर्तनेवाली, 'यह (विषय) हमें दृष्ट हैं' इस प्रकार विषयों की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों के द्वारा असमीचीन (अयोग्य) परिणति का अनुभव करने से...** आ...हा...हा...! अयोग्य दशा (यानि) राग (और) अज्ञान की दशा में **अनुभव करने से जिसकी शक्ति की उत्कृष्टता (परम शुद्धता) रुक गई है....** (शक्ति की उत्कृष्टता रुक गई है का अर्थ) नीचे (है) 'इन्द्रियसुखरूप परिणमन करनेवाले आत्मा की ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक स्वभाव की उत्कृष्ट शक्ति रुक गई है, अर्थात् स्वभाव अशुद्ध हो गया है।' आ...हा...! स्वभाव तो स्वभाव है, पर्याय में अशुद्ध हो गया। आहा...हा..! ऐसा (सुने तो) कठिन पड़े! व्रत करना, उपवास करना (यह आसान था) लेकिन वस्तु के भान बिना तेरे व्रत और तप कहाँ हैं? आहा...हा...!

(अपने) ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक स्वभाव में - जो कि (सुख के) निश्चयकारणरूप है... आ...हा...हा...! अपने आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द (है) इस स्वभाव में (जो कि) सुख के निश्चय कारण हैं। (ऐसा) **परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखत्व को प्राप्त करता है,...** आहा...हा...! अपने अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञान और वीर्य की ओर जाता है और अपना शुद्ध परिणमन करता है... आ...हा...हा...! वह स्वयमेव सुख को प्राप्त करता है। उसको कोई शरीर और इन्द्रिय की जरूरत नहीं। आहा...हा...! (इस प्रकार) **(सुखरूप होता है;)....।**

और शरीर तो अचेतन ही होने से.... शरीर तो जड़ है। **सुखत्व परिणति का निश्चयकारण न होता हुआ किञ्चित्मात्र भी सुखत्व को प्राप्त नहीं करता।** आ...हा...हा...! शरीर किञ्चित् भी सुख का कारण नहीं है। निरोग हो, ८० वर्ष तक भी रोग आया न हो (तो भी) शरीर सुख का कारण नहीं, दु:ख का कारण है। आहा...हा...! है? सुख का निश्चय कारणरूप आत्मा-आनन्द, वीर्य और सुख की शक्ति का भण्डार! आ...हा...हा...! उस ओर के जुड़ाव से जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होता है, वह सुख का कारण है। आनन्द तो वहाँ है। आ...हा...! **यह आत्मा स्वयमेव सुखत्व को प्राप्त करता है,....** वहाँ कोई शरीर और इन्द्रिय की जरूरत नहीं। आ...हा...हा...!

सम्यग्दर्शन में अपने स्वभाव की दृष्टि करने से शरीर और इन्द्रिय की जरूरत नहीं।

वहाँ आत्मा (स्वयमेव) सुख प्राप्त करता है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेता है। आ...हा...हा...! सम्यग्दर्शन में, अपने अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु! उसकी ओर के जुडाव से, स्वभाव का परिणमन करने से आनन्द का परिणमन होता है, वहाँ सुख है। आहा...हा...! विषयों में, शरीर आदि में कहीं सुख है नहीं। बहुत फेरफार करना पड़े। आहा...हा...! (दुनिया से) अलग प्रकार की बात है, बात तो ऐसी है। आहा...हा...!

शरीर तो अचेतन ही होने से सुखत्वपरिणति का निश्चय-कारण न होता हुआ किञ्चित् मात्र भी सुखत्व को प्राप्त नहीं करता। आ...हा...हा...! (शरीर तो) मिट्टी, जड़ है।

श्रोता : अतीन्द्रिय सुख कैसा होगा?

समाधान : अतीन्द्रिय सुख तो (जो) समझे उसे मालूम पड़े। आहा...हा...! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उसका आश्रय करने से जो आनन्द होता है, सुख की प्राप्ति होती है, उसमें शरीर बिलकुल काम नहीं करता। आहा...हा...! शरीर तो मुर्दा है।

('समयसार' की) ९६ गाथा में आ गया है। 'मृतक कलेवर!' परम अमृतरस जैसा आत्मा! परम अमृतरस से भरा आत्मा, मृतक कलेवर में मूर्छित हो गया है - ऐसा ९६ वीं गाथा में है। आहा...हा...! परम अमृतरूप विज्ञानघन भगवान! यह (शरीर) तो मृतक कलेवर है। अभी मृतक कलेवर (है)! अभी, हाँ! यह कलेवर तो मृतक है, मुर्दा है। इसमें चेतन है नहीं। इस जड़ में चेतन कहाँ (है)? चेतन तो भिन्न है। आ...हा...हा...! यह 'समयसार' में ९६ वीं (गाथा में) आ गया है। आहा...हा...!

बेहद चैतन्यधातु में राग में रुक गये। अपने स्वभाव की खबर नहीं, वह राग के प्रेम में रुककर अपने (स्वभाव) का घात करता है। आहा...हा...! परम अमृतरूप महा विज्ञानघन प्रभु! परम अमृतरूप विज्ञानघन प्रभु! मृतक कलेवर - यह कलेवर मुर्दा है, उसमें मूर्छित होकर दु:खी होता है। आहा...हा...! ऐसी बात कठिन लगे! अभी तो साधारण (बात) छोड़नी कठिन पड़े! आ...हा...हा...! जिन्दगी साता में गुजरी हो.... अनुकूल.... अनुकूल... साता.... साता... साता....! आहा.... हा....! परन्तु वह तो दु:ख

है। अनुकूल साता की सामग्री तो दु:ख है, दु:ख का निमित्त है। (उसमें) रति करते हैं, वह दु:ख है। आहा...हा... !

(यहाँ कहते हैं) **शरीर तो अचेतन होने से सुखत्वपरिणति का निश्चय-कारण न होता हुआ किञ्चित्मात्र भी सुखत्व को प्राप्त नहीं करता।** शरीर बिलकुल सुख का कारण नहीं है। सुख का कारण तो भगवान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उसकी दृष्टि और अनुभव करने से आनन्द प्राप्त होता है। शरीर किञ्चित् सुख का कारण नहीं। विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. ६३ **दिनाङ्क १० मार्च १९७९**

('प्रवचनसार') ६५ गाथा का भावार्थ। **सशरीर अवस्था में आत्मा ही सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) परिणति में परिणमन करता है,....** क्या कहते हैं ? कि यह शरीर है, शरीर! तो शरीर में सुख नहीं। शरीर में सुख नहीं और वह सुख का कारण भी नहीं। किसका ? विषयसुख का। इन्द्रियसुख का भी शरीर कारण नहीं। आत्मा के सुख का कारण तो अन्तर सम्यग्दर्शन में त्रिकाली ज्ञायकभाव को प्रगट (करना यह है)। अतीन्द्रिय आनन्द का कारण तो आत्मा है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसको शरीर हो तो सुख मिले, ऐसा है नहीं। यह सिद्ध करने को यहाँ (ऐसा कहते हैं कि) इन्द्रियवाले को भी शरीर से सुख नहीं (है)। सूक्ष्म बात है। शरीर तो जड़ है, धूल है और अपनी कल्पना से मानते हैं कि मैं सुखी (हूँ), इन्द्रिय के विषय में मैं सुखी हूँ! यह तो कल्पना का परिणमन है। शरीर उसमें कारण नहीं है। आहा...हा... !

श्रोता : लौकिक में तो कहते हैं कि 'पहला सुख निरोगी काया!'

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी तो माने। आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि अशरीर दशा में भी। अशरीरी दशा में सिद्ध को शरीर नहीं है, इसलिए सुख नहीं है, ऐसा नहीं। शरीररहित आत्मा सिद्ध है और आत्मा भी शरीर और रागरहित है, ऐसी दृष्टि हो, सम्यग्दर्शन हो तो उसमें शरीर और रागरहित आत्मा में आनन्द है तो आत्मा का आनन्द प्रगट होता है। आहा...हा... !

धर्म की दृष्टि में भी आत्मा में आनन्द है... आहा... हा...! अतीन्द्रिय आनन्द ज्ञायक शुद्ध स्वरूप चैतन्य की दृष्टि करने से, अतीन्द्रिय आनन्द है तो पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। पर्याय की दृष्टि से नहीं, राग की दृष्टि से नहीं, शरीर की दृष्टि से नहीं (परन्तु) अपना चिदानन्दस्वरूप शुद्ध ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु है, सम्यग्दर्शन में उसका ध्येय बनाकर जो आनन्द होता है, वह अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा में है, उससे आनन्द होता है। उसे कोई राग या शरीर हो तो आनन्द होता है – ऐसा है नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि शरीर अवस्था में भी इन्द्रियसुख जो है, वह शरीर के कारण से नहीं है। आत्मा का सुख तो वहाँ है नहीं। अनादि से शरीर के वश होकर, सशरीर दशा में भी **आत्मा ही सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप)...** (परिणमन करता है)। (अर्थात्) मुझे ठीक है, इन्द्रिय का विषय ठीक है, शब्द, रूप, रस, गन्ध ठीक है – ऐसी परिणति अज्ञानी, शरीर बिना अपने कारण से करता है। उसमें शरीर कोई कारण नहीं। इन्द्रियसुख में भी शरीर कारण नहीं। समझ में आ? थोड़ा सूक्ष्म विषय है।

सशरीर अवस्था में भी आत्मा ही सुखरूप (इन्द्रियसुखरूप) परिणति में परिणमन करता है,... राग और पुण्य-पाप का भाव मैं हूँ, ऐसे इन्द्रियसुख में स्वयं अपने शरीर के बिना अपनी परिणति से सुख की कल्पना में – इन्द्रिय के सुख में परिणमन करता है।

श्रोता : शरीर है तब तो सुख-दु:ख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; यही बात यहाँ करते हैं। शरीर बिलकुल (कारण) नहीं। शरीर इन्द्रियसुख में किञ्चित् कारण नहीं। इन्द्रियसुख, हाँ! आत्मा का सुख तो आत्मा में है। आहा...हा...! परन्तु इन्द्रियसुख में भी, परमात्मा पुकार करते हैं कि इन्द्रिय के सुख में भी शरीर कारण नहीं। आ...हा...हा...! है?

इन्द्रियसुखरूप, कल्पना मिथ्याभ्रान्ति में मिथ्यादृष्टि – मैं सुखी (हूँ), विषय में सुख है, ऐसी परिणति करते हैं। विषय या शरीर उसको कोई सुख उत्पन्न कराये, ऐसा है नहीं। आत्मा के सुख में तो आत्मा का आश्रय है, त्रिकाली आनन्दस्वरूप का आश्रय करते हैं तो आनन्द होता है परन्तु इन्द्रिय के सुख में भी शरीर कारण नहीं। समझ में आया?

इन्द्रियसुखरूप परिणति (अर्थात्) मुझे ठीक है, विषय में ठीक है – ऐसे रागरूपी इन्द्रिय के विषय में दु:खरूप परिणमन करते हैं, उसमें कोई शरीर कारण है नहीं। आहा...हा...! ये विषयसुख में आनन्द मानते हैं, उसमें भी शरीर कारण नहीं – ऐसा कहते हैं। वह कल्पना में मानता है कि मुझे विषय में – भोग में मजा आता है, ऐसी परिणति करता है। इन्द्रियसुख में जो भ्रान्ति (होती) है, वह अपने से परिणमन करता है, शरीर कारण है नहीं तो पैसा – धूल तो कारण है ही नहीं – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्या कहते हैं?

मूल तो सिद्ध में शरीर नहीं है, फिर भी आत्मा का आनन्द है – यह बताने के लिए यहाँ भी (सशरीर अवस्था में भी) शरीर सुख का कारण नहीं (है), यह बताना है। यहाँ भी शरीर सुख का कारण नहीं परन्तु कल्पना करता है कि मुझे यह ठीक है, विषय में मुझे मजा आता है, ऐसे इन्द्रिय का सुख जो भ्रान्ति में (लगता है, उसकी परिणति) करता है तो उसमें भ्रान्ति कारण है, शरीर कारण नहीं। आहा...हा...!

श्रोता : शरीर कारण हो तो सिद्ध में तो शरीर नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो यह बात करते हैं कि यदि शरीर कारण हो तो सिद्ध में तो शरीर नहीं है। इसलिए शरीर कारण है ही नहीं। इन्द्रिय के सुख में भी शरीर कारण नहीं (है) तो आत्मा के – सिद्ध के अतीन्द्रिय सुख में शरीर कारण है ही नहीं। न्याय समझ में आता है? आहा...हा...! लॉजिक से न्याय समझना पड़े, भैया! आहा...हा...!

यहाँ तो यह बात (कहते हैं कि) परमात्मा सिद्ध हुए – णमों सिद्धाणं! उनको तो शरीर है नहीं; तो शरीर नहीं है तो सुख नहीं है? (तो कहते हैं कि) उनको भी सुख का कारण शरीर नहीं। सुख का कारण तो भगवान आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द की ओर की दृष्टि में – अनुभव में अतीन्द्रिय आनन्द आता है। यहाँ शरीरसहित (अवस्था में) भी शरीर, इन्द्रिय के सुख में कारण नहीं (है)। शरीर अकिञ्चित्कर है। आहा...हा...! अज्ञानी रागरूपी परिणति करता है और इन्द्रियसुख मुझे है, ऐसा मानता है। आहा...हा...! ऐसी बात है। आहा...हा...!

भगवान! यह 'प्रवचनसार' है। प्र = विशेष वचन – दिव्यध्वनि! तीन लोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि! उसका यह सार है!! उसमें यह बताना है कि जो सिद्ध

भगवान हैं, उनको शरीर नहीं, इन्द्रिय नहीं। शरीर, इन्द्रिय नहीं (है) तो सुख है कि नहीं? (तो कहते हैं कि) शरीर और इन्द्रिय (सुख का) कारण यहाँ भी नहीं (है)। आहा...हा...! इन्द्रिय के विषय में भी शरीर और इन्द्रिय कारण है ही नहीं। यह तो जड़ है, धूल है, मिट्टी है। अज्ञानी कल्पना करके रागरूप परिणमता है और मैं इन्द्रिय के विषय में सुखी हूँ – ऐसा मिथ्यादृष्टि मानता है। इस शरीर के कारण से (सुख) नहीं है। आ...हा...! इसी प्रकार पैसे के कारण से (सुख) नहीं, यह बात तो दूर रह गई। समझ में आया? पैसे के कारण मैं सुखी... संसार का सुखी, हाँ! वह दुःखी (है) परन्तु संसार का सुख भी पैसे के कारण नहीं। वह कल्पना करता है कि मुझे ठीक है, इसमें सुखी हूँ – ऐसी मिथ्यारूपी भ्रान्ति में परिणमता है तो सुखरूप मानता है। आहा...हा...! समझ में आया?

आत्मा **(इन्द्रियसुखरूप) परिणति में परिणमन करता है, शरीर नहीं;....** अज्ञानी आत्मा (परिणमन करता है)! आहा...हा...! अपने में आनन्द है यह भूलकर, इन्द्रियसुख में ठीक है – ऐसे सुख की कल्पनारूप परिणमन करता है, वह शरीर नहीं। इस सुखरूपी परिणति में शरीर कारण नहीं। आहा...हा...! तो पैसा और स्त्री का शरीर, बड़ा मकान, बड़ी इज्जत सुख का कारण है ही नहीं। इन्द्रिय के विषय में भी वह कारण तो है ही नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अज्ञानी ही कल्पनारूप परिणमन है, वह इन्द्रिय के विषय का अर्थात् दुःख का कारण है। आहा...हा...! कठिन बात है, भाई! वीतरागमार्ग बहुत कठिन!

इन्द्रिय में सुख मानता है, वह शरीर से नहीं (है) – ऐसा कहते हैं। पैसे से नहीं, इज्जत से नहीं, स्त्री के शरीर से (नहीं)। (स्त्री का शरीर तो) हड्डी, माँस है! माँस और हड्डी है। उसमें भी कल्पना (करता) है कि मुझे सुख है, यह शरीर के कारण से नहीं। वैसे ही अपना शरीर भी सुन्दर (हो), माँस और हड्डी अच्छे हैं तो अन्दर इन्द्रियविषय में (सुख) मानता है तो (उसमें) शरीर कारण है, ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

श्रोता : लोग तो ऐसा पूछते हैं कि आपकी तबीयत कैसी है?

पूज्य गुरुदेवश्री : तबीयत किसकी? शरीर की? आत्मा की क्या तबीयत है? कि मैं दुःखी हूँ। आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि की तबीयत क्या है? कि मैं सुखी हूँ। मेरा आत्मा

आनन्दस्वरूप भगवान, भूतार्थ वस्तु है। आत्मा भूत अर्थात् विद्यमान अर्थ अर्थात् भाव। आहा...हा... ! भूतार्थ है – भूत (अर्थात्) विद्यमान, अर्थ (अर्थात्) भाव। विद्यमान चीज अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ ! उसका आश्रय करने से अतीन्द्रिय आनन्द की, शान्ति की प्राप्ति होती है, उसमें आत्मा कारण है; विकल्प भी कारण नहीं। दया, दान के राग का विकल्प है, वह भी आत्मा के अतीन्द्रियसुख में कारण नहीं। अरे... ! गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी अतीन्द्रियसुख में कारण नहीं, तो इन्द्रियसुख में तो कारण है कहाँ ? आहा...हा... ! सूक्ष्म बात (है), भाई ! आहा...हा... !

श्रोता : जितनी इच्छा का अभाव उतना इन्द्रियसुख ?

समाधान : ऐसा अज्ञानी मानता है, परिणमता है। इच्छा में परिणमता है (और मुझे) सुख है, ऐसा अज्ञानी मानता है परन्तु उस इच्छा के सुख में शरीर कारण नहीं।

श्रोता : इच्छा के अभाव में सुख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इच्छा के अभाव में तो अपने आत्मा के आनन्द से सुख है। इच्छा का भाव ही इन्द्रिय के विषय (का) सुख है। शरीर कारण नहीं है – ऐसा यहाँ बताना है। इन्द्रिय के विषय में भी शरीर कारण नहीं। यहाँ पहले यह बताना है।

तेरी परिणति त्रिकाली भगवान को भूलकर, अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ का स्वामीपना छोड़कर, इन्द्रिय में सुख है – ऐसी कल्पनारूप तुम परिणमन करते हो, उसमें शरीर कारण नहीं। आहा...हा... ! इसमें पैसे कारण नहीं, इज्जत कारण नहीं, पाँच-पचास लाख का बड़ा मकान हो तो वह उसे सुख का कारण नहीं; इन्द्रिय का सुख, हाँ ! आत्मा का सुख तो वहाँ है ही कहाँ ? आहा...हा... ! लोग कहते हैं न ? कि हम धन-दौलत से सुखी हैं ! तो कहते हैं कि यह बात ही झूठी है। अज्ञानी धन-दौलत से सुखी नहीं है। अज्ञानी मान्यता में जो अशुद्ध परिणति करता है, उसमें सुख मानता है, वह परिणति उसकी है। वह शरीर के कारण से है – ऐसा है नहीं। ऐसी बात है ! अभी तो सुनने मिलना मुश्किल है। चीज ही ऐसी हो गई, लोगों ने कुछ का कुछ (उलटा मान लिया है)। आहा...हा... !

श्रोता : 'सोनगढ़' आये तो समझे, नहीं तो कहाँ से समझे ?

समाधान : यहाँ मकान किस लिए बनाया है? पन्द्रह दिन-महीना रहे, फिर इस महीने वहाँ (अपने शहर में रहे)! नौकरीवाले भी ५०-५५ वर्ष में निवृत्त हो जाते हैं, यहाँ तो ७५ वर्ष हो जाये तो भी निवृत्त नहीं होते! आहा...हा...!

यहाँ तो प्रभु तीन लोक के नाथ ऐसी पुकार करते हैं कि शरीर के कारण से प्रभु! तुझे इन्द्रिय का सुख भी नहीं। तेरी कल्पना से तू इन्द्रिय का सुख मानता है। यह तेरा विकार का परिणमन है। उसमें तू सुख मानता है, उसमें शरीर बिलकुल कारण नहीं। यह तो मिट्टी, जड़, धूल है, आ...हा...हा...! एक न्याय भी तो उसे यथार्थ बैठना चाहिए न!

दाल, चावल, अच्छी सब्जी, मैसूरपाक, पकौड़ी ये कोई सुख का कारण नहीं - ऐसा कहते हैं। मात्र वहाँ कल्पना (में) मानता है कि यह ठीक है; उसका विकाररूप परिणमन करता है, यह इन्द्रियसुख का कारण है, (शरीर नहीं)। इन्द्रियसुख है दुःख, लेकिन लोग मानते हैं इस अपेक्षा से बात कही है। आ...हा...हा...!

शरीर में गर्मी बहुत हुई (तो) पंखा (किया और) ठण्डा पानी (पिया) तो कहते हैं कि इन्द्रिय के सुख में वह कारण नहीं। आहा...हा...! उसकी कल्पनारूप परिणमन है, वह कारण है। वह पंखा और ठण्डी हवा में (अच्छा लगे), बेहोश जैसा हो जाये तो उसे हवा डाले, तो वह इन्द्रियसुख का कारण है? ना। वहाँ तो परचीज है। आत्मा पर को तो छूता भी नहीं। इन्द्रिय के सुख में पर को तो छूता भी नहीं। आहा...हा...! तीन काल तीन लोक में अपनी पर्याय के अलावा (आत्मा) परद्रव्य को कभी छूता नहीं। अरे...रे...! कौन माने?

(समयसार की) तीसरी गाथा में कहा न? पहले कहा था। तीसरी गाथा! भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और पर्याय को चुम्बन करता है, छूता है, स्पर्श करता है। अन्य द्रव्य के द्रव्य, गुण, पर्याय को कभी छूता नहीं। शरीर की पर्याय को आत्मा कभी छूता ही नहीं। आ...हा...हा...हा...हा...! (अज्ञानी) अपने राग और द्वेष की पर्याय को छूता है। ज्ञानी अपनी आनन्द और शान्ति की पर्याय को छूते हैं। आ...हा...हा...! ऐसा मार्ग...! (लोगों को) बेचारों को मिलता नहीं और बाहर से हो...हा... हो...हा... (करते हैं)! अरे...! अनन्त काल में भटकते हुए भगवान

तीर्थङ्कर के जैनधर्म में जन्म हुआ, इसे भी सुनने नहीं मिलता! आ...हा...हा...! बहुत दृष्टान्त देकर सिद्ध किया है।

(अज्ञानी जीव) कल्पना करता है कि मुझे इन्द्रिय का सुख है, इस कल्पना में शरीर कारण नहीं, क्योंकि शरीर को तो छूता ही नहीं। अज्ञानी अपने रागपरिणाम को छूता है तो इस परिणमन में अज्ञानी-आत्मा कर्ता है। आहा...हा...! यहाँ तो लाख रुपये मिले, लड़के-लड़की ठीक हो (तो मानता है कि) मैं सुखी हूँ! दूसरे गरीब इन्सान से हम (ज्यादा) सुखी हैं! किस कारण से (सुखी मानता है ?) कि यह शरीर सुन्दर मिला है, लक्ष्मी मिली है – इस कारण से! यहाँ भगवान 'ना' कहते हैं। समझ में आया ?

भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव केवलज्ञानी परमात्मा, इन्द्रों और गणधरों के समक्ष यह बात कहते थे। वह बात ये है। आहा...हा...! जैन कुल में जन्म हो, फिर भी सत्य बात सुनने मिले नहीं, क्या करे ? आ...हा...हा...!

इसलिए सशरीर अवस्था में भी.... सशरीर अवस्था में (अर्थात्) शरीरसहित अवस्था में भी। **सुख का निश्चय कारण आत्मा ही है...** देखो! आत्मा का अर्थ – अशुद्ध परिणमन (सुख का कारण है)। त्रिकाली आत्मा कारण नहीं है। अज्ञानी अशुद्ध परिणमन सुख का कारण मानता है। आहा...हा...! ऐसी बात है! **सशरीर अवस्था में भी सुख का...** (अर्थात्) शरीरसुख का, इन्द्रियसुख का; है तो दु:ख परन्तु लोग सुख मानते हैं न! इस अपेक्षा से सुख कहने में आया है। आहा...हा...!

इसलिए सशरीर अवस्था में भी सुख का निश्चय कारण आत्मा... (है)। 'आत्मा' का अर्थ त्रिकाली आत्मा नहीं। आत्मा का अशुद्ध परिणमन है, यह कारण है। आत्मा (कहा) है लेकिन त्रिकाली आत्मा की बात यहाँ है नहीं। आत्मा का अशुद्ध परिणमन है, यह अशुद्ध परिणमन इन्द्रिय के सुख का कारण अज्ञानी मानता है परन्तु शरीर से इन्द्रिय का सुख है, यह (बात) है ही नहीं।

श्रोता : बहुत कम लोगों को यह बात जमे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ऐसी है, भगवान!

आहा...हा...! भगवान अन्दर विराजते हैं! परमानन्द का नाथ! अतीन्द्रिय अमृत का सागर भगवान आत्मा है। इस अमृतसागर की दृष्टि करने से (अतीन्द्रिय सुख प्रगट होता है)। शरीर और इन्द्रियाँ तो हैं ही नहीं परन्तु कोई विकल्प भी है नहीं। अरे...! पर्याय का आश्रय है नहीं। आ...हा...हा...! पर्याय भी व्यवहारनय है। आ...हा...हा...! निश्चयनय का विषय जो शुद्ध ज्ञायकभाव, आनन्द(स्वरूप) प्रभु! उसका आश्रय करने से जो आनन्द आता है, यह आनन्द कोई पर्यायनय से, शरीर से, विकल्प से भी है नहीं।

यहाँ सशरीर अवस्था में भी आत्मा अशुद्धरूप से परिणमता है, यह परिणमन कल्पना का कारण है, शरीर नहीं। आ...हा...हा...!

श्रोता : शरीर मेरा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर मेरा है, धूल है, मिट्टी! राख है तो श्मशान में राख हो जायेगी। राख इतनी भी नहीं होगी। यहाँ अग्नि उठेगी! अग्नि! धक... धक... धक... धक...! राख होकर इतनी राख हो जायेगी। हवा आयेगी तो (उड़ जायेगी)। 'रजकण तेरा रखडेगा...' रजकण तेरा रखडेगा! आ...हा...हा...! 'जेम रखड़ती रेत। पछी नर-तन पामीश क्यां? चेत, चेत, नर चेत!' 'रजकण... रजकण तारा...' इस शरीर के रजकण '..रखड़शे, जेम रखड़ती रेत, पछी नर-तन पामीश क्यां? चेत, चेत, नर चेत!' आ...हा...हा...! बीस-बीस साल के जवान चले जाते हैं! पच्चीस-पच्चीस साल के एक क्षण में (चले जाते हैं)! आहा...हा...!

(एक मुमुक्षु) कहते थे कि 'महाराज! मैं बैठा था और मेरा मित्र २८ साल की उम्र का बैठा था। (दोनों) बात करते थे। (उसे) कोई रोग नहीं। बातचीत करते थे, उसमें फू... हुआ, ऐसे देखा तो (मर) गया!' देह छूट गया, कुछ रोग नहीं। आ...हा...! देह की स्थिति का अन्त आयेगा तो प्रभु! वह छूटेगा ही। आहा..हा...! 'हम छूटेगा!' ऐसा कहकर नहीं छूटेगा। पहले मृत्यु के नगाड़े बजेंगे, फिर मृत्यु (आयेगी), ऐसा नहीं। अकस्मात् एकदम देह छूटेगा। आहा...हा...! वह तेरे (हाथ की) चीज कहाँ है ? आहा...हा...!

यहाँ तो (कहते हैं कि) इन्द्रिय के सुख में शरीर किञ्चित् कारण नहीं। वह अज्ञानी की कल्पनास्वरूप आत्मा की परिणति कारण है। यहाँ 'आत्मा' शब्द (का अर्थ) यह

लेना। आत्मा अर्थात् त्रिकाली आत्मा नहीं, परन्तु आत्मा अपनी अशुद्ध परिणति करता है, वह आत्मा सुख की कल्पना में कारण है; इन्द्रिय के सुख की कल्पना में! मिथ्याभ्रान्ति से (कल्पना करता है)। आहा...हा...!

अरे...! जवान शरीर हो, जवान स्त्री हो... आहा...हा...! और भोग में आनन्द माने! अरे...रे...रे...! आ...हा...! अरे...! एक बार नजरों से एक आदमी को तो ऐसा देखा था! मैंने कहा, 'रात्रि का समय हो गया है और तुमने यह पेड़ा क्यों लिये?' पेड़ा! पेड़ा! फिर (हम) समझ गये कि ठीक! ये घर जाकर भोग लेना है, इसलिए पहले पेड़ा खाकर भोग लेगा! अनुभव तो बहुत हो गया हैं ना! ९० वर्ष हो गये! शरीर को ९० वर्ष (हुए)! सौ में दस कम! रात्रि के आठ बजे हैं। अभी तो छह बजे खिचड़ी, कढी, पकोड़े खाये हैं और नौ बजे ये पेड़ा क्यों ले रहा है? हम समझ गये कि ओ...हो...! आहा...हा...! दुनिया क्या करती है? भोग लेने से पहले पेड़ा खाये और बाद में भोग ले तो फिर ज्यादा मजा आये! आ...हा...हा...! भ्रमणा तो देखो! इस भ्रमणा में शरीर तो बिलकुल कारण नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! आत्मा कारण है, ऐसा कहा न?

निश्चय कारण आत्मा ही है... आत्मा कारण है, इसका अर्थ उसकी अशुद्ध परिणति ही कारण है। आ...हा...हा...! भगवान कहते हैं वह एक बात तो यथार्थ समझे! यहाँ तो कुछ समझना नहीं और अन्ध होकर चले जाते हैं! कुछ मालूम नहीं। अरे...! जिन्दगी चली जा रही है, भाई! आहा...हा...!

अर्थात् इन्द्रियसुख का भी वास्तविक कारण आत्मा का ही अशुद्ध स्वभाव है। देखो! आया? आत्मा का कारण (माने) आत्मा का अशुद्ध स्वभाव, अशुद्ध भाव। आहा...हा...! शरीर नहीं; (वह तो) अकिञ्चित्कर (है)। शरीर और इन्द्रियाँ तो आत्मा की सुख की कल्पना में किञ्चित् कारण नहीं है। आहा...हा...! कर्म भी कारण नहीं; उसका अशुद्ध स्वभाव कारण है। आहा...हा...!

अशुद्ध स्वभाव में परिणमित आत्मा ही... है? अशुद्ध मलिन स्वभाव में परिणमित **आत्मा ही स्वयमेव इन्द्रियसुखरूप होता है।** इन्द्रिय के सुखरूप स्वयमेव

अशुद्ध परिणमन से होता है। आहा...हा...! **उसमें शरीर कारण नहीं है;...** है? यहाँ तुम्हारे पैसे – धूल की तो बात ही नहीं है।

'बम्बई' में हम एकबार ठहरे थे। समुद्र के किनारे ७० साल का एक मकान है। समुद्र बहुत करीब था। वहाँ देखा तो बगुले मछली खाते थे। बगुला! बगुला! मैंने सेठ को पूछा, 'ये बगुले कहाँ तक जाते हैं?' (उन्होंने कहा) 'महाराज! बीस-बीस मील दूर जाते हैं!' समुद्र में मछली को लेने (इतनी दूर जाते हैं)। आ...हा...! बीस मील तक दूर जाते थे! (बीच में) पेड़ नहीं, (कुछ) नहीं, लेकिन मछली को खाने को (इतनी दूर तक जाते थे!) आहा...हा...! बीस मील जाये और बीस मील (वापिस) आये। अर...र...र...! ऐसी स्थिति। बापू! ऐसे अनन्त भव किये हैं, भाई! तुझे मालूम नहीं। वर्तमान में शरीर (आदि) ठीक देखा तो सब कुछ भूल गया। आहा...हा...! बीस मील! बीस मील तक बगुले (जाते हैं)। बगुला कहते हैं न? मछली जब तक नहीं मिलती, मछली ऊपर आये तो खाये न? पानी में तो जो सकता नहीं, तो बीस मील तक चले जाते थे। अरे...रे...! मरकर फिर नरक में जाना! आहा...हा...! नरक योनि में उत्पत्ति! आहा...हा...! वहाँ के दुःख सहन नहीं कर सके भाई! ऐसे दुःख प्रभु! तूने सहन किये हैं। आहा...हा...!

प्रभु तो कहते हैं कि पहली नरक में दस हजार वर्ष की स्थिति में तुम अनन्त बार गये और दस हजार एक समय में अनन्त बार, दस हजार दो समय में अनन्त बार, (जैसे ही) तीन, चार, पाँच, छह, असंख्य समय करते...करते... सागरोपम तक चले गये। अनन्त... अनन्त... बार! जिसके दुःख की वेदना करोड़ों जीभ से, करोड़ों भव में नहीं कर सके – ऐसा 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में भगवान कहते हैं। आहा...हा...! (लेकिन) भूल गया! यहाँ शरीर और इन्द्रियाँ (कुछ ठीक मिले तो भूल गया)। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं, **क्योंकि सुखरूप परिणति और शरीर सर्वथा भिन्न होने के कारण...** क्या कहते हैं? देखो! कल्पना में जो सुख की कल्पना की पर्याय है, उस परिणति और शरीर के बीच में तो अत्यन्त अभाव है, अत्यन्त भिन्न है। आहा...हा...! अशुद्ध परिणति में जो सुख मानता है वह परिणति शरीर को छूती नहीं और शरीर परिणति को छूता नहीं। अरे...रे...! यह कैसे बैठे? आहा...हा...! समझ में आया? क्या कहा?

शरीर सर्वथा भिन्न होने के कारण... किससे ? इन्द्रिय के विषय में कल्पना हुई कि ये मुझे ठीक है – ऐसी जो अशुद्ध परिणति – पर्याय, उससे शरीर बिलकुल भिन्न है; शरीर बिलकुल भिन्न है। आ...हा... ! सर्वथा भिन्न है, सर्वथा भिन्न है; कथञ्चित् भिन्न है – ऐसा नहीं। आहा...हा... ! इन्द्रिय के सुख की परिणति में शरीर सर्वथा भिन्न है। कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न है – ऐसा है नहीं। आ...हा...हा... ! एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। भगवान आत्मा की अशुद्ध परिणति में शरीर का अत्यन्त अभाव है और शरीर की पर्याय में अशुद्ध परिणति का अत्यन्त अभाव है। आहा...हा... ! ऐसी बात है !

शरीर सर्वथा भिन्न होने के कारण सुख और शरीर में निश्चय से किञ्चित् मात्र भी कार्यकारणता नहीं है। देखो ! इन्द्रियसुख की कल्पना में शरीर किञ्चित् कारण नहीं। सर्वथा भिन्न है, उसका बिलकुल कारण नहीं। आहा...हा... ! 1

सहज अद्भुत शान्त मुनिदशा

मुनिराज को देह में भी उपशमरस बरसता है, शरीर भी शान्त... शान्त... शान्त। अरे ! वचन में भी कहीं चपलता अथवा चञ्चलता दिखाई नहीं देती – ऐसे शान्त होते हैं। उन मुनिराज को निर्ग्रन्थ गुरु कहा जाता है। उनको देह की नग्नदशा निमित्तरूप होती ही है परन्तु वह अथवा पञ्च महाव्रत के शुभविकल्प भी चारित्र नहीं हैं, उनसे मोक्ष नहीं है; मोक्ष तो अन्दर शुद्धात्मद्रव्यसामान्य के उग्र अवलम्बन से प्रगट होनेवाली स्वरूप स्थिरता से ही होता है। वह स्वरूप स्थिरता उस मुनिदशा में है। अन्तरङ्ग में प्रगट होनेवाली वह सहज मुनिदशा अद्भुत है। मुनिराज की मुद्रा भी शान्तरस से नितरती होती है। अहा ! ऐसी बात है। *(-वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 197)*

गाथा - ६६

अथैतदेव दृढयति -

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा।।६६।।

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा।
विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा।।६६।।

अयमत्र सिद्धान्तो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुःखं वा स्वयमेवात्मा स्यात्।।६६।।

अथ मनुष्यशरीरं मा भवतु, देवशरीरं दिव्यं तत्किल सुखकारणं भविष्यतीत्याशङ्कां निराकरोति - **एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि** एकान्तेन हि स्फुटं देहः कर्ता सुखं न करोति। कस्य। देहिनः संसारिजीवस्य। क्क। **सग्गे वा** आस्तां तावन्मनुष्याणां मनुष्यदेहः सुखं न करोति। कस्य। देहिनः संसारिजीवस्य। क्क। **सग्गे वा** आस्तां तावन्मनुष्याणां मनुष्यदेहः सुखं न करोति, स्वर्गे वा योऽसौ **दिव्यो देवदेहः** सोऽप्युपचारं विहाय सुखं न करोति। **विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा** किंतु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सांसारिकसुखं दुःखं वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्रायः।।६६।।

अब, इसी बात को दृढ़ करते हैं -

नहीं स्वर्ग में भी देह देता, जीव को सुख नियम से।
विषयों के वश जीव स्वयं ही, सुख-दुःखरूप ही परिणमे॥

अन्वयार्थ : [एकान्तेन हि] एकान्त से अर्थात् नियम से **[स्वर्गे वा]** स्वर्ग में भी **[देहः]** शरीर **[देहिनः]** शरीरी (- आत्मा को) **[सुखं न करोति]** सुख नहीं देता **[विषयवशेन तु]** परन्तु विषयों के वश से **[सौख्यं दुःखं वा]** सुख अथवा दुःखरूप **[स्वयं आत्मा भवति]** स्वयं आत्मा होता है।

टीका : यहाँ यह सिद्धान्त है कि भले ही दिव्य वैक्रियिकता प्राप्त हो तथापि 'शरीर सुख नहीं दे सकता;' इसलिए आत्मा स्वयं ही इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के वश से सुख अथवा दुःखरूप स्वयं ही होता है।

भावार्थ : शरीर सुख-दुःख नहीं देता। देवों का उत्तम वैक्रियिक शरीर सुख का कारण नहीं है और नारकियों का शरीर दुःख का कारण नहीं है। आत्मा स्वयं ही इष्ट-अनिष्ट विषयों के वश होकर सुख-दुःख की कल्पनारूप में परिणमित होता है॥ ६६॥

प्रवचन नं. ६३ का शेष **दिनाङ्क १० मार्च १९७९**

अब, इसी बात को दृढ़ करते हैं -

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा।।६६।।

एकान्तथी स्वर्गेय देह... क्या कहते हैं ? कि स्वर्ग में तो शरीर के कारण से सुख होगा कि नहीं ? यहाँ भले न हो। (लेकिन) वहाँ भी शरीर सुख का कारण नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

नीचे हरिगीत -

नहीं स्वर्ग में भी देह देता, जीव को सुख नियम से।
विषयों के वश जीव स्वयं ही, सुख-दुःखरूप ही परिणमे॥

आ...हा...हा...! अरे...! भगवान! ऐसी बात सुनने मिलना भी कठिन है। भाई! आहा...हा...! लोगों को बाहर की हो... हा... हो...हा... (अच्छी लगती है)। अरे...रे...! पैसा... पैसा... 'नैरोबी' में करोड़पति (हैं)! उसे यह कहाँ सुनने मिले ? आहा...हा...! धूलपति हैं! करोड़ माने जड, उसका पति माने धूल का पति है! आहा...हा...! परन्तु उस धूल के कारण से पति मानते हैं, ऐसा नहीं। ममता है कि यह चीज मेरी है। ममता के परिणमन में और धूल में अत्यन्त अभाव है। आहा...हा...! ममता के परिणाम (को) लक्ष्मी छूती नहीं (और) लक्ष्मी को ममता के परिणाम छूते नहीं। ऐसी बात है!

श्रोता : लोक में तो (ऐसा ही) प्रसिद्ध है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोगों (के) पागलपन में तो प्रसिद्ध ही हो न! यह तो भगवान की कॉलेज है न, भाई! यह भगवान की कॉलेज है!

श्रोता : यह कॉलेज कैसी खुली है, जो खुली ही रहती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो जिसे गरज हो वह आये! 'नैरोबी' (आने के लिये) विनती की है। वहाँ मन्दिर हुआ है न? ज्येष्ठ शुक्ला ११, को पन्द्रह लाख का मन्दिर (बना है)। (पिछले) दो हजार वर्ष में 'अफ्रीका' में दिगम्बर मन्दिर नहीं (बना था)। मन्दिर का खास मुहूर्त हो गया है और मन्दिर तैयार भी हो गया है। (इसलिए) विनती करते को आये थे। (हमने तो कहा) 'ठीक होगा तो आयेंगे। हम आयेंगे लेकिन हम इन्जेक्शन नहीं लेंगे।' अरे... भाई! ये क्या चीज है? आहा...हा...! कहाँ 'अफ्रीका'! (पिछले) दो हजार वर्ष में वहाँ कभी दिगम्बर जैन का नाम नहीं था। पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाते हैं। पन्द्रह लाख तो कहते हैं लेकिन विशेष हो गया (है)। कोई कहे तो (मालूम पड़े), हम वहाँ देखने थोड़े ही गये थे! ज्येष्ठ शुक्ला ११, को 'नैरोबी' 'अफ्रीका' में मन्दिर का मुहूर्त हुआ। अभी थोड़ा-थोड़ा तैयार हो गया (है)। अगले दिसम्बर में पञ्च कल्याणक करने का (मुमुक्षुओं का) भाव है। 'अफ्रीका' में पञ्च कल्याणक! आहा...हा...! (हमने तो कहा) 'शरीर ठीक होगा तो आयेंगे, नहीं तो क्या करेंगे?' छह घण्टे का तो प्लेन में रास्ता है! प्लेन न? क्या कहते हैं? सब गृहस्थ लोग हैं। श्वेताम्बर के ६० घर हैं, सब दिगम्बर हो गये हैं। श्वेताम्बर, दिगम्बर हो गये! 'अफ्रीका' में हमेशा यहाँ का प्रवचन होता है। प्लेन में भगवान की दिगम्बर मूर्ति ले गये हैं। हमेशा पूजा होती है, प्रवचन होता है। पूरे 'समयसार' की पाँच हजार टेप ले गये हैं।

श्रोता : आपका साम्राज्य बढ़ता जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार्ग तो यह है, भैया! आज एक लेख आया है। उसमें लिखा है कि ''अभी तक जो कुछ छपता था, उसका लोग विरोध बहुत करते थे। अब लोग 'कानजीस्वामी' का, 'सोनगढ़' का विरोध करते हैं परन्तु अब तो उनका प्रचार इतना बढ़ता है कि आपका विरोध काम नहीं करेगा!'' आज लेख आया है। 'क्योंकि उनके पण्डित ऐसे

तैयार हो गये हैं कि दस-दस हजार आदमी में उनकी चलती है। पुराने विद्वानों की इतनी चलती नहीं है।' प्रभु का ऐसा सत्य मार्ग है। मार्ग सत्य है।

'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ' यहाँ कोई गड़बड़ नहीं माननी है। परम सत्य परमागम भगवान की वाणी है, उसमें से यह मार्ग निकला है। आहा...हा...! परन्तु वह मार्ग सूक्ष्म बहुत, प्रभु! आहा...हा...! दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति में करोड़ों खर्च करे लेकिन वह धर्म नहीं। राग की मन्दता हो तो पुण्यबन्ध होगा, आत्मधर्म नहीं, प्रभु! आ...हा...हा...!

आत्मधर्म तो, अन्तर ज्ञायकस्वरूप भगवान! जिसके सम्यग्दर्शन में - ध्येय में पूर्णानन्द अभेद आया.... आ...हा...हा...! पर्याय का भेद भी जिसके दर्शन के ध्येय में नहीं, सम्यग्दर्शन के ध्येय में पर्याय का भेद भी नहीं... आहा...हा...! तो राग तो कहाँ से आया? ऐसा मार्ग है, भाई!

अन्तर आनन्दमूर्ति प्रभु! ज्ञायक भूतार्थ भाव! भूत नाम विद्यमान, अर्थ नाम भाव। विद्यमान पदार्थ, विद्यमान वस्तु - भाव महा प्रभु है! आहा...हा...! उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन और आनन्द होता है, तब धर्म होता है, बाकी सब व्यर्थ है।

(एक लेख आया है उसमें लिखा है कि) 'उन लोगों का इतना प्रचार चल रहा है कि उनके बड़े-बड़े विद्वान तैयार हुये हैं और बढ़ते जा रहे हैं और पुराने पण्डितों का कुछ चलता नहीं।' भाई! मार्ग यह है, बापू! परमात्मा तीन लोक के नाथ 'सीमन्धर भगवान' के पास से यह मार्ग आया है! आहा...हा...! यह मार्ग बाहर से नहीं आया है, भाई! आ...हा...हा...! बड़ा लेख लिखा है। लोग मानते हैं कि महाराज पधारे तो पैसे होते हैं! कोई ऐसा माने उसमें हमें क्या? उससे क्या होता है? वह तो पुण्य हो तो होता है। यहाँ से क्या होता है? यहाँ के बहुत भक्त गरीब हैं। पैसेवाले बहुत हैं तो उसमें क्या? यहाँ पैसेवाले बहुत आते हैं और हमारे कुटुम्बी भी पैसेवाले हैं। गृहस्थाश्रम में बड़ी पैसेवाली दुकान है, 'पालेज' में दुकान है, वहाँ हम पाँच साल रहे। दुकान है चालीस लाख रुपय हैं। तीन-चार लाख की आमदनी है। इस तरह कुटुम्ब भी पैसेवाला, यहाँ बड़े-बड़े पैसेवाले सेठ आते हैं तो लोग मानते हैं कि महाराज के कारण से पैसे मिलते हैं। लकड़ी में कुछ है, ऐसा लोग कहते हैं!

'अमरेली' (गाँव का) एक जज था। हम वहाँ गये थे, तब सब सेठ आये थे। वहाँ एक वकील थे, उन्होंने जज को कहा 'आज मैं नहीं आ पाऊँगा, महाराज के व्याख्यान सुनने जाना है।' तो जज ने कहा 'कौन से महाराज? उनकी लकड़ी फिरती है और पैसा मिलता है वे महाराज?' जज के पास ऐसी बात चली है! लकड़ी तो, हाथ में पसीना होता है, (इससे शास्त्र की आशातना नहीं हो; इसलिए लकड़ी रखते हैं)। लकड़ी में कुछ है नहीं। आत्मा में है। 'अफ्रीका' में भी बात पहुँच गई है, ऐसा कहते हैं। (वहाँ) ६० घर है तो सब लाखोपति हैं, कोई पचास लाख, कोई साठ लाख! पैसे तो पुण्य हो तो आये। उसमें आया क्या? धर्म के कारण से आता है, ऐसा तो है नहीं।

यहाँ तो परमात्मा यह फरमाते हैं... आहा...हा...! है? ६६ (गाथा की टीका)। **यहाँ यह सिद्धान्त है कि भले ही दिव्य वैक्रियिकता...** आहा...हा...! **प्राप्त हो...** (अर्थात्) स्वर्ग का वैक्रियक शरीर मिले तो भी यह शरीर सुख का कारण नहीं – यह सिद्धान्त लेना है। आहा...हा....! है? सर्वार्थसिद्धि में देव की स्थिति ३३ सागर की है। समकिती! ३३ सागर! एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम! एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरबों वर्ष! भगवान का यह कथन है! आ...हा...हा...! सर्वार्थसिद्धि के (देव) ३३ सागर पर्यन्त चर्चा करते हैं! क्योंकि उनको आहार नहीं, पानी नहीं, स्त्री नहीं, व्यापार-धन्धा कुछ नहीं। ३३ सागर! एकावतारी – एकावतारी हैं! वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं। सर्वार्थसिद्धि! आ...हा...हा...! परन्तु वह शरीर सुख का कारण नहीं, ऐसा कहते हैं। समकिती हैं तो उनको आत्मा सुख का कारण है। आत्मा में दृष्टि पड़ी है और आत्मा का आश्रय है तो आनन्द है। शरीर (कारण) नहीं। इन्द्रिय के सुख में भी शरीर कारण नहीं। आहा...हा...! है?

यहाँ यह सिद्धान्त है कि भले ही दिव्य वैक्रियिकता प्राप्त हो तथापि 'शरीर सुख नहीं दे सकता';... (कोई) भस्म इत्यादि रखते हैं तो वह सुख का कारण नहीं। ऐसा कहते हैं।

श्रोता : रोगी हो तो उसे दु:ख तो होता है न?

समाधान : नहीं, नहीं, रोग के कारण दु:ख नहीं, ऐसा कहते हैं। अनिष्ट मानकर

अप्रीति करता है, वह दुःख का कारण है; शरीर नहीं। आहा...हा...! धर्मात्मा को कभी देव समुद्र में ले जाये, मुनि हो, (उन्हें) समुद्र में ले जाये... आ...हा...हा...! ऊपर से नीचे गिराये! अन्दर में शरीर से भिन्न आत्मा का ध्यान करते हैं (उसमें) आनन्द है। वहाँ से केवलज्ञान पाकर मोक्ष हो जाते हैं। आ...हा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि औदारिक शरीर तो सुख का कारण नहीं परन्तु इन्द्रों को वैक्रियिक शरीर मिलता है, वह तो सुख का कारण है कि नहीं? तो कहते हैं कि वह भी (सुख का) कारण है नहीं। आहा...हा...! यह तो प्रभु का मार्ग (है)। 'वीरनो मार्ग छे शूरानो, कायरना नहीं काम' वहाँ हिजड़े जैसे कायर का काम नहीं। आहा...हा...! यह तो वीर का मार्ग! तीन लोक के नाथ! अनन्त तीर्थङ्कर हुए और वर्तमान में बीस तीर्थङ्कर विराजते हैं। महाविदेह में लाखो केवली विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजते हैं। आ...हा...हा...! जिनकी यह वाणी है। आ...हा...!

इसलिए, आत्मा स्वयं ही इष्ट अथवा अनिष्ट... है? **इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के वश से....** (अर्थात्) विषय के वश। इष्ट विषय के वश राग (होता है और) अनिष्ट विषय के वश दुःख (होता है)। (ऐसे) **सुख अथवा दुःखरूप स्वयं ही होता है।** शरीर नहीं। इष्ट-अनिष्ट विषय के वश होकर अज्ञानी सुख-दुःख की कल्पना अपने से करता है। उसमें शरीर कारण नहीं है। आ...हा...हा...! निरोग शरीर मिले तो सुखी है! धूल में (सुखी) है नहीं और सरोग शरीर रहता है तो दुःखी है, धूल (में) भी (दुःखी) नहीं। आ...हा...हा...! इष्ट-अनिष्ट विषय में प्रीति-अप्रीति करता है, इस कारण से सुख-दुःख की कल्पना होती है। शरीर कारण नहीं है। आ...हा...हा...! है? बहुत बढ़िया श्लोक (गाथा) है! आहा...हा...! आत्मा के सुख की तो क्या बात करना, परन्तु इन्द्रिय के सुख में (भी) शरीर कारण नहीं - ऐसा कहते हैं।

श्रोता : 'पहलुं सुख ते जाते नर्या' ऐसा लोग कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल है। 'पहलुं सुख ते जाते नर्या' अज्ञानी मानते हैं, (अर्थात्) निरोग शरीर, दूसरा सुख - घर में चार लड़के। तीसरा सुख - सुकुल की नारी। चौथा सुख - कोठी में जार (अर्थात्) घर में धान हो। ऐसा अज्ञानी दुनिया मानती है। आ...हा...हा...!

ऐसा कहते हैं या नहीं ? मालूम है या नहीं ? यहाँ तो सब अनुभव किया है। १७ वर्ष की उम्र से संसार को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखा है। ७२ साल से यह अभ्यास है। आहा...हा... ! अरे... ! दुनिया क्या मानती है और मार्ग कहाँ रह गया ?

वैक्रियिक शरीर तो सुखरूप नहीं। है ? **इसलिए, आत्मा स्वयं ही...** कर्म के कारण से नहीं, शरीर के कारण से नहीं। आ...हा...हा... ! कर्म ऐसा है तो इष्ट-अनिष्टबुद्धि होती है, ऐसा नहीं। आहा...हा... ! भगवान आत्मा कर्म को छूता नहीं शरीर को छूता नहीं। कर्म तो सूक्ष्म है, उसको भी छूता नहीं। **इसलिए, आत्मा स्वयं ही इष्ट अथवा अनिष्ट विषयों के वश से...** विषयों के वश **सुख अथवा दुःखरूप स्वयं ही होता है।** सुख और दुःख स्वयं अपनी परिणति में करता है, कर्म के कारण से नहीं, शरीर के कारण से नहीं, पैसे के कारण से नहीं। आहा...हा... ! रोग आया, इसलिए दुःख की कल्पना हुई - ऐसा नहीं। आ...हा...हा... ! शरीर में घाव पड़ा, इसलिए दुःख की परिणति उत्पन्न हुई है, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। अपनी परिणति में दुःख का परिणाम करता है तो उसमें शरीर बिलकुल कारण है नहीं। आ...हा...हा... ! ऐसी बातें हैं !

भावार्थ : शरीर सुख-दुःख नहीं देता। है ? शरीर जड़-धूल है। यह तो मिट्टी है। वह कल्पना का सुख-दुःख नहीं देता। **देवों का उत्तम वैक्रियिक शरीर सुख का कारण नहीं है...** आ...हा...हा... ! मनुष्य और तिर्यञ्च को तो औदारिक शरीर है। देव और नारकी को वैक्रियिक शरीर है। नारकी (को) दुःख है तो वैक्रियिक शरीर के कारण से नहीं और स्वर्ग में सुख है तो वैक्रियिक शरीर के कारण से नहीं। कल्पना में परिणति करता है कि मुझे ठीक है और मुझे अठीक है। ऐसी कल्पना (करता) है, (उसमें) परिणति कारण है। अशुद्ध स्वभाव मानता है, वह कारण है। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि नहीं और अशुद्ध भाव पर दृष्टि है, इस अशुद्ध भाव के कारण से सुख-दुःख की कल्पना करता है, शरीर के कारण से नहीं। आ...हा...हा... !

प्रभु का मार्ग यह है। तीन लोक के नाथ, जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं कि भैया ! वैक्रियिक शरीर भी सुख का कारण नहीं। इन्द्रिय का सुख, हाँ ! **नारकियों का शरीर दुःख का कारण नहीं है।** (नीचे) नरक है न ? सात नरक ! (उनका) शरीर, दुःख का

कारण नहीं है; उसकी अनिष्टबुद्धि है, वह दु:ख का कारण है, आहा...हा... ! शरीर नहीं। आ...हा...हा... ! शरीर के तो टुकड़े कर देते हैं। उसे क्या कहते हैं ? पारा...पारा ! पारा जैसे भिन्न-भिन्न होता है, वैसे वहाँ शरीर के भिन्न-भिन्न टुकड़े हो जाते हैं। फिर क्षण में इकट्ठे हो जाते हैं, लेकिन वह कोई नारकी के दु:ख का कारण नहीं। आ...हा...हा... ! **नारकियों का शरीर दु:ख का कारण नहीं।**

आत्मा स्वयं ही इष्ट-अनिष्ट विषयों के वश.... (कोई) विषय इष्ट-अनिष्ट है नहीं। विषय तो ज्ञेय हैं। सारा जगत् ज्ञान में ज्ञेय है, परन्तु अज्ञानी - 'यह इष्ट है, यह अनिष्ट है' - ऐसा मानकर इष्ट-अनिष्टरूप परिणमन करता है, यह दु:ख का कारण है। आ...हा...हा... ! है ? **आत्मा स्वयं ही इष्ट-अनिष्ट विषयों के वश होकर सुख-दु:ख की कल्पनारूप में परिणमित होता है।** आ...हा...हा... ! इस शरीर में मिथ्यादृष्टि कल्पना से मानता है कि मुझे सुख है, मैं सुखी हूँ - ऐसी कल्पनारूप परिणमन करता है, उसमें शरीर कारण नहीं है; तेरी विपरीत मान्यता कारण है। विशेष कहेंगे... 1

मुनिदशा में उपशमरस का ज्वार

अहो! मुनिवर तो आत्मा के आनन्द में झूलते हैं। बारम्बार अन्तर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं। बाह्य दृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है। मुनि की बाह्यदशा तो बिलकुल नग्न दिगम्बर ही होती है तथा अन्तर में आत्मा की शान्ति का सागर उछलता है.... आनन्द का सागर उछलता है.... उपशमरस का ज्वार आया है। यद्यपि अभी महाव्रतादि की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानते हैं।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिनशासन, पृष्ठ - 42)

गाथा - ६७

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति -

तिभिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति।।६७।।

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम्।
तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति।।६७।।

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन। प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः।।६७।।

एवं मुक्तात्मनां देहाभावेऽपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं संसारिणामपि देहः सुखकारणं न भवतीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्। अथात्मनः **स्वयमेव** सुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देहः सुखकारणं न भवति तथा विषया अपीति प्रतिपादयति - **जइ यदि दिट्ठी** नक्तंचरजनस्य दृष्टिः **तिमिरहरा** अन्धकारहरा भवति **जणस्स** जनस्य **दीवेण णत्थि कायव्वं** दीपेन नास्ति कर्तव्यं। तस्य प्रदीपादीनां यथा प्रयोजनं नास्ति **तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थं कुव्वंति** तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादक-सहजानन्दैकलक्षणसुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ संसारे वा विषयाः किं कुर्वन्ति, न किमपीति भावः।।६७।।

अब, आत्मा स्वयं ही सुखपरिणाम की शक्तिवाला होने से विषयों की अकिञ्चित्करता बतलाते हैं –

यदि दृष्टि प्राणी की तिमिर-हर, तो काम क्या है दीप से ?।
यदि जीव सुखमय परिणमे तो, काम क्या है विषयों से ?॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि **[जनस्य दृष्टिः]** प्राणी की दृष्टि **[तिमिरहरा]** तिमिरनाशक हो तो **[दीपेन नास्ति कर्तव्यं]** दीपक से कोई प्रयोजन नहीं है, अर्थात् दीपक कुछ नहीं कर सकता, **[तथा]** उसी प्रकार जहाँ **[आत्मा]** आत्मा **[स्वयं]** स्वयं

[सौख्यं] सुखरूप परिणमन करता है **[तत्र]** वहाँ **[विषयाः]** विषय **[किं कुर्वन्ति]** क्या कर सकते हैं ?।

टीका : जैसे किन्हीं निशाचरों के (उल्लू, बिल्ली, भूत इत्यादि) नेत्र स्वयमेव अन्धकार को नष्ट करने की शक्तिवाले होते हैं। इसलिए उन्हें अन्धकार नाशक स्वभाववाले दीपक-प्रकाशादि से कोई प्रयोजन नहीं होता, (उन्हें दीपक-प्रकाश कुछ नहीं करता); इसी प्रकार यद्यपि अज्ञानी 'विषय सुख के साधन हैं' ऐसी बुद्धि के द्वारा व्यर्थ ही विषयों का अध्यास (आश्रय) करते हैं, तथापि संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप परिणमित इस आत्मा का विषय क्या कर सकते हैं ?

भावार्थ : संसार में या मोक्ष में आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमित होता है; उसमें विषय अकिञ्चित्कर हैं अर्थात् कुछ नहीं कर सकते। अज्ञानी, विषयों को सुख का कारण मानकर व्यर्थ ही उनका अवलम्बन लेते हैं॥ ६७॥

प्रवचन नं. ६४ **दिनाङ्क ११ मार्च १९७९**

'प्रवचनसार' ६७ गाथा। क्या कहते हैं ? देखो! **अब, आत्मा स्वयं ही सुखपरिणाम की शक्तिवाला होने से विषयों की अकिञ्चित्करता बतलाते हैं** - क्या कहते हैं ? कि आत्मा सुखस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप स्वयं अपने से परिणमता है। विषयों का अवलम्बन ले तो भी अपने से सुखरूप कल्पना से परिणमता है। विषय अकिञ्चित्कर है (अर्थात्) कुछ काम नहीं करते। और विषयों के अलावा भगवान आत्मा मुक्त अवस्था में आनन्दरूप परिणमन करता है तो भी कोई विषय या परपदार्थ और निमित्त की अपेक्षा नहीं है। क्या कहा समझ में आया ? (आगे) विशेष कहेंगे।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति।।६७।।

नीचे हरिगीत -

यदि दृष्टि प्राणी की तिमिर-हर, तो काम क्या है दीप से ?।
यदि जीव सुखमय परिणमे तो, काम क्या है विषयों से ?॥

टीका : जैसे किन्हीं निशाचरों के.... (निशाचर अर्थात्) रात्रि में चलनेवाला। निशा अर्थात् रात्रि, चर अर्थात् चलनेवाला **(उल्लू, बिल्ली, भूत इत्यादि)...** ये रात्रि में अन्धकार में चलते हैं। (उनके) **नेत्र स्वयमेव अन्धकार को नष्ट करने की शक्तिवाले होते हैं,....** उनके नेत्र की शक्ति ऐसी है कि अन्धकार का नाश करे। उन्हें किसी प्रकाश की जरूरत नहीं है। बिल्ली, उल्लू, भूत इत्यादि। बहुत चोर (ऐसे) होते हैं, उसकी आँख में रात्रि में बहुत प्रकाश होता है। अन्धकार में भी वस्तु को देख ले।

नेत्र स्वयमेव अन्धकार को नष्ट करने की शक्तिवाले होते हैं, इसलिए उन्हें अन्धकार नाशक स्वभाववाले दीपक-प्रकाशादि से कोई प्रयोजन नहीं होता,.... अन्धकार को नाश करनेवाले सूर्य या दीपक की उन्हें जरूरत नहीं। यह दृष्टान्त (दिया)।

इसी प्रकार.... अब सिद्धान्त (कहते हैं)। **यद्यपि अज्ञानी....** मिथ्यादृष्टि जीव अनादि से **'विषय सुख के साधन हैं' ऐसी बुद्धि के द्वारा....** (अर्थात्) ये विषय - खाना, पीना, भोग, स्त्री का विषय (इत्यादि) सुख के साधन हैं, ऐसा मानकर अज्ञानी, **ऐसी बुद्धि के द्वारा व्यर्थ ही विषयों का अध्यास (आश्रय) करते हैं...** आ...हा...हा...! सूक्ष्म बात है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श - ये विषय हैं, उनका अज्ञानी निरर्थक अवलम्बन लेता है। इन्द्रियों के सुख की कल्पना भी कोई विषय नहीं कराते।

पाँच इन्द्रियों के विषयों में अज्ञानी, अपने से मूढ़ होकर सुख की कल्पना मानते हैं। विषय कुछ करता नहीं। आ...हा...! यह शरीर है, लक्ष्मी है, स्त्री है, इज्जत है - ये सब विषय हैं। ये विषय आत्मा को कोई सुख उपजावे; सुख अर्थात् इन्द्रिय का सुख (उपजावे ऐसा) है नहीं। उसका अवलम्बन लेकर अज्ञानी मानता है कि मेरे सुख की उत्पत्ति उससे होती है। आहा...हा...!

श्रोता : अच्छे पुत्र से तो सुखी है न?

समाधान : अच्छे लड़के कहें किसे? (अच्छा) वेतन लावे इसलिए (अच्छा है)? आकर पगचम्पी करे (पैर दबाये) उसमें क्या है? अच्छे लड़के यानि वह विषय है। अज्ञानी अवलम्बन लेकर मानता है कि मेरा लड़का ठीक है। ऐसी कल्पना से सुख की

कल्पना करता है वह दु:ख है। आहा...हा...! समझ में आया? स्त्री अनुकूल है, शरीर सुन्दर है, माँस और हड्डी सुन्दर है, वह तो पर-जड़ है। अज्ञानी उसका अवलम्बन लेकर मानता है कि उससे मुझे इन्द्रिय का सुख होता है। (लेकिन) उससे होता ही नहीं। आहा...हा...! विषय का अवलम्बन लेने से अपनी पर्याय में अपने से दु:ख की कल्पना होती है। इन्द्रिय का विषय है तो दु:ख, परन्तु इन्द्रिय का विषय (सुखरूप) अपने से मानता है। अवलम्बन लेता है, उससे विषय का सुख आता है, वह अकिञ्चित्कर है। परवस्तु अकिञ्चित्कर (है)। निमित्त अकिञ्चित्कर है, यह बताते हैं। लड्डू, मैसूरपाक, पैसा, स्त्री का शरीर, इज्जत के पुद्गल परमाणु अकिञ्चित्कर हैं। तेरे विषय के सुख की कल्पना में वे अकिञ्चित्कर हैं। वे कुछ कर नहीं सकते। आ...हा...हा...!

श्रोता : लोक में तो प्रसिद्धि होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी लोग तो प्रसिद्धि करते हैं, इसलिए तो कहते हैं। आहा...हा...! यह जड़ शरीर माँस, हड्डी; स्त्री का शरीर माँस, हड्डी का अवलम्बन लेकर मानता है कि मुझे उससे सुख है। (लेकिन) वह सुख का कारण है ही नहीं। सुख अर्थात् इन्द्रिय का सुख, हाँ! इन्द्रिय का सुख है वह दु:ख है। परपदार्थ अकिञ्चित्कर है, निमित्त बिलकुल करता नहीं। समझ में आया? यह शरीर, हड्डी, माँस आदि सुन्दर हो तो (उसके) भोग में कल्पना करता है कि यह ठीक है। (लेकिन) वह तो अकिञ्चित्कर है। यह हड्डी, माँस आदि उसकी सुख की कल्पना में अकिञ्चित्कर है। आहा...हा...! कठिन बात है! दुनिया से विरुद्ध है। ये सब पैसेवाले पैसा सुख का कारण है (ऐसा मानते हैं) परन्तु यहाँ 'ना' कहते हैं। वस्तु का स्वभाव ऐसा है, ऐसा यहाँ कहते हैं।

परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव के ज्ञान में आया - ऐसा हुकम दिया कि दुनिया पाँच इन्द्रिय के विषय का अवलम्बन लेकर (मानती है कि) मानों वह विषय(सुख) का कारण है, मेरे सुख की कल्पना का वह कारण है, ऐसा मानकर पर का अवलम्बन लेती है परन्तु वह सच्ची बात नहीं है। आ...हा...हा...! लड़का होशियार हुआ, फलाना ऐसा हुआ, वह मुझे सुख का कारण है, इन्द्रिय के विषय का सुख, हाँ! (यहाँ) कहते हैं कि विषय के सुख में परपदार्थ अकिञ्चित्कर है।

श्रोता : उठाकर ले तो जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो जड़ की पर्याय जड़ से चलती है। आ...हा...हा...! अरे...! जगत् को सत्य की खबर नहीं। अन्धा! अनादि से अन्धा (है)! अरबोंपति, करोड़ोंपति अन्धे हैं, ऐसा कहते हैं, देखो!

उल्लू और बिल्ली (को) रात्रि में अपनी आँख काम करती है, वहाँ उसे प्रकाश की – दीपक की या सूर्य की जरूरत नहीं है। वैसे ही अज्ञानी परवस्तु का अवलम्बन लेकर मानता है कि पर से सुख है। वह परवस्तु अकिञ्चित्कर है। परवस्तु उसे कोई सुख का (कारण नहीं)। इन्द्रिय के विषय की (सुख की) कल्पना में परवस्तु किञ्चित्कर नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? अज्ञानी की मान्यता – मिथ्या भ्रम है।

आहा...हा...! पाँच-पच्चीस लाख का मकान हो, सत्तर लाख का मकान तो हमने देखा है, एक ही मकान सत्तर लाख का! उसमें धूल में भी सुख नहीं।

श्रोता – वहाँ समुद्र की हवा मिलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समुद्र की हवा मिलती नहीं। अज्ञानी पर विषय का अवलम्बन लेकर पर से मुझे सुख की दशा होती है (ऐसा मानता है)। परवस्तु अकिञ्चित्कर है, कुछ करती नहीं। अज्ञानी अपनी कल्पना से रागरूप परिणमता है। आहा...हा...! कठिन काम है! सत्य वीतराग मार्ग...! आ...हा...हा...!

यद्यपि अज्ञानी – 'विषय सुख के साधन है...' हमारे विषयसुख में स्त्री का शरीर साधन है, पैसा साधन है, मैसूरपाक साधन है, रसगुल्ला साधन है, आ...हा...हा...! अनुकूल रेशमी कपड़ा, रेशमी गद्दा मेरे विषय में अनुकूल है (ऐसा अज्ञानी मानता है)।

श्रोता : मुलायम हो तो अनुकूल रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मुलायम तो जड़ है। वह जड़ क्या करता है? मुलायम तो जड़ (है), रेशमी कपड़ा तो जड़ है। जड़ उसको सुख की कल्पना कराता है, ऐसा नहीं है। अज्ञानी उसका अवलम्बन लेकर सुख की कल्पना करता है। (जड़) कुछ करता नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

एक बार कहा था न? 'मुम्बई' में (सद्गृहस्थ) थे। उनके यहाँ शाम को आहार करने गये थे। उनके मकान में... क्या कहते हैं उसे? गलीचा! रेशमी (गलीचे) बिछाये थे। वह तो धूल है। वह कोई सुख का कारण (नहीं)। ठण्डी हवा आये, दरवाजे खुले हों, रेशमी गद्दे (हों) और कुछ तो ऐसे आदमी होते हैं (कि) वे सोये तो आदमी उसे पंखा डाले। हवा खाये तब उसे नींद आये! अरे...रे...! वह पंखा क्या करता है? ऐसा यहाँ कहते हैं।

स्त्री का शरीर उसको सुख की कल्पना करने में अकिञ्चित्कर है। अज्ञानी सुख की कल्पना – मिथ्या भ्रान्ति करता है। आ...हा...हा...! इस भ्रान्ति से अनन्त संसार बढ़ता है। उसका चार गति में रुलने का भाव है। आहा...हा...! कठिन बात है, भाई! दुनिया माने कि सुखी है! प्रभु कहते हैं कि तू महादु:खी है! यहाँ की बात दुनिया से विरुद्ध है।

श्रोता – चौथे काल की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह (बात) पञ्चम काल के साधु कहते हैं। पञ्चम काल के मुनि पञ्चम काल के (श्रोता को) कहते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्य' पञ्चम काल में हुये हैं न? और यह 'अमृतचन्द्राचार्य' की टीका है। वे तो अभी एक हजार वर्ष पहले हुए हैं। वे पञ्चम काल के जीव को कहते हैं।

दवाई आदि आत्मा को इन्द्रिय के विषय में किञ्चित् भी काम नहीं करती। आहा...हा...! दुनिया से विरुद्ध है, भाई! आहा...हा...! यह कहते हैं, देखो! **अज्ञानी – 'विषय सुख के साधन हैं'...** ऐसी उसकी कल्पना है। **ऐसी बुद्धि के द्वारा व्यर्थ ही विषयों का अध्यास (आश्रय) करते हैं...** आ...हा...हा...! निमित्त का – स्त्री का, शरीर का, पैसा का, मकान का, गद्दे का – रेशमी गद्दे का अज्ञानी व्यर्थ ही आश्रय करता है। वे इन्द्रिय के सुख में बिलकुल अकिञ्चित्कर हैं। आहा...हा...!

करोड़ोंपति, अरबोंपति... कहा था न? 'गोवा' (के एक भाई के पास) दो अरब चालीस करोड़ रुपये! साठ लाख के तीन मकान! चालीस लाख का एक, दस लाख का दूसरा, दस लाख का दूसरा! मर गया! 'बम्बई' आया था, उसकी पत्नी को हेमरेज हुआ था। बाई तो हेमरेज में असाध्य थी। रात्रि में उसको दर्द शुरु हुआ। उनके समधी पास में

थे, उन्होंने कहा डॉक्टर को बुलाओ। डॉक्टर को बुलाये उसके पहले तो देह छूट गयी। दो अरब चालीस करोड़! दो सौ चालीस करोड़! धूल! मिट्टी का ढेर! शास्त्र ऐसा कहता है कि अब उसके पास प्रार्थना कर कि मैंने पाप करके बहुत (पैसा) इकट्ठा किया, अब मैं मर जाता हूँ, कहाँ जाऊँगा? तुम लक्ष्मी (हो) कुछ साधन दे!!

कहते हैं कि पाँचों इन्द्रियों के विषय जो शब्द हैं, रूप है, गन्ध है.... रूप है – सुन्दर शरीर तुझे राग उत्पन्न नहीं करवाता, तू राग करता है, वह चीज तो अकिञ्चित्कर है। रूप तो परद्रव्य है। परद्रव्य तुझे राग क्यों उत्पन्न कराये? आहा...हा...! ऐसे सुन्दर स्पर्श! इन्द्रिय के विषय (को) स्पर्श करे तो वह स्पर्श तुझे राग उत्पन्न नहीं करता। वह तो जड़ है, अकिञ्चित्कर है। अज्ञानी उसका अवलम्बन लेकर... है? **(आश्रय) करते हैं....** अन्दर है, भाई?

तथापि – संसार में.... आ...हा...हा...! तो भी संसार में अज्ञानी अज्ञान में अपना सुखरूप परिणमन करता है। सुख यानि दुःख। और **मुक्ति में....** आ...हा...हा...! मुक्तदशा में भी आत्मा अपने से आनन्दरूप परिणमित होता है। उसे कोई दूसरा विषय है नहीं। आहा...हा...! समझ में आता है कुछ? दो बात कही। **संसार में या मुक्ति में....** संसारदशा में एकेन्द्रिय से लेकर सर्वार्थसिद्धि के देव हो तो भी (जो) पर के आश्रय से सुख की कल्पना करते हैं तो पर किञ्चित् सुख उत्पन्न नहीं करवाता। विषय का सुख, हाँ! आ...हा...हा...! मानता है कि मुझे रेशमी (गद्दा) थोड़ा ठीक है! बुखार में बहुत गरमी हो तो ठण्डा पानी लगाये! पट्टियाँ... पट्टियाँ! ठण्डे पानी की पट्टियाँ! बर्फ रखे, बर्फ! बहुत गरम हो तो बर्फ रखे! वह क्या चीज है? वह तो तेरे शरीर को छूती भी नहीं।

श्रोता : डॉक्टर कहे तो?

समाधान : डॉक्टर तो कहे, डॉक्टर को भान कब था? डॉक्टर भी सब मूढ़ हैं! मैं दवाई करूँगा तो (रोग) मिटेगा। धूल भी नहीं मिटेगा! वह तो जड़ की पर्याय होनेवाली हो तो होती है। तेरे से (या) दवाई से होती है? इन्जेक्शन लगा दे, उसका आश्रय करता है। अन्दर तुम कल्पना करो! लेकिन वह कोई कारण है नहीं। (उसे ऐसा लगता है कि) मुझे इन्जेक्शन लगाया तो सांस बैठ गई और सब बराबर है। अब हवा की जरूरत नहीं।

हवा लेते हैं न? आक्सीजन! आक्सीजन लेते हैं न? आक्सीजन के डिब्बे होते हैं न? देखा है, हमने सब देखा है। 'मुम्बई' हम गये थे (वहाँ देखा था)। आक्सीजन के तीन बड़े शीशे भरे थे। किसी को छूने नहीं दे। आक्सीजन! (जो) साँस नहीं ले सके तो उसे आक्सीजन देते हैं। उस विषय का अवलम्बन लेता है तो मानता है कि आक्सीजन से मेरी साँस ठीक हुई। आ...हा...हा...! साँस बन्द हो जाती है न? नली में बन्द हो जाता है फिर आक्सीजन (देते हैं) तो साँस (चलती है), लेकिन वह तो जड़ है। तुम आश्रय करके मानते हो कि उसके कारण से मुझे यहाँ ठीक हुआ। (ऐसा) कुछ है नहीं। आ...हा...हा...! गजब बात है!

श्रोता : आपकी बात माने तो संसार नहीं रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सारा संसार ही झूठा है! समकिती संसार में रहते हैं (ऐसा) दिखता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार में दिखते हैं परन्तु विषय में सुख है, ऐसा नहीं मानते। आ...हा...हा...! राग आता है परन्तु राग मेरी कमजोरी से है, मैं तो उसका ज्ञाता-दृष्टा हूँ। राग मेरी चीज नहीं और राग में सुख नहीं और राग पर के कारण से हुआ, ऐसा नहीं है। आ...हा...!

चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्री होती हैं। (चक्रवर्ती) समकिती हैं, आत्मज्ञानी हैं। ये (कोई) सुख का विषय है नहीं, सुख का साधन है ही नहीं। सुख तो मेरे आत्मा में है। मेरी कमजोरी से राग आ जाता है, मैं उसका जाननेवाला, देखनेवाला हूँ। आ...हा...!

(एक मुमुक्षु बीमार थे उनकी बात करते हुए कहते हैं कि) आज गये थे। शरीर बहुत कमजोर हो गया है, लेकिन चिन्तवन... चिन्तवन... चिन्तवन... पहले से, बहुत वर्षों से शास्त्र का चिन्तवन-मनन बहुत! अभी कोई सुनाये तो भी ठीक नहीं लगता। अपने में अन्दर चिन्तवन करते हैं, बस! (देह की) अन्तिम स्थिति है तो भी उसकी कोई दरकार नहीं। मैं ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ... ज्ञायक हूँ... मैं जाननेवाला हूँ, बस! यही चिन्तवन करते हैं। आज गये थे, दो-चार दिन पहले भी गये थे। स्वर्ग में जानेवाला है। चालीस साल से यहाँ है और चिन्तवन-मनन बहुत! शास्त्र के वाँचन का प्रेम बहुत! बहुत रुचि! देह छूटेगा! स्वर्ग में जायेगा। मुझे तो ऐसा कहना था लेकिन नहीं कह सके कि 'स्वर्ग में जाकर भगवान

के पास जाना! भगवान विराजते हैं' लेकिन नहीं कहा, उस वक्त भूल गये। अभी साढ़े ग्यारह-पौने बारह बज गये थे परन्तु चिन्तवन करते हैं, बस! आ...हा...! अपना अभ्यास करता हो तो उसे पर की दरकार कुछ है नहीं। आ...हा...! दवाई देते हैं तो 'ना' कहते हैं। (सब कहते हैं कि) ''यहाँ से जाओ (और) 'अहमदाबाद' जाकर ऑपरेशन करवाओ।' (तो कह दिया) 'मेरा काम नहीं, मुझे यहाँ से जाने का भाव नहीं होता।' डॉक्टर को कुछ शङ्का हुई है... क्या कहते हैं? कैंसर! तुम्हारे रोग के नाम भी भूल जाते हैं! अन्दर कैंसर है। कैंसर हो या फैंसर हो, कुछ भी हो! आ...हा...हा...!

जड़ की जो अवस्था जिस समय होनेवाली है वह होगी, उसे कोई रोक नहीं सकता। आहा...हा...! उसे रख सके नहीं, उसे रोक नहीं सके, उसे टाल सके नहीं! आहा...हा...! अज्ञानी भ्रमणा में मानता है कि मैं ऐसा करूँ.... मैं ऐसा करूँ.... मैं ऐसा करूँ.... आहा...हा...! प्रभु! तू ज्ञानस्वरूपी चिदानन्द प्रभु है न! आहा...हा...! वह तो कोई भी प्रसङ्ग हो तो जानने-देखने का स्वभाव करनेवाला है।

यहाँ वह (बात) करते हैं कि संसार में हो तो भी विषयसुख की कल्पना अपने से करता है, विषयों से नहीं। विषय के आश्रय से या अवलम्बन से मेरे में सुख की कल्पना (होती है), ऐसा अज्ञानी मानता है। (परन्तु) उससे है नहीं। और मुक्ति में तो अपना सुख अपने से है। है दोनों (बात)? **संसार में या मुक्ति में....** सिद्ध...सिद्ध! णमो सिद्धाणं! आत्मा के आनन्द का अनुभव करते-करते सिद्धदशा होती है। आ...हा...हा...! स्वसंवेदन निजानन्द अमृत का सागर प्रभु! उसकी रुचि में परिणमन करते-करते, आनन्द का परिणमन करते-करते मुक्ति में पूर्णानन्द की प्राप्ति होती है। इस मुक्ति में आनन्द है, वह कोई पर के कारण से नहीं है। वहाँ तो शरीर नहीं, वाणी नहीं, इन्द्रिय नहीं, कुछ नहीं (है)। आहा...हा...! अपना आत्मा ही आत्मा के आनन्दरूप परिणमित होता है। आहा...हा...!

'सिद्ध समान सदा पद मेरो' मैं भी सिद्ध जैसा अनादि-अनन्त हूँ - ऐसा अन्तर में दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। आ...हा...हा...! तब उसको आनन्द का स्वाद आता है। इस आनन्द के स्वाद के कारण में भगवान आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में हो, सच्चे श्रावक हों, सच्चे श्रावक! ये सब तो सम्प्रदाय के

श्रावक हैं। शावक हैं (अर्थात् सिंह हैं!)। श्रावक तो (उसे कहते हैं कि जिन्होंने) अपने अन्तर के आनन्द में वस्तु का श्रवण किया हो। श्रावक (अर्थात्) विवेक किया हो और विवेक करके राग से भिन्न किया हो। आ...हा...हा...!

शुभ और अशुभभाव, पुण्य-पाप की कल्पना है, उससे मेरी चीज भिन्न है। मैं तो सच्चिदानन्द प्रभु त्रिकाल आनन्द का नाथ हूँ। इस प्रकार राग से भिन्न पड़ा हो तो उसकी दशा में विशेष स्थिरता आती हो तो उन्हें श्रावक कहते हैं। सम्यग्दर्शन में अन्दर स्थिरता अल्प है। श्रावक - पञ्चम गुणस्थानवाले होते हैं, (उन्हें स्थिरता) विशेष है और मुनि होते हैं... सच्चे सन्त! सच्चे सन्त, हाँ! ऐसे ही मुनिपना ले, नग्नपना ले, पञ्च महाव्रत ले, वह कोई मुनि है नहीं है। आहा...हा...! अन्तर (में) आनन्द की दशा में उग्र प्रयत्न और स्वसंवेदन - प्रचुर आनन्द का वेदन हो, इस आनन्द का वेदन करते-करते मुक्ति हो जाती है। आहा...हा...! समझ में आया? मुक्ति में तो अपना आनन्द-सुखरूप परिणमन अपने से होता है, इस सुख में कोई पर कारण नहीं है। आहा...हा...! एक बात भी यथार्थ बैठनी चाहिए न! अनादि से उल्टी बात बैठी है। आहा...हा...!

यह कहते हैं, देखो! **संसार में या मुक्ति में स्वयमेव सुखरूप...** परिणमन। 'सुखरूप परिणमन' का अर्थ - संसार में इन्द्रिय के विषय में सुखरूप परिणमन और मुक्ति में अपने आनन्द का परिणमन स्वयमेव करता है, पर का कोई कारण(पना)नहीं है। आ...हा...हा...!

श्रोता : इन्द्रियसुख तो पराधीन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : (अज्ञानी सुख) मानता है, ऐसा कहा न! (वास्तव में) सुख है नहीं। सुख है नहीं परन्तु मानता है कि मैंने यह आनन्द लिया, उसमें सुख है। (उसकी) यहाँ 'ना' कहते हैं कि उससे तुझे सुख है ही नहीं। तेरी कल्पना से तूने सुख माना है।

श्रोता : पर के आधीन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पराधीन है, वह तो दुःखी है। 'पराधीन सपने भी सुखी नहीं' ऐसा कहते हैं न? आहा...हा...! पराधीन तो राग के अधीन, इन्द्रिय के विषय के अवलम्बन से, अपने में अपने कारण से विकार का भाव होता है, उसे इन्द्रिय का सुख मानता है।

आहा...हा... ! ज़हर है, उसे सुख मानता है ! आहा...हा... ! अनादि से ऐसी मिथ्या भ्रान्ति है। आ...हा... !

यहाँ तो यह कहते हैं कि प्राणी संसार में हो या मोक्ष में हो, (वह) स्वयमेव सुखरूप परिणमित (होता) है। इन्द्रिय के विषय में स्वयमेव परिणमन करता है। इन्द्रिय का विषय, सुख में किञ्चित् काम नहीं करता। आ...हा...हा... ! रेशमी गद्दा (हो), तीन-चार रेशमी गद्दे हों, उन पर सोये ! नरम... नरम... नरम... आ...हा..हा... ! उसमें मुझे सुख है - यह अज्ञानी की कल्पना है। मुलायम गद्दा उसकी कल्पना में किञ्चित् भी कारण नहीं है। आ...हा...हा... !

एक बार एक प्रश्न हुआ था। (संवत्) ९४ में जब यह मकान हुआ, तब प्रश्न हुआ था कि 'महाराज ! आप कहते हो कि समकिती इतने-इतने तीन मुलायम गद्दे पर सोये तो भी समकिती (को) आत्मा में सुख है, पर में सुख नहीं मानते और उन्हें पाप नहीं लगता ? और मिथ्यादृष्टि बेचारा पलङ्ग के बिना नीचे सोये, पत्थर पर सोये तो भी कहे कि वह मिथ्यादृष्टि है !' भाई ! मान्यता का फर्क है। भले जंगल में नग्न मुनि पत्थर पर सोये ! परन्तु मान्यता में ऐसा है कि मैं पुण्य-शुभभाव करता हूँ, उससे मुझे सुख है। यह (बात) अब आयेगी। शुभभाव धर्म है, ऐसे मानता है तो मिथ्यादृष्टि नग्न मुनि जंगल में कंकर पर सोये तो भी पापी है ! और सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को जानते और मानते हैं और तीन मुलायम गद्दे पर सोये तो भी वे ऐसा जानते हैं कि पर का स्पर्श मैं करता ही नहीं और पर से मुझे सुख की कल्पना ही नहीं (है)। मेरी कमजोरी से कल्पना आ जाती है, वह मेरे दुःख का कारण है। (ऐसा) प्रश्न आया था (उसका समाधान है)।

आ...हा...हा... ! यह स्थिति, बापू ! पर के कारण से नहीं है, भाई ! चक्रवर्ती राज करते हैं, छियानवें हजार रानियाँ हैं; राग आता है परन्तु राग में दुःख मानते हैं। पर से मुझे सुख है - ऐसी कल्पना समकिती को होती ही नहीं। आहा...हा... ! राग आया वह भी दुःख है, ज़हर आया ! अन्दर राग को काला देखते हैं ! आ...हा...हा... ! शुभराग आता है, उसको भी समकिती काला नाग देखते हैं, ज़हर देखते हैं ! आ...हा...हा... ! अज्ञानी तो अशुभभाव में भी मजा मानता है ! आ...हा... ! मिथ्याभ्रान्ति, अज्ञान के कारण चार गति में भटकता है। आहा...हा... ! है ?

स्वयमेव सुखरूप परिणमित... (होता है)। सुख क्या ? इन्द्रिय का सुख और आत्मा का सुख, दोनों लेना। (स्वयमेव सुखरूप परिणमित) **इस आत्मा का विषय क्या कर सकते हैं ?** अपने परिणमन में इन्द्रिय के विषय में सुखबुद्धि से – कल्पना से परिणमन करता है और मुक्त आत्मा अपने से परिणमन करता है, उसमें विषय करें क्या ? पर विषय अकिञ्चित्कर हैं (– ऐसा कहकर) निमित्त का निषेध किया। निमित्त कुछ कर नहीं सकता। आहा...हा... ! समझ में आया ?

भावार्थ : संसार में या मोक्ष में आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमित होता है;.... संसार में कल्पना का इन्द्रिय के विषय का सुखरूप परिणमन अपने से करता है, कोई विषय कारण नहीं है। **उसमें विषय अकिञ्चित्कर हैं....** देखो ! पर विषय तो अकिञ्चित्कर है, उसे कुछ करते नहीं। अज्ञानी व्यर्थ ही भ्रान्ति से मानता है कि मुझे सुख है। आहा...हा... !

एक बादशाह की बात आती है न ? नाम भूल जाते हैं। बड़ा बादशाह था। वह 'शंकराचार्य' का पैर दबाता था। 'पेशवा...' 'पेशवा !' बादशाह 'शंकराचार्य' के पेर दबा रहा था। उसे ऐसा हुआ कि मैं इतना बड़ा पेशवा राजा ! अरबों रुपयों की कमाईवाला ! 'शंकराचार्य' के पैर दबा रहा हूँ तो उसमें कितना मजा होगा ! 'शंकराचार्य' को पूछा कि 'कैसा (लग रहा है ?)' (तो कहा कि) 'अरे... ! क्या तू पैर दबा रहा है, इसलिए मुझे सुख है ?' अरबोंपति राजा ! बड़ा पेशवा ! अरबों की कमाई ! महाराजा 'शंकराचार्य' के पैर दबा रहा था ! 'आ...हा...हा... ! मैं इतना बड़ा बादशाह इनके पैर दबा रहा हूँ तो इनको कितना मजा होगा !' 'शंकराचार्य' को पूछा 'आपके पैर दबा रहा हूँ तो (कितना सुख लग रहा है) ?' (उन्होंने कहा) 'मुझे कुछ नहीं है।' समझ में आया ? (पर चीज) अकिञ्चित्कर है। पर चीज सुख का कारण किञ्चित् है नहीं। 'शंकराचार्य' को जगत्गुरु कहते थे न ? दृष्टि मिथ्या थी। सर्वव्यापक मानते थे न ? ऐसा (स्वरूप) है नहीं। परन्तु उन लोगों में बड़े कहलाते थे। (लेकिन) दृष्टि में तो मिथ्यात्व था परन्तु विद्वान् थे तो लोगों में प्रसिद्ध हो गये। उस समय 'शंकराचार्य' ने जैन धर्म का बहुत विरोध किया था। यह तो वीतराग मार्ग है बापू !

आ...हा...हा... ! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ! उन्होंने कहा कि प्रभु ! मेरी सर्वज्ञपर्याय हुई, मैं अनन्त आनन्दमय हूँ ! प्रभु ! तुम सर्वज्ञस्वभावी (हो), अनन्त आनन्दमय तेरा स्वभाव ही है। आहा...हा... ! तेरे सुख के लिए परपदार्थ की अपेक्षा, आश्रय और अवलम्बन की जरूरत है ही नहीं। आ...हा...हा... ! (लाखों रुपये का मकान) सुख का कारण होगा ? दु:ख का कारण है (यानि) निमित्त (है)। बापू ! धूल में कुछ है नहीं। (वीतराग साहित्य प्रकाशन में) लाखों रुपये दे, उसमें क्या ? राग मन्द हो तो पुण्य है और पैसा कमाने का भाव तो अकेला पाप है। पाप के गट्ठे बाँधते हैं। अपनी पर्याय में कल्पना से इन्द्रिय का सुख मानता है, परन्तु इन्द्रियाँ किञ्चित् सुख का कारण नहीं है। आ...हा...हा... !

अकिञ्चित्कर हैं.... भाषा देखो ! यहाँ से निकलता है कि निमित्त अकिञ्चित्कर है। किसी भी पदार्थ में निमित्त कुछ करता है – ऐसा नहीं है। आ...हा...हा.. ! समझ में आया ? निमित्त अकिञ्चित्कर है। आ...हा...हा... ! अकिञ्चित्कर ! कोई निमित्त पर चीज में कुछ करता ही नहीं। आ...हा...हा... ! व्यवहारमोक्षमार्ग जो है, वह मोक्ष के सत्य मार्ग में अकिञ्चित्कर है। आ...हा...हा... !

श्रोता : गुरु के बिना ज्ञान कैसे हो ?

समाधान : गुरु, यह आत्मा है, उससे ज्ञान होता है ! सर्वज्ञदेव परमगुरु ! अपना सर्वज्ञस्वभाव जाना, यह परमगुरु है। आयेगा, ६९ (गाथा में) आयेगा। शुभभाव बन्ध का कारण है। ६९ (गाथा) है ६९ ! है ? **देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।** ६९, ६८ (गाथा के) पीछे, ६० + ९ **देवदजदिगुरुपूजासु चे दाणम्मि वा सुसीलेसु। उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥** उपवास में रक्त आदि शुभभाव बन्ध का कारण है। आ...हा...हा... ! है ? ६९ ! छह और नौ। देव की पूजा, गुरु की पूजा, दान करना, सुशील नाम शुभभाव करना, देव-गुरु की सेवा करना, शास्त्र की भक्ति करना, ये सब शुभराग हैं, बन्ध का कारण है। आहा...हा... ! ६८ गाथा में (सुख अधिकार) पूरा होगा; फिर ६९ (गाथा से शुभ परिणाम का) अधिकार चलेगा। शुभ उपयोग राग है, बन्ध का कारण है। पापराग तो अशुभ बन्ध का कारण है ही परन्तु देव, गुरु और शास्त्र की भक्ति (का राग भी बन्ध का कारण है)। आ...हा...हा... ! **गुरु-देव-शास्त्र पूजा विषे, वणी**

दान ने सुशीलो विषे, करोड़ों का दान, अरबों का दान करे, करोड़ों के मन्दिर बनाये, **जीव रक्त उपवासादि के,** अपवास करे, एक-एक महीने का अपवास आदि (करे)! **शुभ-उपयोग स्वरूप है।** वह शुभराग स्वरूप है। आ...हा...! बन्ध का कारण है। स्व भगवान का आश्रय लेना अबन्ध (परिणाम का) कारण है। अबन्ध का कारण है! पर का आश्रय जितना ले... चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र (हो)! तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजते हैं, वे भगवान कहते हैं कि मेरी पूजा, भक्ति करने से तुझे शुभराग होगा। (ऐसा) वीतराग कहे! मेरे सच्चे साधु-सन्त हो, उन्हें तुम दान दो, (वह) शुभराग है, धर्म नहीं। आहा...हा...!

श्रोता : दूसरे शास्त्र में तो आता है कि धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ आता है? कुछ आता नहीं।

श्रोता : श्वेताम्बर में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्वेताम्बर में तो कहाँ शास्त्र का ठिकाना है! श्वेताम्बर में शास्त्र का ठिकाना (नहीं है)। वह बात तो कही थी न?

(संवत) ७७ के साल की बात है। कितने वर्ष हुए? ५८ वर्ष पहले की बात है। हम 'गोंडल' गये थे, व्याख्यान करते थे, वहाँ (एक सद्गृहस्थ ने ऐसा कहा कि) 'महाराज! आप (भले) कहते हो (शुभभाव बन्ध का कारण है) लेकिन तीर्थङ्कर भगवान को आहार दिया और परित संसार किया!' ऐसा उनके पन्द्रहवें शतक में आता है। तीर्थङ्कर 'महावीर' देव को रोग था। (उनके) रोग के लिये दवाई लेने को साधु गये। सभी बातें (कल्पित), झूठी (हैं)। 'और जिसने दवाई दी उससे संसार परित किया! ऐसा पाठ है।' (हमने कहा) 'वह बात रहने दो!' इसमें (सम्प्रदाय में) है, तुमको कुछ कहेंगे तो मुश्किल पड़ेगा! यह तो ७७ के साल की बात है! ५८ वर्ष पहले! (उन्होंने कहा) ऐसा पाठ है। 'भगवती सूत्र' है, उसका पन्द्रहवाँ शतक है, उसमें ऐसा (लिखा है कि) 'भगवान को रोग हुआ, उनकी दवाई लेने साधु गये। भगवान ने साधु को कहा कि वहाँ दवाई लेने जाओ! उसने मेरे लिये बनाई है, वह नहीं लाना। घोड़े के लिये बनाई है, वह लाना!' सब कल्पना! भगवान को रोग कैसा? फिर दवाई लेने गये। एक 'रेवती बाई' थी। वह, भगवान के लिए

(दवाई) बनायी थी, वह देने लगी। तो उन्होंने कहा, ''यह नहीं। भगवान ने 'ना' कही है। घोड़े के लिए बनायी है, वह लाओ!'' उसने ही (तो) परित संसार (किया)। (अर्थात्) संसार को कम कर दिया! आहार दिया तो संसार को कम कर दिया। तीन काल में ऐसी बात नहीं (है)। वह तो शुभराग है। शुभराग बन्ध का कारण है। भगवान को तो आहार कहाँ है? परन्तु सच्चे सन्त! मुनि! दिगम्बर! आनन्दकन्द में झूलनेवाले! स्वसंवेदन में रमनेवाले! उनको आहार दे तो भी शुभराग है। संवर,निर्जरा नहीं; आस्रव है। आ...हा...हा...!

उन लोगों में तो एक 'दस विपाक अधिकार' है। 'विपाक' नाम का एक सूत्र है। सब देखा है न! सब मिथ्यादृष्टि थे परन्तु साधु को आहार दिया तो संसार कम हो गया! ऐसा पाठ है। 'विपाकसूत्र' है। सुना है कि नहीं? 'विपाकसूत्र'! 'सुबाहुकुमार' मिथ्यादृष्टि था परन्तु साधु आये और आहार दिया तो परित संसार किया! सब झूठ है, वह शास्त्र झूठा है।

यह शास्त्र देखो! (६९ गाथा में) दान कहा है? उसमें दान है। दान चाहे तो गुरु को दे, चाहे तो सच्चे सन्त या गृहस्थ श्रावक को दान दे, आहार-पानी दे (तो वह) शुभभाव है, पुण्य का कारण है, धर्म नहीं। शास्त्र बनाओ, शास्त्र की पूजा करो, भक्ति करो (सब) शुभभाव है, धर्म नहीं। ऐसी कठिन बात है, बाप! आ...हा...! जगत में इस समय में लोगों ने बहुत गड़बड़ की है! सत्य का खून कर दिया है!! आहा...हा...!

यहाँ तो परमात्मा स्पष्ट बात करते हैं। 'कुन्दकुन्दाचार्य!' चाहे तो उपवास करे... ये तो अपवास करे तो निर्जरा-तप माने! परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना तेरे अपवास लंघन हैं! अपना आत्मा क्या चीज है? - उसकी खबर नहीं। (एक मुमुक्षु ने) वर्षीतप किया था। वर्षीतप समझते हो? एक दिन खाना और एक दिन अपवास। पारणा के समय हम उनके घर गये थे। मैंने तो कहा, 'यह वर्षीतप तो लंघन है!' बारह महीने में एक दिन खाना (और एक दिन अपवास करना यह तो) लंघन है, धर्म नहीं। राग की मन्दता हो तो कदाचित् शुभभाव हो, (वह भी) बन्ध का कारण है; धर्म है नहीं। निर्जरा तेरे अपवास में है नहीं।

श्रोता : आप भी ऐसा करते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले मानते थे न! दुकान पर हम अपवास करते थे। आठ दिन में चार (अपवास)! पर्यूषण में। ऐसे नहीं। छोटी उम्र से – १७ वर्ष की उम्र से पर्यूषण में चार अपवास (करते थे)। पहले एक अपवास, दूसरे दिन खाना, फिर अपवास... ऐसे चार अपवास करते थे परन्तु बिना पानी के, हाँ! उस वक्त कहाँ भान था। हम तो मानो धर्म करते हैं (– ऐसा मानते थे)! अरे! वह तो राग की मन्दता हो तो पुण्य है। आहा...हा...!

एक बार तो बहुत बिना पीन के उपवास किया था। बिना पानी का अपवास करते थे। दुकान पर बैठते थे। गला बहुत सूख गया तो एक बार रात्रि में गुप्त रीति से पानी पी लिया! फिर उनको कह दिया कि मुझे ऐसी प्यास लगी थी कि पीछे पानी भरा था तो (हमने पानी पी लिया)। हमारी दो दुकानें थी तो पीछे जाकर पानी पी लिया था। रात्रि को, हाँ! (एक तो) छोटी उम्र (थी) और सारा दिन दुकान पर बैठना। सारे दिन में पानी का एक बूँद भी नहीं! चोवियारा अपवास (यानि) बिना पानी के। १८-१९ वर्ष की उम्र की बात है। ७० वर्ष पहले की बात है! (उस वक्त) कहाँ भान था कि ये क्या करते हैं कि क्या नहीं करते हैं?

श्रोता : जितनी इच्छा का निरोध उतना धर्म!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इच्छा का निरोध है ही कहाँ! आत्मा के ज्ञान बिना इच्छा का निरोध होता ही नहीं। वह तो राग है। आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान है, ऐसा अन्तर (में) अनुभव (हुए) बिना इच्छा का निरोध कभी होता ही नहीं। आ...हा...! इच्छा का कर्ता होता है। सूक्ष्म बात है, भाई!

वीतरागमार्ग परमात्मा जिनेश्वर त्रिलोक के नाथ की धर्म पद्धति कोई अलौकिक है!! लोगों को सुनने में आयी नहीं, बेचारे क्या करे? जिन्दगी चली जा रही है। मृत्यु के समीप दिन जा रहे हैं। मृत्यु का समय नक्की है। जिस समय देह छूटनेवाली है, वह निश्चित् है। जितने दिन जाते हैं, उतने मृत्यु के समीप जाते हैं। दुनिया कहे कि बड़ा होता है, भगवान कहे कि तुम मृत्यु के समीप जाते हो!

आ...हा...हा... ! देखो न ! अभी गुरुवार को एक २५ वर्ष का युवा व्याख्यान में बैठा था। शरीर देखो तो एकदम तन्दुरुस्त ! एक-सवा वर्ष पहले शादी हुई थी। बाप का एक ही लड़का ! उसकी माँ मर गई थी। गुरुवार को तो यहाँ सुनता था। 'पालीताना' गया था तो वहाँ पेट में दर्द शुरु हुआ। रविवार को सबेरे समाप्त हो गया ! शरीर देखो तो (एकदम तन्दुरुस्त) ! (लेकिन) जहाँ स्थिति पूरी होनेवाली हो, (उसमें) क्या करे ? आयुष्य की स्थिति जितनी हो वह समय आ ही जायेगा।

यहाँ कहते हैं कि (इन्द्रिय के विषय) **कुछ नहीं कर सकते। अज्ञानी विषयों को सुख का कारण मानकर व्यर्थ ही उनका अवलम्बन करते हैं।** आ...हा...हा... ! है भावार्थ में ? ६७ (गाथा) भावार्थ। **अज्ञानी विषयों को सुख का कारण मानकर व्यर्थ ही...** भोग का **अवलम्बन लेते हैं।** आ...हा...हा... ! 1

मौत सिर पर मँडरा रही

मरण तो आना ही है, तब सब कुछ छूट जाएगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा ? मरण की वेदना भी कितनी होगी ? 'कोई मुझे बचाओ' — ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा, परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा ?

तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर लें, आस पास खड़े हुए अनेक सगे-सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो — ऐसा है ?

यदि तूने शाश्वत स्वयं रक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही तुझे शरण देगी; इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मँडरा रही है' — ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू पुरुषार्थ जगा कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' — ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।

(— बहिनश्री के वचनामृत, क्रमाङ्क 412)

गाथा - ६८

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति -

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो।।६८।।

स्वयमेव यथादित्यस्तेजः उष्णश्च देवता नभसि।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञानं सुखं च लोके तथा देवः।।६८।।

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभास्वरस्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः, यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः, यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः। तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थ-निर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुतियोगिदिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः। अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयः पर्याप्तम्।।६८।।

- इति आनन्दप्रपञ्चः।

अथात्मनः सुखस्वभावत्वं ज्ञानस्वभावत्वं च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति - **सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि** कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्यस्वपरप्रकाशरूपं तेजो भवति, तथैव च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनानां देवता भवति। क्व स्थितः। नभसि आकाशे। **सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च** सिद्धोऽपि भगवांस्तथैव कारणान्तरं निरपेक्ष्य स्वभावेनैव स्वपरप्रकाशकं केवलज्ञानं, तथैव परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षणं सुखम्। क्व। **लोगे** जगति। **तहा देवो** निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुन्दरानन्दस्यन्दिसुखामृतपानपिपासितानां गणधरदेवादिपरमयोगिनां देवेन्द्रादीनां चासन्नभव्यानां मनसि निरन्तरं परमाराध्यं, तथैवानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्यं च यद्दिव्यमात्मस्वरूपं तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मनां विषयैरपि प्रयोजनं नास्तीति।।६८।।

अब, आत्मा का सुखस्वभावत्व दृष्टान्त देकर दृढ़ करते हैं –

नभ में ज्यों सूरज स्वयं ही, तेज उष्ण अरु देव है।
त्यों ज्ञान, सुख अरु देव जग में, सिद्ध प्रभु स्वयंमेव हैं॥

अन्वयार्थ : [**यथा**] जैसे [**नभसि**] आकाश में [**आदित्यः**] सूर्य [**स्वयमेव**] अपने आप ही [**तेजः**] तेज, [**उष्णः**] उष्ण [**च**] और [**देवता**] देव है, [**तथा**] उसी प्रकार [**लोके**] लोक में [**सिद्धः अपि**] सिद्ध भगवान भी (स्वयमेव) [**ज्ञानं**] ज्ञान [**सुखं च**] सुख [**तथा देवः**] और देव हैं।

टीका : जैसे आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य (१) स्वयमेव अत्यधिक प्रभासमूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होने से तेज है, (२) कभी उष्णतारूप[1] परिणमित लोहे के गोले की भाँति सदा उष्णता-परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है, और (३) देवगतिनामकर्म के धारावाहिक उदय के वशवर्ती स्वभाव से देव है; इसी प्रकार लोक में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा स्वयमेव ही (१) स्वपर को प्रकाशित करने में समर्थ निर्वितथ (-सच्ची) अनन्त शक्तियुक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, (२) आत्मतृप्ति से उत्पन्न होनेवाली जो परिनिर्वृत्ति[2] है; उससे प्रवर्तमान अनाकुलता में सुस्थितता के कारण सौख्य है, और (३) जिन्हें आत्मतत्व की उपलब्धि निकट है - ऐसे बुधजनों के मनरूपी शिलास्तम्भ[3] में जिसकी अतिशय द्युति[4] स्तुति उत्कीर्ण है - ऐसा दिव्य आत्मस्वरूपवान होने से देव है। इसलिए इस आत्मा को सुखसाधनाभास (जो सुख के साधन नहीं हैं परन्तु सुख के साधन होने का आभासमात्र जिनमें होता है - ऐसे) विषयों से बस हो।

भावार्थ : सिद्ध भगवान किसी बाह्य कारण की अपेक्षा के बिना अपने आप ही स्व-परप्रकाशक ज्ञानरूप हैं, अनन्त आत्मिक आनन्दरूप हैं और अचिन्त्य दिव्यतारूप हैं। सिद्ध भगवान की भाँति ही सर्व जीवों का स्वभाव है; इसलिए सुखार्थी जीवों

---

१. जैसे लोहे का गोला कभी उष्णतापरिणाम से परिणमता है, वैसे सूर्य सदा ही उष्णतापरिणाम से परिणमा हुआ है।
२. परिनिर्वृत्ति = मोक्ष; परिपूर्णता; अन्तिम सम्पूर्ण सुख (परिनिर्वृत्ति आत्मतृप्ति से होती है अर्थात् आत्मतृप्ति की पराकाष्ठा ही परिनिर्वृत्ति है।)
३. शिलास्तम्भ = पत्थर का खम्भा।
४. द्युति = दिव्यता; भव्यता, महिमा (गणधरदेवादि बुधजनों के मन में शुद्धात्मस्वरूप की दिव्यता का स्तुतिगान उत्कीर्ण हो गया है।)

को विषयालम्बी भाव छोड़कर निरालम्बी परमानन्दस्वभावरूप परिणमन करना चाहिए॥ ६८॥

इस प्रकार आनन्द-अधिकार पूर्ण हुआ।

प्रवचन नं. ६४ का शेष **दिनाङ्क ११ मार्च १९७९**

अब, आत्मा का सुखस्वभावत्व दृष्टान्त देकर दृढ़ करते हैं - आत्मा का आनन्द स्वभाव है। आ...हा...हा...! वह तो अतीन्द्रिय आनन्द की खान है। आ...हा...! यह बात करते हें। ६८ (गाथा)।

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो।।६८।।

नीचे हरिगीत

नभ में ज्यों सूरज स्वयं ही, तेज उष्ण अरु देव है।
त्यों ज्ञान, सुख अरु देव जग में, सिद्ध प्रभु स्वयंमेव हैं॥

टीका - जैसे आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य (१) स्वयमेव अत्यधिक प्रभासमूह से चमकते हुए.... भास्कर यानि सूर्य अपने प्रभासमूह से चमकता हुआ सूर्य **स्वरूप के द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होने से...** अपने (स्वरूप के द्वारा) विकसित प्रकाशयुक्त होने से **तेज है,...** सूर्य का तेज है, तेज! आ...हा...हा...! **(२) कभी उष्णतारूप परिणमित लोहे के गोले की भाँति सदा उष्णता - परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है,...** है ? नीचे (अर्थ) - 'जैसे लोहे का गोला कभी उष्णता परिणाम से परिणमता है वैसे सूर्य सदा ही उष्णता परिणाम से परिणमा हुआ है।' लोहे के गोले में अग्नि (कभी-कभी) होती है, यह सूर्य तो सदा उष्ण (रहता है)। तेज है और सदा उष्ण है। (बाद में) आत्मा में उतारेंगे, हाँ! आहा...हा...!

(३) देवगतिनामकर्म के धारावाहिक उदय के वशवर्ती स्वभाव से देव है;... सूर्य अन्दर देव है। (बाहर) दिखता है, वह तो पत्थर है; अन्दर देव है। **इसी प्रकार**

लोक में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा स्वयमेव ही... आहा...हा...! जैसे सूर्य तेज, उष्ण और देव (है), वैसे आत्मा स्वयमेव ही **(१) स्व पर को प्रकाशित करने में समर्थ निर्वितथ (सच्ची) अनन्त शक्तियुक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है,...** भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। आ...हा...हा...! जैसे सूर्य तेज-प्रकाशमय है, वैसे ही यह भगवान आत्मा तो ज्ञानमय है। ज्ञान का तेजमय है। आ...हा...! अनन्त... अनन्त... सूर्य का प्रकाश हो, उससे भी आत्मा का ज्ञानतेज अन्दर अनन्त गुना है। आहा...हा...! समझ में आया? सूर्य के साथ आत्मा को मिलाते हैं।

विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. ६५ **दिनाङ्क १२ मार्च १९७९**

'प्रवचनसार' ६८ गाथा। कहाँ तक चला था? फिर लेते हैं। क्या कहने हैं, सुनो! **जैसे आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य...** सूर्य! (दृष्टान्त को) देव पर उतारेंगे, आत्मा - आत्मदेव (पर उतारेंगे)। **आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य (१) स्वयमेव अत्यधिक प्रभासमूह से चमकते हुए...** स्वयमेव अत्यधिक प्रभासमूह से चमकते हुए **स्वरूप के द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होने से तेज है,...** सूर्य है और तेज है। आ...हा...!

(२) कभी उष्णतारूप परिणमित लोहे के गोले की भाँति... लोहे का गोला जैसे उष्णतारूप परिणमित होता है ऐसे **सदा उष्णता - परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है,....** सूर्य उष्ण है। **और (३) देवगतिनामकर्म के धारावाहिक उदय के वशवर्ती...** सूर्य को देवगतिनामकर्म है न? **स्वभाव से देव है;...** यह दृष्टान्त हुआ। सब सिद्धान्त (कहते हैं)।

इसी प्रकार लोक में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा स्वयमेव ही.... देव है। आहा...हा...! जैसे सूर्य स्वयं ही प्रकाश का पुञ्ज है, ऐसे भगवान आत्मा **अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना...** (वह) कोई कारण से है नहीं। वह तो अन्दर आनन्दमय प्रभु है। आहा...हा...! **अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही**

भगवान आत्मा स्वयमेव ही (१) स्व पर को प्रकाशित करने में समर्थ निर्वितथ (सच्ची) अनन्त शक्तियुक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है,... जैसे सूर्य तेज है, वैसे यह (आत्मा) ज्ञानस्वरूप है। चैतन्यसूर्य! ज्ञान के प्रकाश का पुञ्ज! अनन्त... अनन्त... सूर्य हो, कोटि... कोटि... सूर्य (हो), उससे भी चैतन्य का प्रकाश तो अनन्त प्रकाश अन्दर है!

श्रोता : कब है ?

समाधान : अन्दर में अनादि (से) है परन्तु यहाँ तो पर्याय में प्रगट हुआ – ऐसे परमात्मा (की बात) करते हैं। समझ में आया ? आ...हा...हा... ! भगवान आत्मा ! अनादि सूर्य – तेज अन्दर अनन्त आनन्द का नाथ है। (ऐसी बात) कहाँ बैठे ? कभी विचार किया नहीं (है)। आ...हा... !

(सच्ची) अनन्त शक्तियुक्त सहज संवेदन... अन्तर में ज्ञान से तादात्म्यस्वरूप प्रभु है। आहा...हा... ! **(२) आत्मतृप्ति से उत्पन्न होनेवाली जो परिनिर्वृत्ति....** परिनिर्वृत्ति अर्थात् मोक्ष। नीचे (अर्थ दिया) है। 'परिनिर्वृत्ति = मोक्ष; परिपूर्णता' अथवा आत्मा की परिपूर्णता – शुद्धता, 'अन्तिम सम्पूर्ण सुख (परिनिर्वृत्ति आत्मतृप्ति से होती है...)' भगवान आत्मा – देव आत्मतृप्ति से तृप्त... तृप्त... है। आत्मा देव ही है! आ...हा...हा... ! क्या कहते हैं ? देखो!

(२) आत्मतृप्ति से उत्पन्न होनेवाली जो परिनिर्वृत्ति... (अर्थात्) मुक्तदशा। **उससे प्रवर्तमान अनाकुलता....** आनन्द जो अनाकुल आनन्द है, (उसमें) **सुस्थितता के कारण सौख्य है,....** तेजस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है और सुखस्वरूप है। आहा...हा... !

(३) जिन्हें आत्मतत्त्व की उपलब्धि निकट है.... जिसे आत्मतत्त्व की प्राप्ति अल्प काल में होने(वाली) है – **ऐसे बुधजनों के मनरूपी शिलास्तम्भ...** धर्मात्मा के मनरूपी पत्थर (के) अन्दर भगवान उत्कीर्ण हैं। आ...हा...हा... ! गणधर आदि सन्तों, मुनियों (के) मनरूपी स्तम्भ में चैतन्यसूर्य, आनन्द की तृप्ति-तृप्ति से अन्दर उत्कीर्ण हैं। ऐसी बात सुनी नहीं है। दोपहर को (एक मुमुक्षु) कहते थे कि ऐसा कहाँ सुनने मिलता है ? बात तो सच्ची है, भाई!

अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ! आनन्दस्वरूप! आनन्द तेजस्वरूप आत्मा है, उसकी तो खबर नहीं और बाहर में तृप्ति (अनुभव करता है)। बाहर में धूल में सुख मानते हैं। आहा...हा...! अनन्त... अनन्त... तेजमय आत्मा और अनन्त... अनन्त... तृप्तिमय, आनन्दमय स्वरूप है। यहाँ परिनिवृत्ति अर्थात् मोक्ष की बात कही है परन्तु आत्मा मुक्तस्वरूप ही है। आहा...हा...! अन्दर में अनन्त ज्ञान और अनन्त तेज से तृप्त – परितृप्त भगवान आत्मा है। अरे...रे...! उसे मालूम भी नहीं। है ?

जिन्हें आत्मतत्त्व की उपलब्धि निकट है ऐसे बुधजनों के मनरूपी शिलास्तम्भ में.... (अर्थात्) अन्दर मनरूपी पत्थर में भगवान उत्कीर्ण हैं। जैसे, स्तम्भ में मूर्ति उत्कीर्ण होती है; वैसे गणधरों, सन्तों, आत्मज्ञानियों को मनरूपी स्तम्भ में भगवान उत्कीर्ण हैं। आ...हा...हा...! तीन लोक का नाथ आत्मा, शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति मन में उत्कीर्ण हैं। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में, गणधरों के ज्ञान में उत्कीर्ण हैं – ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! पत्थर में जैसे मूर्ति उत्कीर्ण करते हैं न ? वैसे यह भगवान आत्मा अन्दर उत्कीर्ण चीज हैं। अरे...रे...! उसने सुना कब है ? आहा...हा...! है ?

शिलास्तम्भ में जिसकी अतिशय द्युति स्तुति... अन्दर परमानन्द की स्तुति उत्कीर्ण है। पूर्णानन्द के नाथ में एकाग्रता है, यह उसकी स्तुति है! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई! (ऐसी बात) बाहर में कहीं है नहीं। भगवान बाहर से मिलता है, ऐसा है नहीं, अन्दर में है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ पूर्ण सुखरूप है। उसकी तृप्ति से परिपूर्ण स्तुति है। **ऐसा दिव्य आत्मस्वरूपवान होने से देव है।** ऐसा देव आत्मा है। प्रतिभा आदि देव है, वह तो व्यवहार से कहने में आता है। (आगे) आयेगा। ६९ (गाथा में) आयेगा। भगवान की प्रतिभा, मन्दिर आदि है, वह तो व्यवहार प्रतिभा है। समझ में आया ? शुभभाव होता है, तब प्रतिभा का पूजन आदि होता है। यह ६९ (गाथा में) आयेगा। समझ में आया ? आत्मा अन्दर में आनन्द का नाथ विराजता है, बाहर में है नहीं। आहा...हा...! अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान के तेज से भरा पड़ा प्रभु है। कैसे बैठे ? ऐसा देव है।

इसलिए इस आत्मा को सुखसाधनाभास (जो सुख के साधन नहीं हैं परन्तु

सुख के साधन होने का आभासमात्र जिन में होता है ऐसे) विषयों से बस हो। कहते हैं, पाँच इन्द्रिय के विषय से बस हो। प्रभु आनन्दमय है, वहाँ जा न! आ...हा...हा... ! क्या कहते हैं, समझ में आया ? यहाँ (आत्मा) आनन्दमय है, अतीन्द्रिय ज्ञान का तेज – सूर्य प्रभु है। इन्द्रिय के विषय – पाँच इन्द्रियों के विषय बस हो। 'अलम अलम' – पूरा हो। अन्दर में भगवान है, वहाँ जा! ऐसी बात है! आहा...हा... !

अनन्त आनन्द और अनन्त तेजमय प्रभु अन्दर है। देव है, देव! शक्तिमान देव है। आहा...हा... ! आत्मदेव के अलावा और कोई देव है नहीं। ऐसा दिव्य शक्तिमान (देव है)। (इसलिए जो सुख के साधन नहीं हैं परन्तु सुख के साधन होने का आभासमात्र जिन में होता है ऐसे) **विषयों से बस हो।** (अर्थात्) पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर जो तेरा लक्ष्य है, (उसे) बस रखो। (क्योंकि) उसमें दुःख है, उसमें सुख है नहीं। आ...हा...हा... ! पाँच इन्द्रिय के शब्द, रूप, रस, गन्ध या स्पर्श (हो) – इन विषयों से बस (हो)। इनमें सुख नहीं, वह तो दुःख है। आहा...हा... ! सुख तो तेरी चीज में – अनन्त आनन्द में भरा पड़ा है। विषयों से 'अलम' (यानि) विषयों से बस हो। आ...हा...हा... !

प्रभु! तेरी चीज में अनन्त तेज और सुख भरा है न! बाह्य विषयों में तुझे क्या काम है ? आ...हा...हा... ! परन्तु कहाँ बेचारे को निवृत्ति (है) ? निवृत्ति नहीं। सारे दिन पाप का धन्धा-पानी और बाहर में जाये तो पूजा, भक्ति और राग (की) आकुलता (भोगता है)। आ...हा... ! अन्दर आनन्दमय भगवान विराजते हैं, उस पर तो उसका लक्ष्य है नहीं और (उसके) लक्ष्य बिना उसे तीन काल तीन लोक में सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं होता।

भावार्थ : सिद्ध भगवान किसी बाह्य कारण की अपेक्षा के बिना अपने आप ही स्वपरप्रकाशक ज्ञानरूप हैं,... सिद्ध! ऐसा आत्मा भी है, ऐसे लेना। **अनन्त आत्मिक आनन्दरूप हैं...** सिद्ध भगवान तो अनन्त... अनन्त... आनन्दरूप हैं। **और अचिन्त्य दिव्यतारूप हैं।** देव (हैं)। आहा...हा... ! **सिद्ध भगवान की भाँति ही...** सब सिद्धान्त देते हैं (कि) **सिद्ध भगवान की भाँति ही सर्व जीवों का स्वभाव है;....** सर्व जीव ऐसे हैं। अन्दर भगवान विराजते हैं। आ...हा...हा... ! 'सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समझे ते थाय' आ...हा...हा... ! कैसे बैठे ? पहले सिद्ध (भगवान की) बात कही कि

अनन्त तेज, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त तृप्ति से तृप्त (हैं), ऐसा यह आत्मा भी है, सर्व जीव (ऐसे हैं)। आ...हा...हा... !

अन्दर भगवान पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय शान्ति से भरा पड़ा भगवान देव है ! आ...हा...हा... ! ऐसे दिव्य शक्तिमान देव को छोड़कर बाहर में भीख माँगता है ! आहा...हा... ! यहाँ से विषय मिलो, सुख मिलो – स्त्री से मिले, पैसे से मिले, भिखारी है ! भिखमँगा है भिखमँगा ! आ...हा...हा... ! आचार्य की गाथा तो देखो ! अन्दर भगवान अतीन्द्रिय आनन्द से (भरी) चीज पड़ी है। आ...हा...हा... ! अतीन्द्रिय ज्ञान का तेज और सुख का सागर ! ऐसा आत्मा देवस्वरूप है, उसकी दृष्टि करना वही सम्यग्दर्शन है। उसके अलावा बाकी सब व्यर्थ की बातें हैं ! आ...हा...हा... ! है ?

सिद्ध भगवान की भाँति... (अर्थात्) सिद्ध भगवान के जैसा ही **सर्व जीवों का स्वभाव है;...** चैतन्य के अनन्त अनन्त ज्ञान के तेज का पुञ्ज प्रभु और अतीन्द्रिय अमृत का सागर, आनन्द का सागर ! (ऐसा) तू देव है ! सर्व जीव ऐसे हैं। आहा...हा... ! **इसलिए सुखार्थी जीवों को....** इस कारण से जिसे सुख का प्रयोजन है, जिसे आनन्द का प्रयोजन है, ऐसे **जीवों को विषयालम्बी भाव छोड़कर...** (अर्थात्) पाँच इन्द्रिय के विषय की ओर का आलम्बन और आश्रय छोड़कर **निरालम्बी परमानन्दस्वभावरूप परिणमन करना चाहिए।** आ...हा...हा... ! ऐसी बात है !

पाँचों इन्द्रियों का अवलम्बन छोड़कर, अन्तर में स्वावलम्बीभाव करके **परमानन्दस्वभावरूप परिणमन करना चाहिए।** आहा...हा... ! बहुत ही (तात्त्विक बात) है। निमित्त की दृष्टि छोड़कर, राग की दृष्टि छोड़कर, एक समय की पर्याय की दृष्टि छोड़कर... आ...हा....हा.... ! त्रिकाली भगवान ज्ञायकस्वभाव विराजमान है, वहाँ दृष्टि ले (जा) ! आ...हा...हा... ! विषयों का अवलम्बन छोड़कर निरालम्बी भगवान का आलम्बन ले। ऐसी बात है ! इसमें तुम्हारे पैसे की बात तो कहाँ रह गई ! आहा...हा... ! पाँच इन्द्रिय के विषय की ओर प्रभु ! तेरा लक्ष्य है तो (तुझे) दुःख है। आ...हा... !

भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्दमय है। आहा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। अनन्त...अनन्त... अनादि अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। अनादि अनन्त

अतीन्द्रिय ज्ञान के पूर्ण तेज का पिण्ड है। अनादि अनन्त पूर्ण शान्तिस्वभाव के सागर का तेज है। ऐसे अनन्त गुण लिये हैं न? अनन्त गुण! अनन्त... अनन्त... अनादि अनन्त जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दृष्टिशक्ति, आनन्दशक्ति, कर्ताशक्ति, करणशक्ति ऐसी अनन्तानन्त शक्ति (हैं)। अनादि-अनन्त अनन्तानन्त शक्ति का पिण्ड प्रभु है। आ...हा...हा...! इस आत्मा की दृष्टि कर! पर का आलम्बन छोड़ और स्व का आलम्बन ले! आ...हा...हा...!

इस प्रकार आनन्द-अधिकार पूर्ण हुआ। यह आनन्द-अधिकार था। 1

आधि-व्याधि-उपाधिरहित दशा ही समाधि

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिसहित आत्मा के अवलम्बन से अन्तर में विशेष स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर मुनिपना प्रगट होता है। अहा! मुनिराज तो समाधिपरिणत होते हैं, आधि-व्याधि और उपाधि से तीनों काल मुक्त, शान्त और वीतराग समाधिस्वरूप निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणति में आधि-व्याधि और उपाधिरहित जो निराकुल शान्त और वीतरागदशा हुई, उसे समाधि कहते हैं। मन में होनेवाले सङ्कल्प-विकल्प, वह आधि है; शरीर में होनेवाले रोग, वह व्याधि है और स्त्री-पुत्र अथवा व्यापार-धन्धे की जञ्जाल, वह उपाधि है - इन तीनों से रहित आत्मा की जो आनन्दमय दशा, वह समाधि है। मुनिराज ऐसी समाधिरूप परिणत हैं। बाहर से अकेला नग्नपना अथवा पञ्च महाव्रत इत्यादि के शुभपरिणाम, वह कोई परमार्थ मुनिपना नहीं है। जो सहजरूप से समाधिपरिणत हों, वही मुनि कहलाते हैं।

(वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 204)

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन
शुभपरिणाम अधिकार

गाथा - ६९

अथ शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति -

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।। ६९।।

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषु रक्तः शुभोपयोगात्मक आत्मा।। ६९।।

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत।।६९।।

एवं स्वभावेनैव सुखस्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मनां सुखकारणं न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम्। अथेदानीं श्री**कुन्दकुन्दाचार्यदेवाः** पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूतं सर्वज्ञं वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति -

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो।। ३।।

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं तिहुवणपहाणदइणं तेजः प्रभामण्डलं, जगत्त्रयकालत्रयवस्तुगतयुगपत्सामान्यास्तित्वग्राहकं केवलदर्शनं, तथैव समस्तविशेषास्तित्वग्राहकं केवलज्ञानं, ऋद्धिशब्देन समवसरणादिलक्षणा विभूतिः, सुखशब्देनाव्याबाधानन्तसुखं, तत्पदाभिलाषेण

इन्द्रादयोऽपि मृत्यत्वं कुर्वन्तीत्येवंलक्षणमैश्वर्य, त्रिभुवनाधीशानामपि वल्लभत्वं दैवं भण्यते। **माहप्पं जस्स सो अरिहो** इत्थंभूतं माहात्म्यं यस्य सोऽर्हन् भण्यते। इति वस्तुस्तवनरूपेण नमस्कारं कृतवन्तः।।३।।

अथ तस्यैव भगवतः सिद्धावस्थायां गुणस्तवनरूपेण नमस्कारं कुर्वन्ति -

तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपुणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं।।४।।

पणमामि नमस्करोमि **पुणो पुणो** पुनः पुनः। कम्। **तं सिद्धं** परमागमप्रसिद्धं सिद्धम्। कथंभूतम्। **गुणदो अधिगदरं** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणैरधिकतरं समधिकतरगुणम्। पुनरपि कथंभूतम्। **अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं** यथा पूर्वमर्हदवस्थायां मनुजदेवेन्द्रादयः समवशरणे समागत्य नमस्कुर्वन्ति तेन प्रभुत्वं भवति, तदतिक्रान्तत्वादतिक्रान्तमनुजदेवपतिभावम्। पुनश्च किंविशिष्टम्। **अपुणब्भावणिबद्धं** द्रव्यक्षेत्रादिपञ्च-प्रकारभवाद्विलक्षणः शुद्धबुद्धैकस्वभाव-निजात्मोपलम्भलक्षणो योऽसौ मोक्षस्तस्याधीनत्वाद-पुनर्भावनिबद्धमिति भावः।।४।।

एवं नमस्कारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम्। इति गाथाष्टकेन पञ्चमस्थलं ज्ञातव्यम्। एवमष्टादशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन सुखप्रपञ्चनामान्तराधिकारो गतः। इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुर' इत्यादि चतुर्दशगाथाभिः पीठिका गता, तदनन्तरं सप्तगाथाभिः सामान्यसर्वज्ञसिद्धिः, तदनन्तरं त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः ज्ञानप्रपञ्चः, तदनन्तरमष्टादशगाथाभिः सुखप्रपञ्च इति समुदायेन द्वासप्ततिगाथा-भिरन्तराधिकारचतुष्टयेन **शुद्धोपयोगाधिकारः** समाप्तः।। इत ऊर्ध्वं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्तं ज्ञानकण्डिका-चतुष्टयाभिधानोऽधिकारः प्रारभ्यते। तत्र पञ्चविंशतिगाथामध्ये प्रथमं तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'देवदजदिगुरु' इत्यादि दशगाथापर्यन्तं प्रथमज्ञानकण्डिका कथ्यते। तदनन्तरमाप्तात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'चत्ता पावारंभं' इत्यादि सप्तगाथापर्यन्तं द्वितीयज्ञानकण्डिका, अथानन्तरं द्रव्यगुण-पर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'दव्वादीएसु' इत्यादि गाथाषट्कपर्यन्तं तृतीयज्ञानकण्डिका। तदनन्तरं स्वपरतत्त्वपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थं 'णाणप्पगं' इत्यादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्डिका। इति ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभि-धानाधिकारे समुदायपातनिका। अथेदानीं प्रथमज्ञानकण्डिकायां स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरं पुण्यं जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं, तदनन्तरमुपसंहाररूपेण गाथाद्वयं, इति स्थलत्रयपर्यन्तं क्रमेण व्याख्यानं क्रियते। तद्यथा - अथ यद्यपि पूर्वं गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूपं भणितं तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधकं शुभोपयोगं प्रतिपादयति, अथवा द्वितीयपातनिका - पीठिकायां यच्छुभोपयोगस्वरूपं सूचितं तस्येदानीमिन्द्रियसुखविशेषविचारप्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरणं करोति - **देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु** देवतायतियगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु **उववासादिसु रत्तो** तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्तः **अप्पा** जीवः **सुहोवओगप्पगो** शुभोपयोगात्मको भण्यते इति। तथा हि - देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः, स्वयं भेदाभेदरत्नत्रयाराधक-

स्तदर्थिनां भव्यानां जिनदीक्षादायको गुरुः, पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणां तत्प्रतिबिम्बादीनां च यथासंभवं द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदानं च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवोपवामादि-जिनगुणसंपत्त्यादिविधिविशेषाश्च। एतेषु शुभानुष्ठानेषु योऽसौ रतः द्वेषरूपे विषयानुरागरूपे चाशुभानुष्ठाने विरतः, स जीवः शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थः।।६९।।

अब, इन्द्रियसुखस्वरूप सम्बन्धी विचार को लेकर, उसके (इन्द्रियसुख के) साधन का (शुभोपयोग का) स्वरूप कहते हैं –

जो आत्मा है शुभोपयोगी, वो लीन उपवासादि में।
गुरु-देव-यति की पूजा में, अरु दान में वा सुशील में॥

अन्वयार्थ : [देवतायतिगुरुपूजासु] देव, गुरु और यति की पूजा में, **[दाने च एव]** दान में **[सुशीलेषु वा]** एवं सुशीलों में **[उपवासादिषु]** और उपवासादिक में **[रक्तः आत्मा]** लीन आत्मा **[शुभोपयोगात्मकः]** शुभोपयोगात्मक है।

टीका : जब यह आत्मा दुःख की साधनभूत ऐसी द्वेषरूप तथा इन्द्रिय विषय की अनुरागरूप अशुभोपयोग भूमिका का उल्लंघन करके, देव-गुरु-यति की पूजा, दान, शील और उपवासादिक के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अङ्गीकार करता है, तब वह इन्द्रियसुख की साधनभूत शुभोपयोगभूमिका में आरूढ़ कहलाता है।

भावार्थ : सर्व दोषरहित परमात्मा वह देव हैं; भेदाभेद रत्नत्रय के स्वयं आराधक तथा उस आराधना के अर्थी अन्य भव्य जीवों को जिनदीक्षा देनेवाले वे गुरु हैं; इन्द्रियजय करके शुद्धात्मस्वरूप में प्रयत्नपरायण वे यति हैं। ऐसे देव-गुरु-यति की अथवा उनकी प्रतिमा की पूजा में, आहारादिक चतुर्विध दान में, आचाराङ्गादि शास्त्रों में कहे हुए शीलव्रतों में तथा उपवासादिक तप में प्रीति का होना, वह धर्मानुराग है। जो आत्मा, द्वेषरूप और विषयानुरागरूप अशुभोपयोग को पार करके धर्मानुराग को अङ्गीकार करता है, वह शुभोपयोगी है॥ ६९॥

प्रवचन नं. ६५ का शेष **दिनाङ्क १२ मार्च १९७९**

अब, यहाँ शुभपरिणाम का अधिकार प्रारम्भ होता है। अब, (यहाँ से)

शुभयोग का अधिकार चलता है। शुभपरिणाम किसे कहते हैं ? और (शुभपरिणाम) क्या है ? शुभभाव-पुण्यभाव, बन्ध का कारण कैसे (और) किसे होता है ? यह बात चलती है। आहा...हा... !

अब, इन्द्रियसुखस्वरूप सम्बन्धी विचार को लेकर, उसके (इन्द्रियसुख के) साधन का (शुभोपयोग का) स्वरूप कहते हैं - क्या कहते हैं ? अतीन्द्रिय आनन्द का साधन तो आत्मा है। अब, शुभउपयोग जो है, ज्ञानी को भी शुभ उपयोग आता है परन्तु वह इन्द्रिय विषय का साधन है। आ...हा... ! शुभ उपयोग में तो इन्द्रिय के विषय मिलेंगे, अतीन्द्रिय विषय नहीं मिलेगा। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह सब (बात) कहते हैं। ६९ (गाथा)

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।। ६९ ।।

नीचे हरिगीत -

जो आत्मा है शुभोपयोगी, वो लीन उपवासादि में।
गुरु-देव-यति की पूजा में, अरु दान में वा सुशील में॥

देव, गुरु और यति की पूजा, उपवास, तप आदि शुभरागस्वरूप है। आहा...हा... ! शुभउपयोग बन्ध का कारण है। (वह) आता है, ज्ञानी को भी आता है। (इसी बात को आगे) कहेंगे परन्तु वह बन्ध का कारण है। शुभ उपयोग इन्द्रिय के विषय का साधन है। वह अतीन्द्रिय आत्मा के आनन्द का साधन नहीं (है)। आ...हा...हा... ! टीका ! टीका है ?

टीका - जब यह आत्मा दुःख की साधनभूत ऐसी द्वेषरूप तथा इन्द्रिय विषय की अनुरागरूप अशुभोपयोग भूमिका का उल्लंघन करके,... आ...हा...हा... ! क्या कहते हैं ? **जब यह आत्मा दुःख की साधनभूत ऐसी द्वेषरूप तथा इन्द्रिय विषय की अनुरागरूप अशुभोपयोग...** आ...हा...हा... ! इस **भूमिका का उल्लंघन करके,...** (अर्थात्) अशुभ उपयोग छोड़कर... आ...हा...हा... ! जब शुभ उपयोग में आता है,

(तब) वह है बन्ध का कारण, परन्तु वह इन्द्रिय विषय का साधन है। अतीन्द्रिय आत्मा का साधन यह शुभ उपयोग नहीं। आ...हा...हा...! है ?

देव-गुरु-यति की पूजा,... अशुभ उपयोग का उल्लंघन करके, अशुभ उपयोग को छोड़कर, देव (अर्थात्) अरहन्त परमात्मा, गुरु (का) अर्थ आगे करेंगे, यति की पूजा। ऐसे ही देव, गुरु, यति के प्रतिमा की पूजा, (भावार्थ में) लेंगे। समझ में आाय ? ये (सब) शुभ उपयोग हैं। है ? **देव-गुरु-यति की पूजा, दान...** (अर्थात्) मन्दिर बनवाना, दान में पैसे खर्च करना, यह सब दान शुभ उपयोग है। इन्द्रिय विषय का साधन है, अतीन्द्रिय विषय (का साधन नहीं)। आहा...हा...!

शील,.... (अर्थात्) शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, यह भी एक शुभ उपयोग है। आ...हा...! कषाय मन्द रखना यह शील (है)। **और उपवासादिक...** उपवास, ऊनोदर आदि की **प्रीतिस्वरूप...** उसकी प्रीतिस्वरूप **धर्मानुराग को अङ्गीकार करता है...** धर्म के प्रेम को अङ्गीकार करता है, **तब वह इन्द्रियसुख की साधनभूत शुभोपयोगभूमिका में आरूढ़ कहलाता है।** आ...हा...हा...!

पहले अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु आया, उसका साधन तो अन्तर में राग से भिन्न होकर अनुभव करना यह साधन है। जब अन्दर स्थिर नहीं रह सकता तो धर्मी को भी अशुभ से बचने को शुभ(भाव) आता है परन्तु यह शुभ उपयोग विषय का - दु:ख का साधन है। समझ में आया ? पैसे तो बहुत दूर रह गये। शुभ उपयोग से पैसे मिलेंगे, वह दु:ख का साधन है - ऐसा कहते हैं। दु:ख का निमित्त है। ममता है वह दु:ख है और उसका वह निमित्त है। आहा...हा...! पहले 'ज्ञान अधिकार' आया, फिर 'आनन्द अधिकार' आया। अब 'शुभ उपयोग अधिकार' कहते हैं क्योंकि धर्मी को भी शुभ उपयोग आता तो है न ? परन्तु ये शुभ उपयोग कौन है ? कि अशुभ उपयोग का उल्लंघन करके - छोड़कर शुभ उपयोग होता है। आ...हा...हा...! अब, उसकी व्याख्या (कहते हैं)।

भावार्थ - सर्व दोषरहित परमात्मा वह देव हैं;.... है ? सर्व दोषरहित परमात्मा त्रिलोकनाथ अरहन्त देव (हैं)। उनकी पूजा आदि का भाव, शुभभाव है। जब तक वीतरागता न हो, तब ज्ञानी को भी अशुभ से बचने को शुभभाव आता है परन्तु यह शुभभाव

है बन्ध का कारण; धर्म नहीं। वह आत्मा के आनन्द का कारण नहीं। आहा...हा...! है ? **सर्व दोषरहित परमात्मा वह देव है;....**

भेदाभेद रत्नत्रय के स्वयं आराधक... गुरु! अन्तर निश्चयस्वरूप भगवान आत्मा! उसका सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (है, वह) निश्चय आराधक (है) और शुभराग आता है (वह) व्यवहार है - ऐसे निश्चय और व्यवहार के आराधक है? **भेदाभेद रत्नत्रय के...** भेद नाम व्यवहार, अभेद नाम निश्चय। धर्मी को भी निश्चयरत्नत्रय के साथ में, जब तक पूर्णता न हो, तब तक व्यवहाररत्नत्रय का शुभभाव, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि (का शुभभाव) आता है परन्तु है व्यवहार और राग। आहा...हा...!

भेदाभेद रत्नत्रय के स्वयं आराधक तथा उस आराधना के अर्थी अन्य भव्य जीवों को जिनदीक्षा देनेवाले... स्वयं आराधक (हैं) और आराधना के अर्थी (अर्थात्) धर्मी आराधना के अर्थी (हैं उन) **अन्य भव्य जीवों को जिनदीक्षा देनेवाले वे गुरु हैं;....** जिनदीक्षा (अर्थात्) वीतरागीदीक्षा देनेवाले गुरु (हैं)।

श्रोता : जैनकुल में जन्म लिया हो और गुरु कहलाते हो तो उसे गुरु नहीं कहना ?

समाधान : धूल में भी नहीं है! जैन में जन्म लेकर अनन्त बार... 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो, पर आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' मुनि हुआ, दिगम्बर हुआ, हजारों रानियों को छोड़ा, पञ्च महाव्रत लिये, अट्ठाईस मूलगुण का पालन किया परन्तु वह तो आस्रव और राग है। आ...हा...! है ? **जिनदीक्षा देनेवाले वे गुरु हैं;....**

इन्द्रियजय करके शुद्धात्मस्वरूप में प्रयत्न परायण, वे यति हैं। 'यति' शब्द है न? यति यानि ये जति नहीं। **इन्द्रियजय करके शुद्धात्मस्वरूप में प्रयत्न परायण...** (अर्थात्) अन्तर आनन्दस्वरूप में प्रयत्न परायण (हैं वे) यति (हैं)। ये जति बाबा नहीं! आहा...हा...! अपने आनन्दस्वरूप में यत्ना करे वह यति (है)। आहा...हा...! **ऐसे देव-गुरु-यति की अथवा उनकी प्रतिमा की पूजा में,...** शुभराग है, शुभ उपयोग है, आहा...हा...! समझ में आया ?

शाश्वत् प्रतिमा असंख्य हैं, (उनकी) एकावतारी इन्द्र पूजा करते हैं। शकेन्द्र! सौधर्म देवलोक! ३२ लाख विमान! एक-एक विमान में असंख्य देव! करोड़ों अप्सराएँ!

परन्तु है आत्मज्ञानी समकिती! वे इन्द्रियसुख में सुख मानते नहीं। आत्मा के अतीन्द्रियसुख में सुख मानते हैं परन्तु जब भगवान की प्रतिमा की पूजा का भाव आता है... ये है न? आज क्या है? अष्टाह्निका है तो (नन्दीश्वरद्वीप में) देव जाते हैं। आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप है, वहाँ पावन शाश्वत् जिनालय है। एक-एक जिनालय में रत्न से भरी १०८ प्रतिमा हैं। आज सातवाँ दिन है न? कल आठवाँ दिन, अन्तिम दिन है। बहनों ने पूजा का सब किया है न! दिगम्बर शास्त्र में भी है, श्वेताम्बर शास्त्र में भी है, स्थानकवासी के सब श्वेताम्बर शास्त्र हैं तो उसमें भी है। आठवाँ नन्दीश्वरद्वीप है। वहाँ पावन जिनालय हैं। शाश्वत्, हाँ! किसी का बनाया हुआ नहीं। जैसे ये चन्द्र-सूर्य शाश्वत् हैं, ऐसी १०८ प्रतिमाएँ एक-एक जिनालय में (हैं)। ऐसे पावन जिनालय तो नन्दीश्वरद्वीप में हैं। ऐसी असंख्य प्रतिमाएँ (हैं)। चन्द्र-सूर्य असंख्य हैं तो प्रत्येक में जिनालय है। प्रत्येक में शाश्वत् जिनप्रतिमा है। वैमानिक देव में सौधर्म देवलोक (आदि में) विमान में शाश्वत् प्रतिमा है। इन्द्र जब अपने स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकते, तब इन्द्र भगवान की शाश्वत् प्रतिमा की पूजा करते हैं परन्तु वह शुभभाव है, पुण्यबन्ध का कारण है। आहा...हा...! पुण्य कहो या बन्ध का कारण कहो। सोने की बेड़ी कहो या लोहे की बेड़ी कहो! (शुभराग) आता है। एकावतारी समकिती कहा न? इन्द्र एकावतारी है। सौधर्म देवलोक का शकेन्द्र एकावतारी है। उनकी करोड़ों अप्सराएँ हैं, उनमें एक रानी एकावतारी है। जो मुख्य रानी है वह एकावतारी है। एक भव में मोक्ष जानेवाली है। पति-पत्नी दोनों एक भव करके मोक्ष जानेवाले हैं। वह देव और इन्द्राणी भी इस समय नन्दीश्वरद्वीप में जाते हैं। शाश्वत् प्रतिमा, जिनालय (में) भगवान विराजते हैं। मानो कि अभी बोलेंगे! ऐसे रत्नमय! शाश्वत् है। देवलोक में असंख्य शाश्वत् (प्रतिमाएँ) हैं। आहा...हा...! जैसे त्रिकाल में त्रिकाल को जाननेवाले का विरह नहीं; वैसे ही त्रिकाल में त्रिकाल की जो शाश्वत् प्रतिमा है, उसका जगत् में विरह नहीं। वस्तुस्थिति यह है, बापू! क्या करें? आहा...हा...! इस समय तो सब गड़बड़ हो गई (है)।

समकिती इन्द्र जब जन्म लेते हैं, सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी जब इन्द्र के रूप में जन्म लेते हैं, तब तुरन्त ही पूजा करने जाते हैं। भगवान की पूजा की तैयारी करो! देवों हाथी का रूप धारण करे! हाथी पर स्वयं चढ़े। सेवक देव होते हैं वे हाथी का रूप धारण करते हैं!

आ...हा..! हजारों देव, हजारों रानियों के साथ भगवान की प्रतिमा के पास पूजा (करते हैं)। परन्तु है वह शुभ उपयोग। वह धर्म है या आत्मा के धर्म का साधन है, (ऐसा) नहीं – ऐसी बात है। पहले कहा न? अशुभ के वचनार्थ, अशुभ को छोड़कर, उल्लंघन करके शुभभाव आता है और शुभ का उल्लंघन करके शुद्ध(भाव) होता है। आ...हा...हा...!

श्रोता : इसीलिए परम्परा कारण है?

समाधान : कारण है नहीं। वह तो विषय का साधन है। भगवान ने कहा न? वह तो विषयसुख का साधन है। समकिती को भी शुभभाव आता है परन्तु उनको अनुकूल विषय का साधन मिलेगा, स्वर्गादि मिलेगा। आ...हा...! ऐसी बात है। भगवान 'कुन्दकुन्दाचार्य' तो स्पष्ट करते हैं। उनको जगत की पड़ी नहीं। सत्यमार्ग है वह प्रसिद्ध करते हैं। आ...हा...हा...!

यही कहा न? आया न? देव, गुरु और यति अथवा उनकी प्रतिमा। देव की प्रतिमा, गुरु की भी प्रतिमा और यति की भी प्रतिमा होती है। पञ्च परमेष्ठी की प्रतिमा होती है। समझ में आया? महाविदेह में पञ्च परमेष्ठी की प्रतिमा है। अभी भगवान विराजते हैं। वहाँ पञ्च परमेष्ठी की प्रतिमा है, मन्दिर है, जिनमन्दिर है। दूसरे कोई मन्दिर नहीं। अन्यमती का कोई मन्दिर नहीं, अन्यमती गुरु का कोई वेष नहीं। सब में अभिप्राय में बहुत फर्क है, परन्तु बाह्य में दूसरी चीज नहीं। वहाँ महाविदेह में तो कृत्रिम-बनाया हुआ मन्दिर है और नन्दीश्वरद्वीप में तो शाश्वत् है। समझ में आ?

मैंने एक बार कहा था न? कि दिगम्बर शास्त्र में तो आता ही है परन्तु श्वेताम्बर शास्त्र में 'द्रोपदी' की बात है। 'द्रोपदी' – पाण्डवों की पत्नी! पाँच पाण्डव से जब ब्याह करती है, तब मन्दिर के दर्शन करने जाती है। (ऐसा) 'ज्ञातासूत्र' में है। सब व्याख्यान किये हैं न! करोड़ों श्लोक देखे हैं! जिनभवन है (वहाँ) वन्दन करने जाते हैं। तो मैंने ऐसा कहा कि यदि जिनभवन नहीं बने हो तो ये प्रतिमा आयी कहाँ से? 'जिनभवन' (ऐसा) पाठ है।

'अष्टपाहुड़' है न? 'कुन्दकुन्दाचार्य' का 'अष्टपाहुड़'! उसमें पाठ है कि जिनभवन में मुनि रहते हैं। यदि जिनभवन न हो तो मुनि रहे कहाँ से? जिनभवन कृत्रिम भी हैं।

अकृत्रिम तो हैं परन्तु कृत्रिम जिनभवन भी हैं। पाठ है न? बताया था। किसमें है भाई, मालूम है? कौन से पाहुड़ में है? 'बोधपाहुड़!' समझ में आया?

शाश्वत् प्रतिमा है तो उसकी इन्द्र भी पूजा करते हैं परन्तु बात इतनी है कि पूजा का भाव है वह शुभ है। कोई उसे धर्म मान ले और परम्परा कारण (मान ले तो ऐसा है नहीं)। अभी कहा था न? शास्त्र में भाषा ऐसी आती है परन्तु इसका अर्थ यह है कि उसको छोड़कर (धर्म) होता है। शुभराग है, वह तो राग है और बन्ध का कारण है, आत्मा है। ये तो कहते हैं – देव, गुरु, यति की पूजा और देव, गुरु, यति की प्रतिमा की पूजा। आ...हा...हा...! 'प्रवचनसार' में अन्त में आता है न, भाई? पूजा का उपदेश करे। मुनि देव प्रतिमा की पूजा का उपदेश करे (लेकिन) है वह विकल्प। विकल्प शुभराग है परन्तु वे जिनपूजा का उपदेश करे। वीतराग की प्रतिमा पूजने योग्य है और वह शुभभाव है। उसका ज्ञान कराने को ऐसी बात करे। आदरणीय है और हितकर है, ऐसा नहीं। अरे...! अरे...! ऐसी बातें!

श्रोता : व्यवहार से तो आदरणीय कहा जाये न?

समाधान : बिलकुल (नहीं)। व्यवहार से पूज्य कह सकते हैं। व्यवहारनय से व्यवहार पूज्य कहा जाये परन्तु निश्चय से तो पूज्य आत्मा ही है, पर नहीं। ऐसी बात कठिन पड़े, भाई! भगवान ऐसा कहते हैं। (यहाँ) क्या कहते हैं? शुभ उपयोग (अधिकार) कहते हैं।

समवसरण में साक्षात् भगवान विराजते हैं, उनकी पूजा करते हैं। हीरे के थाल, मणिरत्न के दीपक, कल्पवृक्ष के फूल (से पूजा करते हैं)। अनन्त बार महाविदेह में जन्म लिया है, अनन्त बार भगवान की पूजा की है... जय भगवान! साक्षात् प्रतिमा! (साक्षात्) भगवान, हाँ! (लेकिन) वह शुभभाव है। परद्रव्य पर लक्ष्य जाना, यह शुभभाव है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का लक्ष्य जाना, यह अशुभभाव है। देव, गुरु, शास्त्र (पर) लक्ष्य जाना, यह शुभभाव है। पर का आश्रय करे वहाँ शुभभाव या अशुभभाव आये बिना रहे ही नहीं। आ...हा...हा...! समझ में आया? आ...हा...हा...! बहुत कठिन बात! अनेकान्त मार्ग जगत् को बैठना (बहुत कठिन)! यही कहा न?

रात्रि को कहा था न ? श्वेताम्बर में बत्तीस सूत्र में 'जीवाभिगम सूत्र' है। हम पढ़ते थे। हमने तो सब देखे थे न ! ७३ (की साल में) 'जामनगर' में हम 'जीवाभिगम सूत्र' पढ़ते थे, उसमें ऊपर लाल कुमकुम लगाया था। (संवत) ७३ के साल की बात है। पढ़ने में ऐसा आया कि 'शाश्वत् प्रतिमाएँ हैं, वह जिन की ऊँचाई के प्रमाण में हैं।' यहाँ जैसे सात हाथ के 'महावीर' वीतराग है, 'ऋषभदेव' (का देह) पाँच सौ धनुष का (था)। तो ऐसी प्रतिमा भी सात हाथ और पाँच सौ धनुष ऊँची है। 'जिणोसे पमाणे' (अर्थात्) जिन की ऊँचाई के प्रमाण में प्रतिमा है। स्थानकवासी तो (प्रतिमा को) माने नहीं और मैंने (यह) पढ़ा, तो (ऐसा लगा) ये क्या ? यहाँ तो प्रतिमा को मानते नहीं और पाठ में तो है !? मैंने एकान्त में 'मूलचन्दजी' को पूछा – 'महाराज ! शास्त्र में तो ऐसा आता है कि शाश्वत् प्रतिमा जिन की ऊँचाई के प्रमाण में है और वीतराग के ऊँचाई के प्रमाण में जो देव हो, उसे यक्ष की (प्रतिमा) कैसे कह सकते हैं ?' और आप तो यक्ष की कहते हो, ऐसा मैंने उनको नहीं कहा था। लेकिन शास्त्र में तो ऐसा पाठ है। कोई नहीं था, हम दोनों ही थे तो उन्होंने कहा कि 'शाश्वत् प्रतिमा है तो तीर्थङ्कर की !' 'गोंडल'वाले (किसी गृहस्थ ने यह 'जिवाभिगम') पुस्तक प्रकाशित किया था। मैंने तो सब पुस्तक देखे हैं न ! हजारों, लाखों, करोड़ों देखे हैं ! उस पुस्तक में शाश्वत् प्रतिमा को यक्ष की प्रतिमा स्थापित किया (था)। यक्ष की ! तो मैंने (मूलचन्दजी महाराज को) पूछा कि 'इसमें यक्ष की प्रतिमा लिखी है और भगवान तो जिन की ऊँचाई के प्रमाण में कहते हैं ?' (तो उन्होंने कहा कि) 'है तो तीर्थङ्कर की !' आ...हा...हा... ! अरे... ! तुम बाहर में कुछ कहो और अन्दर में और कुछ मानो ! (तब से) मेरी श्रद्धा उठ गयी ! सब के ऊपर से श्रद्धा उठ गयी ! सिद्धान्त ऐसा कहता है और दिगम्बर शास्त्र कहता है, श्वेताम्बर शास्त्र कहता है, स्थानकवासी शास्त्र कहता है कि शाश्वत् प्रतिमा अनादि अनन्त है। आहा...हा... ! और इन्द्र भी उनकी पूजा करते हैं और तुम उसे यक्ष की (प्रतिमा) कहो ! हमने तो कहा, 'यहाँ मुँह पट्टी में आ गये, इसलिए मानेंगे, ऐसा नहीं (है) ! हमें तो जो सत्य लगेगा वही मानेंगे नहीं तो हम तो क्षण में छोड़ देंगे !' (हमारे) सामने कोई बोले नहीं। कुछ बोलेंगे तो अभी छोड़ देंगे (ऐसा डर लगता था)। 'मैं सम्प्रदाय में आ गया इसलिए मानूँगा, ऐसा नहीं है। मैं तो सत्य होगा वही

मानूँगा!' यह ७३ के साल की बात है। कितने वर्ष हुये? ६५! ६५ साल पहले की बात है! आ...हा...!

तीर्थङ्कर भगवान की शाश्वत् प्रतिमा! सात हाथ ऊँची और पाँच सौ धनुष ऊँची! रत्न की! जिसकी इन्द्र पूजा करे! इन्द्र पैर में घुँघरू बाँधकर नाचे! अभी भी इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं तो पैर में घुँघरू बाँधकर वहाँ नाचते हैं! जानते हैं कि ये जड़ घुँघरू की क्रिया पर की है, मेरी नहीं और मुझे भाव आता है, वह शुभभाव है; वह धर्म नहीं और धर्म का कारण भी नहीं। यहाँ कहा न? ये शुभभाव (इन्द्रिय के) विषय का साधन है। आ...हा...हा...! शुभभाव से पुण्य बँधेगा और पुण्यबन्ध से देवलोक का (वैभव मिलेगा) अथवा ये धूल के सेठ जो कहे जाते हैं, वैसे पैसे मिलेंगे!

श्रोता : यहाँ तो पैसेवाले ही पीटे जाते हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सच्ची है। (यहाँ तो) डण्डे पड़ते हैं! पैसे की ममता है न – पैसे मेरे! (लेकिन) वह तो धूल है।

यहाँ तो परमात्मा – 'कुन्दकुन्दाचार्य' ऐसा कहते हैं कि अशुभ से छूटने को शुभभाव आता है परन्तु यह शुभभाव विषयसुख का साधन है। उससे पुण्य बँधेगा और पुण्य से स्वर्ग आदि मिलेगा और पुण्य विशेष हो तो वहाँ से निकलेगा तो अरबोंपति सेठिया होगा परन्तु वह विषय के सुख का साधन (है)। आता है, धर्मी को भी अशुभ से बचने का शुभभाव आता है परन्तु वह विषयसुख का साधन है। भगवान के अतीन्द्रियसुख का साधन नहीं। आ...हा...हा...!

'जीवाभिगम' में तो भाई! वहाँ तक लेख है कि प्रतिमा को देखो तो ऐसा लगे कि मानो अभी बोलेगी! ऐसी प्रतिमा है! ऐसा पाठ है। अभी बोलेगी! रत्न की प्रतिमा! शाश्वत्! जैसे भगवान त्रिकाली सर्वज्ञ तो शाश्वत् होते हैं न? जगत् में कभी सर्वज्ञ न हो, ऐसा नहीं। अनन्त काल से सर्वज्ञ होते हैं। भगवान सर्वज्ञ महाविदेह में तो त्रिकाल – हमेशा होते हैं; तो जैसे त्रिकाली सर्वज्ञ परमात्मा हैं, वैसे त्रिकाली भगवान की प्रतिमा शाश्वत् है। समझ में आया? ये बात यहाँ करते हैं परन्तु उनकी पूजा का भाव शुभ उपयोग है। अशुभ से बचने को, अशुभ वञ्चनार्थ – ऐसा पाठ है। 'पञ्चास्तिकाय संग्रह' में 'अशुभ वञ्चनार्थ'

ऐसा है न? भाई! 'अशुभ वञ्चनार्थ' 'पञ्चास्तिकाय संग्रह' में 'अमृतचन्द्राचार्य' की टीका में (आता है)। अशुभ वञ्चनार्थ धर्मी को भी शुभभाव आता है परन्तु वह धर्म - मोक्ष का कारण है - ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! ऐसी बात है, भाई! स्थानकवासी ने प्रतिमा का निषेध कर दिया! निषेध कर दिया! तत्त्व से विरुद्ध है।

कल रात्रि को कहा था न? 'चोटीला' में 'गुलाबचन्दजी' मिले थे। उनको यह बात कही थी। तो (उन्होंने) कहा कि सच बात है। (संवत) ८९ की साल में ज्येष्ठ मास में मिले थे। (उन्होंने कहा) 'शास्त्र में प्रतिमा है। श्वेताम्बर शास्त्र में, अपने शास्त्र में प्रतिमा, प्रतिमा की पूजा है। मेरी जिन्दगी तो शंका में गयी! शिष्य यदि पढ़ेगा तो उसे शंका हो जायेगी कि पूजा है और (यहाँ ना कहते हैं तो) ये स्थानकवासी धर्म कैसा?' वे बोले, 'बाल तो सच्ची है, प्रतिमा है, पूजा भी है।' रात्रि को दो बात कही थी न?

दूसरी बात कही थी - ज्ञानक्रिया की। भगवान **ज्ञानक्रियाभ्याम मोक्षः** कहते हैं न? यह क्या (है)? शास्त्र का ज्ञान और राग की क्रिया वह (ज्ञानक्रिया की बात है)? नहीं। 'चोटीला' में मेडी (छोटे मकान की ऊपर की मंजिल) पर बात हुई थी। (हमने कहा) ज्ञान अर्थात् आत्मा का ज्ञान और क्रिया मतलब आत्मा में - ज्ञान में स्थिरता वह क्रिया (है)। ये तुम्हारी महाव्रत की क्रिया मोक्ष का कारण नहीं। स्वीकार किया था, क्योंकि मेरी छाप तो बड़ी थी न! सम्प्रदाय में छाप बड़ी थी (कि) 'कानजीस्वामी' जो कहेंगे, उसके विरुद्ध बोलेंगे तो (लोग) उनका मानेंगे अपना नहीं मानेंगे। ऐसा लोग मानते थे।

(एक और बात कही थी न?) (संवत्) ८५ में 'मोहनालालजी' ने 'मोहनमाला' (नामक पुस्तक) छपवाया था। उसमें ऐसा लिखा था कि अभव्य को (तीन) आवरण होता है क्योंकि अभव्य को मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान होता नहीं, इसलिए उसे तीन आवरण होता है - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और विभंगज्ञान। तीन आवरण (होते हैं)। मनःपर्यय और केवलज्ञानावरण नहीं होता। बड़ी चर्चा हुई। ८५ की साल! कितने वर्ष हुए? ५०! ५० वर्ष पहले की बात है। हमने कहा, 'नहीं, आपकी बात झूठ है।' 'मोहनमाला' पुस्तक छपवाया था। उसमें लिखा था कि अभव्य को तीन आवरण होते हैं। (हमने) कहा, नहीं, झूठ बात है। अभव्य को पाँच आवरण हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और

केवलज्ञान (सभी के आवरण होते हैं)। भले केवलज्ञान नहीं होता तो क्या आवरण नहीं है ? आवरण है। अन्दर केवलज्ञान शक्ति है। बहुत वर्ष हो गये। हम तो बहुत साल साथ में रहे हैं। उन्होंने लिखा था कि तीन आवरण होते हैं और समकिती जो भव्य होते हैं, उसको मोहनीय की २७ प्रकृति होती हैं और अभवी को २६ होती हैं। (हमने) कहा, झूठ है। अनादि की मोहनीय की प्रकृति, अभव्य-भव्य दोनों को २६ होती हैं, २७ वीं नहीं होती। ५०वर्ष पहले भी बहुत चर्चा होती थी।

श्रोता : आपकी बात को कौन न कह सकता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस वक्त कोई बोल नहीं सकता था क्योंकि लोग ऐसा कहते थे कि कुछ भी बात होगी तो लोग उनकी बात मानेंगे, अपनी बात नहीं मानेंगे! छाप ऐसी थी ना!

केवलज्ञानावरणीय अभव्य को भी होता है क्योंकि अभव्य में केवलज्ञान शक्ति है। सर्व जीव सिद्ध समान हैं तो केवलज्ञान उसकी शक्ति है, अतीन्द्रिय आनन्द शक्ति है, उसमें आवरण है। आवरण को टाल नहीं सकता। समझ में आया ? लोगों को तत्त्व का कुछ मालूम नहीं और ऐसे ही चले जाते हैं! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु (है)। अभव्य का (आत्मा भी) अतीन्द्रिय आनन्दमय है। अभव्य का आत्मा भी केवलज्ञानमय है तो केवलज्ञानावरणीय प्रकृति है, उसे आवरण है। समझ में आया ?

इस तरह यहाँ प्रतिमा की पूजा इन्द्र भी करते हैं। निषेध करते हो, यह नहीं चलेगा। हम (सम्प्रदाय में) आ गये इसलिए मान लेंगे, ऐसा नहीं है। हम तो सत्य होगा वही मानेंगे। यह कहते हैं, देखो!

देव-गुरु-यति की अथवा उनकी प्रतिमा.... उनका मतलब ? अकेली भगवान की (प्रतिमा) ऐसा नहीं, पाँचों परमेष्ठी की प्रतिमा शास्त्र में (कही) है। सच्चे भावलिङ्गी मुनि सन्त हो (उनकी भी प्रतिमा होती है)। अभी द्रव्यलिङ्ग का ठिकाना नहीं उनकी प्रतिमा करते हैं! शास्त्र में तो पाँच परमेष्ठी (की प्रतिमा कही है)। अरहन्त, सिद्ध - सिद्ध की प्रतिमा है ना ? (जिसमें बीच में) खाली भाग होता है और आचार्य, उपाध्याय, साधु की प्रतिमा होती है परन्तु सच्चे हो उनकी, हाँ! यहाँ यही कहा, देखो!

जैसे, देव-गुरु-यति की अथवा उनकी प्रतिमा की पूजा में... शुभभाव है। **आहारादिक चतुर्विध दान में,....** (अर्थात्) मुनि को आहार, औषधादि देने में शुभभाव है। समझ में आया? आहार, पानी 'असणं, पाणं, खाईमं, साईमं' (आदि) चार प्रकार के आहार मुनि को देना (वह) शुभभाव है, धर्म नहीं। धर्म तो आत्मा के आश्रय से होता है, पर के आश्रय से तो शुभभाव होता है। है? 'असणं, पाणं, खाईम, साईमं' (ऐसे) **चतुर्विध दान में,...** चार प्रकार के दान में शुभभाव है। आहा...हा...!

आचारांगादि शास्त्रों में कहे हुए शीलव्रतों में.... क्या कहते हैं? शीलव्रत (अर्थात्) बारह व्रत, पञ्च महाव्रत। **आचारांगादि शास्त्रों में कहे हुए शीलव्रतों में तथा उपवासादिक तप में प्रीति का होना, वह धर्मानुराग है।** (अर्थात्) शुभराग है, शुभ उपयोग है। ऐसी बात है! 'जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका में तो बहुत लिखा है। दिगम्बर मुनि! उन्होंने बहुत लिखा है, बहुत! **देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः, स्वयं भेदाभेदरत्नत्रयाराधकस्त-दर्थिनां भव्यानां जिनदीक्षादायको गुरुः, पूर्वोक्तदेवतायतिगुरुणां तत्प्रतिबिम्बादीनां....** पाठ है? देखो! है संस्कृत टीका? यहाँ है **तत्त्प्रतिबिम्बादीनां** उनका प्रतिबिम्ब अर्थात् मूर्ति। है? 'जयसेनाचार्य!' 'जयसेनाचार्य' दिगम्बर मुनि की टीका है। **तत्प्रतिबिम्ब** (अर्थात्) मूर्ति। **तत्प्रतिबिम्बादीनां च यथासंभवं द्रव्यभावरूपा पूजा,....** दोनों, हाँ! भावपूजा करै, वह शुभभाव है और द्रव्यपूजा करे, वह शुभभाव है। ऐसा है, बापू! यह वीतरागस्वभाव मुनि कहते हैं, देखो! पञ्च महाव्रतधारी और सच्चे सन्त! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले! टीका करते हैं कि उनका प्रतिबिम्ब होता है, प्रतिमा होती है। आ....हा...हा...!

उपवासादिक तप में प्रीति का होना, वह धर्मानुराग है। जो आत्मा द्वेषरूप और विषयानुरागरूप अशुभोपयोग को पार करके धर्मानुराग को अङ्गीकार करता है, वह शुभोपयोगी है। विषयभोग को, व्यापार-धन्धे आदि का अशुभ उपयोग छोड़कर धर्मानुराग(रूप) जैसे शुभ उपयोग करे (यानि) शील में, व्रत में, तप में, पूजा में (अनुराग करे) तो वह शुभ उपयोग है। (मन्दिर बनवाने में) लाख-दो लाख रुपये दिये हों तो वह शुभभाव है, धर्म नहीं। दस लाख दे तो भी क्या? यहाँ तो कहते हैं कि राग (है)।

आहा...हा...! शुभराग है, शुभ उपयोग है। वह आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का साधन नहीं। उससे इन्द्रिय के विषय मिलेंगे। स्वर्ग का देव, लक्ष्मी आदि मिलेंगे परन्तु उससे आत्मा मिलेगा नहीं। आ...हा...हा...! फिर भी धर्मी को भी, मुनि भी भगवान की पूजा करते हैं – भावपूजा करते हैं। फूल रखते नहीं, जल को छूते नहीं। जल सचेत है न? फूल सचेत है, (इसलिए) छूते नहीं। भावपूजा करते हैं, लेकिन वह शुभभाव है। इसलिए टीका में लिया है न? **यथासंभवं द्रव्यभावरूपा पूजा** देखा? द्रव्यपूजा और भावपूजा। है अन्दर? संस्कृत है? 'जयसेनाचायर्य'! यहाँ तो सब टीका भी देखी हैं और करोड़ों श्लोक भी देखे हैं, सब देखा है! है? द्रव्य–भावपूजा – दोनों! पूजा में फूल आदि नहीं रखे परन्तु भाव से करे तो भी शुभभाव है। मुनि तो फूल, पानी नहीं रखते, (ऐसी) पूजा नहीं करते। जैसे गृहस्थ रखते हैं – ऐसे मुनि नहीं रखते। मुनि भाव से करते हैं परन्तु वह शुभभाव है। आहा...हा...! यहाँ तो मार्ग यह है, बापू! यह कोई सम्प्रदाय नहीं है, वस्तु यह है। आहा...हा...!

आज एक 'आगमपथ' नाम का पेपर आया है, भाई! यहाँ की ओर का कोई है। अच्छे लेख बहुत लिखे हैं। आज आया है, अभी तक तो आता नहीं था। उसमें लिखा है कि ''इस समय जैन धर्म की प्रभावना होती है तो 'सोनगढ़' में होती है। अभी जैन धर्म की स्थापना उन्होंने की है।'' लिखा है, बहुत लिखा है। पत्र आया है।

यहाँ कहते हैं... आ...हा...हा...! **जो आत्मा द्वेषरूप और विषयानुरागरूप अशुभोपयोग को पार करके...** (अर्थात्) अशुभ छोड़ करके। **धर्मानुराग को अङ्गीकार करता है...** धर्मानुराग यानि ये शुभ(भाव) – पुण्य **अङ्गीकार करता है वह शुभोपयोगी है।** आ...हा...हा...!

अब, इन्द्रियसुख को शुभोपयोग के साध्य के रूप में (अर्थात् शुभोपयोग साधन है और उसका साध्य इन्द्रियसुख है ऐसा) कहते हैं – आ...हा...हा...! शुभ उपयोग में आत्मा का सुख नहीं मिलेगा, ऐसा कहते हैं। इन्द्रिय का सुख मिलेगा। विशेष कहेंगे... ।

गाथा - ७०

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति -

जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं।। ७०।।

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा।
भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधम्।। ७०।।

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुष-देवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति।।७०।।

अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुखं कथयति - **सुहेण जुत्तो आदा** यथा निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन युक्तो मुक्तो भूत्वाऽयं जीवोऽनन्तकालमतीन्द्रियसुखं लभते, तथा पूर्वसूत्रोक्तलक्षणशुभोपयोगेन युक्तः परिणतोऽयमात्मा **तिरियो वा माणुसो व देवो वा भूदो** तिर्यग्मनुष्यदेवरूपो भूत्वा **तावदि कालं** तावत्कालं स्वकीयायुःपर्यन्तं **लहदि सुहं इंदियं विविहं** इन्द्रियजं विविधं सुखं लभते, इति सूत्राभिप्रायः।।७०।।

अब, इन्द्रियसुख को शुभोपयोग के साध्य के रूप में (अर्थात् शुभोपयोग साधन है और उसका साध्य इन्द्रियसुख है ऐसा) कहते हैं -

आत्मा जो शुभोपयोगी, देव-नर-तिर्यक बने।
अरु काल उतने जीव वो, विविध इन्द्रिय सुख लहे॥

अन्वयार्थ : [शुभेन युक्तः] शुभोपयोगयुक्त **[आत्मा]** आत्मा **[तिर्यक् वा]** तिर्यञ्च, **[मानुषः वा]** मनुष्य **[देवः वा]** अथवा देव **[भूतः]** होकर, **[तावत्कालं]** उतने समय तक **[विविधं]** विविध **[ऐन्द्रियं सुखं]** इन्द्रियसुख **[लभते]** प्राप्त करता है।

टीका : यह आत्मा इन्द्रियसुख के साधनभूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से उसके अधिष्ठानभूत (इन्द्रियसुख के स्थानभूत-आधारभूत ऐसी) तिर्यञ्च, मनुष्य और देवत्व की भूमिकाओं में से किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक (उसमें) रहता है, उतने समय तक अनेक प्रकार का इन्द्रियसुख प्राप्त करता है ॥ ७० ॥

प्रवचन नं. ६६ दिनाङ्क १३ मार्च १९७९

'प्रवचनसार' ७० गाथा। ६९ (गाथा में) ऐसा आया न? कि देव, गुरु और मुनि और उनकी प्रतिमा (की) पूजा है, वह शुभभाव है और शुभभाव इन्द्रियसुख का साधन है। यह बात सिद्ध करते हैं। समझ में आया? **अब, इन्द्रियसुख को शुभोपयोग के साध्य के रूप में....** है? **इन्द्रियसुख को शुभोपयोग के साध्य के रूप में...** आ...हा...हा...! शुभ उपयोग जो है... आहा...हा...! देव, गुरु, साधु और भगवान की प्रतिमा की पूजा (और) दान, शील, संयम, व्रत, तप का भाव (है), वह शुभभाव है। आ...हा...हा...! इस शुभभाव का साध्य - उसका परिणाम (फल) इन्द्रियसुख है। आगे कहेंगे कि इन्द्रियसुख कहते हैं लेकिन वह दुःख है। आहा...हा...!

यहाँ तो शुभ उपयोग धर्म नहीं है, ऐसा कहना है। आ...हा...हा...! यह बात...! चाहे तो देव, गुरु और मुनि-यति,... यति आया था न? स्वरूप की यत्ना, आनन्द की यत्ना! आनन्दस्वरूप में यतन करे वह यति! और गुरु (यानि) दीक्षा आदि (देते हैं) वह गुरु भावसन्त, हाँ! भावलिङ्गी! और अरहन्त परमात्मा। ये तीन और तीनों की प्रतिमा की पूजा का भाव (है), वह शुभ है। यहाँ तो कहते हैं कि यह शुभ तो इन्द्रिय का सुख देगा और यह इन्द्रिय का सुख है वह दुःख है। अन्त में सारांश ये लेंगे कि जब शुभोपयोग से इन्द्रिय का सुख मिले वह दुःख है तो फिर शुभ और अशुभ में फर्क कहाँ रहा? यह बताना है। आ...हा...हा...! शुभ भी बन्ध का कारण है और अशुभ भी बन्ध का कारण है। आ...हा...हा...! ऐसी कठिन बात!

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा... आ...हा...हा...! ये सब शुभ उपयोग, शुभराग से इन्द्रिय का सुख साध्य है और इन्द्रिय का सुख है, वह दुःख है। स्वर्ग के जीव भी, शुभ

उपयोग के फलस्वरूप स्वर्ग में जाते हैं तो वहाँ इन्द्रिय का दु:ख भोगते हैं, क्लेश है; तो फिर शुभ ठीक (है) और अशुभ अठीक (है) – ऐसा कहाँ आया? यह बताना है। आहा...हा...! समझ में आया? पीछे गाथा है न? ७१ (गाथा)! **सुरनेय सौख्य स्वभावसिद्ध न – सिद्ध छे आगमविषे, ते देहवेदनथी पीडित रमणीय विषयों मां रमे।** आहा...हा...! तो उसमें शुभ और अशुभ में फर्क कहाँ रहा? क्या कहा, समझ में आया? आ...हा...!

ये दान, दया, व्रत, भक्ति, पूजा, प्रतिमा, देव-गुरु-शास्त्र का विनय, ये शुभ उपयोग है। कठिन बात है, प्रभु! वह धर्म नहीं है। अभी कहेंगे, **इन्द्रियसुख को शुभोपयोग के साध्य के रूप में (अर्थात् शुभोपयोग साधन है और उसका साध्य इन्द्रियसुख है)...** है? उसमें कोई आत्मा का सुख है नहीं। आ...हा...हा...! अपना सुख – अतीन्द्रिय सुख तो अन्दर सम्यग्दर्शन से मिलता है। ऐसी बात (है)! कठिन काम (है)! ७० (गाथा) –

जुत्तो सुहेण आदा तिरिओ वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इंदियं विविहं।। ७०।।

नीचे हरिगीत –

आत्मा जो शुभोपयोगी, देव-नर-तिर्यक बने।
अरु काल उतने जीव वो, विविध इन्द्रिय सुख लहे॥

टीका – यह आत्मा इन्द्रियसुख के साधनभूत... आ...हा...हा...! ये सब दान के शुभपरिणाम इन्द्रिय के सुख (देनेवाले दु:खरूप हैं), ऐसा कहते हैं।

श्रोता : जब तक शुद्धता में नहीं आये तब तक तो करें।

पूज्य गुरुदेवश्री : करे, भले करे! परन्तु इन्द्रिय का सुख और संसार मिलेगा।

श्रोता : ऐसा कहोगे तो सेठ लोग पैसे नहीं देंगे!

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ कहाँ है? सब धूल के सेठ हैं!

श्रोता : (पैसे से) बहुत काम होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल से कोई काम होता नहीं, पाप होता है – ऐसा कहते हैं। 'पाप पाप को सहु कहे, परन्तु अनुभवजीवन पुण्य को पाप कहे' ऐसा पाठ है! 'योगीन्द्रदेव'!

'योगीन्द्रदेव' है न? उनके दोहे में (आता) है। पाप को तो सब पाप कहे - हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग (सब पाप हैं)। परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति, भगवान की पूजा, देव-गुरु-शास्त्र का विनय... आ...हा...हा...! ये शुभभाव भी पाप है - ऐसा कहते हैं क्योंकि आत्मा के स्वरूप से उसमें पतित है। ऐसी बात है! कठिन बात है, भाई!

श्रोता : ऐसी बात कहीं सुनने नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनने नहीं मिलती? सच बात है। (आजकल तो सम्प्रदाय में) पैसेवाले की खुशामद करते हैं! पैसे खर्च करो तो धर्म होगा। लाख-दो लाख खर्च कर दे!

श्रोता : ऐसा अवसर नहीं मिलेगा, ऐसा कहते हैं!

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं मिलेगा, इसलिए करो! (ऐसा) अवसर नहीं मिलेगा, इसलिए पुण्य करो।

'बम्बई' में जन्म जयन्ती करनी है न? तो एक किलो चाँदी का दो हजार रुपया (है)। ऐसे पाँच लाख साठ हजार इकट्ठे किये हैं। (कोई) कहता था। वह शुभराग है।

श्रोता : भले राग है लेकिन उपयोग में आयेगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग क्या करे? राग है, बन्ध का कारण है; दुःख का कारण है। इन्द्रियसुख है, वह दुःख है। यहाँ यह कहना है।

शुभ से इन्द्रिय का सुख मिले, वह दुःख है और अशुभ से भी दुःख है, तो शुभ-अशुभ में अन्तर कहाँ रहा? ऐसा कहना है।

श्रोता : अशुभभाव है वह विकार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों विकार हैं; और ७७ गाथा तो (आयेगी), यह तो ७१ है, ७७ (गाथा) है, उसमें देखो! ७७!

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो॥ ७७॥

७७! दो सात! क्या कहते हैं? जो कोई पुण्य और पाप में विशेष मानता है कि पुण्य-शुभभाव ठीक है और अशुभ अठीक है - ऐसा माननेवाला **ण हि मण्णदि जो एवं**

णत्थि विसेसो शुभभाव और अशुभभाव में कोई विशेष है नहीं। दोनों बन्ध का कारण और दु:ख का कारण है। **ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं। हिंडदि घोरमपारं संसारं...** घोर अपार संसार में रुलेगा (ऐसा) 'कुन्दकुन्दाचार्य' जगत के सामने प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा...! यहाँ कहते हैं न? पुण्य और पाप में विशेष है - अन्तर है; शुभ-अशुभ में अन्तर है - ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि घोर संसार में रुलेगा। ७७ (गाथा) है! कठिन बात है, भाई! प्रभु का मार्ग वीतराग का है! आहा...हा...!

यहाँ तो यह कहा कि शुभ और अशुभभाव दोनों (हैं)। दोनों में शुभ ठीक है और अशुभ अठीक है, ऐसा दो में विशेष - अन्तर मानता है, ऐसा मिथ्यादृष्टि **मोहसंछण्णे** मिथ्यात्व से ढँका हुआ, घोर संसार में रुलेगा। भगवान को कुछ पड़ी नहीं कि जगत को ठीक लगे, नहीं लगे! दिगम्बर सन्तों को पड़ी नहीं!

श्रोता : आप को भी कुछ पड़ी नहीं!

पूज्य गुरुदेवश्री : हम तो उनके दास हैं! वे कहते हैं - ऐसा हम मानते हैं और कहते हैं। आ...हा...हा...! समझ में आया? क्या कहा? देखो! ७० (गाथा की) टीका।

यह आत्मा इन्द्रियसुख के साधनभूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से उसके अधिष्ठानभूत (इन्द्रियसुख के स्थानभूत-आधारभूत ऐसी) तिर्यञ्च,.... (तिर्यञ्च) होगा। भोगभूमि! यह तो कर्मभूमि है। ऐसे भोगभूमि (है)। (उसमें) जुगलिया (होते हैं)। तीन कोस लम्बा! तीन पल्योपम का आयुष्य! शुभ से ऐसा तिर्यञ्च हो, किन्तु वह भी दु:ख है। आ...हा...! आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान! उससे बाहर निकलकर शुभ-अशुभभाव होते हैं, दोनों दु:ख के कारण (हैं) और संसार परिभ्रमण का कारण है। समझ में आया? वह तो गाथा चलती है। शुभभाव से तिर्यञ्च होता है। वह तिर्यञ्च कौन? जुगलिया! जुगलिया होता है न? तीन-तीन पल्योपम का आयुष्य! किसी का एक का है, किसी का दो है, किसी को तीन पल्योपम का आयुष्य है। कोई एक कोस ऊँचा है, कोई दो, कोई तीन कोस ऊँचा तिर्यञ्च है! शुभ उपयोग से तिर्यञ्च होता है। वहाँ तो संसार का सुख है, तो इन्द्रिय का सुख तो दु:ख है। आ...हा...हा...! (ऐसा) तिर्यञ्च होता है।

(ऐसे) **मनुष्य...** होता है। शुभ उपयोग के फल में करोड़पति या अरबपति सेठ (बनता है) परन्तु वह दु:खी है। आ...हा...हा... !

श्रोता : सेठ लोग के प्रति इतनी नाराजगी क्यों ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ के प्रति (नाराजगी) कहाँ है ? उसका शुभराग है, वह दु:ख है, वह बताते हैं। शुभ में धर्म मानता है – शास्त्र बनाया, शास्त्र का विनय किया तो ये सब धर्म है, (ऐसी मान्यता) झूठ है। आ...हा...हा... ! शुभभाव है तो उससे जुगलिया का मनुष्य होगा अथवा ये करोड़पति–अरबपति मनुष्य होगा। और देव – शुभभाव के फल में देव होगा। (इस प्रकार) कोई तिर्यञ्च होगा, कोई मनुष्य होगा, कोई देव होगा।

(इन तीन भूमिकाओं में से) **किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक (उसमें) रहता है, उतने समय तक अनेक प्रकार का इन्द्रियसुख प्राप्त करता है।** इन्द्रिय का सुख अर्थात् बाहर के साधन। आ...हा...हा... ! अर्थात् कि दु:ख के निमित्त।

श्रोता : इसके बाद की गाथाओं में यही आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए तो यह शुरु किया है। आहा...हा... ! वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ का हुकम है कि शुभभाव का फल तिर्यञ्च, मनुष्य और देव में मिलता है (वह) इन्द्रियसुख है। (उसमें) तो अतीन्द्रिय सुख का घात है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? 1

गाथा - ७१

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दुःखत्वे प्रक्षिपति -

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु।।७१।।

सौख्यं स्वभावसिद्धं नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु।।७१।।

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः। तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति, प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते; यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपात-स्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति।।७१।।

अथ पूर्वोक्तमिन्द्रियसुखं निश्चयनयेन दुःखमेवेत्युपदिशति - **सोक्खं सहाव सिद्धं** रागाद्युपाधिरहितं चिदानन्दैकस्वभावेनोपादानकारणभूतेन सिद्धमुत्पन्नं यत्स्वाभाविकसुखं तत्स्वभावसिद्धं भण्यते। तच्च **णत्थि सुराणं पि** आस्तां मनुष्यादीनां सुखं देवेन्द्रादीनामपि नास्ति **सिद्धमुवदेसे** इति सिद्धमुपदिष्टमुपदेशे परमागमे। **ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु** तथाभूतसुखाभावात्ते देवादयो देहवेदनार्ताः पीडिताः कदर्थिताः सतो रमन्ते विषयेषु रम्याभासेष्विति। अथ विस्तरः- अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाऽजगर-प्रसारितमुखे, कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभ-स्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारितवदने देहस्थानीयमहान्धकूपे पतितः सन् कश्चित् पुरुषविशेषः, संसारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्टः सन् मृत्युस्थानीयहस्ति-भयेनायुष्कर्मस्थानीये साटिकविशेषे शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्ल- कृष्णमूषकद्वयछेद्यमानमूले व्याधिस्थानीय-मधुमक्षिकावेष्टिते लग्नस्तेनैव हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीयमधुबिन्दुसुस्वादेन यथा सुखं मन्यते, तथा संसारसुखम्। पूर्वोक्तमोक्षसुखं तु तद्विपरीतमिति तात्पर्यम्।।७१।।

इस प्रकार इन्द्रियसुख की बात उठाकर, अब इन्द्रियसुख को दुःखपने में डालते हैं -

देवों का भी सुख नहीं है, स्वभाव-सिद्ध आगम कहे।
तन-वेदना से हैं वे पीड़ित, रम्य विषयों में रमे॥

अन्वयार्थ : [उपदेशे सिद्धं] (जिनेन्द्रदेव के) उपेदश से सिद्ध है कि **[सुराणाम् अपि]** देवों के भी **[स्वभावसिद्धं]** स्वभावसिद्ध **[सौख्यं]** सुख **[नास्ति]** नहीं है; **[ते]** वे **[देहवेदनार्ता]** (पञ्चेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीड़ित होने से **[रम्येषु विषयेषु]** रम्य विषयों में **[रमन्ते]** रमते हैं।

टीका : इन्द्रियसुख के भाजनों में प्रधान देव हैं; उनके भी वास्तव में स्वाभाविक सुख नहीं है, उलटा उनके स्वाभाविक दु:ख ही देखा जाता है; क्योंकि वे पञ्चेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाच की पीड़ा से परवश होने से भृगुप्रपात[१] के समान मनोज्ञ विषयों की ओर दौड़ते हैं ॥ ७१ ॥

प्रवचन नं. ६६ का शेष **दिनाङ्क १३ मार्च १९७९**

इस प्रकार इन्द्रिय सुख की बात उठाकर अब इन्द्रियसुख को दु:खपने में डालते हैं - देखों! इन्द्रियसुख कहा और अब वह दु:ख है - ऐसा बताते हैं। आहा...हा...! ७१ (गाथा)।

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु।। ७१।।

नीचे हरिगीत -

देवों का भी सुख नहीं है, स्वभाव-सिद्ध आगम कहे।
तन-वेदना से हैं वे पीड़ित, रम्य विषयों में रमे॥

सुरनेय सौख्य स्वभावसिद्ध न देव को भी स्वभाव का सुख नहीं है, प्रभु! आ...हा...हा...! **सिद्ध छे आगमविषे** आगम भी देव को सुख नहीं कहते। सिद्धान्त - भगवान के आगम, देव में सुख है, ऐसा नहीं कहते। **ते देहवेदनथी पीड़ित रमणीय विषयोमां रमे।** देह के विषय में रमणता करता है, (वह) अन्दर कुएँ में गिरता है। आहा...हा...!

१. भृगुप्रपात = अत्यन्त दु:ख से घबराकर आत्मघात करने के लिये पर्वत के निराधार उच्च शिखर से गिरना। (भृगु = पर्वत का निराधार उच्चस्थान-शिखर; प्रपात = गिरना।)

टीका - इन्द्रिय सुख के भाजनों में प्रधान देव हैं;... तिर्यञ्च, मनुष्य और देव - तीन कहा परन्तु उसमें भी इन्द्रियसुख का साधन मुख्य(रूप से) देव है। स्वर्ग! **उनके भी वास्तव में स्वाभाविक सुख नहीं है,...** आ...हा...हा...! **उलटा उनके स्वाभाविक दुःख ही देखा जाता है;....** देव के विषय की रमणता में दुःख है, प्रभु! आ...हा...हा...! कठिन बात है!

क्योंकि वे पञ्चेन्द्रियात्मक शरीररूपी पिशाच... पाँच इन्द्रियरूपी भूत! उसकी **पीड़ा से परवश होने से....** आ...हा...हा...! **भृगुप्रपात के समान मनोज्ञ विषयों की ओर दौड़ते हैं।** भृगु प्रपात (अर्थात्) शिखर पर से गिरना। मरण के लिए उच्च शिखर पर से नीचे गिरते हैं न? वैसे यह विषय में कूदता है! आहा...हा...! है नीचे? 'भृगुप्रपात = अत्यन्त दुःख से घबराकर आत्मघात करने के लिये पर्वत के निराधार उच्च शिखर से गिरना। (भृगु = पर्वत का निराधार उच्चस्थान - शिखर; प्रपात = गिरना)।' ऐसे ये पञ्चेन्द्रिय विषय के प्रेम में (कूदता है)। शुभयोग से विषय मिले, उनमें कूदता है। आहा...हा...! पतंगा जैसे दीपक में कूदता है, वैसे यह विषय में कूदता है; दुःखी है! देव का सुख, (वह) दुःख है - ऐसा कहते हैं; तो मनुष्य की बात तो क्या करनी? अरबोंपति...! आ...हा...हा...! वहाँ अरबस्तान में मुसलमान अरबपति बहुत होते हैं। आ...हा...!

अपने यहाँ भी थे न? दो अरब चालीस करोड़! 'गोवा'! उसमें क्या? धूल (है)। ६१ वर्ष की उम्र में मर गया। हाय...हाय... मुझे दर्द हो रहा है। ६० लाख के तो तीन मकान (थे)। चालीस लाख का एक, दस-दस लाख के दो और लाख-लाख रुपये की... उससे क्या कहते हैं? लोहे की आगबोट! मैंगनीज की बड़ी खान थी। बड़ी खान! दो अरब चालीस करोड़! उसमें से बहुत कमाई होती थी। ३०० तो एक-एक लाख की वोट थी! तीन सौ! तीन करोड़ की! उसमें क्या धूल? 'बम्बई' में आकर रात को मर गया। पत्नि को... क्या कहते हैं? हेमरेज! हेमरेज हो गया था तो वह तो असाध्य थी। उसे रात को थोड़ी पीड़ा उत्पन्न हुई। मुझे दुःखता है! डॉक्टर को बुलाओ! डॉक्टर आये उसके पहले तो (मर गया)! जाओ! चौरासी के अवतार में भटकने! आ...हा...हा...! वहाँ से उसे 'गोवा' ले

गये। पैसेवाला था न? बड़ी धूमधाम से निकाला! लेकिन मर गया अब (क्या है)? आ...हा...हा...!

आदमी भी जो रोते हैं, वह मरकर नरक में गया (या कहाँ गया) उसकी दरकार उसे नहीं है; हमारी अनुकूलता जाती है, उसको रोते हैं! भाई! ऐसा होगा? स्त्री रोये, पुत्र रोये... लेकिन मरकर तू नरक में जा या पशु में जा, हमें कहाँ चिन्ता है? हमारे लिये दुकान पर बैठकर मजदूरी करता था, पैसे के लिये, साधन के लिये मजदूरी करता था, हमारी अनुकूलता चली गई उसको रोते हैं! धूर्त की टोली है, ऐसा 'नियमसार' में लिखा है!

श्रोता : वंश तो रखे न?

समाधान : वंश काहे का? धूल में रखे! वंश किसका? धूल का! मरकर नरक में गया, उसका यहाँ वंश रखा! आ...हा...हा...!

'ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती' छियानवे हजार स्त्री! छियानवे करोड़ सैनिक! रत्न का – हीरे का पलंग! मर गया! आ...हा...! दूसरी क्षण में तो सातवीं नरक में! अभी तैंतीस सागर की स्थिति में है। तैंतीस सागर में! अभी है! अभी तो ८५००० वर्ष हुए हैं। अभी तो कितना (आयु बाकी है)। असंख्य अरब वर्ष का तो एक पल्योपम! ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम! ऐसे तैंतीस सागर की स्थिति में अभी नरक में है! बापू! चक्रवर्ती का सुख...! कैसा सुख! कहा था न? बत्तीस ग्रास का भोजन! जिसका एक ग्रास छियानवे करोड़ सैनिक पचा नहीं सके! ऐसा भोजन! मरकर नरक में गया, बापू! आ...हा...हा...! शुभ के फल में चक्रवर्ती पद मिला परन्तु मरकर नरक में गया। 'राजाश्री नरकेश्री' नहीं कहते?

श्रोताा : सेठ लोग नरक में जाए – ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ लोग नरक में चले जाएँ! माँस और दारू खाता हो तो! नहीं जाते हो तो तिर्यञ्च में – पशु में जाये।

हमारे भाई 'कुँवरजीभाई' को भी हमने कहा था। हमारे भागीदार–बुआ के लड़के। इस समय तो मर गये हैं, हमारी उम्र ८० हो गयी! बहुत लोग मर गये। 'कुँवरजीभाई' को

बहुत ममता (थी)। बुद्धि थोड़ी थी। दुकान की ममता बहुत! मैं कमाऊँ... मैं कमाऊँ... मैं कमाऊँ...! साल की दो लाख की कमाई! धूल में भी नहीं है। (संवत) ६६ की साल! उस समय मेरी उम्र बीस साल की थी। मेरे से चार साल बड़े थे लेकिन सुनते थे। मेरे सामने कोई बोले नहीं। (ऐसा कहते थे) भगत है, कोई बोलना नहीं! (हमने कहा) 'भाई! तुम याद रखना! मुझे ऐसा लगता है, भाई! तुम मरकर नरक में तो नहीं जाओगे, भाई! क्योंकि माँस का भोजन नहीं है तथा मनुष्य होने के लक्षण मुझे नहीं लगते, बापू!' आहा...हा...! कितने साल पहले की बात है! बापू! इतनी ममता! सारा दिन व्यापार... व्यापार... दुकान पर बैठकर... ये किया... ये किया...! 'भाई! मनुष्य मरकर मनुष्य बनोगे – ऐसा लगता नहीं; देव बनोगे – ऐसा भी लगता नहीं, परन्तु मरकर भाई! तिर्यञ्च में जाओगे, पशु बनोगे!' दुकान की गद्दी पर बैठकर ममता... ममता... ममता... ममता....! गाँव में साधु आये तो २४ घण्टे में सारा दिन सामने देखे नहीं। रात को आठ बजे जाये।

श्रोता : जाते तो थे न, भले ही देर से जाते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो फिर शर्म के मारे जाते थे। जाना पड़े इसलिए (जाते थे)। (गाँव में) स्थानकवासी साधु आये और स्थानकवासी जाये, नहीं तो (अच्छा नहीं दिखता)। हम सब तो स्थानकवासी थे न! आहा...हा...!

मैंने तो उसे कहा था, 'भाई! मरकर तिर्यञ्च में जाओगे!' मरने के समय उनको ऐसा सन्निपात शुरु हुआ (कि बड़बड़ाते थे) 'मैंने ये किया... मैंने ये किया...!' वे मकान पर से नीचे गिरना चाहते थे। 'मुझे दुकान पर ले जाओ, नहीं तो मर जाऊँगा!' तब किसी ने पकड़ रखा था। कहो! ऐसी (स्थिति)! 'मुझे दुकान पर ले जाओ, नहीं तो मैं गिर जाऊँगा, मर जाऊँगा!' लड़के लोग कहें कि, 'आपको क्या काम है? अभी हम लोग करते हैं और आपको ना कहते हैं कि रहने दो!' मजदूर! दुकान पर बैठे तब उसे चैन पड़े!

श्रोता : लड़के को अनुभव (देना पड़े)!

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप का अनुभव हो, वह लड़के को दे कि इस तरह धन्धा करना... इस तरह करना...! अर...र...र...! बाप मरकर नरक में जाये, लड़के मरकर स्वर्ग में जाये! बापू! उसके साथ क्या सम्बन्ध है? आहा...हा...! यहाँ तो ऐसी बात है, प्रभु!

यह कहते हैं न ? देखो ! **स्वाभाविक दु:ख ही देखा जाता है;....** वह भृगुप्रपात में गिरता है, वैसे विषय में गिरता है, रमता है। आ...हा... ! इन्द्राणी को देखकर देवों (गिरते हैं)। इन्द्राणी का तो वैक्रियिक शरीर (होता है) ! यहाँ तो औरतों को दो दिन आहार नहीं करे तो ऐं... ऐं... ऐं... हो जाये ! ये तो अनाज के पुतले हैं ! सच बात है न, बापू ? अनाज का पुतला ! दो दिन अनाज नहीं खावे और बुखार आये तो... ऊँ... ऊँ.... (हो जाता है) ! वहाँ तो इन्द्राणी ! देव को कुछ हजार साल के बाद अमृत आये। कण्ठ में से अमृत झरता है। जैसे अभी मुँह में अमी नहीं आता ? वैसे उनको जितने सागरोपम का आयुष्य हो (उसके प्रमाण में) कुछ हजार साल में अमृत आता है। फिर भी वह मात्र दु:ख है। आ...हा...हा... ! यह तो अनाज का पुतला ! दो दिन खाना नहीं आये तो सूख जाता है, चेहरा ऐसे हो जाता है ! आ...हा... !

यहाँ प्रभु ऐसा कहते हैं कि प्रभु ! शुभभाव से (प्राप्त होनेवाले) इन्द्रिय के सुख में दु:ख है। शुभ ठीक है और अशुभ अठीक है, ऐसा तू कहाँ से लाया ? आहा...हा... ! दो में ठीक-अठीक मानेगा (तो) घोर संसार - नरक, निगोद में जायेगा। आ...हा...हा... ! ७७ गाथा में (कहा) है। पहले बताई थी न ? भगवान दुनिया की कोई शर्म रखते हैं कि ये बड़ा अरबोंपति है तो उसकी शर्म रखना, (ऐसा नहीं है)। सत्य का उद्घाटन करने में समाज को ठीक पड़े, न ठीक पड़े (उसकी) कोई दरकार नहीं। यह तो सत्य का उद्घाटन है ! समझ में आया ? आ...हा...हा... ! ७१ (गाथा समाप्त) हुई न ? ⌋

गाथा - ७२

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्तयावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्य-निर्वर्तकशुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति -

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं।। ७२।।

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसंभवं दुःखम्।
कथं स शुभो वाऽशुभ उपयोगो भवति जीवानाम्।। ७२।।

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति। ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्था नावतिष्ठते।। ७२।।

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण शुभोपयोगसाध्यस्येन्द्रियसुखस्य निश्चयेन दुःखत्वं ज्ञात्वा तत्साधक-शुभोपयोगस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्वं व्यवस्थापयति - **णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं** सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षणं वास्तवसुखमलभमानाः सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षणं पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्नं निश्चयनयेन दुःखमेव भजन्ते सेवन्ते, **किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं** व्यवहारेण विशेषेऽपि निश्चयेन सः प्रसिद्धः शुद्धोपयोगाद्विलक्षणः शुभाशुभोपयोगः कथं भिन्नत्वं लभते, न कथमपीति भावः।। ७२।।

इस प्रकार युक्तिपूर्वक इन्द्रियसुख को दुःखरूप प्रगट करके, अब इन्द्रियसुख के साधनभूत पुण्य को उत्पन्न करनेवाले शुभोपयोग की, दुःख के साधनभूत पाप को उत्पन्न करनेवाले अशुभोपयोग से अविशेषता प्रगट करते हैं –

यदि सुर-असुर-नर-नारकी सब, देहगत दुःख अनुभवें।
तो जीव का उपयोग शुभ, अरु अशुभरूप कैसे बने ?॥

अन्वयार्थ : [नरनारकतिर्यक्सुराः] मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च और देव (सभी)

[यदि] यदि **[देहसंभवं]** देहोत्पन्न **[दुःखं]** दुःख को **[भजंति]** अनुभव करते हैं, **[जीवानां]** तो जीवों का **[सः उपयोगः]** वह (शुद्धोपयोग से विलक्षण-अशुद्ध) उपयोग **[शुभः वा अशुभः]** शुभ और अशुभ - दो प्रकार का **[कथं भवति]** कैसे हैं ? (अर्थात् नहीं है।)

टीका : यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्तिवाले देवादिक (अर्थात् शुभोपयोगजन्य पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाली ऋद्धिवाले देव इत्यादि) और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की आपदावाले नारकादिक - यह दोनों स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से (बिना अन्तर के) पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी दुःख का ही अनुभव करते हैं, तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्वव्यवस्था नहीं रहती।

भावार्थ : शुभोपयोगजन्य पुण्य के फलरूप में देवादिक की सम्पदायें मिलती हैं, और अशुभोपयोगजन्य पाप के फलरूप में नारकादिक की आपदायें मिलती हैं, किन्तु वे देवादिक तथा नारकादिक दोनों परमार्थ से दुःखी ही हैं। इस प्रकार दोनों का फल समान होने से शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों परमार्थ से समान ही हैं अर्थात् उपयोग में अशुद्धोपयोग में शुभ और अशुभ नामक भेद परमार्थ से घटित नहीं होते॥ ७२॥

प्रवचन नं. ६६ का शेष **दिनाङ्क १३ मार्च १९७९**

अब, ७२ (गाथा)।

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं।। ७२।।

नीचे हरिगीत -

यदि सुर-असुर-नर-नारकी सब, देहगत दुःख अनुभवें।
तो जीव का उपयोग शुभ, अरु अशुभरूप कैसे बने ?॥

आ...हा...हा... ! विषय में राग है, राग है वह आकुलता है और आकुलता दुःख है,

भाई ! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ ! राग में कूदता है, (ऐसा) कहते हैं ! आ...हा...हा... ! वह दुःख के कुएँ में गिरता है। यह कहते हैं। 'तो जीवनो उपयोग ऐ शुभ ने अशुभ कई रीत छे ?' – बात तो यह कहनी है। टीका ! ७२ (गाथा की) टीका !

यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्तिवाले... पुण्य की सम्पत्तिवाले **देवादिक...** देवादि और ये अरबोंपति सेठ आदि – धूल की सम्पत्तिवाले। पुण्य के कारण बाहर की धूल की सम्पत्ति मिली। ऐसा कौन सुनाये ? करना तो यह है, भाई ! तुझे दुनिया सुखी दिखती है (लेकिन) वह दुःखी है। यहाँ यह कहते हैं, देखो !

पुण्य की सम्पत्तिवाले देवादिक... देवादिक समझे न ? देव हो या कोई अरबोंपति सेठ हो। **देवादिक (अर्थात् शुभोपयोगजन्य पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाली ऋद्धिवाले देव इत्यादि) और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की आपदावाले....** (पहले कहा वह) पुण्य की सम्पदावाले और ये पाप की आपदावाले। आ...हा...हा... ! नरक में अन्न का एक कण नहीं मिलता, पानी की बूँद नहीं मिलती ! तैंतीस-तैंतीस सागर तक, भाई ! आहा...हा... ! वहाँ तू अनन्त बार गया, प्रभु ! लेकिन भूल गया। आहा...हा... ! भूल गया इसलिए नहीं था, ऐसा है ? जन्म के बाद बारह महीने तक माता ने बचपन में कैसे दूध पिलाया, कुछ याद है ? याद नहीं है, इसलिए नहीं था ? आहा...हा... ! ऊँआ... ऊँआ... ऊँआ... करे ! बारह महीने में क्या था, यह मालूम है ? बारह महीने में क्या था इसकी खबर है ? मालूम नहीं है, इसलिए नहीं है ? वैसे ही संसार में नरक के दुःख, प्रभु ! तूने अनन्त बार भोगे ! तुझे मालूम नहीं इसलिए नहीं था, ऐसा मत कहना। आ...हा...हा... ! बहुत बढ़िया बात करते हैं !

और अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की आपदावाले नारकादिक... नारकी, तिर्यञ्च, हल्के आदमी **यह दोनों स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण...** (अर्थात्) देव, अरबोंपति सेठ को स्वाभाविक सुख का अभाव है। आ...हा...हा... ! है ? **अविशेषरूप से (बिना अन्तर के) पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी दुःख का ही अनुभव करते हैं,...** आ...हा...हा... ! पाँचों इन्द्रियों के विषय में दुःख है, प्रभु ! राग है, आकुलता है, सुख नहीं है। आहा...हा... ! (लेकिन) मालूम नहीं (और मानता है कि) हम सुखी हैं, धन-दौलत से सुखी हैं ! धूल में भी नहीं है, सुन न ! आ...हा...हा... !

यहाँ क्या कहते हैं ? कि पुण्य की सम्पत्तिवाले देवादिक भी इन्द्रिय के विषय में दु:ख (भोगते) हैं और पाप के उदयवाले नारकादिक - दोनों को स्वाभाविक सुख का अभाव है। अरबोंपति मनुष्य हो और देव (हो) और पाप के फल में नारकी और पशु - दोनों को आत्मा के स्वाभाविक सुख का तो प्रभु अभाव है। आहा...हा...! समझ में आया ? आहा...हा...! (इस तरह के दोनों ही) **पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी दु:ख का ही अनुभव करते हैं,....** अब, सिद्धान्त लेते हैं।

तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्वव्यवस्था नहीं रहती। आ...हा...हा...! यह सिद्ध करना है। जब शुभ उपयोगी जीव भी दु:खी है और अशुभोपयोगी पापी भी दु:खी है तो शुभ और अशुभ में अन्तर है, ऐसा रहता नहीं। आ...हा...हा...!

श्रोता : (एक) ज्यादा दु:खी और (एक) कम दु:खी, ऐसा नहीं है ?

समाधान : मात्र आकुलता है।

श्रोता : कम-ज्यादा तो है कि नहीं ? ऐसा कहते हैं।

समाधान : नहीं, थोड़ा भी अन्तर नहीं। आ...हा...हा...! यहाँ तो कहा न ? पहले तो यह कहा कि **दोनों स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण...** कहा है ? आहा...हा...!

अरबोंपति...! ऐसे खम्भा... खम्भा...! (होती हो)! एक-एक दिन की करोड़ों की कमाई! और खाने-पीने में देखो तो चूरमा और पत्तरवेलिया के पकोड़े! पत्तरवेलिया समझते हैं ? पालक... पालक...! पालक के पान! बड़ा होता है, फिर उसमें चने का आटा डालते हैं न ? फिर उसके टुकड़े करते (हैं)। पत्तरवेलिया-पालक के पान और चूरमा! अरे... मैसूरपाक! एक सेर चने का आटा और चार सेर घी (से बनी मिठाई को) मैसूरपाक कहते हैं और एक सेर गेहूँ का आटा और चार सेर घी (की मिठाई हो) सककरपारा कहते हैं। सुना है ? हमने तो सब देखा है और खाया है!

(संवत्) ८१ की साल में हमारा चातुर्मास 'गढडा' (गाँव में) था। उस समय भी लोग तो बहुत आते थे न तो संघजीमन (वात्सल्य भोज) करते थे। उसमें एक सक्करपारा

का भोज किया। सक्करपारा... सक्करपारा! अर्थात् ? एक सेर गेहूँ का आटा और चार सेर घी में चीनी डालकर बनाये, उसे सक्करपारा कहते हैं, और एक सेर चने का आटा, चार सेर घी और चीनी (उससे) मैसूरपाक (बनता है)। दोनों की विष्टा होती है!

श्रोता : खाने में तो मजा आता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : खाने में मजा मानते हैं, वे मूढ़ हैं - ऐसा कहते हैं! हम तो यहाँ कहते हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो वीतरागमार्ग है। वीतरागमार्ग शुद्ध उपयोग में प्रगट होता है। शुभ-अशुभभाव से धर्म नहीं होता। आ...हा...हा...!

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि इस प्रकार यदि दोनों दुःख का अनुभव करते हैं, **तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग....** देखो! शुभ और अशुभ उपयोग! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव (और) हिंसा, झूठ, चोरी का भाव - दोनों में अन्तर क्या? आहा...हा...! दुनिया में प्रवीणता है, यहाँ प्रवीणता नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा है, बापू!

अरे...रे...! स्त्री विधवा हो तो दुःखी है, ऐसा कहते हैं। दुःखी की व्याख्या क्या? वह दुःख है? ऐसा माना है। अपने यहाँ कहते हैं न? कि (विधवा स्त्री) दुःखी है... परन्तु वह दुःखी की व्याख्या ही नहीं है। पति मर गया उसमें दुःखी (है) - ऐसा किसने कहा? वह मान्यता में मानती है कि मेरी अनुकूलता गयी, उसकी वह मान्यता दुःख है।

श्रोता : आपकी बात सुनकर दुःख लगता हो तो भी भूल जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : भूल जाये; दुःख है ही नहीं। देह की स्थिति हो तब तक रहे, भाई! वह मेहमान है, बापू! कौन सी चीज किसकी है, भाई? आहा...हा...!

यहाँ तो भगवान ऐसा कहते हैं कि कदाचित् शुभ उपयोग किया और साधन-सम्पदा मिली, उसमें तुझे सुख की कल्पना (हुई तो) वह तो दुःख है और अशुभभाव से नरक में, पशु में जाना, वहाँ भी दुःख है। (इस तरह) दोनों में एक ही प्रकार है तो तुझे शुभ-अशुभ में अन्तर कहाँ से आया? आ..हा..हा...हा...! दस-पन्द्रह-बीस लाख रुपये हो गये तो (मानते हैं कि) हम सुखी हैं! आहा...हा...! लेकिन उसमें सुख कहाँ आया?

श्रोता : पैसे क्यों रखे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी ओर लक्ष्य करता है, वह दुःख है। आ...हा...हा...! भाई! वीतरागमार्ग – जिनेश्वर परमात्मा का मार्ग कोई अलग है, बापू! आहा...हा...!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि शुभ उपयोग के फल में देव की सम्पदा मिले (या) ऐसे कोई (धनवान) मनुष्य हो और पाप के फल में नारकी हो – दोनों दुःखी हैं। दोनों दुःखी हैं, दुःख का अनुभव करते हैं। आत्मा के स्वाभाविक सुख का तो प्रभु वहाँ अभाव है। आ...हा...हा...! तो फिर शुभ ठीक और अशुभ अठीक, ऐसा तुझे कहाँ से आया ? ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...! समझ में आया ? परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ वीतराग अरिहन्तदेव! उनकी दिव्यध्वनि में यह आया, उसे सन्तों जगत् के सामने आढ़तिया होकर प्रसिद्ध करते हैं। आ...हा...हा...!

अन्यमती में 'नरसिंह मेहता' थे न ? 'नरसिंह मेहता'! उनकी स्त्री मर गयी। ईश्वर की भक्ति करते थे। स्त्री मर गयी (ऐसा उन्हें मालूम पड़ा तो कहा) 'भलु थयुं भांगी झंझाण, सुखे भजीशुं श्रीगोपाल!' (अर्थात्) निवृत्ति मिली! आ...हा...हा...! यह तो मान्यता का विषय है न ? मान्यता में माने तो मैं दुःखी हूँ। वरना तो मर गई तो निवृत्ति मिली! आ...हा...हा...!

'भगवान महावीर' ने शादी नहीं की थी। बाल ब्रह्मचारी रहे थे। चौबीस तीर्थङ्कर में पाँच बाल ब्रह्मचारी थे। 'वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर' पाँच बाल ब्रह्मचारी थे। आ...हा...हा...! वीर भगवान (को) स्त्री नहीं थी। (एक विद्वान् ने एक लेख में ऐसा लिखा है कि) स्त्री के साथ शादी हुई, वह तेरे साथ दुर्घटना उत्पन्न हुई। अब सभी दुर्घटनाएँ करनी पड़ेगी। भगवान ने शादी नहीं की तो भगवान दुर्घटना में नहीं पड़े, प्रभु! स्त्री के साथ शादी, ऐसे ही स्त्री की (पुरुष के साथ शादी) दुर्घटना है। आ...हा...हा...! एक तो विषय में रहना, उसकी संभाल करना, ये करो... अकेले पाप की दुर्घटना (है)। आहा...हा...! दुनिया से अलग बात है, भाई! आहा...हा...!

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ इन्द्रों की सभा में...! एकावतारी इन्द्रों! जिन्हें करोड़ों अप्सरायें! असंख्य देवों का लाडला स्वामी! उन्हें कहते हैं कि देव! सुन! तुझे शुभभाव

से इन्द्र का सुख मिला, वह दु:ख है; उसमें आत्मा के स्वाभाविक सुख का तुझे अभाव है। आ...हा...हा...! ३२ लाख विमान! एक विमान में असंख्य देव! असंख्य देव! बहुभाग विमान असंख्य देववाले, कुछ (विमान) संख्यातवाले होंगे। (ऐसे) ३२ लाख! चन्द्र-सूर्य के ऊपर, मेरु पर्वत के ऊपर सौधर्म देवलोक है। आहा...हा...! स्वर्ग की दो सागर की स्थिति है। एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम जाये और एक पल्य के असंख्यवें भाग में असंख्य अरबों वर्ष जायें। आ...हा...हा...! ऐसे एकावतारी इन्द्र (हैं) और उनकी इन्द्राणी हैं, वह भी एक भवतारी है, ऐसा पाठ-सिद्धान्त है। स्त्रीपना तो मिथ्यात्व से उत्पन्न होता है। इन्द्राणी का जन्म हुआ, उस समय तो मिथ्यादृष्टि थी परन्तु इन्द्र, भगवान के पास जाते थे - जन्म महोत्सव करने, दीक्षा महोत्सव करने, केवलज्ञान महोत्सव करने, तब इन्द्राणी साथ में जाती थी तो उसमें से आत्मज्ञान प्राप्त हो गया। देवी! सौधर्म देवलोक में! आ...हा...हा...! अभी तो नन्दीश्वरद्वीप जाते हैं। आज (अष्टाह्निका पर्व का) अन्तिम दिन है न? अन्तिम दिन है।

वहाँ साठवें द्वीप में बावन जिनालय हैं। (वहाँ) मनुष्य नहीं जा सकते। मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर नहीं जा सकता। नन्दीश्वरद्वीप में बावन जिनालय हैं। एक-एक जिनालय में १०८ रत्न की शाश्वत प्रतिमाएँ हैं। मनुष्य नहीं जा सकता। इस समय देव वहाँ जाते हैं। आज अन्तिम दिन है। आठवें द्वीप में इन्द्र और इन्द्राणी साथ में जाते हैं। आ...हा...हा...! परन्तु दोनों जानते हैं कि यह शुभभाव है। वह हेय है, दु:ख है - ऐसा मानते हैं। आहा...हा...! और दोनों मरकर मनुष्य होकर मुक्ति में जानेवाले हैं। आयुष्य पूरा होते ही स्वर्ग में से निकलेंगे (वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष में जायेंगे)। दोनों एकावतारी हैं, एक भवतारी हैं। (ऐसा) शास्त्र में (पाठ है)। आहा...हा...! वे आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन में शुभ-अशुभभाव एक समान बन्ध का कारण मानते (हैं)। आ...हा...हा...!

भगवान आत्मा! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु! उसके आश्रय से जो सुख हो, वह सुख है। बाकी इन्द्रिय के वश सब दु:ख है। आहा...हा...! इसलिए परमात्मा की पुकार है... सन्तों, भावलिङ्गी दिगम्बर सन्तों की पुकार है कि **परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती।** है? आ...हा...हा...! धर्मी को भी

शुभ आता है परन्तु वे दु:खरूप जानते हैं, हेय जानते हैं। आ...हा...हा...! अज्ञानी शुभभाव को उपादेय मानता है। शुभभाव को उपादेय माने, उसे आत्मा हेय हो जाता है।

भगवान आत्मा! अतीन्द्रिय अमृत का सागर प्रभु! शुभभाव को उपादेय (माननेवाला)... उपादेय समझे? आदरणीय माननेवाला, आत्मा को हेय मानता है। ऐसा पाठ 'परमात्मप्रकाश' में है। 'योगीन्द्रदेव' ने 'परमात्मप्रकाश' बनाया है, उसमें है (कि) जिसने शुभभाव को उपादेय - आदरणीय माना, वह भगवान पूर्णानन्द के नाथ को हेय मानता है। (शुभभाव) छोड़ने लायक है, (भगवान आत्मा) आदरने लायक है। आहा...हा...! ऐसी बात सुनने को मिलना मुश्किल (है)। आ...हा...हा...!

अरे...! ऐसा मनुष्यपना (का) समय मिला, बापू! और ऐसा वीतरागमार्ग! आ...हा...हा...! (पूर्ण यौवन अवस्था) हो, वह (मिटकर) वृद्धावस्था हो जायेगी। तुझे भले लगता हो कि मुझे २५ वर्ष है और ३० वर्ष है और ३५ वर्ष है...! आ...हा...हा...! (पूर्ण यौवन की) वृद्धावस्था हो जायेगी और वृद्धावस्था भी आयु होगी तो होगी; नहीं तो जवानी में मर जायेगा! आ...हा...हा...! बीस-बीस साल के जवान! कोई रोग नहीं हो फिर भी फू... होकर देह छूट जाता है! आ...हा...हा...!

सवेरे नहीं कहा था? (एक मुमुक्षु और उनके) मित्र दोनों बैठकर बातचीत कर रहे थे। मित्र को कोई रोग नहीं, ऐसे बात करते थे... उसमें फू... हो गया! ऐसे देखा तो मर गया! ओ...हो...हो...! कोई रोग नहीं। बापू! देह की स्थिति पूरी (होनेवाली हो), वह स्थिति उस समय में होगी, होगी और होगी ही। आ...हा...हा...! इन्द्र और नरेन्द्र एक समय भी रोक सके - (ऐसा नहीं है)। आ...हा...हा...!

'सिकन्दर' को भी हुआ न? 'सिकन्दर' को अरबों रुपये मिले थे। (मरते समय कहा) 'जनाजे में मेरे हाथ खुले रखना। मैंने हकीमों को लाखों रुपये के वर्षासन खिलाया है, उन्होंने किसी ने मुझे रखा नहीं तो मेरा जनाजा उन्हीं हकीमों के कन्धे पर उठवाना।' पहले हम बहुत गाते थे। हकीम अर्थात् बड़े मुसलमान वैद्य। मुसलमान वैद्य को हकीम कहते हैं न? बड़े हकीम कहते हैं। लाखों का वर्षासन (खाते हैं)। (सिकन्दर कहता है) 'मेरा जनाजा उन्हीं हकीमों के कन्धे से उठाना' मुझे कोई नहीं रख सका। कौन रखे, बापू?

आ...हा...हा... ! हिन्दुओं के मन्दिरों को लूट-लूटकर अरबों रुपये इकट्ठे किये थे। उसका फोटो आता है। देखा है, सब देखा है। ऐसे सब लोहे के गहने पहने थे ! आ...हा... ! बापू ! उस समय वह दुःखी है। फिर बेचारा मरकर नरक में जाये। अ...र...र...र... ! क्योंकि वह तो मुसलमान ! माँस खानेवाला ! अण्डे खाये, दारू पिये ! आ...हा...हा... ! बनिये को तो ऐसा होता नहीं। इसलिए वह नरक में तो नहीं जाता परन्तु अभी जिसके शुभ-अशुभभाव का ठिकाना नहीं है... सारा दिन अशुभभाव और शुभ का ठिकाना नहीं है, वह तो मरकर तिर्यञ्च में जाता है अथवा नरक में जाता है। आ..हा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि कदाचित् शुभभाव हो और देव हो तो भी देव को भी दुःख है, बापू ! उसे आत्मा का स्वाभाविक सुख नहीं है। आत्मा का सुख देव को नहीं है, तो फिर शुभ और अशुभ की पृथकता-विशेषता कहाँ रही ? आ...हा...हा... ! शुभ ठीक है और अशुभ अठीक है, ऐसा कहाँ रहा ? आ...हा...हा... ! अरे... ! ऐसा मनुष्यपना मिला, उसमें यह बात समझ में नहीं आये और श्रद्धा में नहीं आये... बापू ! आ...हा...हा... ! (वह) क्या करेगा ? कहाँ जायेगा ? यहाँ यह कहते हैं, देखो !

शुभ और अशुभ उपयोग.... उपयोग हाँ, उपयोग ! दोनों में पृथक् व्यवस्था - अलग व्यवस्था कहाँ रही ? समझ में आता है ? शुभ के फल में देव भी दुःखी, इन्द्र भी दुःखी, अरबोंपति मनुष्य बेचारे दुःखी ! प्रभु तो ऐसा कहते हैं कि जो बहुत लक्ष्मी माँगता है, वह बड़ा भिखारी है। वराका - भिखारी है। अन्दर आनन्द-लक्ष्मी पड़ी है... आ...हा...हा... ! उसकी तो सँभाल करता नहीं और बाहर की धूल की लक्ष्मी में लाखों... लाखों... लाखों... (करके) अग्नि का लावा (में जलता है)। आ...हा...हा... !

यहाँ कहते हैं प्रभु ! जब शुभ-अशुभ के फल में देव और दूसरे सभी भी दुःखी हैं तो शुभ और अशुभ की पृथक् व्यवस्था कहाँ रही ? शुभपरिणाम - उपयोग ठीक है और अशुभ अठीक है - ऐसा कहाँ रहा ? आ...हा...हा... ! समझ में आाय ? 'सुखिया जगत मां संत, दूरिजन दुःखीया।' आहा...हा... ! आत्मा के आनन्द की दशा जहाँ प्रगट हुई है, वह सुखी है। बाकी सब दुःखीया - दूरिजन दुःखीया - बेचारे दुःखी प्राणी हैं। आ...हा...हा... ! यहाँ यह कहते हैं। बहुत बढ़िया गाथा (है) !

प्रभु! शुभ और अशुभ के फल में सम्पदा और आपदा मिले, परन्तु वह तो दुःखरूप है। वहाँ आत्मा के स्वभाव के सुख का तो अभाव है, तो फिर शुभ ठीक है और अशुभ अठीक है – ऐसी पृथक अर्थात् भिन्न अवस्था – व्यवस्था कहाँ रही? आ...हा...हा...! यहाँ (अज्ञानी) तो ऐसा मानते हैं कि शुभ करे तो शुभ करते-करते धर्म होगा! (ऐसा मानना) अज्ञान है, मिथ्यात्व है। आ...हा...हा...! यहाँ परमात्मा की तो पुकार है – इन्द्रों के बीच, गणधरों के बीच परमात्मा फरमाते हैं, वह बात यहाँ है। आ...हा...हा...!

'कुन्दकुन्दाचार्य' (भगवान के पास) गये थे। संवत ४९ ! दो हजार वर्ष पहले! समझ में आया? आ...हा...हा...! उन्होंने वहाँ आठ दिन रहकर (भगवान का उपदेश) सुना। छोटा शरीर, वहाँ पाँच सौ धनुष का देह और इनका चार हाथ का देह। आहा...हा...! देव ने प्रश्न किया कि 'पंछी जितना छोटा आदमी कौन है?' वहाँ के चक्रवर्ती थे। 'कुन्दकुन्दाचार्य' गये तो भगवान के समवसरण में नीचे बैठ गये। (इनका) चार हाथ का शरीर, वहाँ पाँच सौ धनुष का देह! चक्रवर्ती ने प्रभु को प्रश्न किया (कि) 'ऐसे छोटे (मुनि) कौन हैं?' भगवान की वाणी में आया कि 'भरतक्षेत्र के आचार्य हैं!' आ...हा...हा...! धन्य अवतार! (जिनके लिये) भगवान की वाणी में आया! ''भरतक्षेत्र के आचार्य – 'कुन्दकुन्दाचार्य' हैं! आ...हा...हा...! और भरत में धर्म प्रवर्तानेवाले हैं!'' ऐसा भगवान की वाणी में आया! यह वाणी वह है। समझ में आया?

शुभ और अशुभ उपयोग, हाँ उपयोग! परिणाम! (उनकी) पृथक् व्यवस्था नहीं रहती। शुभ ठीक है और अशुभ अठीक है – ऐसी पृथक्ता रहती नहीं। पृथक् माने तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आ...हा...हा...!

विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. ६७ **दिनाङ्क ०८ मई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ७२, फिर से गाथा लो। मूल गाथा पर उपोद्घात है। **इस प्रकार युक्तिपूर्वक इन्द्रियसुख को...** है? देवों के, मनुष्य के, तिर्यञ्च के अथवा नरक के इन्द्रियों के सुख हैं, उन्हें **दुःखरूप प्रगट करके, अब इन्द्रियसुख के साधनभूत पुण्य**

को उत्पन्न करनेवाले शुभोपयोग की, दुःख के साधनभूत पाप को उत्पन्न करनेवाले अशुभोपयोग से अविशेषता प्रगट करते हैं – दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! शुभ उपयोग से इन्द्रिय के विषय मिलें, (और) अशुभ उपयोग से मिलें, दोनों में कोई अन्तर नहीं है, वह यह गाथा है। आहा...हा... !

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं।। ७२ ।।

नीचे हरिगीत

यदि सुर-असुर-नर-नारकी सब, देहगत दुःख अनुभवें।
तो जीव का उपयोग शुभ, अरु अशुभरूप कैसे बने ?॥

आहा...हा... ! **टीका – यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्तिवाले देवादिक....** जिन्होंने (पूर्व में) दया-दान-व्रत-भक्ति (आदि का) शुभोपयोग – शुभभाव किया है...। आहा...हा... ! उस शुभभाव के उपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पदावाले देव और यह मनुष्य। **(अर्थात् शुभोपयोगजन्य पुण्य के उदय से प्राप्त होनेवाली ऋद्धिवाले देव इत्यादि)...** देव (और) यह पैसेवाले-धूलवाले सेठ ! आहा...हा... ! ये भी समान हैं – ऐसा कहते हैं। (अर्थात्) अशुभ उपयोगवाले जो हैं (उनके समान हैं)।

अशुभोपयोगजन्य उदयगत पाप की आपदावाले.... पहले पुण्य की सम्पदावाले कहा था, (यहाँ पर) पाप की आपदावाले **नारकादिक...** तिर्यञ्च हल्के मनुष्य (इत्यादि)। **यह दोनों ही स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण....** दोनों (कहे हैं) ! आहा...हा... ! (अर्थात्) उदयगत पुण्य की सम्पदावाले देव, सेठ आदि और पाप के उदयवाले नारकी और तिर्यञ्च आदि। **दोनों ही स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण....** दोनों को स्वाभाविक सुख नहीं है। आहा...हा... !

श्रोता : स्वाभाविक सुख अर्थात् क्या ?

समाधान : आत्मा का सुख। स्वाभाविक अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का सुख नहीं है। शुद्ध उपयोग का सुख नहीं है (इन्द्रियसुख) तो दुःख है। आहा...हा... ! शुभ उपयोग

हो या अशुभ उपयोग हो, (दोनों दु:खरूप हैं)। आहा...हा...! ऐसी कड़क बात है! दोनों का फल-स्वर्ग-नरक और तिर्यञ्च आदि सब दु:ख को भोगते हैं। पुण्य के फलवाले भी दु:ख को भोगते हैं।

श्रोता : उसके फल में दु:ख क्या है?

समाधान : यह अशुभराग करता है। अशुभराग है, वह दु:ख है। आहा...हा...! चाहे तो चक्रवर्ती की सम्पदा हो या चाहे तो निर्धन हो। एक ग्रास भी (खाने को) न हो और रहने को घर भी न हो, दोनों को शुभ और अशुभ के फलरूप से दु:ख ही है। आहा...हा...!

श्रोता : दोनों के प्रकार में अन्तर है न, एक को कम दु:ख एक को अधिक दु:ख?

समाधान : व्यवहार से अन्तर है, निश्चय से नहीं। जयसेनाचार्यदेव (की संस्कृत टीका में बात) है। **व्यवहारेण विशेषऽपि निश्चयेन** (अर्थात्) व्यवहार से कहा जाता है परन्तु परमार्थ से दोनों समान हैं। आहा...हा...! व्यवहार से कहा जाता है, इसका अर्थ - असत्य नय से, उपचार नय से, आरोपित नय से कथन। आहा...हा...! करोड़पति और अरबोंपति दु:खी है क्योंकि इनका लक्ष्मी की ओर के झुकाववाला भाव, पापभाव है - अशुभभाव है। आहा...हा...!

श्रोता : यह रुपयों का ब्याज पैदा करना, वह पाप?

समाधान : पाप है। मुम्बई में एक (भाई हैं, उनके पास) पचास करोड़! पचास करोड़ रुपये! (वैसे) वे वैष्णव हैं (और) घर में महिलायें जैन-श्वेताम्बर जैन हैं। यहाँ आये थे। आते तो है न! कर्ता... कर्ता... कर्ता... (ईश्वरकर्तावाद मानते हैं।) (इसलिए मैंने कहा) तुम कर्ता कहते हो तो 'नरसिंह मेहता' ने यह क्यों कहा कि 'जहाँ तक आत्मतत्त्व चिन्यों नहीं?' वहाँ ऐसा नहीं कहा कि तूने ईश्वर को माना नहीं, इसलिए तुझे यह हुआ! इसमें दो सिद्धान्त हुए, - जहाँ तक आत्मतत्त्व चिन्यो नहीं (इसका अर्थ यह हुआ कि) आत्मा से (भिन्न ऐसे) दूसरे तत्त्व हैं। दूसरे तत्त्व हैं, उन्हें तूने जाना, माना, परन्तु आत्मा को नहीं माना। ईश्वर को नहीं माना - ऐसा उसमें कुछ है नहीं और 'गीता' में भी है। गीता में भी एक कलश है 'मैं किसी का कर्ता नहीं, मैं किसी का भोक्ता नहीं, सब अपने-अपने

कर्म से कर्ता-भोक्ता हैं।' परन्तु आसक्ति का फल ईश्वर को सौंपते हैं, यह बात रखते हैं। यह बात ले ली है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते है चाहे तो अरबोंपति सेठ हो या चाहे तो निर्धन झोंपड़ी में रहनेवाला और एक ग्रास भी न मिलता हो, और नारकी हो या तिर्यञ्च हो। सब...! आहा...हा...! **स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण....** यह सिद्धान्त! दोनों को आत्मा का सुख नहीं है। आहा...हा...! यह इन्द्रियों के विषय दुःखरूप हैं। इन्द्र को करोड़ों अप्सरायें हैं, उनकी ओर के विषय की वृत्ति, वह दुःखरूप है; ज़हर का प्याला है। आहा...हा...! नारकियों को पाप के उदय के कारण तैंतीस-तैंतीस सागर तक पानी की बूँद भी नहीं मिलती और आहार का कण भी नहीं मिलता। आहा...हा...! ओढ़ने को वस्त्र नहीं मिलते, रहने का स्थान नहीं मिलता वह; और चक्रवर्ती को छियानवे करोड़ सैनिक और बत्तीस ग्रास का आहार... आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि दोनों समान हैं। दोनों को शुभ और अशुभ के फलरूप में प्राप्त वस्तुओं की ओर के झुकाव में दुःख का ही भोग है। आहा...हा...!

श्रोता : संयोग से दुःख है?

समाधान : नहीं, नहीं, नहीं...! यह कहाँ कहा? अशुभ दुःख है, राग कर्ता है - वह दुःख है। संयोगी वस्तु तो पर है, करोड़ों अरबों मिले तो उनके प्रति राग है कि हम पैसेवाले हैं, हम अरबोंपति हैं, यही महादुःख और राग है। आहा...हा...! अरे...रे...! (अज्ञानी की) बातें बहुत विपरीत हैं। (कोई) पैसावाला है ही नहीं, पैसे की ममतावाला है; पैसा कहाँ इसके पास आता है? पैसा तो पैसे के अस्तित्व में रहता है। जड़ तो जड़ के अस्तित्व में रहता है, इसके पास तो यह आया कि 'मुझे मिला' ऐसी ममता इसे मिली है। आहा...हा...! दुनिया से अलग जात है बापू! आहा...हा...! अरबोंपति... आहा...हा...! दुःखी है दुःखी! क्योंकि वह भोगने की ओर के झुकाव का भाव ही पाप का है। इसलिए शुभ के फलरूप में और अशुभ के फलरूप में अन्तर है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के सुख के अभाव में बेचारे इन्द्र, चक्रवर्ती और अरबोंपति अशुभभाव के दुःख में पड़े हैं। आहा...हा...! आहा...हा...! तत्त्व बैठना बहुत कठिन है बापू! क्योंकि वह अशुभभाव दुःख है।

जयसेनाचार्यदेव की (टीका में) लिखा है कि **निश्चयेन सः प्रसिद्धः।** व्यवहार से लोगों को अन्तर लगता है – ऐसा कहते हैं।

दोनों स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण.... दोनों ही अर्थात्? चाहे तो अरबोंपति सेठ हो, चाहे तो देव-इन्द्र हो, चाहे तो नरक का नारकी हो, चाहे तो एक पाई न मिले – ऐसा गरीब भिखारी हो, परन्तु सब दुःख के भोगनेवाले एक सरीखे हैं। एक को शुभ उपयोग के फलरूप में भी दुःख है (और) एक को अशुभ उपयोग के फलरूप में भी दुःख है। आहा...हा...! ऐसा काम है। यहाँ तो पाँच-दस लाख मिले तो मानो हम सुखी हैं (– ऐसा मानते हैं); धूल में भी सुख नहीं है। बापू! पर में सुख है?

श्रोता : देखने में तो सुख लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखने में अज्ञानी सुख मानता है। वह देखना ही पराधीन है। (क्योंकि) पर का आश्रय दिखता है। दिखता है तो पर का आश्रय; उसमें स्वआश्रय कहाँ दिखता है? आहा...हा...! गाथा बहुत अच्छी है! यह गाथा अपने आयी थी। भावार्थ नहीं आया था। राजकोट जाने के पहले यह गाथा चल गयी थी।

(यहाँ कहते हैं कि) **यह दोनों स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से (बिना अन्तर के)....** आहा...हा...! अरबोंपति सेठ और इन्द्र और एक निर्धन मनुष्य जिसे खाने का ग्रास भी नहीं मिलता, रहने को झोंपड़ी नहीं मिलती और अकेला जंगल में किसी मकान के नीचे सोता है। आहा...हा..! दोनों को समान दुःख है।

श्रोता : सो जाये तब दोनों को समान दुःख है, यह ठीक परन्तु जागे तब?

समाधान : उसे भान कहाँ है? नींद में तो भान कहाँ है?

वह तो **पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर सम्बन्धी....** देखा? **अविशेषरूप से (बिना अन्तर के)....** आहा...हा...!

श्रोता : पैसेवाले को ऐसा तो लगता है कि हमारी मान्यता से दूसरा चलता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : सब अभिमानी हैं। अभिमानी, मूढ़ जीव हैं। यह अरबोंपति हो या करोड़पति हो! हम पैसेवाले और पाँच-दस हजार, पच्चीस हजार खर्च करते हैं! खर्च

करे तो भी क्या हुआ ? वह तो राग मन्द है। कहा नहीं ? राग मन्द है। बापू ! कहा था। उन लड़कों को कहा था।

हम जन्मजयन्ती के समय मुम्बई उतरे थे न ? वहाँ हम पन्द्रह दिन रहे थे। कितने ? पन्द्रह दिन और तीस व्याख्यान हुए थे। एक लाख और साठ हजार दिये थे। पन्द्रह दिन उनके घर रहे, तब एक लाख और साठ हजार दिये ! तो भी कहा बापू ! यह राग है, पुण्य-बन्ध का कारण है, यह दुःख का कारण है, धर्म नहीं। आहा...हा... ! लाख खर्च किये, दो लाख खर्च किये ! अरे ! तेरी धूल दस लाख खर्च कर न ! करोड़-दो करोड़ खर्च कर तो भी क्या है ? वह तो जड़ है और जड़ मेरा है – ऐसा मानकर करेगा तो वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। अजीव है, वह जीव का है ? वह तो अजीव है। पैसा तो अजीव, धूल-मिट्टी है। प्रभु तो चैतन्य अरूपी है।

श्रोता : पर के हैं – ऐसा मानकर देते हैं न !

समाधान : पर का है, ऐसा मानकर दे तो (उसमें) राग कदाचित् मन्द करे तो पुण्य होता है, वह पुण्य भी दुःख के फलरूप है। आहा...हा... ! जगत् से बड़ा अन्तर है।

दोनों को **स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण....** इन्द्रों को पुण्य के फल में भी कहीं आत्मा का सुख नहीं है तथा गरीब को, नारकी को भी पाप के फलरूप में वहाँ कोई आत्मा का सुख नहीं है। ऐसे **स्वाभाविक सुख के अभाव के कारण अविशेषरूप से...** जरा भी अन्तर नहीं है – ऐसा अविशेष, अर्थात् सामान्य। सामान्य, अर्थात् समान; दोनों समान दुःखी हैं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

श्रोता : कम-ज्यादा ऐसा नहीं ?

समाधान : जरा भी अन्तर नहीं है।

पञ्चेन्द्रियात्मक... पाँच इन्द्रियाँ यह जड़, मिट्टी और भावेन्द्रियाँ आहा...हा... ! ऐसे **शरीर सम्बन्धी दुःख का ही अनुभव करते हैं,....** आहा...हा... ! इस विषयसुख में भी दुःख को ही अनुभव करते हैं। (क्योंकि) वहाँ राग है और वह दुःख है – आकुलता है। आहा...हा... !

श्रोता : एक व्यक्ति आम का रस गटागट पीता है, और दूसरे को आम मिलता नहीं है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आम मिले तो भी दुःखी है और नहीं मिले तो भी दुःखी है; दोनों दुःखी हैं। मिले, वह राग से दुःखी है और जिसे नहीं मिले वह द्वेष से दुःखी है; दोनों दुःखी हैं। एक राग में – एक द्वेष में दुःखी है। आहा...हा... ! वीतराग का मार्ग बहुत अलग बापू! आहा...हा... ! आहा...हा... ! गजब बात है।

श्रोता : आम का नियम ही ले ले तो?

समाधान : वह राग है।

श्रोता : आम का बहुत प्रेम हो तो छोड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह शुभराग है। कहा न? शुभराग है। जैसे, अशुभराग का फल (दुःख) है – ऐसे शुभराग का फल दुःख ही है। आहा...हा... ! बहुत कड़क बात है बापू! बेचारी दुनिया को कहाँ पड़ी है? जिन्दगी मिली, छोटा बालक हो और पढ़े, बड़ा हो तो विवाह करे, दुकान पर बैठे, व्यापार करे और आयु पूर्ण हो जाये तो मरकर जाये, भटकने... ! ढोर आदि में जाये। आहा...हा... ! बहुत से पैसेवाले भी मरकर ढोर में जानेवाले हैं, बहुत से तो ढोर में जानेवाले हैं।

श्रोता : पुण्य किया हो और ढोर में जायें?

समाधान : पुण्य भी कहाँ किया है। किसी दिन सहज पुण्य किया हो परन्तु वह 'ऐरन की चोरी और सुई का दान' है। किसी दिन सुनने आया हो या कहीं पाँच-पच्चीस हजार खर्च किये हों परन्तु वह तो ऐरन की चोरी और सुई का दान है। आहा...हा... ! बाईस घण्टे पाप में पड़ा है और उसमें फिर कहीं पाँच-पच्चीस हजार रुपये दे या घण्टे-दो घण्टे सुने... सुने... उसके लिए... उसमें शुभभाव हो, उस शुभभाव की क्या गिनती? प्रभु! आहा...हा... ! अरे...रे... ! ऐसा मनुष्यपना मिला है... आहा...हा... !

(यहाँ कहते हैं) **अविशेषरूप से (बिना अन्तर के) पञ्चेन्द्रियात्मक शरीर....** पञ्चेन्द्रियस्वरूप शरीर (कहा)। देखा? शरीर कैसा है? पञ्चेन्द्रियस्वरूप शरीर है। **उस**

सम्बन्धी दु:ख का ही अनुभव करते हैं,.... उस सम्बन्धी दु:ख का ही अनुभव करते हैं। आहा...हा...! देव और करोड़पति जीव (दु:ख का ही अनुभव करते हैं)। **तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती।** आहा...हा...! तो शुभ उपयोग - दया, दान, व्रत, भक्ति और अशुभ उपयोग - हिंसा, झूठ, चोरी, दोनों उपयोग में कोई अन्तर नहीं है। आहा...हा...!

श्रोता : परमार्थ से अन्तर नहीं है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परमार्थ से - वास्तव में अन्तर नहीं है। यही देखते हैं न? आहा...हा...!

तब फिर परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था... (अर्थात्) अलग व्यवस्था **नहीं रहती।** आहा...हा...! ऐसी बात ही कम हो गयी है। धर्म के नाम पर जहाँ हो वहाँ दया पालो और व्रत करो और भगवान की भक्ति करो और पूजा करो और मन्दिर (बनबाओ ऐसा सुनने को मिलता है)। बेचारा एक घण्टे सुनने को आता है, उसमें जरा शुभोपयोग हो तो उसके फलरूप में दु:ख चालू है। आहा...हा...! बाईस घण्टे के पाप हैं और एक-दो घण्टे का पुण्य हो तो भी उन पुण्य-पाप के फल दोनों दु:खरूप हैं। आहा...हा...! प्रभु! ऐसा भव मिला है।

श्रोता : पुण्य के फल में राजा होता है, पाप के फल में नरक जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : राजा भी नरक जाता है। लोग नहीं कहते? 'राजेश्वरी सो नरकेश्वरी' - ऐसा नहीं कहते? वह नीचे नरक में जाता है। ब्रह्मदत्त जैसा चक्रवर्ती! छियानवें हजार रानियाँ, छयानवें करोड़ सैनिक आहा...हा...! जिसे एक दिन में अरबों रुपये की आमदनी, वह हीरा के पलंग पर सोता था, मरकर अभी सातवें नरक गया है।

श्रोता : वह जीवित रहे तब तक तो भोगता है न?

समाधान : जिया तब तक दु:ख भोगा है। वही यह कहते हैं, भान नहीं है, इसलिए मानता है कि सुख है। मानने को तो अज्ञानी चाहे जो माने। कुत्ता विष्ठा खाकर मानता है कि मैं मैसूरपाक खाता हूँ। माने चाहे जिस प्रकार। माने इसलिए कहीं वस्तु (बदल नहीं जाती)। आहा...हा...! ऐसा उपदेश किस जाति का?! भगवान का ऐसा उपदेश है।

त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव इन्द्रों के समक्ष ऐसा कहते थे कि हे इन्द्रों! तुमको ही यह जो पुण्य के फल के रूप में मिला है, वह सब तुम्हें दुःख है। आहा...हा...! वह इन्द्र भी समकिती थे, वे मानते थे – बात सच्ची महाराज! (इस पुण्य के फल) रूप में बाह्य सामग्री (मिली है)। देव की सामग्री अर्थात् आहा...हा...! अरबों वर्ष रहे! असंख्य अरबों वर्ष रहे! असंख्य अरबों वर्ष! मनुष्य में तो पाँच-पच्चीस-पचास-साठ वर्ष रहे! (देव में) तो असंख्य अरब वर्ष रहे परन्तु उसकी ओर का लक्ष्य वह राग है और राग वह दुःख है। इसलिए परमार्थ से (अर्थात् वास्तव में) **शुभ और अशुभ उपयोग की पृथक्त्व व्यवस्था नहीं रहती।** व्यवहार से भले ही ऐसा कहा जाये कि अशुभ से शुभ ठीक है (परन्तु) परमार्थ से दोनों समान हैं। आहा...हा...! वहाँ तक तो आया था। भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो नहीं सुना हुआ ऐसा है। उपाश्रय जाये तो (ऐसा कहते हैं) सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो! परन्तु अभी आत्मा क्या है? पुण्य-पाप के परिणाम क्या है? उनका फल क्या है? इसके परिज्ञान बिना सच्ची सामायिक आयी कहाँ से?

श्रोता : नव तत्त्व की बात तो करते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नव तत्त्व की बात करते हैं (तो भी) जड़ की तरह हैं। आहा...हा...!

भावार्थ - शुभोपयोगजन्य पुण्य के फलरूप में... शुभ उपयोग (अर्थात्) दया, दान, व्रत, भक्ति, तप (आदि) शुभभाव किये हों, उनसे जन्य अर्थात् उत्पन्न हुआ। **पुण्य के फलरूप में देवादिक की सम्पदायें मिलती हैं,....** लो यह देव की, सेठ की, पैसे की-धूल की, अरबोंपति हो। आहा...हा...! परन्तु उसे बेचारे को कहाँ भान है? अकेला धूल में रंग गया होता है। आहा...हा...! मेरा नाथ अन्दर शुभराग से भिन्न है। पैसे से तो भिन्न है। स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये। बापा! यह कहाँ तेरे हैं! परन्तु अन्दर दया, दान (आदि के) शुभभाव होते हैं, उनसे भी तेरी वस्तु प्रभु अन्दर भिन्न है। वह तो क्षणिक उपाधि है और तेरा स्वभाव त्रिकाल निरूपाधि है। आहा...हा...! उस निरूपाधि तत्त्व को तू उपाधिरूप तत्त्व के साथ मेल करने जायेगा (इसमें) मरेगा, दुःख प्राप्त होगा। आहा...हा...! दुनिया से अलग बात है।

(कहते हैं) **शुभोपयोगजन्य पुण्य के फलरूप में...** लो, इसमें तो कहा भाई! पुण्य के फलरूप में देवादि होता है। यह तो (एक बड़े विद्वान्) मना करते हैं न! (ऐसी बात तो) दो-तीन जगह आती है। यहाँ तो स्पष्ट पाठ है न! आहा...हा...! **पुण्य की सम्पदावाले देवादिक...** ऐसा टीका में पाठ है। आहा...हा...! (वे विद्वान्) ऐसा कहते हैं कि समाज में व्यवस्था करना नहीं आती, इसलिए पण्डित गरीब दिखते हैं, वह इस कारण हैं; पुण्य कम है इसलिए नहीं! परन्तु पुण्य कम हो उसमें बाधा क्या है? और दूसरे को पुण्य अधिक है, इसलिए उसमें हीनता-न्यूनता क्या आयी? स्वयं के पास पैसा नहीं है, इसलिए 'हम पुण्यहीन हैं' - ऐसा कोई कहे (वह बैठता नहीं है)। पुण्यहीन हैं, सुन न! हम तो आत्मा आनन्दकन्द हैं! आहा...हा...! पुण्य से तो हीन हैं। आहा...हा...! सच्चिदानन्द प्रभु! मैं शाश्वत् वस्तु! ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु है, उसे पुण्यवाला मानना, वह भ्रम है। आहा...हा...! भारी काम!

पुण्य के फलरूप में देवादिक की सम्पदायें मिलती हैं और अशुभोपयोगजन्य पाप के फलरूप में नारकादिक... हल्के निर्धन मनुष्य अथवा तिर्यञ्च की **आपदायें मिलती हैं।** आहा...हा...! परन्तु वह **देवादिक...** देव और सेठिया आदि **तथा नारकादिक....** पशु इत्यादि **दोनों परमार्थ से दुःखी जीव हैं।** आहा...हा...! एक बार कहा नहीं था? बहुत वर्ष पहले स्वाध्याय मन्दिर में (एक भाई कहते थे) हमारे समधी सुखी हैं! (मैंने कहा) सुखी की व्याख्या क्या है? यह पैसा-धूल मिली इसलिए सुखी? आहा...हा...! जहाँ आत्मा के आनन्द का स्वाद नहीं है, जहाँ भगवान स्वभाव से भरपूर परिपूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु है, उसकी जिसे गन्ध नहीं है... आहा...हा...! वह प्राणी सुखी कैसे कहा जाये? आहा...हा...! भले ही बाहर में महान प्रतिष्ठा हो, बड़ी उपाधियाँ लगी हों - उद्योगपति! यह लगाते हैं न? उद्योगपति! उद्योगपति न? बाहर के व्यापार का - जड़ का पति! आहा...हा...! यह आत्मा का पति नहीं। आहा...हा...! (लोग ऐसा कहते हैं) पिता पैसा नहीं रख गया, बाहुबल से (व्यापार) बढ़ाकर पच्चीस-पचास करोड़ और अरब किये हैं। अरे...! धूल भी नहीं हैं। सुन तो! पागल है पागल! ऐसी बातें हैं!

श्रोता : उसके पिता के पास पैसा नहीं था, इसके पास हुआ!

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें हुआ क्या? परन्तु भला क्या हुआ? पिता के पास नहीं था अर्थात्? उसके समीप नहीं थे और इसके समीप आये परन्तु इसमें बढ़ क्या गया? आहा...हा...! बाहर में न हो उसके साथ सम्बन्ध क्या है? बाहर हो, न हो उसके साथ (कोई सम्बन्ध नहीं है)। आहा...हा...! (यहाँ पर) यही कहते हैं न! **इस प्रकार दोनों का फल समान होने से शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों परमार्थ से समान ही हैं...** आहा...हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम और हिंसा, झूठ, चोरी के भाव - परमार्थ से दोनों एक जाति के दुःख को उत्पन्न करानेवाले हैं। आहा...हा...! **अर्थात् उपयोग में अशुद्धोपयोग में शुभ और अशुभ नामक भेद परमार्थ से घटित नहीं होते।** क्या कहा यह? अशुद्धोपयोग अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव और हिंसा, झूठ, चोरी विषय का भाव - दोनों अशुद्धोपयोग हैं। अशुद्ध उपयोग में कोई कम-ज्यादा नहीं है। यह अच्छा, यह खराब - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसे **अशुद्धोपयोग में....** अर्थात् **शुभ और अशुभ नामक भेद परमार्थ से घटित नहीं होते।** आहा...हा...! ऐसी गाथा है।

वीतराग का मार्ग बहुत अलग है। बापू! त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव (ऐसा फरमाते हैं कि) अन्तर के शुद्ध उपयोग को प्राप्त करे तो वह सुखी है, वरना तो अशुद्ध उपयोग के दोनों भावों को प्राप्त करे वह दुःखी है। आहा...हा...! शुभ-अशुभभाव रहित शुद्ध उपयोग जो शुद्ध चैतन्य वस्तु है, उसके परिणाम करे वह सुखी है। सुखी जगत् में सन्त, भाई! आ....हा...!

'सुखिया जगत में सन्त, दुरिजन दुखिया' शुद्ध उपयोग स्वरूप जो आत्मा, आनन्दमूर्ति प्रभु, उसकी ओर का उपयोग और व्यापार है, वह जीव सुखी है, सन्त सुखी है। दुरिजन दुखिया अर्थात् शुभ और अशुभपरिणाम करनेवाला दुरिजन है। आहा...हा...! बाहर में बड़ी महिमा चले - उद्योगपति है! उसकी जिन्दगी में...!

श्रोता : कितने ही लोगों को निभाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा था न? (एक भाई के पास अरबों रुपये थे तो अपने एक मुमुक्षु ने कहा) 'अब कहाँ तक? तुम यह क्या करते हो? इतने-इतने पैसे हैं तो भी...?' (तब उन्होंने कहा) 'यह क्या हम अपने लिए करते हैं? इन लोगों को पैसों से

सुखी करने के लिए (करते हैं)।' पागलों के गाँव कोई अलग होते हैं? ऐसे पागल! दो अरब चालीस करोड़!

श्रोता : तो भी पागल!

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा पागल! (ऐसा कहते है) 'हम अपने लिए करते हैं? हम तो लोगों को मदद मिले, आजीविका मिले (इसलिए करते हैं)।' उनके लिए करता होगा या तेरी ममता के लिए करता है? आहा...हा...! जीव की विपरीतता का पार नहीं है! अनादि से विपरीतता का सेवन किया है। आहा...हा...!

यहाँ तो (ऐसा कहते हैं कि) पर की दया का भाव, वह राग है; वह स्वरूप की हिंसा है, वह शुभ उपयोग है और शुभ उपयोग का फल दुःख है। आहा...हा...! पर की दया पालन तो कर नहीं सकता परन्तु भाव आता है, उसका फल कहते हैं कि दुःख है। आहा...हा...! उसमें से कदाचित् सम्पत्ति मिले परन्तु उसकी ओर के झुकाव में अशुभभाव से दुःखी होगा। आहा...हा...! बहुत कठिन काम!

संसार में से दृष्टि को फेरना... दृष्टि को बदलना, फिर स्थिरता होना अलग बात है। पहले श्रद्धा में से छोड़ना, फिर आसक्ति छूटे, वह तो फिर छूटती है। आहा...हा...! अन्दर श्रद्धा में से पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव दोनों समान बन्ध के कारण हैं। दोनों छोड़ने योग्य हैं – ऐसा पहले श्रद्धा में तो आना चाहिए। नहीं तो उस मार्ग में नहीं आयेगा। आहा...हा...! ऐसी बात आयी कहाँ से? कोई ऐसा कहता है! बापू! ये तो वीतराग की बातें हैं। आहा...हा...!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की यह ध्वनि है, उनकी आवाज यह है। इच्छा बिना प्रभु को ऐसी वाणी निकली। आहा...हा...! उसमें तो मात्र योग का (और) ज्ञान का निमित्त था। आहा...हा...! निमित्त का अर्थ यह कि उससे कुछ हुआ नहीं है। वह वाणी भगवान की, तीर्थङ्कर त्रिलोकनाथ की है कि शुभ और अशुभभाव में कोई अन्तर नहीं है। **भेद परमार्थ से घटित नहीं होते।** आहा...हा...! है? **उपयोग में – अशुद्धोपयोग में शुभ और अशुभ नामक भेद परमार्थ से घटित नहीं होते।** व्यवहार से कहा जाता है कि यह पाप करता है, इसकी अपेक्षा पुण्य शुभ है परन्तु इससे उसके आत्मा के लिए कोई लाभ है – ऐसा नहीं है। आहा...हा....! यह ७२ (गाथा पूर्ण) हुई। 1

गाथा – ७३

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति -

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा।। ७३ ।।

कुलिशायुधचक्रधराः शुभोपयोगात्मकैः भोगेः।
देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरताः।। ७३ ।।

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते, ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ।।७३ ।।

एवं स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन प्रथमस्थलं गतम्। अथ पुण्यानि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिपदं प्रयच्छन्ति इति पूर्वं प्रशंसां करोति। किमर्थम्। तत्फलाधारेणाग्रे तृष्णोत्पत्तिरूपदुःखदर्शनाथ। **कुलिसाउहचक्कधरा** देवेन्द्राश्चकवर्तिनश्च कर्तारः। **सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं** शुभोपयोगजन्यभोगैः कृत्वा **देहादीणं विद्धिं करेंति** विकुर्वणारूपेण देहपरिवारादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति। कथंभूताः सन्तः। **सुहिदा इवाभिरदा** सुखिता इवाभिरता आसक्ता इति। अयमत्रार्थः- यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविकसुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति। ततो ज्ञायते तेषां स्वाभाविकं सुखं नास्तीति।।७३ ।।

(जैसे, इन्द्रियसुख को दुःखरूप और शुभोपयोग को अशुभोपयोग के समान बताया है इसी प्रकार) अब, शुभोपयोगजन्य फलवाला जो पुण्य है, उसे विशेषतः दूषण देने के लिये (अर्थात् उसमें दोष दिखाने के लिये) उस पुण्य को (उसके अस्तित्व को) स्वीकार करके, उसकी (पुण्य की) बात का खण्डन करते हैं –

वज्रधर रु चक्रधर, शुभ-उपयोग मूलक भोग से।
पुष्टि करें देहादि की, अभिरत रहें व सुखी दिखें॥

अन्वयार्थ : [कुलिशायुधचक्रधराः] वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र और चक्रवर्ती) **[शुभोपयोगात्मकैः भोगैः]** शुभोपयोगमूलक (पुण्यों के स्वरूप) भोगों के द्वारा **[देहादीनां]** देहादिकी **[वृद्धिं कुर्वन्ति]** पुष्टि करते हैं और **[अभिरताः]** (इस प्रकार) भोगों में रत वर्तते हुए **[सुखिताः इव]** सुखी जैसे भासित होते हैं। (इसलिए पुण्य विद्यमान अवश्य है।)

टीका : शक्रेन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते हुए। जैसे, गोंच (जोंक) दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है, उसी प्रकार उन भोगों में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए सुखी जैसे भासित होते हैं; इसलिए शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्य दिखाई देते हैं (अर्थात् शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्यों का अस्तित्व दिखाई देता है।)

भावार्थ : जो भोग में आसक्त वर्तते हुए इन्द्र इत्यादि गोंच (जोंक) की भाँति सुखी जैसे मालूम होते हैं, वे भोग पुण्य के फल हैं; इसलिए पुण्य का अस्तित्व अवश्य है। (इस प्रकार इस गाथा में पुण्य की विद्यमानता स्वीकार करके आगे की गाथाओं में पुण्य को दुःख का कारणरूप बतायेंगे।) ॥ ७३ ॥

प्रवचन नं. ६७ **दिनाङ्क ०८ मई १९७९**

अब, ७३ गाथा –

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा।। ७३ ।।

नीचे हरिगीत –

वज्रधर रु चक्रधर, शुभ-उपयोग मूलक भोग से।
पुष्टि करें देहादि की, अभिरत रहें व सुखी दिखें॥

शुभ उपयोग (अर्थात्) राग – दया, दान, व्रत, आदि शुभभाव।

टीका : शक्रेन्द्र और चक्रवर्ती... आहा...हा... ! शक्रेन्द्र सौधर्म देवलोक का देव

है। (उसके पास) बत्तीस लाख विमान हैं। एक-एक विमान में बहुतों में असंख्य देव हैं, उनका स्वामी शकेन्द्र है। वह शकेन्द्र और चक्रवर्ती (अर्थात्) मनुष्य के चक्रवर्ती - इन्द्र! वह देव का इन्द्र और यह मनुष्य का इन्द्र - चक्रवर्ती! जिसके घर छयानवें करोड़ सैनिक! आहा...हा...! जिसके घर नव निधान, जिसकी सेवा में सोलह हजार देव खड़े होते हैं। आहा...हा...! वे सब **अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा....** आहा...हा...! **शकेन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते हुए।...** (मूल में) पाठ है न '**देहादीणं विद्धिं करेंति**' वे क्या करते हैं? पुण्य से किसकी वृद्धि करते हैं? इस शरीर और वाणी और मन और मकान और धूल की वृद्धि करते हैं। आहा...हा...! वे पुण्य से क्या करते हैं? उसमें से आत्मा की पुष्टि होती है? आहा...हा...!

शकेन्द्र और चक्रवर्ती अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा... 'इच्छानुसार प्राप्त भोग' - जैसी इच्छा थी, वैसा पुण्य था तो मिला - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इच्छा के कारण नहीं मिला परन्तु इच्छा के अनुरूप पुण्य था और इच्छा के अनुसार मिला, क्योंकि शकेन्द्र और चक्रवर्ती पुण्यवन्त प्राणी हैं। आहा...हा...! दो बड़े लिये - देवों में शकेन्द्र और मनुष्यों में चक्रवर्ती। नारकी और पशुओं की तो क्या बात करना! आहा...हा...! **अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को...** (अर्थात्) शरीर को, परिवार को, नात को, देश को, पुष्ट करते हुए उन्हें पोषण करते हैं। आहा...हा...! शरीर को पुष्ट करते हैं, वाणी को पुष्ट करते हैं, शरीर के सम्बन्धियों-स्त्री, पुत्र, परिवार को पुष्ट करते हैं कि इन्हें मदद करूँ, इन्हें प्रसन्न रखूँ, स्त्री को प्रसन्न रखूँ, लड़कों को प्रसन्न रखूँ। आहा...हा...! ऐसे **शरीरादि को पुष्ट करते हुए। जैसे, गोंच (जोंक)** आती है न? (वह) **दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई....** जोंक ऐसी होती है कि जो दूषित रक्त होता है, उसे पीती है। जोंक ऐसी होती है। जोंक खराब खून हो उसे पीती है। आहा...हा...!

(जोंक) दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई.... आहा...हा..! **सुखी जैसी भासित होती है,....** यहाँ खून पीती है न? सुखी होती है। जोंक ऐसे सुखी होती है। आहा...हा...! **उसी प्रकार उन भोगों में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए....** आहा...हा...!

जोंक की तरह। **जैसे, गोंच (जोंक) दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है,....** पुष्ट होती है, ऐसी मोटी होती है। बहुत फोड़े (हुए) हों, वहाँ जोंक रख दें, फिर वापस उसे हटाते हैं और फिर रखते हैं। आहा...हा...! वह सुखी जैसी भासित होती है। खून में आसक्त वर्तती हुई जोंक सुखी जैसी भासित होती है... सुखी है – ऐसा नहीं; सुखी जैसी भासित होती है।

उसी प्रकार उन भोगों में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए.... आहा...हा...! पलंग पर बैठा हो, सिर पर पंखा चल रहा हो, बड़ा पंखा ऐसे से ऐसे चलता है। पंखा तो अभी साधारण हो गया है। पहले कोर्ट में कपड़े की मोटी हो, उसे पटवाला खिंचता है। देखा है न! बड़ोदरा में संवत् ६३ की साल बड़ोदरा की बात है। हमारी बड़ी आलोचना चली थी न? केस चला था! ६३ की बात है! १७ वर्ष की उम्र की बात है, ७७ वर्ष पहले! केस चलता हो तब! ऊपर कपड़ा हो, उसका डोरा बाहर रखकर उसे व्यक्ति खिंचता है, इसलिए हवा आती है। आहा...हा...! वह सुखी जैसा भासित होता है। अन्दर बड़ा बैठा था, तीन हजार का वेतन! उस दिन की बात है। प्रेसिडेन्ट! ६३ के साल की बात है! बड़ोदरा बाहर बड़ी कोर्ट है न! उस समय १७ वर्ष की उम्र थी, ७७ वर्ष पहले की बात है। वह केस चलता था, तब वहाँ जाना पड़ा था। हमारे पर पुलिस ने अफीम का बड़ा केस लगाया था। दुकान पर (रिश्वत) लेने आया था। आठ आने दिये तो नहीं लिये और रुपया माँगा, उसमें तूफान हुआ। उसमें बड़ा केस चला, ६३ की बात है। प्रेसिडेन्ट और उसका व्यक्ति बड़ा कानूनगो था। अन्दर बाँधा हुआ हो, कोई घुस नहीं सकता, हमें देखकर कहा कि यह व्यक्ति लकड़े के पिंजरे में खड़ा नहीं रहेगा, खुले में रखो। नहीं तो गुनहगार को अन्दर लकड़ी के (पिंजरे में) रखते हैं और साक्षी लेते हैं। मुझे तीन घण्टे बयान देना पड़े थे, ६३ की साल, तीन घण्टे, प्रेसिडेन्ट का तीन हजार का वेतन! अपने तो सत्य था वह कहा! अत्यन्त कल्पना! मेरे अफीम का क्या काम? मेरे साथ गाड़ाभाई थे, मेरी उम्र छोटी १७ वर्ष की थी। (इसलिए) पूछा – कैसे हुआ भाई? तीन घण्टे तक चला। मैंने कहा यहाँ क्या होगा? सत्य था वैसा हमने कोर्ट में रख दिया, यहाँ कुछ नहीं चलता। कोर्ट का दबाव यहाँ नहीं चलता। कोर्ट ने अन्त में पालेज आकर फैसला दे दिया। वहाँ हमारा गाँव था न!

पालेज में मिथ्या केस दाखिल किया था; इसलिए पालेज आये और कहा केस बिलकुल खोटा है। पुलिस ने झूठा केस किया है। इसलिए जितने पैसे का खर्च तुम्हारे हुआ हो, वह पुलिस से ले लो। (मैंने कहा) रहने दो बेचारे को, गरीब व्यक्ति है! यह तो ६३ की बात है। ये लोग बाहर में ऐसे थे, परन्तु उस शुभ उपयोग से पदवी प्राप्त सब दुःखी हैं। तीन हजार का वेतन! आहा...हा...! उस समय तीन हजार का वेतन अर्थात् ६३ के साल! अभी तीस गुना मान लो, ९० हजार! बड़ोदरा में जंगल में मकान है।

यहाँ कहते हैं कि वे सब दुःखी हैं। आहा...हा...! तीन हजार के वेतनवाला प्रेसीडेन्ट! अपने शरीर को पुष्ट करता हुआ... आहा...हा...! प्रातः काल में यह लाओ... मक्खन लाओ... अमुक लाओ... रस लाओ... रसगुल्ला लाओ... मैसूरपाक बनाओ... पत्तरबेलिया... बनाओ। उसे घी में तलो... यह सब शरीर को पुष्ट करने के लिए पूर्व के पुण्य के फलरूप से बेचारे दुःखी हैं। आहा...हा...!

श्रोता : घी में न बनावे और तेल में बनावे तो!

समाधान : घी में बनाओ या तेल में बनाओ, सब दुःखी हैं, बेचारे! आहा...हा...! है? **जैसे, गोंच (जोंक) दूषित रक्त में अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी जैसी भासित होती है, उसी प्रकार उन भोगों में....** पूर्व के पुण्य के फल से **अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए** आहा...हा...! **सुखी जैसे भासित होते हैं;...** भासित होते हैं, हैं नहीं! अज्ञानी उन्हें सुखी कहते हैं। उद्योगपति, इसने पाँच-पचास करोड़ इकट्ठे किये! माँ-बाप के पास नहीं थे, बाहुबल से किये! धूल भी बाहुबल नहीं है। वह तो पूर्व के कोई पुण्य के परमाणु पके हों, वह जब खिरने का काल हो, तब खिरते हैं और बाहर में पैसा दिखता है। दिखता है, इसके पास कहाँ आता है? इसके पास तो ममता आती है, पैसा, पैसे में रहता है। आहा...हा...! बहुत अन्तर! जगत् की बात से बहुत अन्तर! वीतराग का मार्ग पूरी दुनिया से अन्तर है। बापू! आहा...हा...!

(अर्थात् शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्यों का अस्तित्व दिखाई देता है।) इतना, ऐसा है। इतना कहना है। आहा...हा...! है, पुण्य का फल है (ऐसा कहना है)। पुण्य का अस्तित्व है, ऐसा इसमें आता है न? पुण्य का अस्तित्व है न! शुभभाव है वह

अस्ति है न ? उसके फलरूप में दु:खीरूप में बाहर आता है। अस्तित्व है, पुण्य नहीं है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! पुण्य है, पुण्य का अस्तित्व है। पुण्य–शुभभाव की अस्ति है। आहा...हा... ! करोड़ों, अरबों रुपये खर्च करके बड़े मन्दिर बनावे, कदाचित् (ऐसा) शुभराग हो तो पुण्य होता है। उस पुण्य की अस्ति है। पुण्य के कारण बाहर में शरीर को पुष्ट करे ऐसी सामग्री उसे मिलेगी। आहा...हा... ! अर...र...र... ! ऐसी बात ! उसमें युवा अवस्था हो, उसमें अभी तो तृष्णा का पार नहीं होता। यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... उसमें यह कहते हैं कि पुण्य और पाप के फल तुझे दु:खरूप हैं। आहा...हा... !

(अर्थात् शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्यों का अस्तित्व दिखाई देता है।) है, वस्तु है।

भावार्थ : जो भोग में आसक्त वर्तते हुए... आहा...हा... ! अन्तर आनन्दस्वरूप प्रभु है। भगवान अन्दर सुख का सागर है। अतीन्द्रिय सुख का सागर भगवान आत्मा, उसे भूलकर **भोगों में आसक्त वर्तते हुए...** आहा...हा... ! इन्द्र... (जिसे) करोड़ों अप्सराएँ ! जिसे (भोजन में) अनाज नहीं ! यह तो अनाज का पिण्ड ! दो दिन अनाज नहीं खाये तो मुँह एँ... एँ... एँ... हो जाता है। वह (इन्द्र) अनाज बिना आहा...हा... ! हजारों वर्ष में अमृत की धारा निकलती है, कण्ठ में से अमृत झरता है, वह दु:खी है ! आहा...हा... ! पन्द्रह दिन में तो श्वासोच्छवास लेता है। श्वाँस ऊपर नीचे करे उसमें उसे एक पखवाड़ा चाहिए। पुण्य के फलरूप में स्वर्ग में (ऐसा मिलता है) परन्तु वह सब दु:खी हैं।

श्रोता : पैसा हो तो कश्मीर जा सकते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कश्मीर जाये उसमें क्या भला हुआ ? कश्मीर जाये तो भी वह सब पाप का स्थान है। आहा...हा... ! पैसा हो तो नैरोबी जाते हैं। नैरोबी की तो माँग है न ! चार हजार रुपये की टिकट, जाने–आने की आठ हजार की। फिर भी यहाँ के दो–पाँच सौ लोग जायेंगे तो उसके वे लोग चार हजार कर देंगे।

जो भोग में आसक्त वर्तते हुए इन्द्र इत्यादि गोंच (जोंक) की भाँति... आहा...हा... ! **सुखी जैसे मालूम होते हैं,...** जोंक खून पीकर मोटी दिखती है परन्तु वह मोटी और दु:खी है। फिर उसे निचोड़कर (और खून) निकाल देते हैं। आहा...हा... ! नहीं

तो मर जाती है। आहा...हा...! **गोंच (जोंक) की भाँति सुखी जैसे मालूम होते हैं, वे भोग पुण्य के फल हैं;...** पूर्व के किसी पुण्य के कारण स्त्री, पुत्र, परिवार, मकान, प्रतिष्ठा, दुकान आदि सब मिला हो। आहा...हा...! **इसलिए पुण्य का अस्तित्व अवश्य है।...** देखा! आहा...हा...!

(इस प्रकार इस गाथा में पुण्य की विद्यमानता स्वीकार करके आगे की गाथाओं में पुण्य को दुःख का कारणरूप बतायेंगे।) यहाँ दर्शाया तो है। अब विशेष (दर्शायेंगे)। पुण्य का अस्तिपना है। वह शुभभाव है अवश्य और अशुभभाव भी है – हिंसा, झूठ, चोरी, विषय–भोग वासना, काम, क्रोध, मान, लोभ, राग यह पाप (के परिणाम हैं)। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, प्रभु का नाम स्मरण – यह सब पुण्य है। दोनों हैं अवश्य परन्तु दोनों दुःखरूप हैं। अर...र...र...! वर्तमान दुःख है और भविष्य में इसका फल दुःख है। वर्तमान में दुःख है! राग है न! (इसलिए।) जगत् को यह बैठना कठिन पड़ता है (परन्तु) क्या हो सकता है?

श्रोता : परन्तु करना क्या?

समाधान : इसे इन शुभ–अशुभभावों से आत्मा को भिन्न करना, यह करना है। आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन तो कहीं रह गये, वे तो जड़–मिट्टी हैं, उनकी तो राख होगी परन्तु अन्दर शुभ और अशुभभाव (होता है), वह पर दिशा की ओर के भाव हैं; उन्हें स्वदिशा सन्मुख करके शुद्धोपयोग करना, यह करना है बापू! आहा...हा...! कठिन काम है। बापू! अनन्त काल का अनजाना मार्ग और वर्तमान में तो यह चलता नहीं है। अभी तो बहुत गड़बड़! सम्प्रदाय में यह करो और वह करो (चलता है।) आहा...हा...!

श्रोता : महावीर भगवान ने साढ़े बारह वर्ष तक तप किया था!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मानता है – ऐसा नहीं किया था। अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द में रमते थे, इच्छा उत्पन्न नहीं हुई थी, तब आहार नहीं मिला – ऐसा था। उस समय आहार मिलने का नहीं था; इसलिए नहीं मिला परन्तु अन्तर अतीन्द्रिय में रमते थे। वे सुख में थे, उसे तपस्या कहा जाता है। वरना जो आत्मा के भान बिना यह वर्षीतप आदि करते हैं, वह सब लंघन है और उसमें धर्म मानता है, वह मिथ्यात्व का पोषण करता है। कठिन

काम है। बापा! दुनिया से यह बात अलग है। बापू! आहा...हा...! **आगे की गाथाओं में पुण्य को दुःख को कारणरूप बतायेंगे।** ७३ वीं हुई न ? आहा...हा...!

अब ७४ गाथा! **अब, इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्य दुःख के बीज के कारण हैं,....** (उपोद्घात) है ऊपर। शुभभाव भी दुःख का बीज है। अर...र...र...! दया, दान, भक्ति, व्रत, भगवान का स्मरण करना – णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं.... यह सब विकल्प और शुभराग है। आहा...हा...! यह पुण्य दुःख के बीज का हेतु है। कठोर बात है। प्रभु! अभी तो मिले ऐसा नहीं है; इसलिए कड़क लगता है। जहाँ हो वहाँ... हो...हा... हो...हा...! आहा...हा...! **(अर्थात् तृष्णा के कारण हैं), इस प्रकार न्याय से प्रगट करते हैं।**

विशेष कहेंगे.... 1

मुनिराज को पूर्ण शुद्धता की ही भावना

अहा! मुनिराज को बहुत शुद्धता तो हुई है परन्तु अभी किञ्चित् कषाय-कण से परिणमन में मलिनता है, वह सुहाती नहीं है; इसलिए उसका नाश करके पूर्ण शुद्धता की भावना है और वह पूर्ण शुद्धता मेरे शुद्ध चिन्मात्रस्वभाव के घोलन से ही होगी – ऐसा भान है। विकल्प का तो नाश करना चाहते हैं, तब वह विकल्प शुद्धता का साधन कैसे हो सकता है ? शुद्धता का साधन विकल्प नहीं होता, शुद्धस्वभाव की घोलन ही शुद्धता का साधन है। *(आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष 25, अङ्क-12, पृष्ठ - 6)*

गाथा – ७४

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति -

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं।। ७४।।

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम्।। ७४।।

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्त इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानप्यवर्धि कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति। न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते। अवलोक्यते च सा। ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव।। ७४।।

अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति - **जदि संति हि पुण्णाणि य** यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति। पुनरपि किंविशिष्टानि। **परिणामसमुब्भवाणि** निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षणशुभपरिणामसमुद्भवानि **विविहाणि** स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि। तदा तानि किं कुर्वन्तिं। **जणयंति विसयतण्हं** जनयन्ति। काम्। विषयतृष्णाम्। केषाम्। **जीवाणं देवदंताणं** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धप्रभृतिनानामनोरथहयरूप-विकल्पजालरहितपरमसमाधि-समुत्पन्नसुखामृतरूपां सर्वोत्मप्रदेशेषु परमाह्लादोत्पत्तिभूतामेकाकार-परमसमरसीभावरूपां विषयाकाङ्क्षाग्निजनितपरमदाहविनाशिकां स्वरूपतृप्तिमलभमानानां देवेन्द्रप्रभृतिबहिर्मुखसंसारिजीवानामिति। इदमत्र तात्पर्यम् - यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वन्ति। कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि इति ज्ञायन्ते।। ७४।।

अब, इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्य, दुःख के बीज के कारण हैं, (अर्थात् तृष्णा के कारण हैं), इस प्रकार न्याय से प्रगट करते हैं –

शुभोपयोग परिणाम भी, जिस पुण्य का सञ्चय करे।
वह स्वर्ग तक के जीवों को, विषय-तृष्णा ही करे॥

अन्वयार्थ : [यदि हि] (पूर्वोक्त प्रकार से) यदि **[परिणामसमुद्भवानि]** (शुभोपयोगरूप) परिणाम से उत्पन्न होनेवाले **[विविधानि पुण्यानि च]** विविध पुण्य **[संति]** विद्यमान हैं, **[देवतान्तानां जीवानां]** तो वे देवों तक के जीवों को **[विषयतृष्णां]** विषयतृष्णा **[जनयन्ति]** उत्पन्न करते हैं।

टीका : यदि इस प्रकार शुभोपयोगपरिणाम से उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान हैं – ऐसा स्वीकार किया है, तो वे (पुण्य) देवों तक के समस्त सांसारियों के विषयतृष्णा अवश्यमेव उत्पन्न करते हैं (– ऐसा भी स्वीकार करना पड़ता है)। वास्तव में तृष्णा के बिना, जैसे जोंक (गोंच) को दूषित रक्त में, उसी प्रकार समस्त संसारियों को विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे; किन्तु वह तो दिखाई देती है। इसलिए पुण्यों की तृष्णायतनता अबाधित ही है (अर्थात् पुण्य तृष्णा के घर हैं, ऐसा अविरोधरूप से सिद्ध होता है)।

भावार्थ : जैसा कि ७३ वीं गाथा में कहा गया है। उस प्रकार अनेक तरह के पुण्य विद्यमान हैं, सो भले रहें। वे सुख के साधन नहीं, किन्तु दुःख के बीजरूप तृष्णा के ही साधन हैं॥ ७४॥

प्रवचन नं. ६८ **दिनाङ्क ०९ मई १९७९**

प्रवचनसार ७४ गाथा का उपोद्घात।

अब, इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्य... पुण्य है, पुण्य की अस्ति है – ऐसा ७३वीं गाथा में कहा था कि पुण्य की अस्ति है। **...शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्य का अस्तित्व दिखाई देता है...** आहा...हा...! शुभभाव – दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, नाम स्मरण, यह सब शुभभाव, पुण्य है। वह दुःख के बीज का हेतु है। आहा...हा...! उसके फल में तो स्वर्गादि मिलते हैं। वहाँ दुःख है, वहाँ दुःख भोगेगा। अशुभभाव के फल में भी दुःख और शुभभाव के फल में भी दुःख। उसमें कहीं सुख नहीं है। आहा...हा...!

ऐसा **पुण्य दुःख के बीज के कारण...** (अर्थात्) **तृष्णा का कारण है।** पुण्य जो फलता है, उसमें तृष्णा बढ़ेगी। मोह फट पड़ेगा। आहा...हा...! **ऐसा न्याय से प्रगट करते हैं।**

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं।।७४।।

नीचे हरिगीत -

शुभोपयोग परिणाम भी, जिस पुण्य का सञ्चय करे।
वह स्वर्ग तक के जीवों को, विषय-तृष्णा ही करे॥

यह पुण्य है, वह विषय की तृष्णा को उत्पन्न करता है। आहा...हा...! यहाँ (सम्प्रदाय में) ऐसा कहते हैं कि शुभभाव करे तो अन्दर शुद्ध निश्चय होता है।

श्रोता : सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तो मिलते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिलते हैं, उससे क्या हुआ? वे तो अनन्त बार मिले, उस पुण्य के फल में अनन्त बार तृष्णा हुई। इन्हें सुनूँ, इसका ऐसा करूँ, यह तृष्णा है। आहा...हा...! बहुत कठिन है।

यहाँ तो **दुःख के बीज का कारण...** का अर्थ **तृष्णा का कारण है।** इस पुण्य का फल फलेगा, (उसमें से) तृष्णा फटेगी। यह पहले आ गया है। नहीं? महामोहरूपी भूत! उसमें भी तृष्णा है। महामोह का भूत लगा है, उससे तृष्णा फटी है, उसके पाँचों ही इन्द्रियों ने घेरा डाला है। आहा...हा...! पुण्य के फलरूप इसे इन्द्रियों के विषय मिले, इसे तृष्णा का घेरा चलता है। आहा...हा...! अन्दर भगवान आत्मा की तरफ जाने की उसमें कोई भी गन्ध नहीं है।

आहा...हा...! जिस भाव से तीर्थङ्कर गोत्र बँधता है, वह भाव भी राग है, दुःख है; उसका जब नाश करता है, तब उस तीर्थङ्करप्रकृति का उदय केवली हो तब आता है। उसमें शुभभाव ने क्या किया? शुभभाव से प्रकृति बँधी, वह दुःख था। विष का वृक्ष! विष का वृक्ष कहा है। उसका फल आया तब संयोग (मिला)। केवलज्ञान होने के बाद (उसका) फल आया। शुभभाव का नाश किया, वीतराग हुआ, केवलज्ञान हुआ, तब पुण्य के (फलरूप से) तीर्थङ्करप्रकृति का फल / संयोग आया। उसमें आत्मा को क्या? आहा...हा...! यह कहते हैं।

टीका : यदि इस प्रकार शुभोपयोग परिणाम से... शुभोपयोग परिणाम से, स्पष्ट शब्द प्रयोग किये हैं। दया, दान, व्रत, अपवास, भक्ति, पूजा, मन्दिर बनाने का (भाव, यह सब शुभभाव है)। एक जगह तो ऐसा लिखते हैं कि तिल के तुस प्रमाण मूर्ति भी स्थापित करे तो उसके पुण्य को सरस्वती नहीं कह सकती... परन्तु पुण्य को न? पद्मनन्दि ने (कहा है), वह तो पुण्य की बात हुई। आहा...हा...!

भगवान आत्मा, शुभ और अशुभ उपयोगरहित है। जहाँ तक उसकी दृष्टि नहीं करे, वहाँ तक जन्म-मरण नहीं मिटते। आहा...हा...! चाहे तो लाख अपवास करे और लाख मन्दिर बनावे और अरबों रुपये दान में खर्च करे, वह शुभराग है। वह पराश्रित शुभभाव है और उसके फलरूप में पुण्य का फल आयेगा, तब तृष्णा फटेगी - ऐसा कहते हैं। यह भोगना... यह भोगना... यह भोगना... यह लूँ... आहा... हा...! जगत् को (यह) झेलना मुश्किल है।

शुभोपयोग परिणाम से जिनकी उत्पत्ति होती है - ऐसे अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान हैं।... पुण्य है - **ऐसा स्वीकार किया है,...** पुण्य नहीं - ऐसा नहीं है परन्तु वह आत्मा की शान्ति और स्वभाव से विपरीत भाव है। आत्मा का स्वभाव शान्त, ज्ञान और आनन्द से शुभभाव विपरीत - ज़हर है। भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है, उससे विरुद्ध परिणाम - शुभभाव विषकुम्भ है - ज़हर का घड़ा है। आहा...हा...! **ऐसे अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान हैं....** अनेक प्रकार का पुण्य है। आहा...हा...! करोड़ों रुपये आवें, अरबों रुपये आवें, पुत्र-पुत्रियाँ ऐसे हों.... आहा...हा...! मानों कि यह क्या फला! यह सब पुण्य के फल में तृष्णा फटी! - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा वीतरागमार्ग लोगों को एकान्त लगता है। (वे ऐसा कहते हैं) शुभभाव से कुछ भी लाभ नहीं होता? होता है न! पुण्य बँधता है और तृष्णा बढ़ती है, यह होता है। आहा...हा...!

अन्दर प्रभु शुभ-अशुभभाव से रहित है, वीतरागमूर्ति प्रभु है। शान्त... शान्त... शान्त... शान्ति का सागर... जिसमें शुभ और अशुभविकल्प अर्थात् राग का भी अभाव है - ऐसी वस्तु को पकड़े बिना... आहा...हा...! ऐसी वस्तु के आश्रय से दशा हुए बिना इसका परिभ्रमण नहीं मिटता। आचार्य तो स्पष्ट कहते हैं - शुभोपयोग का फल पुण्य है

- ऐसा कहते हैं और पुण्य का फल यह सब मिलता है। साधारण व्यक्ति के पास रुपये दिखते हैं। कहा नहीं मुम्बई! (एक वैष्णव है) घर में सब महिलाएँ श्वेताम्बर जैन हैं। पचास करोड़ रुपये! दर्शन करने आया था। आया था बेचारा! महिलाएँ श्वेताम्बर जैन हैं न! उन्हें इतना वात्सल्य आया था उनके मकान में चरण करने ले गये थे, बड़ा मकान! ओहो...हो...! इसने राजा का मकान साठ लाख में लिया होगा। अभी सवा करोड़ रुपये का है। ऐसे-ऐसे बड़े मकानों में अन्दर चरण करवाये। अरे...रे...! (इसमें) भी क्या? बाहर के प्रदर्शन में तृष्णा का पार नहीं होता। यहाँ दुकान और वहाँ दुकान और हांगकांग में बड़ी दुकान है। (कोई) कहता था, पचास करोड़ रुपया है। आहा...हा...! मलिनता फलित हुई यह सब मलिनता है। यह पुण्य का फल ऐसा है। यह कहते हैं। आहा...हा...!

अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान हैं, ऐसा स्वीकार किया है, तो वे (पुण्य) देवों तक के.... मनुष्य को पुण्य फलता है यह तो ठीक; किसी भोगभूमि के तिर्यञ्च को भी (पुण्य फलता है) परन्तु देव तक को पुण्य (फलता है)। स्वर्ग का देव बनता है। आहा...हा...! जिसे हजारों वर्षों में तो अमृत की डकार आती है। जिसे पन्द्रह-पन्द्रह दिन में श्वाँस होती है। ऊपर से नीचे एक श्वाँस लेने में पन्द्रह दिन जाते हैं - ऐसे सुख के साधन! ऐसे **देव तक के समस्त संसारियों को...** देव तक के अर्थात् जुगलिया तिर्यञ्च को भी भोगभूमि में अनुकूलता होती है। वहाँ कल्पवृक्ष है, इसलिए इच्छानुसार (होता है)। असंख्य अरब वर्ष! पल्योपम दो पल्योपम, तीन पल्योपम की आयु होती है। अरे...! तिर्यञ्च को भी कल्पवृक्ष मिलते हैं। आहा...हा...! उन तिर्यञ्च, मनुष्य से लेकर देव तक के (समस्त संसारी जीव) देवों को भी पुण्य का - शुभ का फल फलता है। आहा...हा...!

पर की दया का भाव, वह शुभराग है और शुभराग का फल पुण्य है और पुण्य के फल में जो संयोग मिले, उसमें इसकी तृष्णा फटेगी - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है! **देवों तक के समस्त संसारियों के विषयतृष्णा अवश्यमेव उत्पन्न करते हैं...** उस पूर्व के पुण्य के (कारण) जो सामग्री मिलती है, उसमें विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं। अन्दर में जाने का तो कुछ है नहीं, उसे बाहर में जाने की तृष्णा है। इसका ऐसा करूँ और उसका वैसा करूँ और इसका ऐसा करूँ....! आहा...हा...! पाँच-पाँच करोड़ की आमदनी

हो तो भी व्यापार बढ़ाऊँ, नौकर बढ़ाऊँ आहा...हा... ! ऐसी तृष्णा ! जामनगर का श्वेताम्बर सेठ हैए उसको साढ़े तीन करोड़ की आमदनी है। वह भी अभी बढ़ाना चाहता है। यह तृष्णा... तृष्णा... तृष्णा... ! मार डालती है। मूर्ख और पागल दुनिया उसे सुखी कहती है। एक वर्ष में साढ़े तीन करोड़ की आमदनी ! पूँजी नहीं, पूँजी तो बहुत ! वर्ष की साढ़े तीन करोड़ की आमदनी हो परन्तु उसमें क्या है ? धूल में क्या है ? आहा...हा... !

कहते हैं – वह (पुण्य) **विषयतृष्णा अवश्यमेव उत्पन्न करते हैं...** शुभभाव से पुण्य बँधा, पुण्य का फल आया, उसे अवश्य विषय की तृष्णा (उत्पन्न करता है)। पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर की तृष्णा उत्पन्न करता है। अनीन्द्रिय ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका तो यह अनादर करेगा। आहा...हा... ! एक गरीब मनुष्य होगा और आत्मा का ज्ञान हुआ होगा, रोटी भी बड़ी कठिनता से मिलती हो – ऐसे की तो इसे गिनती भी नहीं और ऐसे करोड़ों अरबों रुपये पैदा (किये हों, उसकी गिनती और कीमत) !

श्रोता : लौकिक में तो पुण्य का बोलबाला है !

पूज्य गुरुदेवश्री : मूढ़ता का बोलवाला है। बात सच है। पागल को पुण्य-पाप का बोलबाला है। आहा...हा... ! शरीर कुछ ठीक मिले, स्त्री ठीक मिले, पैसा ठीक मिले, व्यापार में मुनीम ऐसे मिलें, दुकान ऐसी चले, देश-परदेश सर्वत्र चले... आहा...हा... ! दो-पाँच दस करोड़ की आमदनी हो (तो यहाँ) कहते हैं। बापा ! तृष्णा फटी है। आहा...हा... ! रागरहित प्रभु, असंगतत्त्व प्रभु, ऐसा जो भगवान आत्मा है, उसकी अस्ति का इसने अनादर किया और इस पुण्य की अस्ति की तृष्णा करके स्वीकार किया। आहा...हा... ! बाहर का प्रदर्शन ऐसा है, बाहर का भभका / चमक ! बहुत सरस बात ली है ! आहा...हा... ! समाज में संगठन रहेगा कि नहीं ? इसकी मुनि को क्या पड़ी है ! 'नागा बादशाह से आघा' है। ठीक लगे तो मानो, नहीं लगे तो तुम्हारे घर रहो।

आहा...हा... ! शुभभाव का फल पुण्य है और पुण्य का फल सामग्री मिलेगी (और) उसे पाने में तुम्हारी तृष्णा फटेगी। उसमें आत्मा चिदानन्द प्रभु, अनन्त... अनन्त... अनाकुल आनन्द का सागर अन्दर डोलता है, उसका तुझे अनादर होगा, क्योंकि शुभभाव के समय ही तूने अनादर किया है। आहा...हा... ! शुभभाव के समय ही तूने उसमें हित

माना है और भगवान पूर्णानन्द के नाथ को हेय माना है। इस शुभभाव को उपादेय माना, आदरणीय माना, उसी समय भगवान पूर्णानन्द का नाथ परमात्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप से भरपूर भगवान, अतीन्द्रिय अनन्त... अनन्त... गुण का सागर है। प्रभु! शुभभाव के आदर में तूने स्वभाव का अनादर किया है। आहा...हा...! ऐसी छोटी भूल नहीं की थी। उसके फलरूप में भले ही चक्रवर्ती का पद मिले और देव तक का कहा है न? **देवों तक के** – ऐसा कहा है न? आहा...हा...!

वह विषय तृष्णा **समस्त संसारियों को...** समस्त संसारियों को! इसमें देव तक के (सभी आ गये)। आहा...हा...! **विषयतृष्णा अवश्यमेव उत्पन्न करते हैं...** (ऐसा) एकान्त? अनेकान्त करो न! शुभभाव के (फल में) इसे अच्छे देव-शास्त्र-गुरु मिलेंगे तो उसमें से धर्म प्राप्त करेगा – ऐसा आता है न? कि शुभभाव (ऐसा) होगा तो ऐसे निमित्त (मिलेंगे), यह तो कथन किया है। आहा...हा...! राग के फलरूप में निमित्त मिलेंगे परन्तु उन पर लक्ष्य जाने से राग ही होगा। पराश्रयभाव होने पर राग ही होगा और उसमें प्रभु! परमात्मा...! सबेरे नहीं आया था? परमात्मा... ज्ञानात्मा... आहा...हा...! आत्मख्याति...! आया था न! आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा उसके पक्ष में जाना छोड़कर उसका तो अनादर किया। आहा...हा...! चार बोल आये थे न? प्रत्यक्ष ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूति, वह समयसार है। आहा...हा...!

(स्व) द्रव्य का जो शुभ विकल्प – राग है, दूसरी ओर का नहीं (परन्तु) मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ – ऐसा जो राग... आहा...हा...! वह भी उसके आत्मा में अन्तर जाने में विघ्न करता है, वह राग-दया और दान का नहीं; वह है शुभोपयोग परन्तु यह बाहर की पूजा-भक्ति का (राग) नहीं है; मात्र अन्दर परमात्मस्वरूप हूँ – ऐसा जो विकल्प उत्पन्न हुआ... आहा...हा...! उससे इसे आत्मा का लाभ नहीं है...! यहाँ तक आया, फिर भी प्रभु विकल्परहित है, उसका स्पर्श नहीं हुआ – उसका इसे वेदन नहीं आया। आहा...हा...! उस स्वतरफ के विकल्पवाले को भी दुःख है – ऐसा कहते हैं। पर की दया, दान और व्रत, भक्ति के परिणाम की तो क्या बात करना? आहा...हा...! जगत् को कठिन लगता है। बाहर में मानकर बैठे हैं आहा...हा...! बाहर की प्रवृत्ति करने से कुछ पैसा फले, उसमें

कुछ पाँच-पच्चीस हजार दे, लाख-दो लाख दे, लो न! इसलिए ऐसा हो जाता है कि हम कुछ (आगे बढ़े हैं)। लोग भी महिमा करते हैं - आहा...हा...! भाई! पैसे का सदुपयोग किया। जड़ का सदुपयोग किया!

श्रोता : पैसा कमाना भी आया और खर्च करना भी आया!

पूज्य गुरुदेवश्री : कमाना भी आया और खर्च करना भी आया। कहनेवाले ऐसे मूर्ख मिलते हैं। उसमें यह प्रसन्न होता है। आहा...हा...!

यहाँ तो तीन लोक के नाथ वीतराग प्रभु ऐसा कहते हैं। प्रभु! तू वीतराग की जात और नात का है। नाथ! तेरी जाति ही वीतराग की है। आहा...हा...!

उसमें राग की जाति भले ही शुभ की उत्पन्न हो परन्तु वह कुजाति है, उसमें बन्धन होगा। उससे संयोग मिलेगा, वहाँ तेरी उस ओर की तृष्णा फट पड़ेगी। आहा..हा...! तू उस तृष्णा को छोड़ नहीं सकेगा। आहा...हा...! **विषयतृष्णा अवश्यमेव उत्पन्न करते हैं...** आहा...हा...!

पाँच इन्द्रिय के विषय की ओर का इसका झुकाव - रूप में, सुनने में, गन्ध में, रस में, स्पर्श इन्द्रिय के स्पर्श में... आहा...हा...! एक-एक इन्द्रिय से जो जानता है, वह सम्पूर्ण आत्मा स्वयं जाननेवाला अलग है। पराश्रय से जानता है, इतना वह (आत्मा) नहीं है। आहा...हा...! वह पराश्रय से जाननेवाला है परन्तु इतना वह नहीं है। आहा...हा...! वह शुभराग को भी जानता है कि शुभराग है, वह पुण्य है; उससे बन्धन होगा परन्तु वह चैतन्य का स्वरूप नहीं है। आहा...हा...! वह तो शान्त... शान्त... धीरज से और शुभ उपयोग को लाँघ कर भगवान का साक्षात्कार करे उसका जन्म-मरण मिटता है। आहा...हा...! वरना शुभभाव में भी आवे और वहाँ रुके... आहा...हा...! उसकी तृष्णा बढ़ जायेगी - ऐसा कहते हैं। तृष्णा फटेगी। आहा...हा...! **(ऐसा भी स्वीकार करना पड़ता है)।**

वास्तव में तृष्णा के बिना,... (अर्थात्) यदि तृष्णा न होवे तो **जैसे जोंक (गोंच) को दूषित रक्त में उसी प्रकार...** (जैसे) जोंक दूषित रक्त पीती है, उसी प्रकार **समस्त संसारियों को विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे;....** आहा...हा...! जैसे जोंक दूषित रक्त पीने जाती है, वह तृष्णा है; उसी प्रकार यदि संसारी को तृष्णा न हो तो **समस्त**

संसारियों को विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे, तृष्णा के बिना जैसे जोंक (गोंच) को दूषित रक्त में उसी प्रकार समस्त संसारियों को विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे;... उनकी प्रवृत्ति वहाँ दिखाई देती है। ऐसा किया और यह किया और वह किया और मुनीम बढ़ाये... आहा...हा...! दस-दस लाख रुपये व्यापारी को (देकर) अपन ने लोग रखे हैं। ऐसी पचास दुकानें की हैं। सबको दस-दस लाख दिया है। डेढ़ प्रतिशत का ब्याज लूँगा। हर महीने सम्हालूँगा और आमदनी का इतना प्रतिशत दूँगा। आहा...हा...! देश में - विदेश में ऐसी पचास-सौ दुकानें करे! क्या है यह? पागल है (- ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...!

तृष्णा के बिना, जैसे जोंक (गोंच) को दूषित रक्त में.... प्रवृत्ति नहीं होती; उसी प्रकार संसारी को तृष्णा के बिना **विषयों में प्रवृत्ति दिखाई नहीं दे...** ऐसा कहते हैं। इस प्रकार बाहर में प्रवृत्ति देखो न! आहा...हा...! स्व विषय भगवान आत्मा है, उसे नहीं देखकर, उस शुभभाव के फल में पर विषयों में प्रवृत्ति देखोगे। आहा...हा...! अरबोंपति! आहा...हा...! पैसा बहुत, फट गया प्याला! अज्ञान की तृष्णा का प्याला फट गया! तृष्णा की शराब पी है इसने! आहा...हा...! उस शराब को पीये हुए पागल है। ऐसा पागल है कहते हैं। ऐसा होगा? संसार में तो चतुर कहलाता है। आहा...हा...! परिभ्रमण की तृष्णा का चतुर। आहा...हा...!

तृष्णा-पुण्य को समेट कर और चैतन्य भगवान के घर में जाना। बाहर में भले ही गरीबी हो, समझ विशेष न हो, समझाना न आता हो परन्तु समझनेवाले को अन्दर से समझा... आहा...हा...! निहाल हो गया! वह अल्प काल में केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करेगा। इस शुभभाव की तृष्णा में तो तृष्णा से घिर जायेगा। आहा...हा...!

किन्तु वह तो दिखाई देती है।... यहाँ तो ऐसा कहते हैं। पुण्य के फलवाले को सामग्री की तृष्णा दिखाई देती है। पचास लाख का मकान बनाओ। आहा...हा...! पाँच-पाँच, दस-दस लाख के ऐसे कपड़े बनाओ। स्त्रियों को मूल्यवान कपड़े दो, गहने दो। लड़कियों को दहेज दो, दहेज में दो-पाँच-दस लाख दो। आहा...हा...! अज्ञानियों को शुभभाव के फल में ऐसी तृष्णा दिखाई देती है। आहा...हा...!

इसलिए पुण्यों को तृष्णायतनता अबाधित ही है.... आहा...हा... ! यह पुण्य तृष्णा का घर बिना विघ्न रहो। आहा...हा... ! क्या कहते हैं ? भगवान का घर दु:ख के विघ्नरहित होता है। अतीन्द्रिय आनन्द होता है। आहा...हा... ! प्रभु का घर निज सत्ता के घर में जाये वहाँ तो दु:ख के भावरहित आनन्द होता है। **पुण्यों को तृष्णायतनता...** तृष्णा का आयतन अर्थात् घर। आहा...हा... ! **अबाधित ही है....** तृष्णा का घर बिना विघ्न के है। भारी तृष्णाएँ रहती हैं। यह शुभभाव के फल का वर्णन ! लाख-दो लाख कमाये और लाख ऐसा किया और ऐसे खर्च किया ! यह देखो न ! मुम्बई में पन्द्रह दिन (जिनके घर) रहे। उसमें एक लाख साठ हजार खर्च किये। उसके घर में रहे - एक लाख साठ हजार !

श्रोता : इतना धर्म किया न !

समाधान : वही कहता हूँ। उससे क्या हुआ बापा ? भाई ! (जन्म जयन्ती में) लोगों का उत्साह बहुत परन्तु बात यह - शुभभाव पर वजन ! आहा...हा... ! क्षार जमीन में जैसे पानी दिखता है, वह पानी नहीं है बापू ! आहा...हा... ! यह सब बाहर की चमक-दमक तृष्णा का घर है भाई ! आहा...हा... ! है ?

पुण्यों की तृष्णायतनता... आचार्य की भाषा तो देखो ! शुभभाव, उसका फल पुण्य, उसका फल सामग्री - ऐसे पुण्यों को तृष्णायतनपना - तृष्णा का आयतन - तृष्णा का घर; पुण्य है वह तृष्णा का घर है। आहा...हा... ! गजब बात है। समाज में (ऐसी बात) प्रस्तुत करने से लोगों को (क्या लगेगा ऐसी) सन्तों को क्या पड़ी है। वीतरागी मुनि हैं, वे तो सत्य है, उसका ऐसा ढिंढोरा पीटते हैं। आहा...हा... ! भाई ! तू बाहर में रच-पच गया है। इस पुण्य के भाव में फँस गया है प्रभु ! आहा...हा... ! यह तृष्णा का आयतन - घर अबाधित हुआ। देखो ! यह तृष्णा का घर (अबाधित हुआ अर्थात्) इसे विघ्न नहीं हुआ, इस प्रकार तृष्णा फट पड़ी है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! शुभभाव के फल में पुण्य बँधा और उसकी सामग्री में तुझे तृष्णा हुई; उस तृष्णा का जो आयतन - घर तुझे अबाधित है। उसमें विघ्न नहीं आया (अर्थात्) जरा भी सन्तोष नहीं आया। आहा...हा... !

कहो, यह नैरोबी में बीस लाख खर्च करते हैं। स्वाध्याय तो वहाँ बीस-पच्चीस वर्ष

से चलती है। आहा...हा... ! (एक मुमुक्षु ने) तीन लाख दिये है, परन्तु बापू! वह तो जरा राग की मन्दता शुभभाव है अरे.... रे... !

नाथ! वीतरागमूर्ति प्रभु! 'घट-घट अन्तर जिन बसै', उस जिन के पीछे, जिन के साथ में शुभराग... आहा...हा... ! जहर का घर! उसके फल में तृष्णा का स्थान अबाधित है। आहा...हा... ! तृष्णा किञ्चित् भी नहीं घटती - ऐसा कहते हैं न! **पुण्यों को तृष्णयतनता अबाधित ही है (अर्थात् पुण्य तृष्णा के घर हैं, ऐसा अविरोधरूप से सिद्ध होता है)।** आहा...हा... ! गजब बात है। पुण्यों के प्रेमियों को तो एक बार पसीना उतार दे ऐसा है। कड़क लगता है। आहा...हा... ! अरबोंपति-करोड़पति-धूलपति! यह करोड़ तो रुपये हैं। करोड़पति तो जड़ का पति हुआ! वह जड़ का स्वामी! लखपति, करोड़पति, और अरबपति! पत्नी का पति, यह पैसे का पति! वह नरपति-राजा नरपति - ऐसा सब कहाँ से आया? पति... पति... पति... ! यह सब तृष्णा के घर से खड़ा हुआ है। आहा...हा... !

तीन लोक का नाथ, सच्चिदानन्द प्रभु, त्रिकाल निरावरण, त्रिकाल अखण्ड एक, जिसमें पर्याय का भेद भी नहीं है - ऐसी वस्तु के आदर बिना, ऐसे शुभ के आदर में तृष्णा का घर बिना विघ्न रहेगा प्रभु! आहा...हा... ! वह तृष्णा का घर अविरोधरूप से सिद्ध होगा, तृष्णा में विरोध आयेगा ही नहीं। अकेली तृष्णा ही फटेगी - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! क्या शैली है! दिगम्बर सन्तों की शैली!

भावार्थ - जैसा कि ७३ वीं गाथा में कहा गया है। उस प्रकार अनेक तरह के पुण्य विद्यमान हैं,.... पुण्य है। जैसे भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति है, वैसे ही पुण्य भी है। वस्तु नहीं है - ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! जैसे चैतन्य सर्वज्ञ स्वभावी तत्त्व अस्ति है, जैसे पूर्णानन्द का नाथ प्रभु है, वैसे ही पुण्य भी है। आहा...हा... ! **अनेक तरह के पुण्य विद्यमान हैं,...** अस्तित्व रखते हैं। आहा...हा... ! **सो भले रहें। वे सुख के साधन नहीं...** आहा...हा... ! शुभभाव के फलरूप में पुण्यबन्ध और पुण्यबन्ध के रूप में सामग्री (प्राप्त हो), वह सुख का साधन नहीं है, **किन्तु दुःख के बीजरूप तृष्णा के ही साधन हैं।** आहा...हा... ! पैसेवाला (पैसा) खर्च करता हो तो मानो कि हम धर्मी हो गये हैं। दो-पाँच करोड़ खर्च करते हों तो उपाश्रय में, मन्दिर में तख्ती लगा देते हैं। अमुक भाई ने

अमुक भाई.... कितने तो उसमें नाम डालते हैं... इतने पैसे दिये; तीन-चार-पाँच-छह नाम डालते हैं। आहा...हा...! अरे...रे...! कहते हैं तृष्णा फट पड़ी! तृष्णा को विघ्न नहीं आया। आहा...हा...!

जैसे भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द की दृष्टि में निज घर प्रस्फुटित हो, वहाँ उसे विघ्न नहीं आता; उसे विघ्न नहीं होता। आहा...हा...! उसी प्रकार उससे विरुद्ध पुण्यभाव के फलरूप में सामग्री मिली उसे तृष्णा का घर हुआ, उसे विघ्न नहीं आता। तृष्णा को विघ्न नहीं आता अर्थात् अब तृष्णा नहीं रुकेगी। आहा...हा...! ऐसा है। 1

देखो, यह चैतन्यविद्या का अभ्यास!

देखो, यह चैतन्यविद्या का अभ्यास! यह चैतन्यविद्या तो भारत की मूल विद्या है। पूर्व काल में तो बाल्यवय से ही भारत में बालकों में ऐसी चैतन्यविद्या के संस्कार डाले जाते थे... माताएँ भी धर्मात्मा थीं, वे अपने बालकों को ऐसे उत्तम संस्कार सिखलाती थीं और बालक भी अन्तर में अभ्यास करके, अन्तर में उतरकर, आठ-आठ वर्ष की उम्र में आत्मा का अनुभव करते थे। भारत में चैतन्यविद्या का ऐसा अद्भुत धर्मकाल था... उसके बदले आज तो इस चैतन्यविद्या का श्रवण प्राप्त होना भी कितना दुर्लभ हो गया है! परन्तु जिसे हित करना हो और शान्ति अपेक्षित हो, उसे यह चैतन्यविद्या सीखना ही होगी... इसके अतिरिक्त जगत् की दूसरी किसी विद्या के द्वारा आत्मा का हित अथवा शान्ति का अंश भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए हे जीवों! 'यह बात हमें समझ में नहीं आती... हमें कठिन लगती है... हमें अभी समय नहीं है' -इस प्रकार व्यर्थ का बकवास करना बन्द करो... और इस चैतन्य के अभ्यास में ही अपनी आत्मा को जोड़ो। छह महीने तक एक धारा से अभ्यास करने से तुम्हें अवश्य आत्मभान और आत्मशान्ति होगी। ***(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आतम के हित पन्थ लाग!, पृष्ठ-५७)***

गाथा – ७५

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोषयति -

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता।।७५।।

ते पुनरुदीर्णतृष्णाः दुःखितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ताः।।७५।।

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिताः सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति। तद्दुःखसंतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान्, जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति। यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते, एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते। अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः।।७५।।

अथ पुण्यानि दुःखकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति - ते **पुण उदिण्णतण्हा** सहजशुद्धात्मतृप्तेरभावात्ते निखिलसंसारिजीवाः पुनरुदीर्णतृष्णाः सन्तः **दुहिदा तण्हाहिं** स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपारमार्थिकसुखाभावात्पूर्वोक्ततृष्णाभिर्दुःखिताः सन्तः। किं कुर्वन्ति। **विसयसोक्खाणि इच्छंति** निर्विषयपरमात्मसुखाद्विलक्षणानि विषयसुखानि इच्छन्ति। न केवलमिच्छन्ति, **अणुभवंति य** अनुभवन्ति च। किंपर्यन्तम्। **आमरणं** मरणपर्यन्तम्। कथंभूताः। **दुक्खसंतत्ता** दुःखसंतप्ता इति। अयमत्रार्थः- यथा तृष्णाद्रेकेण प्रेरिताः जलौकसः कीलालमभिल- षन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चामरणं दुःखिता भवन्ति, तथा निजशुद्धात्मसंवित्तिपराङ्मुखा जीवा अपि मृगतृष्णाभ्योऽम्भांसीव विषयानभिलषन्तस्तथैवानुभवन्तश्चामरणं दुःखिता भवन्ति। तत एतदायातं तृष्णातङ्कोत्पादकत्वेन पुण्यानि वस्तुतो दुःखकारणानि इति।।७५।।

अब, पुण्य में दुःख के बीज की विजय घोषित करते हैं। (अर्थात् पुण्य में तृष्णाबीज दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होता है – फैलता है – ऐसा घोषित करते हैं) –

वे जीव तृष्णाभाव से, चिरकाल तक दु:ख को सहें।
अरु दु:ख से संतप्त होकर, विषयों के सुख को चहें॥

अन्वयार्थ : [पुनः] और, **[उदीर्णतृष्णाः ते]** जिनकी तृष्णा उदित है – ऐसे वे जीव **[तृष्णाभिः दुःखिताः]** तृष्णाओं के द्वारा दु:खी होते हुए, **[आमरणं]** मरणपर्यन्त **[विषय सौख्यानि इच्छन्ति]** विषयसुखों को चाहते हैं **[च]** और **[दुःखसन्तप्ताः]** दु:खों से संतप्त होते हुए (दु:खदाह को सहन न करते हुए) **[अनुभवंति]** उन्हें भोगते हैं।

टीका : जिनके तृष्णा उदित है – ऐसे देवपर्यन्त समस्त संसारी, तृष्णा दु:ख का बीज होने से पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा भी अत्यन्त दु:खी होते हुए मृगतृष्णा[१] में से जल की भाँति विषयों में से सुख चाहते हैं और उस दु:खसंताप[२] के वेग को सहन न कर सकने से विषयों को तब तक भोगते हैं, जब तक कि विनाश को [मरण को] प्राप्त नहीं होते। जैसे, जोंक (गोंच) तृष्णा जिसका बीज है, ऐसे विजय को प्राप्त होती हुई दु:खांकुर से क्रमशः आक्रान्त होने से दूषित रक्त को चाहती और उसी को भोगती हुई मरणपर्यन्त क्लेश को पाती है, उसी प्रकार यह पुण्यशाली जीव भी, पापशाली जीवों की भाँति, तृष्णा जिसका बीज है – ऐसे विजय प्राप्त दु:खांकुरों के द्वारा क्रमशः आक्रान्त होने से, विषयों को चाहते हुए और उन्हीं को भोगते हुए विनाशपर्यन्त (मरणपर्यन्त) क्लेश पाते हैं।

इससे पुण्य, सुखाभास ऐसे दु:ख का ही साधन है।

भावार्थ : जिन्हें समस्त विकल्पजाल रहित परमसमाधि से उत्पन्न सुखामृतरूप सर्व आत्मप्रदेशों में परम आह्लादभूत स्वरूपतृप्ति नहीं वर्तती – ऐसे समस्त संसारी जीवों के निरन्तर विषयतृष्णा व्यक्त या अव्यक्तरूप से अवश्य वर्तती है। वे तृष्णारूपी बीज क्रमशः अंकुररूप होकर दु:खवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होकर, इस प्रकार दु:खदाह का वेग असह्य होने पर, वे जीव विषयों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जिनकी विषयों में प्रवृत्ति देखी जाती है – ऐसे देवों तक के समस्त संसारी जीव दु:खी ही हैं।

---

१. जैसे मृगजल में से जल नहीं मिलता वैसे ही इन्द्रियविषयों में से सुख प्राप्त नहीं होता।
२. दु:खसन्ताप = दु:खदाह; दु:ख की जलन = पीड़ा।

इस प्रकार दु:खभाव ही पुण्यों का - पुण्यजनित सामग्री का आलम्बन करता है; इसलिए पुण्य, सुखाभास ऐसे दु:ख का ही अवलम्बन / साधन है ॥ ७५ ॥

प्रवचन नं. ६८ का शेष **दिनाङ्क ०९ मई १९७९**

७५ गाथा।

अब, पुण्य में दु:ख के बीज की विजय घोषित करते हैं।... उसकी विजय है। पुण्य के फल में दु:ख की विजय है। आहा...हा...! **पुण्य में दु:ख के बीज की....** (विजय है) शुभभाव से पुण्य बँधता है, वह दु:ख के बीज की विजय है। दु:ख के बीज की प्रसिद्धि है, उसकी विजय है। वहाँ दु:ख की विजय है, आनन्द की हार है। प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उसमें पुण्य के परिणामवाले की विजय है, उसे स्वरूप की हार है। आहा...हा..! कठिन काम है। समझ में आया।

पुण्य के जितने शुभभाव हैं, उनमें दु:ख के बीज की विजय है। वे दु:ख के बीज हैं - दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव - शुभभाव में दु:ख के बीज की विजय है। आहा...हा...! गजब बात है! वे दु:ख के बीज हैं। वह बीज फटेगा तो उसमें दु:ख फटेगा! कहीं आत्मा का सुख-शान्ति जरा भी नहीं है। आहा...हा...! शुभ उपयोग, शुभराग आहा...हा...! दया, दान, व्रत, तप और उपवास और समकितरहित समाधि क्लेश है। शुभभाव में दु:ख के बीज की विजय है। उसकी विजय है, वहाँ प्रभु की विजय नहीं है।

आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु, पुण्य पाप के परिणाम से भिन्न है। उसकी वहाँ विजय नहीं है और पुण्य के परिणाम में दु:ख के बीज की विजय होती है। उसकी ध्वजा फहराती है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अरे... रे...! बात सुनना कठिन पड़ती है। इसमें है या नहीं। देखो न! **पुण्य में दु:ख के बीज की विजय....** संस्कृत है - **'पुण्यस्य दु:खबीजविजयमाघोषयति'** उपोद्घात में अमृतचन्द्राचार्यदेव की संस्कृत है! आहा...हा...! शैली भी क्या! शुभभाव को हेय बताने के लिए (ऐसा कहते हैं)। प्रभु उस शुभराग से भिन्न है। उन दया, दान, और व्रत भक्ति के परिणाम से भगवान तो अन्दर भिन्न है और उसकी प्रसिद्धि न होकर शुभभाव में दु:ख के बीज की विजय होगी। दु:ख के बीज

में से तो दुःख उगेगा। आहा...हा... ! और सम्यग्दर्शन में त्रिकाली स्वरूप के आदर में वह आनन्द का बीज है। आहा...हा... ! उसमें से आनन्द उगेगा और केवलज्ञान होगा। इसमें दुःख उगेगा अरे.. इतनी बातें ! फिर भी इसे गले (उतरना) कठिन पड़ता है।

शुभभाव, शुभभाव धर्म ! गिरनार की यात्रा की, पालीताना की यात्रा की, इसलिए धर्म हो गया... ! धूल में भी धर्म नहीं है। आहा...हा... ! सम्मेदशिखर की यात्रा कर लो ! 'एक बार वन्दे जो कोई, ताँहि नरक पशु गति नहीं होई' लो (ऐसा सुनता है वहाँ) प्रसन्न... प्रसन्न... हो जाता है। यहाँ कहते हैं सम्मेदशिखर को लाख बार वन्दन कर, उसमें जो शुभभाव होता है, उससे जो पुण्य बँधता है, उस पुण्य का फल आता है, वह दुःख की विजय प्रसिद्ध करता है। वह दुःखी है, इस प्रकार विजय प्रसिद्ध करता है। आहा...हा... !

यह करोड़पति और अरबोंपति दुःख की विजय प्रसिद्ध करते हैं। यह दुःख की विजय प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा... ! बाहर से बड़े मानपत्र दें, उसमें प्रसन्न हो जाता है। यह सब शुभराग... आहा...हा... ! वह शुभराग दुःख के बीज की विजय है। उसमें भगवान की हार है। आहा...हा... ! प्रभु – आत्मा सच्चिदानन्द्र प्रभु जिनस्वरूपी आत्मा की उसमें हार है और पुण्य के फल में दुःख की विजय है। दुःख की विजय है ! आहा...हा... ! अरे रे.... ! ऐसा सुनना कठिन (पड़ता है)। जहाँ हो वहाँ (ऐसा) सुनने मिलता है कि यह करो... यह करो... ! दया पालो... सम्मेदशिखर की यात्रा करो, गिरनार की (यात्रा) करो ! कहते हैं कि उसमें होनेवाला जो शुभभाव, उसमें जो पुण्य बँधेगा, उसके फलरूप में दुःख के बीज की (विजय) प्रसिद्ध होगी। आहा...हा... ! सन्तों को कहाँ पड़ी है जगत् की, कि जगत् को यह बैठेगा या नहीं ? आहा...हा... ! समाज के भाग हो जायेंगे या नहीं ? अरे... प्रभु !

आहा...हा... ! **पुण्य में दुःख के बीज की विजय घोषित करते हैं। (अर्थात् पुण्य में तृष्णाबीज दुःखवृक्षरूप....** क्या कहा ? **तृष्णा बीज दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होता है...** वह दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होता है। वह वहाँ दुःखरूप से फलता है। शुभभाव के फलरूप में दुःखवृक्ष का फल फलता है और आनन्द भगवान चिदानन्द प्रभु का अनुभव और दृष्टि होने पर... आहा...हा... ! चैतन्य के विजय की

प्रसिद्धि होती है। उसे आनन्द की प्रसिद्धि होती है। आहा...हा...! समकित प्राप्त करते हुए, धर्म प्राप्त करते हुए, धर्म की पहली सीढ़ी! आनन्द का नाथ प्रभु सच्चिदानन्द आत्मा की जहाँ दृष्टि में प्रसिद्धि - आत्मख्याति की, उसे आनन्द की विजय हुई - ऐसा कहते हैं और अब आनन्द की विजय फहरायेगी। आहा...हा...! और पुण्य के फलरूप में दुःख की विजय फहरायेगी। आहा...हा...! दिगम्बर मुनि ऐसा कहते हैं। उन्हें जगत् की कुछ नहीं पड़ी है। सत्य यह है आहा...हा...! **पुण्य में तृष्णाबीज दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होता है - फैलता है - ऐसा घोषित करते हैं...** ७५ गाथा

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता।। ७५।।

नीचे हरिगीत -

वे जीव तृष्णाभाव से, चिरकाल तक दुःख को सहें।
अरु दुःख से संतप्त होकर, विषयों के सुख को चहें॥

आ...हा...हा...! गाथाएँ बहुत सरस हैं। आ...हा...! पर तरफ का, पुण्य तरफ का उत्साह उड़ा दे - ऐसी है। शुभभाव का हर्ष, शुभभाव करके हर्ष में चढ़ गये हों... आहा...हा...! (उनसे कहते हैं) यह शुभभाव जहर का प्याला है। आहा...हा...! वहाँ तो दुःख की प्रसिद्धि है। वह स्वयं दुःख है और उसके फलरूप में तृष्णा फलेगी तो दुःख की तृष्णा फट पड़ेगी। आहा...हा...!

टीका : जिनके तृष्णा उदित है.... (अर्थात्) जिसे तृष्णा है। भगवान आत्मा, आनन्द का नाथ प्रभु, कल्याण और सन्तोष की मूर्ति प्रभु से विरुद्ध ऐसा शुभभाव और उसके फलरूप में जिन्हें तृष्णा उदित है आहा...हा...! **ऐसे देवपर्यन्त समस्त संसारी,....** कहते हैं कि तिर्यञ्च को भी भोगभूमि में बाहर के सुख की - कल्पवृक्ष की सम्पदा दिखती है, मनुष्य को होती है, नारकियों को तो है नहीं, देव पर्यन्त (अर्थात्) तिर्यञ्च, मनुष्य और देवपर्यन्त के पुण्य के फल (होते हैं)।

समस्त संसारी, तृष्णा दुःख का बीज होने से... वह पुण्य के फल की जो तृष्णा

है, वह दु:ख का बीज होने के कारण। **पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा भी...** पुण्यजनित अर्थात् पुण्य से उत्पन्न हुई तृष्णा। आहा...हा...! ऐसा मकान बनाऊँ और ऐसा मैं बनाऊँ और ऐसा व्यापार-धन्धा बढ़ाऊँ और व्यापार-धन्धा पाँच लाख की आमदनीवाला है तो पचास लाख का करूँ... आहा...हा...! (तृष्णा का) प्याला फट पड़ा है। कहते हैं दु:ख का (प्याला है)।

पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा भी अत्यन्त दु:खी होते हुए... आहा...हा..! अद्भुत गाथाएँ! भाई! यह ज्ञान अधिकार है न? ज्ञान कराते हैं। आहा...हा...! इस शुभराग के फलरूप में तृष्णा फटने से दु:ख की प्रसिद्धि हुई है। आहा...हा...! **अत्यन्त दु:खी होते हुए मृगतृष्णा में से जल की भाँति...** आहा...हा...! मृगतृष्णा अर्थात् जैसे चमक में से जल प्राप्त नहीं होता; उसी प्रकार इन्द्रियविषयों में से सुख प्राप्त नहीं होता। आहा...हा...! चमक को जल कहते हैं। वह जल नहीं। रेतीली जमीन में सूर्य की किरणें (पड़ने से) अन्दर (पानी जैसा) दिखता है; इसी प्रकार इन्द्रिय विषयों में सुख नहीं है, दु:ख ही है। आहा...हा...! अद्भुत काम है।

मृगतृष्णा में से जल की भाँति विषयों में से सुख चाहते हैं... विषय में सुख है - ऐसा मानते हैं। आहा...हा...! यह विषय (अर्थात्) स्पर्श का विषय, आँख का विषय, नाक का, रस का - इन सब विषयों के आहा...हा..! सुखों को चाहता है। उनमें से मानो सुख मिलता है- मजा आता है। आहा...हा...! **और उस दु:खसन्ताप के वेग को सहन न कर सकने से....** विषयों की तृष्णा आयी, उस दु:खसन्ताप के वेग को (नहीं सह सकने से)... दु:खसन्ताप = दु:ख दाहक; दु:ख की जलन - पीड़ा। वह विषयतृष्णा दु:ख की दाह है। अरे...रे... आहा...हा...! इस दु:ख की पीड़ा की जलन को भोगता है। **दु:खसन्ताप के वेग को सहन न कर सकने से विषयों को तब तक भोगते हैं,...** आहा...हा...! अब कहाँ तक भोगता है। यह विशेष कहेंगे...।

प्रवचन नं. ६९ **दिनाङ्क १० मई १९७९**

प्रवचनसार ७५ गाथा। (उपोद्घात) **अब पुण्य में दु:ख के बीज की विजय...**

आहा...हा...! शुभभाव से जो पुण्य बँधता है, उसमें दुःख के बीज की विजय है। आहा...हा...!

टीका : जिनके तृष्णा उदित है... आत्मा के अन्तरस्वभाव की भावना के बिना जिन के पर तरफ की तृष्णा उदित है – ऐसे देव पर्यन्त समस्त संसारी... भोगभूमि के तिर्यञ्च, भोगभूमि के मनुष्य, या कर्मभूमि के (मनुष्य) या देव। वे **समस्त संसारी, तृष्णा दुःख का बीज होने से...** वह तृष्णा जो है... आहा...हा...! वह तृष्णा दुःख का बीज है। तृष्णा स्वयं दुःख है और उसमें से दुःख का बीज, विशेष दुःख फटता है। आहा...हा...! पहले आ गया है न (समयसार चौथी गाथा) मोह! महामोह! उसमें से तृष्णा फट पड़ी आहा...हा...!

पर की ओर के राग के प्रेम में तृष्णा फटी आहा...हा...! उसने इन्द्रियों के विषयों का घेरा डाला, आहा...हा...! अनीन्द्रिय भगवान आत्मा का अनादर करके और इन्द्रिय विषयों में घेरा डाला। एक के बाद एक, एक के बाद एक... इसने पाँचों इन्द्रियों के विषयों में सुख है – (ऐसी मान्यता की), वह तृष्णा के बीज का दुःख है।

पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा... वह तृष्णा पुण्यजनित है। मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है न? तृष्णा के चार बोल आये हैं – एक पाप को टालने की इच्छा; एक पुण्य को भोगने की इच्छा इत्यादि। आहा...हा...! **पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा...** उस शुभभाव से बँधा हुआ पुण्य और उससे प्राप्त सामग्री... आहा...हा...! उसमें तृष्णा द्वारा **अत्यन्त दुःखी होते हुए...** अनीन्द्रिय भगवान आत्मा सुख का सागर है। उस ओर का अनादर करके पुण्य के फलवाले... आहा...हा...! **पुण्यजनित तृष्णाओं के द्वारा भी अत्यन्त दुःखी होते हुए....** यह करोड़पति हों – अरबोंपति हों। लो, पाँच-पाँच दस-दस करोड़ की आमदनी हो, वे सब पुण्यजनित तृष्णाओं से दुःखी हैं। आहा...हा...!

मृगतृष्णा में से जल की भाँति... चमक में मानों पानी हो, इस प्रकार विषयों में से सुखों को चाहते हैं। मृगतृष्णा अर्थात् जिस प्रकार चमक में पानी नहीं है, रेतीली जमीन में सूर्य की किरणें पड़ने पर मानों पानी हो ऐसा लगता है। उसकी तरह **विषयों में से सुख चाहते हैं...** आहा...हा...! मृगतृष्णा की तरह! सम्यग्दृष्टि को भी जितना पुण्य है और

उसकी ओर का झुकाव है, उतनी उसे राग की धारा-दुःखधारा है। आहा...हा...! जो अकेला अज्ञानी है – आत्मा की ओर बिलकुल (झुकाव नहीं है)। शुद्ध चैतन्य की अस्तिपने की सत्ता का – स्वभाव का जहाँ विश्वास ही नहीं है, उस पुण्य के फल में बाहर के सुखों को चाहता है।

उस दुःखसन्ताप के वेग को सहन न कर सकने से.... आहा...हा...! इन विषयों की जो इच्छा है, वह दुःख का सन्ताप है (अर्थात्) दुःखदाह, दुःख की जलन और पीड़ा है। आहा...हा....! **दुःखसन्ताप के वेग को....** अन्दर में दुःख के सन्ताप का वेग होने से। अतीन्द्रिय आनन्द की ओर का अनादर होकर.... आहा...हा...! इन्द्रियों के विषयों में दुःख के सन्ताप का वेग नहीं सहा जा सकने से **दुःखसन्ताप के वेग को सहन न कर सकने से...** आहा...हा...! (इन्द्रियों) की ओर का वेग आया है, उसे नहीं सह सकने से **विषयों को भोगता है।** आहा...हा....!

श्रोता : भोगता है, तब तो शान्ति होती है न!

समाधान : भोगता है, तब इसे दुःख होता है। आहा...हा...! राग है, तृष्णा है, आहा...हा...! वह दुःख है।

दुःख सन्ताप के वेग को सहन न कर सकने से... आहा...हा...! उसके वेग को सहन नहीं कर सकने से **विषयों को भोगता है,...** दुःख के सन्ताप के वेग को सहन नहीं कर सकने से – ऐसा कहा है। वह दुःख का सन्ताप है। आहा...हा...! चाहे तो मान-प्रतिष्ठा की ओर हो, रूप की ओर हो, पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर हो, किसी भी स्पर्श के भोग की ओर हो, वह दुःखसन्ताप का वेग है। आहा...हा...! और उन्हें नहीं सह सकने से **विषयों को भोगता है। कहाँ तक ?**

जब तक कि विनाश को (मरण को) प्राप्त नहीं होते।... आहा...हा...! इसे ज्ञात हो कि यह शरीर जीर्ण हो गया है। यह विषय भोगते हुए उसमें किसी समय देह का नाश हो जायेगा, तथापि विषय भोगने को नहीं छोड़ता। आहा...हा...! है ? **विनाश को (मरण को) प्राप्त नहीं होते।...** मरण देखे कि इसमें देह छूट जायेगा। आहा...हा...! वहाँ दवाखाना है न ? क्या कहलाता है वह ? जिथरी ! जिथरी का दवाखाना ! टी.बी. का

दवाखाना। उसमें एक रोगी था, उसने ठेठ तक दवा की, (दूसरे दिन) छुट्टी होनेवाली थी। वहाँ काम करनेवाली कोई बाई थी। आहा...हा... ! उसके साथ इसने विषयसेवन किया, (वहीं का वहीं) मर गया। छुट्टी होनेवाली थी, सब तैयारी (हो गयी थी) कि अब जाओ। आहा...हा... ! विषय के वेग में, काम करनेवाली बाई भोगी (– उसके साथ विषयसेवन किया और) वहाँ मर गया। छुट्टी होनेवाली थी, वहाँ मर गया। यह विषय के **दुःखसन्ताप के वेग को सहन न कर सकने से...** मरण तक भी... देह छूट जायेगी – ऐसा लगे ! इस विषय में देह छूट जायेगी तो भी (विषयसेवन करता है) आहा...हा... !

किसकी तरह ? जोंक की तरह। जोंक खून चूसती है, इतना अधिक चूसती है कि वह मर जाती है (शरीर फट जाता है।) इतना चूसती है ! आहा...हा... ! जोंक होती है न ! खून चूसती है। इतना चूसती है कि पेट फट जाये, वहाँ तक चूसती है। मर जाये, वहाँ तक चूसती है। आहा...हा... !

श्रोता : दबा कर (खून) निकाल देते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बाद में निकालते हैं। फिर दूसरे निकालते हैं। यदि ऐसा का ऐसा रहने दें तो तुरन्त ही मर जाये। उसका कारण है क्योंकि दूसरे को रखना हो न इसलिए निकालते हैं। उसका तो पेट इतना (फूल) गया होता है कि फट जाता है एकदम। आहा...हा... ! इस प्रकार दुःख के सन्ताप को सहन करने में समर्थ नहीं होने से मरण तक के वेग को भी (गिने बिना) विषय के भोग को भोगता है।

जैसे जोंक (गोंच) तृष्णा जिसका बीज है – ऐसे विजय को प्राप्त होती हुई दुःखांकुर से क्रमशः आक्रान्त होने से.... (अर्थात्) खून पीकर क्रमशः पेट फटता होने से। आहा...हा... ! **दूषित रक्त को चाहती और उसी को भोगती हुई...** आहा...हा... ! **मरणपर्यन्त क्लेश को पाती है।...** मर जाये, वहाँ तक वह खून पीती है। आहा...हा... ! बात सूक्ष्म है परन्तु बात मुद्दे की है। आहा...हा... ! पर तरफ की प्रतिष्ठा में, भोग में, इत्यादि में दौड़ कर दुःख भोगता है। आहा...हा... ! कहाँ तक ? कि मरण का काल आया तो भी तृष्णा के सन्ताप को नहीं सह सकता, भोगता है, मर जाये तो भी भोगता है। आहा...हा... !

दुःखांकुर से... है ? **तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजय को प्राप्त होती हुई दुःखांकुर से क्रमशः आक्रान्त होने से....** जोंक ! **दूषित रक्त को चाहती और उसी को भोगती हुई मरणपर्यन्त क्लेश को पाती है, उसी प्रकार यह पुण्यशाली जीव भी,...** देखा ? पुण्यशाली ! पचास-पचास करोड़ और अरब-दो अरब - धूल ! **पुण्यशाली जीव भी, पापशाली जीवों की भाँति,...** आहा...हा... ! गरीब, जो पापशाली है, उसकी तरह... आहा...हा... ! **तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजय प्राप्त दुःखांकुरों के द्वारा....** दुःख का भाव विजय प्राप्त है, दुःख की प्रसिद्धि होती है, दुःख का वेदन है। आहा...हा... ! **क्रमशः आक्रान्त होने से,....** इतना अधिक दुःख भोगता है कि आक्रान्त हो जाता है।

(ऐसे पुण्यशाली) **विषयों को चाहते हुए और उन्हीं को भोगते हुए विनाशपर्यन्त (मरणपर्यन्त) क्लेश पाते हैं।** आहा...हा... ! यह पुण्य के फल की बात करते हैं। पुण्यशाली भी पापशालियों की तरह (दुःखी हैं)। आहा...हा... ! पापशाली भी जैसे तृष्णा से (दुःख सन्ताप का) वेग सहन नहीं होने पर वहाँ मरते हैं, ऐसे ही पुण्यशाली भी तृष्णा के वेग में मरण पावें, तब तक तृष्णा नहीं छोड़ते। आहा...हा... ! बात बहुत सादी है परन्तु बात मुद्दे की है।

श्रोता : तृष्णा क्यों होती है ?

समाधान : तृष्णा करता है, तब होती है। (अपने में) आनन्द का अस्तित्व है, सुख सागर की अस्ति है, उस ओर का इसे विश्वास नहीं है; इसलिए इसे इस पुण्यफल का विश्वास है कि इसके कारण हम सुखी हैं - पुण्यशाली है। आहा...हा... !

आहा...हा... ! **पुण्यशाली जीव भी, पापशाली जीवों की भाँति,....** आहा...हा... ! **तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजय प्राप्त दुःखांकुरों....** वहाँ तो दुःख की उत्पत्ति की विजय है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम है ! वस्तु तो जैसी हो, वैसा वर्णन किया जाता है। वर्णन तो जैसा हो, वैसा होगा न ! आहा...हा... ! **विषयों को चाहते हुए और उन्हीं को भोगते हुए विनाशपर्यन्त (मरणपर्यन्त) क्लेश पाते हैं।** ठेठ तक क्लेश पाते हैं; तथापि उनसे परान्मुख नहीं होते, वह पुण्य का फल भी ऐसा है। कहते हैं कि उसमें तृष्णा ही होती है और दुःख ही होता है - ऐसा (कहना है) आहा...हा... !

भगवान आत्मा के आनन्द का फल, उसका अन्तर विश्वास, सत्ता का, सुख का, और ज्ञान और आनन्द का विश्वास है, उसके कारण वे (ज्ञानी) सुखी हैं। (ज्ञानी को) विषय-तृष्णा का वेग आता है, तथापि उसमें खिंच नहीं जाते, एकमेक नहीं होते, उसे भिन्न रखते हैं। आहा...हा...! राग आता है परन्तु सुख के सागर का विश्वास होने से उस राग के दुःख को हेयरूप जानते हैं। ज्ञानधारा में रागधारा को नहीं मिलाते। आहा...हा...! अज्ञानी तो अकेली तृष्णाधारा में (बहता है)। आहा...हा...!

इससे पुण्य सुखाभास ऐसे.... पुण्य है, वह सुखाभास - सुख जैसा दिखने में आता है - **ऐसे दुःख का ही साधन है।** दुःख का ही साधन है। आहा...हा...! कहो? पाँच-पच्चीस लाख, करोड़ रुपये मिलें, वह दुःख का साधन है।

श्रोता : अनुकूलता मिले तो भी!

समाधान : कहाँ थी परन्तु? यह सुख का साधन ही कहाँ है? आहा...हा...! कहा नहीं था...? अभी मुम्बई में एक आया था। पचास करोड़ रुपया! वैष्णव है, घर में (सभी महिलाएँ) जैन हैं। आया था, आया था बेचारा परन्तु कुछ ज्ञान नहीं, करोड़ों रुपये के तो बड़े-बड़े रहने के मकान हैं! करोड़ों के मकान! आहा...हा...! हूफ... हूफ...! ऐसी शब्द! सभी सगे-सम्बन्धी भी उसे बड़ी नजर से देखते हैं। आहा...हा...! अपना (सम्बन्धी) पचास करोड़ का आसामी! वे पुण्यशाली, पापशालियों की तरह विषयों को चाहते और उन्हें भोगते हुए मरण तक के क्लेश को पाते हैं। आहा...हा...! देह छूटने का काल आवे तो भी (विषय को भोगते हैं)। आहा...हा...!

वावड़ी है। 'वावड़ी' नहीं है? राणपुर के पास, वहाँ एक बार एक मनुष्य था, मरने की तैयारी थी वहाँ मौके से उस दिन हम गये थे। इसलिए दूसरे सब ने कहा कि महाराज! आज ही मौके से आये हैं तो नियम ले लो नियम! ऐसी मरने की तैयारी! आहा...हा...! तो कहे मेरा भाव नहीं होता और उसी रात मर गया। दिन में हम गये थे, गाँव में तो एक दिन ही रहते हैं न! मूल तिक्रम की वावड़ी है न? वावड़ी राणपुर के पास, एक दिन रहने का होता है। इसलिए उन्होंने कहा कि महाराज! मौके से आये हैं और देह छूटने का (काल है तो कुछ नियम लो) ऐसा कोई महारोग था, देह छूट जाने का, मरण हो जाने का निश्चित

हो गया था। (दूसरे लोगों ने ऐसा कहा कि) अभी आप एक दिन का नियम लो! आहा...हा... ! (उन्हें ऐसा लगता था कि) कौन जाने ? इसमें से फिर ठीक हो जाये तो... आहा...हा... ! बहुत अनुभव में आये हैं न ? साथ ही मकान में उतरे थे, छोटा उपाश्रय था। रात के बारह बजे सुना कि देह छूट गया। दिन में इनकार किया रात में समाप्त हो गये। आहा...हा... ! सबने उससे कहा कि 'अभी रोग है, महाराज मौके से आये हैं। अरे... ! परन्तु कैसे छूटे ? कदाचित् अभी ऐसा है।' (परन्तु) इससे अच्छा हो तो ? (पीड़ा हुई हो तो भोग नहीं सकते!) अर...र...र... ! अन्तिम स्थिति ऐसी। जलन्धर या भगन्दर कुछ बड़ा था। पेट फट गया था और ऐसी मरने की तैयारी! अरे... ! कहाँ तक! सड़ा हुआ गधा दुर्गन्ध मारता है न ऐसा उसका दुर्गन्धित शरीर! शरीर अन्दर ऐसा सड़ गया था। साथ खड़े हुओं को गन्ध लगती थी। हम गये थे, साथ खड़े रहे थे। आहा...हा... ! इसने तृष्णा बोई है बापा! (तो) इसमें से क्या फटेगा ? तृष्णा फटेगी, दुःख का अंकुर फटेगा। आहा...हा... ! चाहे तो अच्छे पुत्र हुए हों, स्त्री ठीक हो, पैसा ठीक हो, पाँच-पच्चीस लाख का अच्छा मकान हो, व्यापार अच्छा धुआँधार चलता हो, उद्योगपति (कहलाता हो) ! आहा...हा... ! वह तृष्णा के कारण मरण तक भी दुःखी होगा। आहा...हा.. !

इससे पुण्य सुखाभास... सुखी है ऐसा आभास (है)। आहा...हा... ! सुखी है नहीं, सुखी का आभास (है)। **ऐसे दुःख का ही साधन है।** वह पुण्य दुःख का ही साधन है। आहा...हा... ! वह शुभ उपयोग - दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का शुभ उपयोग दुःख का साधन है। उसे यहाँ (अज्ञानी) धर्म का साधन कहता है। **पुण्य सुखाभास ऐसे दुःख का ही साधन है।** आहा...हा... ! जैसे पाप दुःख का साधन है; वैसे पुण्य दुःख का ही साधन है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! ७७ (गाथा में) आयेगा - शुभ और अशुभभाव में जरा भी अन्तर मानेगा कि अशुभ से शुभ कुछ ठीक है, ऐसा विशेष मानेगा तो वह मिथ्यादृष्टि **मोहसंछण्णो घोरमपारं संसारं हिंडदि** नरक और तिर्यञ्च में परिभ्रमण करेगा। अर...र...र... ! आहा...हा... ! ७७ में आयेगा। दिगम्बर सन्त ऐसा प्रसिद्ध करते हैं। उन्हें जगत् की पड़ी नहीं है कि अरबोंपतियों को दुःख होगा तो नहीं (सुनेंगे) ! आहा...हा... !

पद्मनन्दिपञ्चविंशति में ब्रह्मचर्य का अधिकार वर्णन किया है। दिगम्बर सन्त! आहा...हा...! सिद्ध की नात में मिले हुए आहा...हा...! जिन्हें वेदन में अतीन्द्रिय आनन्द का उफान आता है। आहा...हा...! वे सन्त ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मचर्य अर्थात् धर्म अर्थात् आनन्द में चरना इसका नाम ब्रह्मचर्य है। शरीर से बाल ब्रह्मचारीरूप में ब्रह्मचर्य पालना, वह भी ब्रह्मचर्य नहीं है, वह भी एक शुभराग है। आहा...हा...! स्त्री का त्याग करके ब्रह्मचर्य पालना, वह भी एक शुभराग है। आहा...हा...! बहुत वर्णन किया है। ब्रह्म अर्थात् आनन्द, प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है, उसमें चरना, उसमें रमना, उसमें लीन होना, उसे यहाँ ब्रह्मचर्य कहते हैं। आहा...हा...! फिर यह कहा कि अरे... युवाओं! तुम्हारा युवा शरीर और पाँच-पच्चीस लाख मिले हों, उसमें यह बात तुममें नहीं रुचेगी प्रभु! आहा...हा...! युवापन प्रस्फुटित हो, पैसा हो, स्त्री-पुत्र भी अच्छे मिले हों, हुए हों, आहा...हा...! तुम्हें हमारी यह बात न रुचे तो प्रभु! हमें माफ करना। मुनि से तुम क्या आशा रखोगे? आहा...हा...! मुनिराज ऐसा कहते हैं - माफ करना। हमारे से दूसरी क्या आशा रखोगे। आहा...हा...!

इसी प्रकार यहाँ अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि पुण्यशाली, पापशालियों की तरह दुःख के ही साधनवाले हैं। आहा...हा...! तुम्हें वर्तमान में बाह्य में पैसे के प्रेम में यह बात न रुचे, तो माफ करना प्रभु! हम से क्या आशा रखोगे? आहा...हा...! हम तो सन्त आचार्य हैं, ब्रह्मचारी हैं और पुण्य के त्यागी हैं; शुभभाव के त्यागी हैं। आहा...हा...! बाहर के त्यागी नहीं; बाहर का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। आहा...हा...! शुभभाव के भी त्यागी है - ऐसा कहना भी अभी व्यवहार है। कहते हैं आहा...हा...! हमारा स्वरूप है, वह शुभरूप था ही नहीं - ऐसा ही भगवान है। आहा...हा...!

हमारा नाथ प्रभु चैतन्य ब्रह्म आनन्दकन्द है, वह द्रव्यस्वभाव, शुभ अर्थात् दया, दान के शुभभावरूप होता ही नहीं, हुआ ही नहीं। आहा...हा...! ऐसे आत्मा को पुण्य है, वह भी दुःख का साधन है, जरा भी सुख का साधन नहीं है। अनुकूल साधन मिलेंगे - मनुष्यपना मिलेगा, पाँच इन्द्रियाँ मिलेंगी; अरे...! देव-गुरु और शास्त्र मिलेंगे... परन्तु उससे क्या? वह तो परद्रव्य है। आहा...हा...! परद्रव्य की ओर झुकाव रहता है, तब तक

तो राग है। आहा...हा...! पुण्य के फल में तो राग और दु:ख होगा। भगवान को सुनने जायेगा तो राग होगा। आहा...हा...! बहुत कठिन बात है।

भावार्थ : जिन्हें समस्त विकल्पजालरहित परमसमाधि से उत्पन्न.... वह पुण्य कैसा है? – ऐसा अब कहते हैं। **समस्त विकल्पजालरहित परमसमाधि से उत्पन्न सुखामृतरूप...** सुखरूपी अमृत भगवान आत्मा, आहा...हा...! **सर्व आत्मप्रदेशों में...** असंख्य प्रदेशों में आहा...हा...! **परम आह्लादभूत...** परम आह्लाद–आनन्दरूप, सुखरूप, (आह्लादभूत है) **स्वरूपतृप्ति नहीं वर्तती...** जिन्हें ऐसे परम आह्लादरूप स्वरूपतृप्ति नहीं वर्तती, आहा...हा...! उन्हें यह तृष्णा होती है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

ऐसे समस्त संसारी जीवों के निरन्तर विषयतृष्णा व्यक्त या अव्यक्तरूप से अवश्य वर्तती है।.... जयसेनाचार्यदेव की टीका का डाला है। समस्त संसारी जीवों को – जिन्हें अन्दर समस्त विकल्पजालरहित परमशान्ति से उत्पन्न सुखामृत – ऐसा सर्व आत्मप्रदेशों में परम आह्लादपूर्ण आनन्द की वृत्ति नहीं है, वे भले ही द्रव्यलिङ्गी साधु हों। आहा...हा...! नग्न हों, अट्ठाईस मूलगुण पालते हों, पञ्च महाव्रत निरतिचार पालते हों... आहा...हा! वह व्यक्त अथवा अव्यक्त (अर्थात्) किसी को प्रगट दिखे और उसे सूक्ष्मरूप तृष्णा है। आहा...हा...! विषणतृष्णा अर्थात् परपदार्थ की ओर की तृष्णा का भाव किसी को सूक्ष्म है और किसी को स्थूल है। आहा...हा...! मुनि होकर नौवें ग्रेवेयक तक जाये, उसे अव्यक्तरूप से राग – तृष्णा वर्तती है। आहा...हा...!

भगवान अमृतस्वरूप की ओर का झुकाव नहीं है, उसे स्वरूप की तृप्ति नहीं वर्तती। इससे उसे व्यक्तरूप या अव्यक्तरूप... है? विषयतृष्णा ही है। यहाँ इस ओर का झुकाव नहीं है तो उसे (पर) की ओर का झुकाव है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! भगवान समरसी तृप्त प्रभु से जो रहित है, वे सभी संसारी प्राणी व्यक्त अथवा अव्यक्त विषयतृष्णारूप से बाह्य पदार्थों के झुकावरूप (ही वर्त रहे हैं)। आहा...हा...! (समयसार की) ३१ गाथा में तो भगवान और भगवान की वाणी को इन्द्रिय कहा है। आहा...हा...! वह पुण्यशाली को मिलती है परन्तु अव्यक्तरूप से अन्दर तृष्णा है, राग है; राग! भगवान के प्रति राग और वाणी के प्रति राग! आहा...हा...!

वे तृष्णारूपी बीज.... व्यक्तरूप या अव्यक्तरूप परद्रव्य की तृष्णा **वर्तती ही है।** आहा...हा...! परमसमाधि से उत्पन्न आत्मा की तृप्ति जिसे नहीं है, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की तृप्ति जिसे नहीं है, उसे सूक्ष्मरूप से व्यक्तरूप या अव्यक्तरूप तृष्णा वर्तती ही है। बाहर से यह दिखता है कि यह तो त्यागी है, पञ्च महाव्रत पालता है, हजारों रानियाँ छोड़ी हैं परन्तु अन्दर में वस्तु की तृप्ति नहीं है; इसलिए उसे राग की तृष्णा खड़ी ही है। आहा...हा...! भले ही वे पञ्च महाव्रत के परिणाम हों परन्तु वह सब बाह्य के विषय की तृष्णा है, वह बाह्य पदार्थ की वृत्ति है। आहा...हा...! ऐसा कठिन लगे आहा...हा...!

जिसे ऐसी वस्तु के सुख की तृप्ति नहीं वर्तती – (यह) जयसेनाचार्यदेव की (टीका की) बात है। जयसेनाचार्यदेव की है न? जयसेनाचार्यदेव की टीका में है। आहा...हा...! भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति के सागर की तरफ की जिसे तृप्ति नहीं वर्तती, उसकी ओर का जिसे कल्याण और सन्तोष नहीं हुआ है, उसे अन्दर व्यक्तरूप से या अव्यक्तरूप से; प्रसिद्धरूप से हो या अप्रसिद्धरूप से हो, आहा...हा...! परन्तु विषयतृष्णा अर्थात् बाह्य पदार्थ के ओर की तृष्णा वहाँ खड़ी ही है। अन्तर तत्त्व की जहाँ तृप्ति नहीं है, इस कारण बाह्य पदार्थ के ओर की (तृष्णा वर्तती ही है)। चाहे तो तीन लोक का नाथ हो आहा...हा...! परन्तु वे परपदार्थ हैं। पुण्य के कारण संयोग हो, उसकी भी इच्छा और तृष्णा वर्तती है। आहा...हा...!

वे तृष्णारूपी बीज क्रमशः अंकुररूप होकर.... वह बीज प्रस्फुटित हुआ! **दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होकर,...** आहा...हा...! दुःख के वृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होकर। आहा...हा...! ऐसा तो बाबा हो जाये तो हो – ऐसा कहते हैं। बाबा ही है बापू! आहा...हा...! सबेरे नहीं आया था? ऐसा ही आनन्दकन्द प्रभु है। तीर्थङ्करनामकर्म बाँधे ऐसे विकल्प के साथ भी जिसे सम्बन्ध नहीं है। जिसे उसके भी सम्बन्ध नहीं है, जिसे उसकी पर्याय के साथ भी सम्बन्ध नहीं है – ऐसा जो द्रव्य-वस्तु भगवान, उसकी जिसे अन्तर में तृप्ति और सन्मुखता नहीं है, उसे पर तरफ के झुकाववाली परद्रव्य की तृष्णा गहरे-गहरे खड़ी ही है। आहा...हा...!

श्रोता : ध्रुव पदार्थ की इच्छा करे तो?

समाधान : उसे है ही कहाँ? इच्छा करे तो भी उसे ध्रुव है कहाँ? अन्दर तृप्ति नहीं, ध्रुव का वेदन नहीं; इसलिए उस ओर का लक्ष्य ही नहीं है – ऐसा कहा है न? नहीं कहा? **स्वरूप तृप्ति नहीं वर्तती** – ऐसा कहा है न? ध्रुव सन्मुख हो तो स्वरूप तृप्ति वर्ते। आहा...हा...! फिर कोई रागादि आवे तो इसे सुखबुद्धि नहीं है, वे दुःख में हैं। आहा...हा...! समकिती – ९६ हजार स्त्रियाँ! क्षायिक समकिती! श्रेणिकराजा! हजारों रानियाँ! परन्तु वह राग और दुःखरूप (जानते हैं)। वह तृष्णा का बीज, दुःख (अनुभव करता है)। मेरी तृप्ति से वह भिन्न वस्तु है। मेरे आनन्द की तृप्ति से वह भिन्न वस्तु है और जो आनन्द का तृप्ति से भिन्न है, उसे स्वयं एकरूप कैसे माने? जो आनन्द की तृप्ति से भिन्न है, उसे स्वामीरूप कैसे करे? आहा...हा...! जो अपने आनन्द की तृप्ति से भिन्न है, उसे करने योग्यरूप से करे क्यों? करने योग्य है – ऐसा मानकर क्यों करे? आहा...हा...! अद्भुत काम!

यहाँ कहते हैं **दुःखवृक्षरूप से वृद्धि को प्राप्त होकर, इस प्रकार दुःखदाह का वेग असह्य होने पर,....** दुःख सन्ताप का अर्थ नीचे है! दुःखदाह का वेग। पुण्य के फल में उसकी तृष्णा है – यह लूँ और यह भोगूँ, यह प्राप्त करूँ और दुकान अधिक बढ़ाऊँ, दो करोड़ की आमदनी है, उसे पाँच करोड़ की करूँ....! आहा...हा...! जैसे जोंक दूषित रक्त पीकर मरने को तैयार होती है; आहा...हा...! इसी प्रकार जिसे आत्मा के आनन्द की तृप्ति नहीं है, उसे बाहर के पर-पदार्थ (की ओर के) विषय के झुकाव में दुःख के अंकुर ही उत्पन्न होते हैं। आहा...हा...!

अब वे लोग ऐसा कहते हैं कि शुभभाव साधन है, एकदम शुद्ध नहीं होता? यहाँ कहते हैं कि एकदम निरपेक्ष ही शुद्ध होता है। वस्तु अखण्डपूर्ण पड़ी ही है; उसकी प्राप्ति के लिए पर की कोई अपेक्षा है ही नहीं। व्यवहाररत्नत्रय की या अन्दर यह गुणी ऐसा है और इसका गुण आनन्द है – ऐसे विकल्प की भी जिसे अपेक्षा नहीं है – ऐसा वह तत्त्व है। आहा...हा...! ऐसी बात आवे तब यह कहते हैं कि सोनगढ़वाले अकेले निश्चय की बात करते हैं; व्यवहार का करना और उसके फल की कोई बात नहीं करते। इस व्यवहार का फल आता है न? आहा...हा...!

वीतरागस्वभाव से भरपूर, अनाकुल आनन्द का सागर, उसकी जिसे तृप्ति नहीं है; स्वरूप की तृप्ति नहीं है, स्वरूप की तृप्ति नहीं है... आहा...हा... ! उसे परपदार्थ की ओर के झुकाव का सूक्ष्म अथवा असूक्ष्म, व्यक्त अथवा अव्यक्त राग–तृष्णा रहती है (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा... ! बाहर में प्रसिद्ध हो या न हो परन्तु अन्दर अव्यक्तरूप से परपदार्थ (की ओर की तृष्णा होती ही है)। स्व–पदार्थ की तृप्ति जहाँ नहीं है, (वहाँ तृष्णा वर्तती ही है)। आहा...हा... !

कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है न? **परदव्वादो दुग्गई** – कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं और भगवान स्वयं कहते हैं – स्वद्रव्य का आश्रय छोड़कर तू किसी भी परद्रव्य की ओर जायेगा... भले ही देव–गुरु और शास्त्र की तरफ जा परन्तु वह राग है और राग है, वह पुण्य है और पुण्य की तृष्णा दुःख को बढ़ानेवाली है। आहा...हा... ! ऐसी बात कैसे बैठे? लोगों को एकान्त लगता है न? इसलिए (ऐसा कहते हैं कि) सोनगढ़ का पन्थ एकान्त है ! कहें बेचारे... !

श्रोता : ऐसा भासित होगा तो कोई व्यवहार नहीं करेगा !

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार आये बिना नहीं रहेगा। पूर्ण नहीं हो, उसे व्यवहार आता है परन्तु है वह दुःखदायक। पूर्ण वीतराग न हो, उसमें व्यवहार आता है। अरे... ! अशुभराग भी आता है। आहा...हा... ! रौद्रध्यान भी आता है, तथापि उसमें सुखबुद्धि नहीं है, दुःखबुद्धि है। आहा...हा... ! इसलिए उसमें उसे सन्तोष नहीं परन्तु असन्तोष है। सन्तोष तो आत्मा में है। (समयसार की) २०६ गाथा में नहीं आया? कल्याण, तृप्ति और सन्तोष। निर्जरा अधिकार २०६ गाथा। राग होता है, वह भी दुःखदायक है। दुःखदायक अर्थात् दुःखदाता। आहा...हा... ! राग, वह दुःखदाता है। भगवान आत्मा सुखदाता है। पुण्य का भाव भी दुःखदाता ! सुनना कठिन पड़ता है। अनादि काल से परिभ्रमण करता है। आहा...हा... ! कहाँ... कहाँ... कहाँ... अटक कर चौरासी का अवतार नहीं छोड़ता और जिसे भव का भाव है, वह भाववाला तो नरक और निगोद में भी जायेगा। आहा...हा... ! अब साराँश कहते हैं **इसलिए जिनकी विषयों में प्रवृत्ति देखी जाती है.... दुःखदाह का वेग असह्य होने पर, वे जीव विषयों में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए जिनकी विषयों**

में प्रवृत्ति देखी जाती है – ऐसे देवों तक के समस्त संसारी जीव दुःखी ही हैं।.... देव दुःखी! आहा...हा...! करोड़पति दुःखी! अरबोंपति दुःखी! आहा...हा...! एक हुक्म करें वहाँ हजारों तैयार हो जायें, (वे सुखी) या दुःखी? वह परपदार्थ की ओर का झुकाव है। वह तो परपदार्थ की तृष्णा है। बापू! आहा...हा...! स्व-पदार्थ की तृप्ति नहीं, वह परपदार्थ की तृष्णा है। आहा...हा...! **ऐसे देवों तक के समस्त संसारी जीव दुःखी ही हैं।....**

इस प्रकार दुःखभाव ही पुण्यों का – पुण्यजनित सामग्री का.... आहा...हा...! दुःखभाव ही पुण्य का अर्थात् पुण्यजनित सामग्री का **आलम्बन करता है...** लो, यहाँ तो सामग्री आयी। भाई! पुण्य के कारण सामग्री आयी। **इस प्रकार दुःखभाव ही पुण्यों का...** अर्थात् की **पुण्यजनित सामग्री का** – लाईन करके उसका अर्थ किया है। पुण्य का अर्थात् पुण्यजनित सामग्री का अर्थात् उसका **आलम्बन करता है...** आहा...हा...! (अर्थात्) परद्रव्य के झुकाववाला होने से **पुण्य सुखाभास ऐसे दुःख का ही अवलम्बन-साधन है।** यह सब पुण्य है, वह सुख के आभास जैसा है। आहा...हा...! करोड़पति सुखी दिखता है। बँगला हो... आहा...हा...! तीन-तीन मखमल के गद्दों पर सोता हो, सिर पर पंखे घूमते हों, कहते हैं कि सब दुःखों के विस्तार छे। आहा...हा...! तब तो यह लाओ, यह लाओ, यह लाओ... करते हैं।

पुण्यजनित सामग्री का आलम्बन करता है, इसलिए पुण्य सुखाभास ऐसे दुःख का ही अवलम्बन अर्थात् साधन है। आहा...हा...! यह ७५ गाथा पूरी हुई। एक-एक गाथा अलौकिक है। दृष्टि बदलने की बात है। पुण्य के फलरूप से परद्रव्य की तरफ झुकाव है, वह सब दुःख है। ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! यहाँ तो जरा दो लाख-पाँच लाख पैदा हों (वहाँ ऐसा कहते हैं) हमारा धन्धा अच्छा चलता है। ऐसा कहते हैं या नहीं? धन्धा अच्छा चलता है। लड़के रास्ते लगे हैं। किसके रास्ते दुःख के (रास्ते लगे हैं)। आहा...हा...! दुनियाँ से उलटा है। आहा...हा...! 1

गाथा – ७६

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति -

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।। ७६।।

सपरं बाधासहितं घिच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम्।
यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा।। ७६।।

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बन्धकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात्। सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सदशनायोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बन्धकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दुःखमेव भवति। अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम्।। ७६।।

अथ पुनरपि पुण्योत्पन्नस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वं प्रकाशयति - **सपरं** सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपरं भवतीन्द्रियसुखं, पारमार्थिकसुख तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीनं भवति। **बाधासहियं** तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुखं, निजात्मसुखं तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधम्। **विच्छिण्णं** प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहितत्वाद्विच्छिन्नं सान्तरितं भवतीन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु प्रतिपक्ष-भूतासातोदयाभावान्निरन्तरम्। **बधकारणं** दृष्टश्रुतानु-भूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादि-दुःखोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमिन्द्रियसुखं, अतीन्द्रियसुखं तु सर्वापध्यानरहितत्वादबन्धकारणम्। **विसमं** विगतः शमः परमोपशमो यत्र तद्विषममतृप्तिकरं हानिवृद्धिसहितत्वाद्वा विषमं, अतीन्द्रियसुखं तु परमतृप्तिकरं हानिवृद्धिरहितम्। **जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा** यदिन्द्रियैर्लब्धं संसारसुखं तत्सुखं यथा पूर्वोक्तपञ्चविशेषणविशिष्टं भवति तथैव दुःखमेवेत्यभिप्रायः।। ७६।।

अब, पुनः पुण्यजन्य इन्द्रियसुख को अनेक प्रकार से दुःखरूप प्रकाशित करते हैं –

इन्द्रियों से प्राप्त सुख, पर-आश्रित है दु:ख ही है।
बाधासहित विच्छिन्न होता, बन्ध-कारण विषम है॥

अन्वयार्थ : [यत्] जो **[इंद्रियैः लब्धं]** इन्द्रियों से प्राप्त होता है **[तत् सौख्यं]** वह सुख **[सपरं]** परसम्बन्धयुक्त, **[बाधासहितं]** बाधासहित **[विच्छिन्नं]** विच्छिन्न **[बंधकारणं]** बन्ध का कारण **[विषमं]** और विषम है; **[तथा]** इस प्रकार **[दुःखम् एव]** वह दु:ख ही है।

टीका : पर सम्बन्धयुक्त होने से, बाधासहित होने से, विच्छन्न होने से, बन्ध का कारण होने से, और विषम होने से, इन्द्रियसुख-पुण्यजन्य होने पर भी दु:ख ही है।

इन्द्रियसुख (१) 'पर के सम्बन्धवाला' होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीन है, (२) 'बाधासहित' होता हुआ खाने, पीने और मैथुन की इच्छा इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों से (तृष्णा की प्रगटताओं से) युक्त होने से अत्यन्त आकुल है, (३) 'विच्छिन्न' होता हुआ असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत[१] कर देता है ऐसे सातावेदनीय के उदय से प्रवर्तमान होता हुआ अनुभव में आता है, इसलिए विपक्ष की उत्पत्तिवाला है, (४) 'बन्ध का कारण' होता हुआ विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार कर्मरज के घन पटल[२] का सम्बन्ध होने के कारण परिणाम से दु:सह है, और (५) 'विषम' होता हुआ हानि-वृद्धि में परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिर है; इसलिए वह (इन्द्रियसुख) दु:ख ही है।

जबकि ऐसा है (इन्द्रियसुख दु:ख ही है) तो पुण्य भी, पाप की भाँति, दु:ख का साधन है - ऐसा फलित हुआ।

भावार्थ : इन्द्रियसुख दु:ख ही है, क्योंकि पराधीन है, अत्यन्त आकुल है, विपक्ष की (विरोध की) उत्पत्तिवाला है, परिणाम से दु:स्सह है, और अत्यन्त अस्थिर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुण्य भी दु:ख का ही साधन है॥ ७६॥

---

१. च्युत करना = हटा देना; पदभ्रष्ट करना; (सातावेदनीय का उदय उसकी स्थिति अनुसार रहकर हट जाता है और असाता वेदनीय का उदय आता है।)

२. घन पटल = सघन (गाढ़) पर्त, बड़ा झुण्ड।

प्रवचन नं. ६९ का शेष दिनाङ्क १० मई १९७९

अब, पुनः पुण्यजन्य इन्द्रिय सुख को अनेक प्रकार से दुःखरूप प्रकाशित करते हैं – पुण्यजन्य जो बाह्य सुख है, उसको अनेक प्रकार से दुःखरूप प्रकाशित करते हैं। आहा...हा... !

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा।। ७६।।

क्या कहते हैं ? कि जो शुभयोग हुआ, पुण्य हुआ उससे पुण्य बन्धन हुआ और उससे सामग्री प्राप्त हुई। आहा...हा... ! वह पुण्यजन्य इन्द्रियसुख बहुत प्रकार से दुःखरूप हैं।

नीचे हरिगीत –

इन्द्रियों से प्राप्त सुख, पर-आश्रित है दुःख ही है।
बाधासहित विच्छिन्न होता, बन्ध-कारण विषम है॥

आहा...हा... ! पैसावाला, इन्द्रियों के सुख के साधनवाला ऐसी खम्भा... खम्भा... खम्भा... होते हों। आहा...हा... ! पानी के बदले मौसम्मी मिलती हो। लो, आहा...हा... ! पानी लाओ (ऐसा कहे तो) मौसम्मी दे, नारंगी का पानी दे ! पानी नहीं यही पियो ! बस ! आहा...हा... ! इस पुण्यजनित इन्द्रियसुख में नारंगी का पानी, सन्तरा का पानी, मौसम्मी का पानी (मिलता है), बहुत से ऐसे होते हैं कि यही पानी पीते हैं, बस ! आहा...हा... ! इस इन्द्रियसुख के बहुत प्रकार हैं। वह दुःखरूप ही है। उसकी ओर का झुकाव है – राग, तृष्णा वह दुःख है। आहा...हा... ! पीने में भले ही वह मिलता हो। आहा...हा... !

टीका : पर सम्बन्धयुक्त होने से,.... कौन ? इन्द्रिय का सुख। **पर सम्बन्धयुक्त होने से, बाधा सहित होने से,....** विघ्नवाला है। उसमें – इन्द्रिय के सुख में विघ्न आता है। **विच्छन्न होने से,...** (टूटता) **होने से, बन्ध का कारण होने से,** इतने शब्द रखे हैं। **...और विषम होने से,...** आहा...हा... ! **इन्द्रियसुख-पुण्यजन्य होने पर भी...** आहा...हा... ! लड़के ठिकाने लगे हों, लड़कियाँ ठिकाने गयी हों, अच्छे घर मिले हों,

बहुत ठीक है – ऐसा कहे। यहाँ कहते हैं कि धूल भी सुख नहीं है अरे...रे... ! क्योंकि वह पर के सम्बन्धवाला है। उसमें विघ्न आता है, पाप का उदय आवे, तो फिर प्रतिकूल हो जाते हैं। विच्छन्नता हो जाती है। प्राप्त हुआ छूट जाता है। बन्ध का कारण है। आहा...हा... ! **....और विषम होने से इन्द्रियसुख-पुण्यजन्य होने पर भी....** इन्द्रियसुख (पुण्यजन्य) अर्थात् पुण्य से उत्पन्न हुआ होने पर भी **दुःख ही है।**

इसमें विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. ७० **दिनाङ्क ११ मई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ७६। इन्द्रियसुख कैसा है ? (यह कहते हैं) बताना तो यह है कि जो शुभभाव होता है, उसका फल पुण्य बँधता है और उसकी बाह्य में सामग्री प्राप्त होती है, वह सब पराधीन दुःख है। आहा...हा... ! इसलिए वह शुभभाव, अशुभभाव की तरह हेय है। आहा...हा... !

इन्द्रियसुख (१) 'पर के सम्बन्धवाला' होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीन है,... आत्मा का सुख स्व-आश्रयपने के कारण स्वाधीन है। (यह) सब जयसेनाचार्य की टीका में अरस-परस लिया है। आहा...हा... ! इन्द्रिय का सुख पराधीन है (क्योंकि) पराश्रय है न ? वहाँ तो द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसका विषय सब पर है। पर के आश्रय से वहाँ इन्द्रिय का सुख मानते हैं, वह सब पराधीन है। आहा...हा... ! भगवन्त आत्मा का सुख अतीन्द्रिय, स्वाधीन, स्वाश्रित है। दोनों में विरोध है, इसलिए अतीन्द्रियसुख की प्राप्ति का उपाय शुद्ध उपयोग है, वह आदरणीय है। इन्द्रियसुख का जो उपाय शुभभाव है, वह हेय है क्योंकि वह पराधीन दुःखवाला है।

(२) 'बाधासहित' होता हुआ.... विघ्नवाला है। **खाने की इच्छा, पानी पीने की इच्छा और मैथुन की इच्छा इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों से (तृष्णा की प्रगटताओं से) युक्त होने से...** आहा....हा... ! **अत्यन्त आकुल है,....** आकुलतावाला है। कितने विशेषण दिये हैं ! बाधासहित होता हुआ, विघ्नरूप है। **खाने की इच्छा, पानी पीने की इच्छा और मैथुन की इच्छा इत्यादि तृष्णा की व्यक्तियों से (तृष्णा की प्रगटताओं**

से) युक्त होने से अत्यन्त... इच्छा है, इसलिए **आकुल है,...** आहा...हा... ! भगवान आत्मा का सुख अनाकुल है। उसमें कोई इच्छा नहीं है। आहा...हा... ! अनाकुल अतीन्द्रिय आनन्द, जिसके अनुभव के लिए कोई इच्छा या पर का आश्रय वहाँ नहीं है, इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द उपादेय है; इसलिए उसका कारण जो शुद्ध उपयोग, वह उपादेय है। आहा...हा... ! दो हुए।

इन्द्रिय का सुख विच्छिन्न है **(३) 'विच्छिन्न' होता हुआ...** अर्थात् कि साता वेदनीय का उदय हो तब तक दिखता है परन्तु **असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है...** आहा... हा... ! असाता का उदय हो, वहाँ बड़े चक्रवर्ती भी पलंग पर पराधीन हो जाने से पानी पीने के लिए भी खड़े नहीं हो सकते – ऐसा पराधीन है। आहा...हा... ! **असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है...** च्युत करना = हटा देना; पदभ्रष्ट करना; सातावेदनीय का उदय उसकी स्थिति अनुसार रहकर हट जाता है और असाता वेदनीय का उदय आता है। आहा...हा... ! बैठ कर पानी नहीं पी सकता इतनी पराधीनता हो जाती है। पानी पी नहीं सके, खा नहीं सके। आहा...हा... ! अत्यन्त पराधीन ! सोते-सोते लैट्रीन जाये। आहा...हा... ! उस मल को कोई खींच कर निकाले। आहा...हा... ! सोते-सोते पानी पीना पड़े। आहा...हा... ! यह शरीर-इन्द्रिय के बाहर के साधन प्रगट असाता के उदय के कारण साता के जो साधन मिले हों, उन्हें च्युत कर देता है। आहा...हा... !

चक्रवर्ती जैसों को लो न ! आहा...हा... ! ब्रह्मदत्त, सोलह हजार देव सेवा करते थे। आहा...हा... ! छियानवें हजार स्त्रियाँ ! मरते समय वह रत्न के पलंग पर सोता, हाय... हाय... कुरुमति... ! स्त्री को कुरुमति... कुरुमति... करता था। आहा...हा... ! कहीं साता नहीं मिलती। असाता का उदय आया। आहा...हा... ! मरकर फिर गया नरक में ! आहा...हा... ! कहीं रहना तो है न ? इन्द्रिय के सुख विच्छिन्न होने से, असाता का उदय आवे, इसलिए वहाँ से साता का उदय हट जाता है और मरकर फिर उस असाता के उदय से टहलते-टहलते नरक में चला जाता है। यह शुभभाव का वर्णन है। आहा...हा... ! शुभभाव को भला कैसे कहना ? – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! जिसके फल में सातावेदनीय बँधती है और इसे उदय की सामग्री आती है, उसकी तो समय सीमा है, उसकी हद है। असाता का उदय आवे, वहाँ हो गया। कोई पानी पिलानेवाला नहीं होता, जंगल में। आहा...हा... !

एक गाँव में एक वृद्ध बाई अकेली अपने मकान में सो रही थी। गाँव हमने देखा था। बहुत गाँव देखे हैं, इसलिए (याद नहीं रहता)। वृद्ध! कोई पानी पिलानेवाला नहीं मिलता - ऐसी पड़ी थी, मकान जीर्ण, साथ में कोई नहीं सोता। पानी का कलश साथ रखा हो और पीना हो तो (पी नहीं सके), नजर से देखा है। क्या गाँव कहा? भाडला... भाडला...! आहा...हा...! वृद्ध! बैठ नहीं सके। आहा...हा...! घर में कोई व्यक्ति नहीं, कोई लड़का नहीं, लड़की नहीं, बहू नहीं, अकेली मकान में पड़ी हो। आहा...हा...! जहाँ तक युवापन हो, वहाँ तक ऐसा अनुकूल लगता है। पानी की इच्छा हो और पानी मिले; आहार की इच्छा हो तो आहार मिले परन्तु ऐसा जहाँ हो.... आहा...हा...! पराधीन... पराधीन... पराधीन...! इच्छावृत्ति स्वयं ही दु:ख है। इच्छा स्वयं ही दु:ख है। आहा...हा...!

शुभ अशुभभाव से रहित; भगवान उनसे रहित ही है। है, उसे प्राप्त करना है न। आहा...हा...! आया नहीं था? ऐसा ही है। नहीं आया था? ऐसा ही है। अभी कहीं आया था... ओ...हो...! अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की नित्यता से भरपूर वस्तु है। उसका आश्रय करने से जो सुख मिलता है, उसे विघ्न नहीं होता। उसे कोई असाता का उदय आकर विघ्न करे - ऐसा नहीं होता। आहा...हा...!

सातावेदनीय के उदय से प्रवर्तमान होता हुआ अनुभव में आता है, इसलिए विपक्ष की उत्पत्तिवाला है,.... असाता का उदय आता है। आहा...हा...! भले ही करोड़पति हो - अरबपति हो, पचास-पचास लाख के मकान हों परन्तु अकेला टहलता होता है। आहा...हा...!

चौथा बोल **'बन्ध का कारण' होता हुआ....** वह तो बन्ध का कारण है। आहा...हा...! वह शुभभाव है, वह बन्ध का कारण है। उसे एक ओर रखो। यहाँ तो अब (ऐसा कहते हैं कि) उससे प्राप्त सामग्री को भोगने से बन्ध का कारण है। आहा...हा...! **'बन्ध का कारण' होता हुआ विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना...** आहा...हा...! इच्छा और राग! जैसे डोरे की पुनी को साँधते / जोड़ते हैं। इस प्रकार एक के बाद एक राग की इच्छा चला ही करती है। आहा...हा...! **रागादि दोषों की सेना...** आहा...हा...! बापू! अलग जाति है... धर्म कोई अलग चीज है। आहा...हा...!

ऐसे शुभभाव, उसमें धर्म मानते हैं। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप में (धर्म मानते हैं।) यहाँ तो कहते हैं कि वह बन्ध का कारण है।

विषयोपभोग के मार्ग में लगी हुई... आहा...हा...! **रागादि दोषों की सेना....** प्रेम और रति-अरति और राग (यह दोषों की सेना है)। आहा...हा...! इन विषयों की सामग्री के भाव को भोगना, राग की सेना होती है - (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! और भगवान आत्मा का सुख अभङ्गस्वरूप है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु, नित्य विद्यमान वस्तु है, उसकी दृष्टि करने पर - सम्यग्दर्शन होने पर उसके फल में अतीन्द्रियसुख प्राप्त होता है, उस अतीन्द्रियसुख को विच्छिन्न-विघ्न करनेवाला कोई नहीं है। आ...हा...! 'सादि अनन्त अनन्त समाधि सुख में' आहा...हा...! यह तो (धर्म के) नाम पर धमाल करते हैं। गजरथ और शोभायात्रा और पाँच पैसे खर्च किये हों, उसमें मानों एकदम (धर्म हो गया)!

मुम्बई में जन्म-जयन्ती में लोगों को उत्साह... उत्साह... उत्साह। आहा...हा...! बहिन की अनुपस्थिति में लोगों को दुःख होता था। दो दिन नहीं आये। लोगों को उत्साह बहुत उत्साह... दस-बारह लाख रुपये खर्च किये परन्तु बात यह है कि वह पर की ओर का भाव है। आहा...हा...! वह पर का जोश... वह शुभभाव है। आहा...हा...! गजब काम है प्रभु! बाहर में उत्साह... ओ...हो...! इसका फल जाने क्या आयेगा? शुभभाव है, इसका फल तो यह है। यह तो दुनिया से अलग बात है। आहा...हा...!

रागादि दोषों की सेना के अनुसार कर्मरज के घन पटल का सम्बन्ध होने के कारण.... आहा...हा...! **घन पटल = सघन (गाढ़) पर्त, बड़ा झुण्ड।** आहा...हा...! विषयतृष्णा में राग की सेना अर्थात् अनेक प्रकार का राग (रहा हुआ है)। आहा...हा...! उससे कर्मों का घन पटल बँधता है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! लोगों को कठोर लगता है। शुभभाव का ऐसा फल! यह तो वस्तुस्थिति ऐसी है बापू! आहा...हा...! किसको किसके साथ सम्बन्ध है? एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच तो अत्यन्त अभाव है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहा...हा...! तो फिर उसे भोगे यह तो कहाँ रहा बापू? आहा...हा...! कहते हैं कि राग की - तृष्णा की सेना उत्पन्न होती है। आहा...हा...!

इच्छा और राग और रति... आहा...हा... ! उसके कारण कर्मरज के घन पटल का सम्बन्ध होता है। **परिणाम से दु:सह है,...** आहा...हा... ! जिसका परिणाम दु:सह है। सहन होना कठिन – ऐसा परिणाम है भाई! आहा...हा... ! यह किसकी बात चलती है? यह तो शुभभाव के फलरूप से दु:सह है प्रभु! कठिन पड़ेगा भाई! आहा...हा... !

श्रोता : उत्साह कहाँ करना?

समाधान : आत्मा में उत्साह करो। आत्मा अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान नित्य कायम टिकता तत्त्व प्रभु है, विद्यमान मौजूद वस्तु है। आहा...हा... ! उसकी रुचि और प्रेम होकर आदर (होना), वह धर्म की पर्याय है। आहा...हा... ! ज्ञानी को भी शुभ-अशुभभाव आता है परन्तु उसके जाननेवाले रहते हैं और दु:ख होता है, उसे कर्मधारारूप से वेदते हैं। आहा...हा... ! भगवान की ज्ञानधारा अलग चीज है और रागधारा, वह विकार-कर्मधारा है। आनन्द और दु:ख यह धारा एकसाथ चलती है। ज्ञानी को भी इस शुभभाव के फलरूप से चक्रवर्ती का राज्य आदि प्राप्त होता है। आहा...हा... ! तीर्थङ्कर (प्रकृति) का उदय तो केवली हो, तब आता है। आहा...हा... ! क्या शैली! प्रवचनसार! भगवान की दिव्यध्वनि का सार... आहा...हा... !

एक भाई नैरोबी का पूछते थे न? यह तुम्हारे नैरोबी में पन्द्रह-बीस लाख खर्च होते हैं न? तो पूछते थे कि यह मन्दिर बँधता है, इसमें धर्म प्रभावना होगी न? क्या कहना बापू! आहा...हा... ! यह तो एक शुभभाव है। आहा...हा... ! धर्म तो शुभभाव से भिन्न, भगवान नित्य विराजमान है, परिणाम को उसके त्रिकाली परिणामी के साथ सम्बन्ध करना, वह धर्म है, बाकी पाँच-पच्चीस लाख के मकान करे, और मन्दिर बनावे, इसलिए धर्म शोभा (बड़ी), प्रभावना हुई (तो ऐसा नहीं है)। उस समय मुम्बई में देखो न! आहा...हा... ! धमाधम थी। प्रात:, दोपहर, रात्रि को (लोग आते)। रात्रि को लोग आते। तीन-तीन हजार (लोग रात्रि को) आते। लो जगह बड़ी – विशाल थी न। लोगों को बहिन की कमी लगती कि ऐसी स्थिति में बहिन की दो दिन उपस्थिति नहीं परन्तु वह स्थिति... बापू! यह सब पर तरफ के झुकाववाली वृत्तियाँ हैं भाई! यहाँ कहते हैं कि इन वृत्तियों के फलरूप में तो इन सब साधनों में राग की सेना उत्पन्न होगी। आहा...हा... !

श्रोता : तीर्थङ्कर के जन्मकल्याणक और दीक्षाकल्याणक होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होते हैं तो क्या है? वह राग है। इन्द्र केवलज्ञानकल्याणक का महोत्सव करते हैं, वह राग है। आहा...हा...! ऐसी सब बाते हैं।

परद्रव्य की ओर का झुकाव चाहे जिस जाति का हो, (वह राग ही है)। आहा...हा...! भगवान वीतरागमूर्ति प्रभु! 'घट-घट अन्तर जिन बसै' उसे परद्रव्य के ओर के झुकाव में ले जाना... आहा...हा....! वह जिनस्वरूप से तो विरुद्ध है। दुनिया को खटकता है बापू! आहा...हा...! ज्ञानी को भी वह भाव आता है परन्तु उस भाव का फल इन्द्रियों के सामग्री और उसके झुकाव में राग की सेना उत्पन्न होती है। आहा...हा...! उसे (कर्मरज के) **घन पटल का सम्बन्ध होने के कारण परिणाम से दुःसह है,....** इन्द्रियों के विषयों की तरफ रागादि की सेना का होना, जिसका परिणाम दुःसह है। आहा...हा...! सहन नहीं हो सके - ऐसी उसकी स्थिति है। यह शुभपरिणाम का फल! ऐसी बात।

प्रभु अन्दर चैतन्य वीतराग मूर्ति है। उस स्वद्रव्य का आश्रय करने के अतिरिक्त जितना परद्रव्य का आश्रय होता है... यह तो प्रभु ने - कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा नहीं? **परदव्वादो दुग्गई** आहा...हा...! यह नैरोबी में मन्दिर बनाते हैं न? यहाँ तो **परदव्वादो दुग्गई** - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! पर के ओर की झुकाव की ओर की वृत्ति तो राग है। चाहे जितनी करोड़ रुपये का मकान बनाओ! हाथी, घोड़ा... आहा...हा...! घोड़े को लाखों रुपयों का शृङ्गार करके सैकड़ों घोड़े निकालो तो ऐसे... आहा...हा...! क्या धर्म की प्रभावना (हुई ऐसा मानते हैं) परन्तु भाई! वह तो शुभभाव है और बाहर की क्रिया तो होनेवाली थी, वह होती है। आहा...हा...!

यहाँ तो (ऐसा कहते हैं कि) **घन पटल का सम्बन्ध होने के कारण....** पुण्य - शुभभाव **परिणाम से दुःसह है,....** जिसका परिणाम दुःसह है। आहा...हा...! लड़के का परिणाम आता है न! कि पास हुआ है कि फेल हुआ है। ऐसे ही शुभभाव का परिणाम... आहा...हा...! कठोर बात है प्रभु! (अपने स्वभाव की) जाति को भूलकर जो भाव होता है, उसके बन्धन में पुण्य आदि बँधता है और उससे सामग्री (मिलती है और) उस पर तरफ के झुकाव में तो राग की सेना उत्पन्न होती है। प्रभु की ओर के झुकाव में वीतरागता

होती है। आहा...हा...! चैतन्य भगवान पूर्णानन्द वीतरागस्वरूप है। उसके अवलम्बन और आश्रय में तो वीतरागता उत्पन्न होती है, जो कि अबन्ध का कारण है; यह तो बन्ध का कारण है। तब यह करना या नहीं करना? परन्तु यह प्रश्न (ही नहीं), वह भाव आता है। समकिती को भी आता है परन्तु जानता है कि यह राग, बन्ध का कारण है। आहा...हा...!

पाँचवाँ बोल - यह इन्द्रियों का सुख **'विषम' होता हुआ....** वह विषम है। आहा...हा...! **हानि-वृद्धि में परिणमित होने से....** कम-ज्यादा हो जाता है। आहा...हा...! भगवान आत्मा के आनन्द में जाये, वहाँ एक धारा - समान धारा (रहती) है। आहा...हा...! शुभभाव से होनेवाले संसार में यह सामग्री मिलती है। आहा...हा...! (एक भाई मुम्बई में मिलने) आये थे। कोई कहता था उनके पास पचास करोड़ हैं! परन्तु उसमें क्या? परन्तु क्या हुआ उसमें? बहिनों के कारण (आये थे)। बहिनें सब जैन और माङ्गलिक सुनने का प्रेम। पचास करोड़ रुपये! बड़े-बड़े शहरों में मकान, दुकानें आहा...हा...! अरे, परन्तु क्या चीज़ है वह?

श्रोता : जिसको रहने का घर नहीं हो, उसे....!

पूज्य गुरुदेवश्री : रहने का घर न हो तो उसे यह रहने का घर अन्दर है न! अन्दर घर है या नहीं? यहाँ उसकी बात तो चलती है। आहा...हा...! निज घर अन्दर है और वही शाश्वत् घर है। आहा...हा...! इसके परिणाम भले ही पलटते हों परन्तु वस्तु शाश्वत् है। नित्य परिणामी है न! नित्य है, वह कोई खाली नहीं है। आहा...हा...! उसमें अनन्त... अनन्त... नित्य गुण भरे हैं। अनन्त... अनन्त... नित्य गुण भरे हैं। आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका अवलम्बन छोड़कर जितना पर के अवलम्बन में (झुकाव जाता है); भले ही देव-गुरु-शास्त्र के अवलम्बन में जाये तो भी वह शुभभाव का फल **'विषम' होता हुआ हानि-वृद्धि में परिणमित होने से....** एकदम करोड़पति हो और दूसरे दिन सब समाप्त हो जाये। वह आता है न? क्या कहते हैं? भूकम्प! भूकम्प हुआ। (एक) करोड़पति था बाहर घूमने गया था। (वापस आया तब) स्वयं के पास आठ-दस हजार होंगे, बाकी सब समाप्त। भूकम्प में मकान, स्त्री, पुत्र (सब समाप्त)! आहा...हा...! वह जामनगर आया, भाषण करता था। भाषण करते-करते देह छूट गयी। आहा...हा...!

मूल तत्त्व है, वह बात पूरी पड़ी रही और ऊपर के तत्त्व-बाहर के और ऊपर के जो तिरते तत्त्व (है उनमें रुक गया।) अरे... ! एक समय की पर्याय है, वह ऊपर का तत्त्व है। उसे बहिर्तत्त्व कहा है न ? आहा...हा... ! उस बहिर्तत्त्व के प्रेम और उत्साह में, स्वतत्त्व का अनादर हो जाता है। वह इसे ख्याल में नहीं आता। आहा...हा... !

बाहर के विषयसुख विषम हैं। इसलिए **हानि-वृद्धि में परिणमित होने से अत्यन्त अस्थिर है;....** आहा...हा... ! **इसलिए वह (इन्द्रियसुख) दुःख ही है।** आहा...हा... ! **जबकि ऐसा है (इन्द्रियसुख दुःख ही है) तो पुण्य भी, पाप की भाँति, दुःख का साधन है....** आहा...हा... ! मुम्बई में एक अन्यमति करोड़पति युवा वैष्णव था। उसने एक बार सुना की पुण्य है, वह सोने की बेड़ी है। उसे ऐसा लगा कि आहा...हा... ! वाह... ! युवा था वैष्णव ! सोने की बेड़ी ! लोहे की बेड़ी हल्की होती है और सोने की बेड़ी अधिक वजनी होती है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम है। जगत् से यह सारी बात अलग है। वीतराग मार्ग... !

यहाँ कहते हैं कि **जबकि ऐसा है** (अर्थात्) यह जो सब कहा **(इन्द्रियसुख दुःख ही है)...** आहा...हा... ! युवा शरीर हो, पाँच-पच्चीस लाख रुपये हों। आहा...हा... ! वह एक नहीं था ? एक रात में एक करोड़ खर्च किये थे ! इटली में ! अखबार में आया था ! एक करोड़ रुपये ! एक रात में खर्च किये। पहली रात के, इसलिए उसे तो ऐसा हो जाता है कि... आहा...हा... !

हमने एक थोड़ा-बहुत देखा था। पालेज से एक विवाह में गये थे। चमार गाँव है। वहाँ बोहरा का विवाह था। पड़ोसी के साथ प्रेम था, इसलिए गये थे। मैं और कुँवरजी भाई दोनों (गये थे)। ऐसे दीपक... दीपक... दीपक... चारों ओर भभका आहा...हा... ! संवत् ६४-६५ की बात है। हमारे भोजन की व्यवस्था अलग की। बोहरा थे, उनके विवाह में गये थे। आहा...हा... ! प्रदर्शन देखो तो रात में ऐसी जगमगाहट... जगमगाहट... प्रकाश और ऐसी हो-हा... हो-हा... मानो क्या क्रीड़ा में आ गये। क्या सुख में हम आ गये। आ...हा... अरे...रे.... !

यहाँ कहते हैं कि **(इन्द्रियसुख दुःख ही है)....** ऐसा तो सिद्ध किया, तो पुण्य भी

पाप की तरह हो... आहा..हा... ! दुःख का साधन है, ऐसा फलित हुआ। आहा...हा... !

भावार्थ : इन्द्रियसुख दुःख ही है, क्योंकि पराधीन है, अत्यन्त आकुल है, विपक्ष की (विरोध की) उत्पत्तिवाला है,.... (अर्थात् कि) असाता की (उत्पत्तिवाला है), **परिणाम से दुःस्सह है...** आहा...हा... ! **अत्यन्त अस्थिर है।....** आहा...हा... ! क्या वर्णन ! **इससे यह सिद्ध हुआ कि पुण्य भी दुःख का ही साधन है।** आहा...हा... ! एक ओर पद्मनन्दिपञ्चविंशति में ऐसा कहते हैं एक जौं के दाने बराबर जिनप्रतिमा स्थापित करे तो उसके पुण्य का वर्णन सरस्वती नहीं कर सकती है। यह तो उसका – शुभभाव का वर्णन (करें तब ऐसा कहते हैं)। आहा...हा... ! परन्तु वह दुःख है, ऐसा कहते हैं। इन्द्रियों का सुख वह दुःख है। आहा...हा... ! भले ही उस पुण्य को, सरस्वती नहीं कह सके, इतना पुण्य हो परन्तु है वह दुःख। उसका फल दुःख है। वह स्वयं दुःख है और उसका फल भी दुःख है। आहा...हा... !

भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु है – ऐसे अतीन्द्रिय प्रभु की महासत्ता है। राग की क्षणिक विकृत और दुःखरूप सत्ता है। इस ओर भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का, सुख का सागर अतीन्द्रिय नित्य और शाश्वत् प्रभु पड़ा है। आहा...हा... ! इसकी ओर झुक न ! झुक जा न ! आहा...हा... ! इसकी ओर झुक... ! आहा...हा... ! शुभभाव की ओर झुकने से उसका फल तो दुःख है। आहा...हा... ! 1

गाथा – ७७

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति -

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।। ७७।।

न हि मन्यते य एवं नास्ति विशेष इति पुण्यपापयोः।
हिण्डति घोरमपारं संसारं मोहसंछन्नः।। ७७।।

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात्। यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगडयोरिवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति।।७७।।

एवं पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसंहरति - **ण हि मण्णदि जो एवं न हि** मन्यते य एवम्। किम्। **णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं** पुण्यपापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति। स किं करोति। **हिंडदि घोरमपारं संसारं** हिण्डति भ्रमति। कम्। संसारम्। कथंभूतम्। घोरम् अपारं चाभव्यापेक्षया। कथंभूतः। **मोहसंछण्णो** मोहप्रच्छादित इति। तथा हि - द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदः, भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः, शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनो भिन्नत्वाद्भेदो नास्ति। एवं शुद्धनयेन पुण्यपापयोरभेदं योऽसौ न मन्यते स देवेन्द्रचक्रवर्तिबलदेववासुदेव-कामदेवादिपद-निमित्तं निदानबन्धेन पुण्यमिच्छन्निर्मोहशुद्धात्मतत्त्व-विपरीतदर्शनचारित्रमोहप्रच्छादितः सुवर्णलोहनिगडद्वयसमान-पुण्यपापद्वयबद्धः सन् संसाररहितशुद्धात्मनो विपरीतं संसारं भ्रमतीत्यर्थः।। ७७।।

अब, पुण्य और पाप की अविशेषता का निश्चय करते हुए (इस विषय का) उपसंहार करते हैं –

इस रीत पुण्य रु पाप में अन्तर नहीं - जो माने नहीं।
मोह पीड़ित मूढ़ वो, संसार में भ्रमता वही॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार **[पुण्यपापयोः]** पुण्य और पाप में **[विशेषः नास्ति]** अन्तर नहीं है **[इति]** ऐसा **[यः]** जो **[न हि मन्यते]** नहीं मानता, **[मोहसंछन्नः]** वह मोहाच्छादित होता हुआ **[घोरं अपारं संसारं]** घोर अपार संसार में **[हिण्डति]** परिभ्रमण करता है।

टीका : यों पूर्वोक्त प्रकार से, शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भाँति और सुख-दुःख के द्वैत की भाँति, परमार्थ से पुण्यपाप का द्वैत नहीं टिकता-नहीं रहता, क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मत्व अविशेष अर्थात् समान है। (परमार्थ से जैसे शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप द्वैत विद्यमान नहीं है, जैसे सुख[1] और दुःखरूप द्वैत विद्यमान नहीं है, उसी प्रकार पुण्य और पापरूप द्वैत का भी अस्तित्व नहीं है; क्योंकि पुण्य और पाप दोनों आत्मा के धर्म न होने से निश्चय से समान ही हैं।) ऐसा होने पर भी, जो जीव उन दोनों में - स्वर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति अहङ्कारिक[2] अन्तर मानता हुआ, अहमिन्द्रपदादि-सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर अत्यन्त निर्भररूप से (गाढ़रूप से) अवलम्बित है, वह जीव वास्तव में चित्तभूमि के उपरक्त होने से (चित्त की भूमि कर्मोपाधि के निमित्त से रङ्गी हुई-मलिन विकृत होने से) जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ, संसारपर्यन्त (जब तक इस संसार का अस्तित्व है, तब तक अर्थात् सदा के लिये) शारीरिक दुःख का ही अनुभव करता है।

भावार्थ: जैसे, सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी दोनों अविशेषरूप से बाँधने का ही काम करती हैं, उसी प्रकार पुण्य-पाप दोनों अविशेषरूप से बन्धन ही हैं। जो जीव पुण्य और पाप की अविशेषता को कभी नहीं मानता उसका इस भयङ्कर संसार में परिभ्रमण का कभी अन्त नहीं आता॥ ७७॥

---

१. सुख = इन्द्रियसुख।
२. पुण्य और पाप में अन्तर होने का मत अहङ्कारजन्य (अविद्याजन्य, अज्ञानजन्य है)।

प्रवचन नं. ७० का शेष **दिनाङ्क ११ मई १९७९**

अब, ७७ गाथा – **अब, पुण्य और पाप की अविशेषपना...** यह गाथा बहुत कड़क है। आहा...हा...! **पुण्य और पाप का अविशेषपना...** अर्थात् की सामान्यपना अर्थात् एकरूपपना – दोनों में कोई अन्तर नहीं। आहा...हा....! शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप के दोनों भाव में कोई अन्तर नहीं है। सामान्यरूप से दोनों एक ही, बन्ध के कारण हैं। आहा...हा...! ऐसा अविशेषपना अर्थात् सामान्यपना **निश्चय करते हुए (इस विषय का) उपसंहार करते हैं।** ७७ गाथा! यह गाथा परमात्मप्रकाश में भी है।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।। ७७।।

नीचे हरिगीत –

इस रीत पुण्य रु पाप में अन्तर नहीं – जो माने नहीं।
मोह पीड़ित मूढ़ वो, संसार में भ्रमता वही॥

मोह अर्थात् मिथ्यात्व। आहा...हा...! ऐसा स्पष्ट लेख! उसमें विवाद करते हैं कि नहीं! (शुभभाव साधन है) कहा है, जयसेनाचार्यदेव (की टीका में कहा है कि) व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है। वह व्यवहार भी, निश्चय से व्यवहार कब होता है? वास्तव में तो व्यवहार भी कब कहलाता है? **दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।** (वृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा ४७) आहा...हा...! यह तो सिद्धान्त है। अन्तरङ्ग स्वभाव की दृष्टि करने से जो निश्चय प्रगट होता है, वह धर्म – मोक्षमार्ग है और वहाँ ध्यान में भी राग बाकी रहता है, उसे आरोप से व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है – ऐसा पाठ है। **दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।** इस प्रकार विकल्प में हो और समकित प्राप्त कर ले (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! क्या कहा यह? शास्त्र पढ़े, बहुत वाँचन करे, बहुत विकल्प हों, इसलिए उनसे समकित प्राप्त हो जाए – ऐसा नहीं है। इस विकल्प का भी अभाव होकर ध्यान अन्दर स्वरूप में – ध्येय में लग जाये, आहा...हा...! स्वरूप को ध्येय बनाकर ध्यान में जो निर्मलता प्रगट हो, वहाँ निश्चय कहा और वहाँ राग

बाकी रहा, उसे व्यवहार कहा। वहाँ ऐसा नहीं कहा कि राग पहले, व्यवहार पहले और निश्चय बाद में। व्यवहार साधन है, इसलिए निश्चय प्रगट होता है – ऐसा नहीं कहा। नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव का यह वचन है। आहा...हा...! यह तो भगवान का वचन है – कुन्दकुन्दाचार्यदेव का।

टीका : यों पूर्वोक्त प्रकार से,.... पूर्व उक्त अर्थात् कहा, उस प्रकार से, आहा...हा...! **शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भाँति....** शुभ और अशुभ जैसे दो हैं, वैसे **सुख-दुःख के द्वैत की भाँति,....** अर्थात् फलरूप से **परमार्थ से पुण्यपाप का द्वैत टिकता नहीं रहता,....** आहा...हा...! परमार्थ से पुण्य-पाप, शुभ अशुभभाव का द्वैत – दोपना – विशेषपना टिकता – रहता नहीं है; दोनों एक ही जात है। आहा...हा...! कोई यह कहता है कि यह तो बन्धन को एक समान कहा है, भाव को क्या? पुण्य-पाप (अधिकार) में तो यह सब लिया है। भाव, उसका फल, बन्धन सब लिया है और उनका आश्रय – ऐसे चार लिये हैं। आहा...हा...!

यों (अर्थात्) जो यह रीति कही। **पूर्वोक्त प्रकार से, शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भाँति और सुख-दुःख के द्वैत की भाँति, परमार्थ से पुण्यपाप का द्वैत नहीं टिकता-नहीं रहता,....** आहा...हा...! **पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते** आहा...हा...! नहीं है, इनमें अन्तर नहीं है। **न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते।** परमार्थ से पुण्य-पाप का द्वैत नहीं टिकता है। अन्दर आता है – व्यवहार से अन्तर गिनते हैं, यह तो समझने के लिए कथन है। बाकी परमार्थ से तो यह दुःखरूप ही है। भगवान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द का सुख-सागर, सागर आहा...हा...! जिसका एक-एक गुण सुखसागर! ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों का सागर – ऐसे भगवान आत्मा से विरुद्ध शुभ और अशुभपरिणाम – भाव और उसका फल दुःख होने से शुभ-अशुभभाव में कोई अन्तर नहीं है। आहा...हा...! पुण्य-पाप का परमार्थ दो-पना नहीं टिकता है, अर्थात् पुण्य और पाप एक ही बन्धन का कारण है। बस! दुःख ही है और बन्ध का ही कारण है। पुण्य भी दुःख का साधन है; इसलिए वह पुण्य और पाप दोनों एक ही जाति के हैं। आहा...हा...!

इसमें विद्वान् अटकते हैं। यहाँ तो एकान्त से कहा है, दूसरी जगह (दूसरा कहा है) न! – व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। अरे... ! भगवान! यहाँ से विरुद्ध कहे, वह विरुद्ध तत्त्व कहलाये! पूर्वापर विरोधरहित बात होती है, वह वीतराग बात होती है। भाई! दूसरी जगह कहा है कि ऐसा करे तो ऐसा होता है, परम्परा से होता है। नहीं आता प्रवचनसार में? इसके जो पुण्यभाव है, उसे परम्परा मोक्ष का कारण (कहा है)। परम्परा का अर्थ क्या है? आहा...हा... ! अभी शुभ में अशुभ टलता है, फिर शुभ टलेगा – ऐसा परम्परा का अर्थ है। इससे कुछ होता है – ऐसा नहीं। आहा...हा... ! बड़ा विवाद! सोनगढ़ के नाम से बड़ा विवाद! एकान्त है... एकान्त है... ! आहा...हा... !

क्योंकि दोनों में अनात्मधर्मत्व.... क्या कहा यह? शुभ और अशुभभाव दोनों भावों में अनात्मधर्मपना है, वे आत्मधर्म नहीं हैं, वे तो अनात्मा हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति भगवान की पूजा, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण, पञ्च परमेष्ठी की विनय, भक्ति... आहा...हा... ! इन दोनों में अनात्मधर्म है। शुभभाव–अशुभभाव अनात्मा है और शुभभाव अनात्मधर्म है। आहा...हा... ! ऐसा कठिन लगे! **अनात्मधर्मत्व अविशेष अर्थात् समान है।...** दोनों अनात्मधर्मपना समान है। (दोनों) आत्मधर्म नहीं हैं; इसलिए वे शुभ और अशुभभाव – चाहे तो महाव्रत का हो या पाँच समिति, गुप्ति, व्यवहार का हो; वे सब भाव अविशेषरूप से (समान हैं)। पुण्य और पाप दोनों ही अनात्मधर्म हैं। आहा...हा... ! वे आत्मधर्म नहीं, अनात्मधर्म हैं। अनात्मधर्म हैं, अर्थात् अधर्म हैं। आहा...हा... ! जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, वह अनात्मधर्म है। आहा...हा... ! (यह बात सुनकर लोग) शोर मचाते हैं परन्तु क्या हो सकता है।

श्रोता : इसके फल में जन्मकल्याणक होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तीर्थङ्कर कब होते हैं? राग का अभाव करे तब होते हैं। आहा...हा... ! राग है, वह बन्धन है और उस राग का अभाव करे, तब तीर्थङ्करप्रकृति का उदय आता है। आहा...हा... ! तीर्थङ्करप्रकृति बँधी, इसलिए आत्मा को वीतरागता आयेगी – ऐसा कहाँ है। आहा...हा... ! उस शुभभाव से प्रकृति बँधी है, उसे तो जहर का वृक्ष कहा है। आहा...हा... ! एक सौ अढ़तालीस प्रकृति विष का वृक्ष है। भगवान आत्मा अमृत का

वृक्ष है, जिसमें से अमृत झरता है और प्रकृति में से तो जहर झरता है। आहा...हा...! संयोग मिलते हैं और उनमें लक्ष्य जाये, इसलिए राग की सेना खड़ी होती है। कठिन काम है भाई! वीतरागमार्ग, वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। वीतरागमार्ग, राग से उत्पन्न नहीं होता। आहा...हा...!

.....(परमार्थ से जैसे शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप द्वैत विद्यमान नहीं है)..... इसमें दो प्रकार हैं ही नहीं। शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग दोनों एक ही जाति है। आहा...हा...! भगवान ऐसा कहते हैं कि तू हमारे सन्मुख देखकर हमारी भक्ति कर या तेरे स्त्री, पुत्रादि का अशुभभाव, दोनों एक जाति हैं; द्वैत विद्यमान नहीं हैं अर्थात् दोनों भिन्न नहीं पड़ते हैं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! दोनों बन्ध के कारण और दोनों दुःख के साधन और वर्तमान में दोनों आकुलतास्वरूप – दुःखस्वरूप है। आ...हा...!

(...जैसे शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप द्वैत विद्यमान नहीं है... अर्थात् इन्द्रियों का बाहर का सुख और दुःख दोनों विद्यमान नहीं हैं, दोनों एक ही (जाति का) दुःख है। **....उसी प्रकार पुण्य और पापरूप द्वैत का भी अस्तित्व नहीं है;...** आहा...हा...! उसी प्रकार पुण्य और पाप का द्वैत नहीं है। आहा...हा...! **(कारण कि पुण्य और पाप दोनों में आत्मा के धर्म नहीं होने से...)** आहा...हा...! शुभ और अशुभभाव – दया, दान, यात्रा, भक्ति, पूजा, व्रत – यह सब अनात्मधर्म (अर्थात्) अधर्म है। अर...र...र...! (ऐसा सुनकर अज्ञानी) चिल्लाते हैं! जैसे पाप है, वह अधर्म है; वैसे ही यह शुभभाव है, वह अधर्म है। (यदि वह धर्म होता तो) धर्म से कहीं बन्धन होता है? जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधता है, वह भाव भी अधर्म है। आहा...हा...! वह अपराध है। षोडषकारण भावना भी अपराध है, राग है, दुःख है। (इससे) उस पुण्य और पाप दोनों में कोई अन्तर नहीं है। आहा...हा...! ऐसा कठिन लगता है। कुन्दकुन्दाचार्य! अमृतचन्द्राचार्य! जैसे 'नागा बादशाह से आघा!' जिन्हें दुनियाँ की कुछ नहीं पड़ी है। सत्य यह है तुम्हें जँचे या न जँचे (तुम जानो) आहा...हा...!

परम सत्य प्रभु, अनाकुल अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर, उसमें शुभाशुभभाव होते हैं, वे उससे अत्यन्त विरुद्ध ज़हर का पन्थ है, दुःख का पन्थ है। आहा...हा...! **....क्योंकि**

पुण्य और पाप दोनों आत्मा के धर्म न होने से निश्चय से समान ही हैं।) ऐसा होने पर भी, जो जीव उन दोनों में - स्वर्ण और लोहे की बेड़ी की भाँति.... सोने की बेडी ठीक है और लोहे की ठीक नहीं - **ऐसा अहंकारिक अन्तर मानता हुआ...** ऐसे ही अशुभभाव ठीक नहीं और शुभभाव ठीक है। इस प्रकार (अहङ्कारिक अन्तर मानता हुआ)। (अहङ्कारिक का अर्थ नीचे दिया है)। **पुण्य और पाप में अन्तर होने का मत अहङ्कारजन्य (अविद्याजन्य, अज्ञानजन्य है)।** आहा...हा...! (लोग) ऐसा कहते हैं कि यह सोनगढ़वालों का है! परन्तु यह किसका है? कुन्दकुन्दाचार्य की तो गाथाएँ हैं और अमृतचन्द्राचार्य की टीका है।

...अहङ्कारिक अन्तर मानता हुआ,..... (अर्थात्) लोह खण्ड की बेड़ी से यह सोने की बेड़ी ठीक है। इसी प्रकार अशुभभाव से शुभभाव ठीक है - ऐसा मानता हुआ... **अहमिन्द्रपदादि-सम्पदाओं के कारणभूत....** लो अहमिन्द्र पद तक ले गये! नौंवे ग्रैवेयक तक (ले गये)। मिथ्यादृष्टि मुनि पञ्च महाव्रत धारण करके आत्मज्ञान के बिना पञ्च महाव्रत पालन करे और उसमें धर्म माने, अट्ठाईस मूलगुण पालन करे और उसमें धर्म माने, वह तो राग है। पञ्च महाव्रत तो अधर्म है। आहा...हा...! उसका फल **अहमिन्द्रपदादि-सम्पदाओं के कारणभूत धर्मानुराग पर....** वह धर्म का अनुराग - प्रेम है, उसे **अत्यन्त निर्भररूप से (गाढ़रूप से) अवलम्बित है,....** आहा...हा...! इस धर्म के प्रेम का, राग का अवलम्बन करता है, आहा...हा...!

...वह जीव वास्तव में चित्तभूमि के उपरक्त होने से (चित्त की भूमि कर्मोपाधि के निमित्त से रङ्गी हुई-मलिन विकृत होने से).... आहा...हा...! शुभभाव को ठीक माननेवाले की परिणति रङ्गी हुई, मलिन, विकृत है। **...जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है,...** आहा...हा...! शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा पवित्र है, उस ओर का जो शुद्धोपयोग है, (अज्ञानी ने) शुभभाव में आकर, उसके प्रेम में आकर और शुद्ध उपयोग का तिरस्कार किया है। (ऐसा कहते हैं कि) ऐसे शुद्ध हो जाते हैं? कुछ अशुभ टाले, फिर शुभ में आवे तो शुभ करते-करते शुद्ध होते हैं - ऐसा अज्ञानी मानते हैं। दोनों मिथ्यादृष्टि, मूढ़ हैं। आहा...हा...!

....शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ, संसारपर्यन्त (जब तक इस संसार का अस्तित्व है, तब तक अर्थात् सदा के लिये) शारीरिक दुःख का ही अनुभव करता है। आहा...हा... ! भाई ! गाथा कड़क है ! पुण्य के फलरूप, शुभभाव के फलरूप संसार का अन्त नहीं है। वैसे संसार के दुःख को भोगेगा, उसमें आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं होगा। विशेष कहेंगे.... !

प्रवचन नं. ७१ **दिनाङ्क १९ मार्च १९७९**

प्रवचनसार गाथा ७७ का भावार्थ। **भावार्थ : जैसे, सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी दोनों अविशेषरूप से बाँधने का ही काम करती हैं,...** अविशेष अर्थात् दोनों बाँधने का ही काम करती हैं। उसमें कुछ अन्तर नहीं है। लोह खण्ड की या सोने की बेड़ी बँधन की अपेक्षा से समान ही है। **उसी प्रकार पुण्य-पाप दोनों अविशेषरूप से...** अन्तर के बिना **बन्धन ही हैं।...** आहा...हा... ! **जो जीव पुण्य और पाप की अविशेषता को कभी नहीं मानता...** पुण्य और पाप में अन्तर मानता है (अर्थात्) पुण्य ठीक है और पाप अठीक है – ऐसा जहाँ तक मानता है, वहाँ तक **उसका इस भयङ्कर संसार में...** आहा...हा... ! पुण्य और पाप में समानता नहीं माने और शुभ-अशुभभाव में एक समान ही बन्धन है – ऐसा नहीं माने, **उसका इस भयङ्कर संसार में परिभ्रमण का कभी अन्त नहीं आता।** आहा...हा... ! यह ७७ (गाथा) पूरी हुई। 1

गाथा – ७८

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति-

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं।। ७८।।

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा।
उपयोगविशुद्धः सः क्षपयति देहोद्भवं दुःखम्।। ७८।।

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायःपिण्डादननुष्ठितायःसारः प्रचण्डघनघातस्थानीयं शारीरं दुःखं क्षपयति। ततो ममायमेवैकः शरणं शुद्धोपयोगः।। ७८।।

अथैवं शुभाशुभयोः समानत्वपरिज्ञानेन निश्चितशुद्धात्मतत्त्वः सन् दुःखक्षयाय शुद्धोपयोगानुष्ठानं स्वीकरोति - **एवं विदिदत्थो जो** एवं चिदानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वमेवोपादेयमन्यदशेषं हेयमिति हेयोपादेयपरिज्ञानेन विदितार्थतत्त्वो भूत्वा यः **दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा** निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु रागं द्वेषं वा न गच्छति **उवओगविसुद्धो सो** रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्धः सन् सः **खवेदि देहुब्भवं दुक्खं** तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भवं अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षणं परमाकुलत्वोत्पादकं लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरंपरा-स्थानीयदेहरहितो भूत्वा शारीरं दुःखं क्षपयतीत्यभिप्रायः।। ७८।।

अब, इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोग की अविशेषता अवधारित करके, समस्त राग-द्वेष के द्वैत को दूर करते हुए, अशेष दुःख का क्षय करने का मन में दृढ़ निश्चय करके शुद्धोपयोग में निवास करता है (उसे अङ्गीकार करता है) –

इस भाँति वस्तु-स्वभाव जाने, राग-द्वेष नहीं करे।
शुद्धोपयोगी जीव वह, क्षय देहगत दुःख का करे॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार **[विदितार्थः]** वस्तुस्वरूप को जानकर **[यः]** जो **[द्रव्येषु]** द्रव्यों के प्रति **[रागं द्वेषं वा]** राग या द्वेष को **[न एति]** प्राप्त नहीं होता, **[सः]** वह **[उपयोगविशुद्धिः]** उपयोगविशुद्ध होता हुआ **[देहोद्भवं दुःखं]** देहोत्पन्न दुःख का **[क्षपयति]** क्षय करता है।

टीका : जो जीव शुभ और अशुभभावों के अविशेषदर्शन से (समानता की श्रद्धा से) वस्तुस्वरूप को सम्यक्प्रकार से जानता है, स्व और पर ऐसे दो विभागों में रहनेवाली, समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों के प्रति राग और द्वेष को निरवशेषरूप से छोड़ता है, वह जीव, एकान्त से उपयोगविशुद्ध (सर्वथा शुद्धोपयोगी) होने से जिसने परद्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है – ऐसा वर्तता हुआ–लोहे के गोले में से लोहे के सार[१] का अनुसरण न करनेवाली अग्नि की भाँति–प्रचण्ड घन के आघात समान शारीरिक दुःख का क्षय करता है। (जैसे, अग्नि लोहे के तप्त गोले में से लोहे के सत्व को धारण नहीं करती इसलिए अग्नि पर प्रचण्ड घन के प्रहार नहीं होते, उसी प्रकार परद्रव्य का आलम्बन न करनेवाले आत्मा को शारीरिक दुःख का वेदन नहीं होता।) इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है॥ ७८॥

प्रवचन नं. ७१ **दिनाङ्क १९ मार्च १९७९**

अब, ७८ गाथा।

अब, इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोग की अविशेषता अवधारित करके,... अविशेष... अर्थात् सामान्य (अर्थात्) दोनों एक ही समान हैं। (ऐसा अवधारण करके) **समस्त राग-द्वेष के द्वैत को दूर करते हुए, अशेष दुःख का क्षय करने का मन में दृढ़ निश्चय करके शुद्धोपयोग में निवास करता है....** आहा...हा...! शुभ और अशुभ दोनों दुःख के कारण हैं, बन्ध के कारण हैं – ऐसा जानकर जो आत्मा के शुद्धोपयोग में वसता है, उसे मुक्ति प्राप्त होती है और उसके दुःख का अन्त आता है। आहा...हा...! यह गाथा –

१. सार = सत्व, घनता, कठिनता।

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं।। ७८।।

गाथा में **दव्वेसु** है। (अर्थात् द्रव्य)। फिर अर्थकार ने - अमृतचन्द्राचार्य ने स्वद्रव्य और परद्रव्य दोनों लिये हैं (और) जयसेनाचार्य ने एक परद्रव्य लिया है।

नीचे हरिगीत -

इस भाँति वस्तु-स्वभाव जाने, राग-द्वेष नहीं करे।
शुद्धोपयोगी जीव वह, क्षय देहगत दु:ख का करे॥

टीका : जो जीव शुभ और अशुभभावों के अविशेषदर्शन से.... (अविशेष अर्थात्) एक ही प्रकार के **(समानता की श्रद्धा से)....** आहा...हा...! चाहे तो शुभ महाव्रत के परिणाम हों या अशुभ अव्रत के परिणाम हों... आहा...हा...! दोनों एक ही समान हैं (अर्थात्) बन्ध का कारण हैं। (ऐसी) **(समानता की श्रद्धा से) वस्तुस्वरूप को सम्यक्प्रकार से जानता है,....** शुभ और अशुभ की एक ही जाति है - ऐसा जानकर... वस्तुस्वरूप को सम्यक्प्रकार से जानकर, **स्व और पर ऐसे दो विभागों में रहनेवाली,...** दोनों साथ लेते हैं - स्वद्रव्य भी लेते हैं और परद्रव्य भी लेते हैं। **स्व और पर ऐसे दो विभागों में रहनेवाली, समस्त पर्यायोंसहित समस्त द्रव्यों...** स्वद्रव्य और परद्रव्य (सब आ गये)। **उनके प्रति राग और द्वेष को निरवशेषरूप से छोड़ता है,...** आहा...हा...!

मोक्षमार्गप्रकाशक में सातवें अध्याय में आता है - निजद्रव्य भला, परद्रव्य बुरा यह राग-द्वेष है। आहा...हा...! निजद्रव्य भला है, यह राग है (और) परद्रव्य बुरा है, यह द्वेष है। सातवें अध्याय में है। आहा...हा...! यहाँ तो स्वद्रव्य और परद्रव्य दोनों के पर्यायसहित जो द्रव्य है, आहा...हा...! उनके **प्रति राग और द्वेष....** स्वद्रव्य में भी राग-द्वेष नहीं और पर में भी नहीं। स्वद्रव्य पर्यायसहित है और इससे मुझे उसमें राग है, मेरी चीज है - ऐसा नहीं। आहा...हा...! पर चीज है, वह मुझसे अन्य है; इस कारण वह अनिष्ट है - ऐसा नहीं और स्वद्रव्य है, वह इष्ट है (- ऐसा नहीं)। ऐसा तो प्रवचनसार में लिया है - पर्याय में इष्ट-अनिष्टता।

श्रोता : उसका अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव में – पर्याय में इष्ट-अनिष्टता... आहा...हा...! पर्याय है, वह इष्ट है – ऐसा छोड़ दे। (और) पर्याय अनिष्ट है, यह भी छोड़ दे। पर्याय में विकार अनिष्ट है, वह छोड़ दे; स्वरूप है, वह इष्ट है, वहाँ ऐसा आया है। आहा...हा...! स्व-स्वरूप इष्ट है – शुद्धज्ञानघन, वह इष्ट है, पर्याय में वह इष्ट है और अशुद्ध है, वह अनिष्ट है। जिसने अनिष्ट का नाश किया है और इष्ट की प्राप्ति की है, वह मोक्ष ऐसा है इसमें। आहा...हा...! क्या अपेक्षा है ? वहाँ इष्ट स्वद्रव्य और उसके गुणों की प्राप्ति, वह इष्ट है और विकारमात्र अनिष्ट है; इसलिए परमात्मा ने अनिष्ट का नाश करके इष्ट की प्राप्ति की है, वह अलग चीज हुई; और निजद्रव्य को भला जानना तथा परद्रव्य को बुरा जानना, यह राग-द्वेष हुआ। इसलिए यहाँ (स्व और पर) दो डाले हैं। यह सातवें अध्याय में डाला है, वह अपेक्षा से (बात की है)। निजद्रव्य भला और परद्रव्य बुरा जानना तो राग-द्वेष हुआ। आहा...हा...!

वस्तुस्वरूप को सम्यक्प्रकार से जानता है,.... जानकर ऐसा कहा है। भले ही स्वयं जैसा है, वैसा जाने और पर है, वैसा जाने। फिर **स्व और पर ऐसे दो विभागों में रहनेवाली, समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों...** समस्त पर्यायों सहित सभी द्रव्य – स्व और पर, (सभी द्रव्य)। आहा...हा...! **उनके प्रति राग और द्वेष को निरवशेषरूप से छोड़ता है,...** कुछ भी बाकी रखे बिना छोड़ता है। आहा...हा...! स्वद्रव्य ठीक है – यह भी छोड़ देता है। आहा...हा...! उपादेयरूप है, वह अलग वस्तु है। निजद्रव्य त्रिकाली उपादेयरूप है, (वह अलग वस्तु है) परन्तु वह इष्ट है, प्रिय है, भला है – ऐसा राग तो नुकसान करनेवाला है। आहा...हा...!

ऐसे दो विभागों में रहनेवाली, समस्त पर्यायों सहित समस्त द्रव्यों... इसमें स्वयं भी आ गया। आहा...हा...! अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में भी अपने को जाने परन्तु उसमें राग और द्वेष का नाश करे, राग-द्वेष नहीं करे। आहा...हा...! विकल्प उठाकर 'यह ठीक है' ऐसा नहीं करे। (यह) कहते हैं। आहा...हा...! एक ओर शुद्ध द्रव्य को उपादेय कहना, एक ओर अनिष्ट का नाश करके इष्ट की प्राप्ति करना (– ऐसा कहते हैं)।

प्रवचनसार! आहा...हा...! यह पर्याय की अपेक्षा से बात है। यह सब जितनी भी विकारी पर्यायें हैं, वे सब अनिष्ट हैं। पर अनिष्ट नहीं है, इतना निश्चित करने के लिए इस विकार को अनिष्ट कहा है। परपदार्थ अनिष्ट नहीं है, इसी प्रकार इष्ट (भी नहीं है)। आहा...हा...! जो इष्ट है, वह प्राप्त किया है (अर्थात्) शुद्ध उपयोग की परिणति से शुद्धभाव को प्राप्त किया, वह इष्ट की प्राप्ति हुई और अनिष्ट का नाश किया।

यहाँ कहते हैं कि वह जो कहा था, वह अपेक्षा दूसरी है, यह अपेक्षा दूसरी है। आहा...हा...! स्वद्रव्य के गुण-पर्यायसहित जो समग्र द्रव्य, उसके प्रति का राग कि 'यह ठीक है' और उस परद्रव्य के प्रति द्वेष अर्थात् 'ठीक नहीं है' ऐसे समग्र परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष छोड़ देता है। आहा...हा...! चारित्र की व्याख्या विशेष देते हैं न? अर्थात् अब चारित्र को आगे ले जाते हैं। आहा...हा...!

सातवें अध्याय में दो जगह आता है - वह तो दूसरी अपेक्षा है। यह राग है, वह अनिष्ट है, उस पर द्वेष करना - ऐसा नहीं और शुभराग है, वह ठीक है, ऐसा करके वहाँ प्रेम करना - ऐसा नहीं। इस प्रकार यह स्वद्रव्य शुद्ध चैतन्यमूर्ति निर्मल पर्यायसहित द्रव्य, गुण है, वह प्रिय है, इष्ट है, ऐसा राग करना ऐसा नहीं। आहा...हा...! वीतरागमार्ग अद्भुत है! यह सातवें अध्याय में है। अभी निकाला था न! २१८ पृष्ठ पर है। **यदि परद्रव्य का परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करने से सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवली भगवान को भी उसका अभाव हो। जहाँ परद्रव्य को बुरा जानना तथा निजद्रव्य को भला जानना होता है, वहाँ तो राग-द्वेष सहज ही हुए।** यह शैली भी है। आहा...हा...! जैसा है, वैसा जानना। यह अलग बात है और जानने के बाद 'यह भला है और यह बुरा है' ऐसा जहाँ करे तो राग-द्वेष है। आहा...हा...! आहा...हा...! मोक्षमार्गप्रकाशक! स्व-पर दो आशय आ गये। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) स्वद्रव्य और वह पर्यायसहित स्वद्रव्य, निर्मलपर्याय सहित स्वद्रव्य, उसके प्रति भी राग नहीं और सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा या पञ्च परमेष्ठी, उनके प्रति भी राग नहीं... आहा...हा...! तथा कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र - इन परद्रव्यों के प्रति द्वेष नहीं। जानना अलग बात है - ऐसा कहते हैं। यह पहला शब्द लिया है न?

वस्तुस्वरूप को सम्यक्प्रकार से जानकर.... जानना अलग बात है। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। अन्दर कहाँ थोड़ा अन्तर पड़ता है, इस अन्तर को न समझे और फिर गड़बड़ करता है। आहा...हा...! **समस्त द्रव्यों के प्रति...** अरहन्त का द्रव्य, पञ्च परमेष्ठी का (द्रव्य) वह तो परद्रव्य है और यह द्रव्य वह स्वद्रव्य है। दोनों द्रव्य, पर्यायसहित द्रव्य, उनके **प्रति राग और द्वेष को निरवशेषरूप से छोड़ता है,....** (कोई) अंशमात्र भी राग (बाकी रखे बिना), मुझे मेरा यह द्रव्य ठीक है - ऐसा अंशमात्र भी राग छोड़कर। आहा...हा...! और परद्रव्य पञ्च परमेष्ठी... आहा...हा...! परमेष्ठी कहते हैं न? पञ्च परमेष्ठी कहते हैं! अर्थात् परम इष्ट है। वह तो राग की अपेक्षा से इष्ट कहा है। आहा...हा...! शुभराग आता है, इसलिए इष्ट कहा है; तथापि वह वस्तुस्वरूप नहीं है। आहा...हा...! पञ्च परमेष्ठी वे इष्टरूप नहीं हैं। भगवान! ऐसा है! निजद्रव्य परिपूर्ण परमात्मा और निर्मल वीतरागी पर्यायसहित - ऐसा जाना। आहा...हा...! तो जाने परन्तु यह भला है - ऐसा भेद नहीं करे। आहा...हा...!

समस्त द्रव्य, पर्यायसहित द्रव्य... ऐसे अकेले द्रव्य नहीं... आहा...हा...! और वहाँ प्रवचनसार में पर्याय अनिष्ट कही, वह अपेक्षा से कहा है। आहा...हा...! अनिष्ट क्यों कहा? कि छोड़ने योग्य है इसलिए; और इष्ट अर्थात् वस्तु की निर्मल पर्याय प्राप्त की है, वह इष्ट है। अनिष्ट का नाश किया और इष्ट की प्राप्ति की, वहाँ ऐसा है। वहाँ आगे इष्ट-अनिष्ट का अर्थ राग-द्वेष नहीं है! वहाँ इष्ट की प्राप्ति की अर्थात् पूर्णानन्ददशा को प्राप्त किया। अनिष्टरूप विकारी भावों का नाश किया।

राग और द्वेष को निरवशेषरूप से... कुछ भी बाकी रखे बिना। पञ्च परमेष्ठियों में किञ्चित् जरा तो राग रखूँ... आहा...हा... परद्रव्य में थोड़ा तो राग रखूँ; उनमें नहीं तो स्वद्रव्य में थोड़ा तो राग रखूँ (ऐसा भी नहीं)। आहा...हा...! आहा...हा...! क्या वीतराग मार्ग! यह उसकी शैली तो देखो! आहा...हा...! अकेली वीतरागता की (वीणा) बजती है। वीतराग की वीणा बजती है। आहा...हा...! जहाँ राग की गन्ध भी नहीं। आहा...हा...! मेरा द्रव्य इष्ट है - ऐसा राग भी नहीं (और) परद्रव्य अनिष्ट है - ऐसा द्वेष भी नहीं। आहा...हा...! जैसा है, वैसा उन्हें जानना। आहा...हा...!

वह जीव एकान्त से उपयोग विशुद्ध.... यह पर विशुद्ध शब्द शुद्ध के अर्थ में है। विशुद्ध शब्द शुभ के अर्थ में नहीं है। विशुद्ध शब्द शुभ के अर्थ में भी आता है, शुद्ध के अर्थ में भी विशुद्ध आता है। आहा...हा...! यहाँ उपयोग विशुद्ध अर्थात् जो शुभ-अशुभ उपयोग था, वह अशुद्ध था। आहा...हा...! और चैतन्यस्वरूप की ओर का उपयोगविशुद्ध अर्थात् शुभ-अशुभरागरहित विशुद्ध, अर्थात् शुद्ध। आहा...हा...! **एकान्त से उपयोगविशुद्ध...** भाषा देखी? कुछ भी राग की अपेक्षा रखे बिना। आहा...हा...! पञ्च परमेष्ठी के प्रति राग का अंश रखकर काम लेना - ऐसा भी नहीं। (ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! टीका तो टीका है न! आहा...हा...!

एकान्त से उपयोगविशुद्ध.... उपयोग तो कथञ्चित् शुभ की अपेक्षा ही होती है ऐसा नहीं। आहा...हा...! एकान्त से भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द पवित्र प्रभु का शुद्ध उपयोग। शुभ और अशुभभाव, वह बन्ध का कारण और राग-द्वेष है। यह शुद्ध उपयोग भाव, अबन्धस्वरूपी प्रभु आहा...हा...! अबन्धस्वरूपी भगवान का अबन्ध परिणाम अर्थात् शुभ उपयोग है। आहा...हा..! बन्धस्वरूपी प्रभु की ओर का उपयोग, वह शुद्ध उपयोग है, उसे उपयोग विशुद्ध कहा है। आहा...हा...! परद्रव्य में और स्वद्रव्य में राग का विकल्प उठाना, वह अशुद्ध है - ऐसा कहा है। आहा...हा...! और उन दोनों ओर के राग के अंश को भी छोड़कर... (यह) पञ्चम काल के मुनि कहते हैं। देखो तो सही! आहा...हा...! पञ्चम काल में ऐसा है (और) वैसा है, यह बात छोड़ दे - ऐसा कहते हैं।

एकान्त से उपयोगविशुद्ध (सर्वथा शुद्धोपयोगी) होने से जिसने परद्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है.... आहा...हा...! यहाँ शुद्धोपयोग हुआ न! इसलिए जिसने परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ दिया है - ऐसा वर्तता हुआ। आहा...हा...! जिसने तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर और केवली और उनकी वाणी का अवलम्बन भी छोड़ दिया है। आहा...हा...! क्योंकि परद्रव्य के ओर के लक्ष्य में राग होता है, इसलिए उसके प्रति झुकाव छोड़कर **निरवशेष...** (अर्थात्) राग का अंश बाकी रखे बिना, किञ्चित् राग रखूँ, थोड़ा राग रखूँ... तो आगे बढूँगा - यह बिलकुल नहीं। आहा...हा...! कुछ समझ में आया? ऐसी अटपटी बात है।

(कहता है) अभी पञ्चम काल में शुभ उपयोग ही है – ऐसा समाचार–पत्र में आया है। (एक साधु कहता है कि) इस पञ्चम काल में शुभ उपयोग ही होता है, अभी शुद्ध उपयोग नहीं होता! अर...र...र...! प्रभु...! प्रभु...! यह तू क्या करता है? और फिर उसे साधु मानना? बापू! प्रभु! मार्ग ऐसा नहीं है भाई! आहा...हा...!

पञ्चम काल में प्रभु आत्मा है या नहीं? ऐसा चौथे काल में है, ऐसा पञ्चम काल में है, ऐसा छठे काल में है। काल–फाल इसे रोकता कहाँ है? वह तो भगवान पूर्णानन्द का नाथ है। आहा...हा...! किसी भी काल के प्रसङ्ग में वह तो पवित्रता का धाम प्रभु है। उसे काल रोकता नहीं है। आहा...हा...! उसे यह नरक (आदि) गति नहीं होती। आहा...हा...! उसे गुणस्थान के भेद नहीं होते। आहा...हा...! उसमें क्षायिकभाव नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा भाव भी पञ्चम काल में चैतन्य की सत्ता के अस्तित्वस्वरूप विराजमान है। आहा...हा...! जिसका सत्व ही – चैतन्य सत् है, उसका सत्व ही पवित्र और पूर्ण है। आहा...हा...! ऐसा पवित्र और पूर्णपना है, उसे किसी काल में काल लागू नहीं पड़ता। आहा...हा...! इसलिए उसका विश्वास करने के लिये ऐसी चीज अभी होती है या नहीं? आहा...हा...! ऐसे सन्देह को स्थान नहीं है। आहा...हा...! अधिकार अच्छा आया है। भाई! आहा...हा...! ऐसी बात है बापा...! आहा...हा...! क्या है? वीतरागस्वभाव की रेलमछेल! पञ्चम काल में प्रभु! आहा...हा...!

कहते हैं **एकान्त से उपयोगविशुद्ध (सर्वथा शुद्धोपयोगी) होने से जिसने परद्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है....** आहा...हा...! शुद्ध उपयोग है, उसमें स्वद्रव्य का अवलम्बन है, उसने परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ दिया है। आहा...हा...! **ऐसा वर्तता हुआ...** जिसने शुद्ध उपयोग होने के कारण, स्वद्रव्य का अवलम्बन लिया है। एकान्त से द्रव्यस्वभाव भगवान परमात्मस्वरूप प्रभु का उपयोग वह शुद्ध (उपयोग) **ऐसा वर्तता हुआ...** आहा...हा...! **जिसने परद्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है ऐसा वर्तता हुआ – लोहे के गोले में से लोहे के सार का अनुसरण न करनेवाली अग्नि की भाँति – प्रचण्ड घन के आघात समान शारीरिक दुःख का क्षय करता है।** आहा...हा...! परद्रव्य का अवलम्बन छोड़कर – चाहे तो पञ्च परमेष्ठी हो, साक्षात् सीधी सर्वज्ञ की

वाणी हो। आहा...हा...! उसका अवलम्बन छोड़कर एकान्त से विशुद्ध अर्थात् शुद्ध उपयोग होने से परद्रव्य का अवलम्बन नहीं (करता।) आहा...हा...!

इससे **लोहे के गोले में से लोहे के सार का अनुसरण न करनेवाली...** सार = सत्व, घनता, कठिनता। **अग्नि की भाँति-प्रचण्ड घन के आघात समान शारीरिक...** आहा...हा...! इस लोहे में अग्नि की तरह **प्रचण्ड घन के समान शारीरिक दुःख का क्षय करता है** प्रभु! जिसने परद्रव्य का अवलम्बन छोड़ा है और स्वद्रव्य के अवलम्बन से शुद्ध उपयोग प्रगट किया है, उसके कारण वह **शारीरिक दुःख का क्षय करता है।** समझाना है न? जहाँ ऐसा होता है, वहाँ उसे शारीरिक दुःख नहीं होता। उन्हें वह क्षय करता है - ऐसा कहते हैं।

आहा...हा...! क्या सर्वज्ञ की वाणी, दिगम्बर सन्तों की वाणी!! जिसे गणधर और इन्द्र सुनते होंगे! आहा...हा...! लोक के नायक - दक्षिण के अर्द्धलोक के नायक शकेन्द्र, उत्तर के अर्द्ध लोक के नायक ईशान इन्द्र, इन लोक के स्वामी जो सुनते होंगे, वह वाणी कैसी होगी भाई! आहा...हा...! वह इच्छा बिना भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वीतरागभाव की पोषक, सरागभाव की विनाशक, वीतरागभाव की पोषक (वाणी होती है)। आहा...हा...!

जो शुद्ध उपयोगरूप वर्तता है, उसके कारण वह शारीरिक दुःख का नाश करता है। आहा...हा...! और अशरीरी भगवान आत्मा के आनन्द की प्राप्ति करता है। आ...हा...! **(जैसे, अग्नि लोहे के तप्त गोले में से लोहे के सत्व को धारण नहीं करती... अग्नि लोहे के तप्त गोले में से लोहे के सत्व को धारण नहीं करती...** (सार और) **सत्व को धारण नहीं करती इसलिए अग्नि पर प्रचण्ड घन के प्रहार नहीं होते,...** अग्नि भिन्न है इसलिए **उसी प्रकार परद्रव्य का आलम्बन न करनेवाले आत्मा को शारीरिक दुःख का वेदन नहीं होता।)...** शारीरिक में मानसिकदुःख सब आ गया। आहा...हा...! **इसलिए यही एक शुद्धोपयोग...** आहा...हा...!

पञ्चम काल के मुनि! एक हजार वर्ष पहले यह टीका हुई। पञ्चम काल के कितने वर्ष हो गये। हजार वर्ष के बाद हजार हुए न? आहा...हा...! पच्चीस सौ वर्ष!

आहा...हा... ! वे मुनि ऐसा कहते हैं। प्रभु ! एक बार सुन तो सही ! आहा...हा... ! **इसलिए यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है।** पञ्चम काल में आहा...हा... ! देखो यह सन्तों की दशा ! मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है न कि पञ्च परमेष्ठी ! आचार्य, उपाध्याय, साधु शुद्ध उपयोग को अङ्गीकार करते हैं। आहा...हा... ! शुद्ध उपयोग को अङ्गीकार करते हैं, महाव्रत को अङ्गीकार (करते हैं – ऐसा नहीं) । आता है न ? और प्रवचनसार की पहली पाँच गाथा। आचार्य, उपाध्याय, साधु ! आचार्य – अन्दर पाँच प्रकार के शुद्ध उपयोग का आचरण करनेवाले – ज्ञानाचार, दर्शनाचार आदि शुद्धोपयोग के आचरण में पड़े हैं। आहा...हा... ! उन्हें मुनि कहते हैं। शुभभाव को अङ्गीकार किया है, दीक्षा ली है, यह बात प्रवचनसार में आती है परन्तु कहते हैं कि वे तो गौणपने की बातें हैं। आहा...हा... ! चरणानुयोग में आता है न ? द्रव्यलिङ्ग दिया, द्रव्यलिङ्ग लिया। आहा...हा... ! उस चरणानुयोग में निमित्त के कथन हैं। यहाँ तो कहते हैं कि **यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है।** आहा...हा... ! हम पञ्चम काल के छद्मस्थ मुनि हैं, तथापि हमें तो एक शुद्धोपयोग ही शरण है। आहा...हा... ! पञ्च परमेष्ठी शरण नहीं है; पञ्च परमेष्ठी के ओर के झुकाववाला शुभराग, जो दु:ख की विजय करता है, आहा...हा... ! वह हम नहीं है। आहा...हा... !

इसलिए यही एक शुद्धोपयोग... देखो एकान्त किया ! **इसलिए यही एक.... यही एक...** कथञ्चित् शुभराग और कथञ्चित् अशुद्धराग (ऐसा नहीं) । आहा...हा... ! है ? कथञ्चित् शुभराग नहीं ? कथञ्चित् शुभराग साधन और कथञ्चित् शुभ उपयोग साधन – ऐसा नहीं है। ऐसा कहते हैं। प्रभु ! कहीं कहा हो तो वह ज्ञान करने के लिये कहा है। आहा...हा... ! अरे..रे... ! ऐसा वीतरागस्वरूप भगवान, विद्यमान वस्तु पड़ी है, उसका आश्रय लेकर जो शुद्धोपयोग हुआ है, मुनिराज कहते हैं कि वही हमारी शरण है। अरिहन्ता शरणं... सिद्धा शरणं... नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! अरिहन्ता शरणं... सिद्धा शरणं... साहू शरणं... केवलीपण्णत्तो धम्मो – शुद्ध उपयोग हमारी शरण है। आहा...हा... ! अभी तो द्रव्य के आश्रय की बात है न ? ज्ञान का अधिकार है न ? इसलिए शुद्ध उपयोग हमारी शरण है ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

मुमुक्षु : ऐसा तो मात्र मुनि कर सकते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले ज्ञान तो सच्चा कर सकता है या नहीं ? पहले मुनि और केवली का सच्चा ज्ञान तो कर सकता है या नहीं। आहा...हा... ! इसीलिए तो (समयसार की) १७ वीं गाथा में लिया है कि पहले तत्त्व का ज्ञान करता है, पहले ही अपना स्वरूप है, वैसे आत्मा का ज्ञान कर। उसे कहीं पहले यह करना... यह करना... ऐसा १४४ (गाथा में) लिया है, वह नहीं लिया। आहा...हा... ! पहले आत्मा को जानना और फिर उसकी श्रद्धा करना, फिर उसे श्रद्धा में से ऐसा आया कि यह भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और शान्ति का सागर है। मैं इसमें जितना रमूँगा, ठहरूँगा... आहा...हा... ! उस शुद्धोपयोग में जितना रहूँगा... आहा...हा... ! वह मेरा स्वरूप है। आहा...हा... !

यही एक शुद्धोपयोग मेरी शरण है। बोलते, लिखते समय विकल्प नहीं ? विकल्प होने पर भी उसे गौण कर देना। उसका आदर नहीं है। उसकी ओर की रुचि नहीं है, उसे हेयरूप जानकर मेरा शुद्धस्वरूप उपयोग वही मुझे शरण है। आहा...हा... ! इसलिए यह एक ही.... फिर ऐसा **यही...** और एक ही यह शुद्धोपयोग। कथञ्चित् शुद्ध उपयोग और कथञ्चित शुभ उपयोग वह मेरी शरण है – ऐसा नहीं लिया। आहा...हा... ! यह गाथा, यह सिद्धान्त कहलाता है। जहाँ अमृत की वर्षा होती है। आहा...हा... ! हमारी शरण (एक शुद्धोपयोग ही है)। अरहन्त शरण नहीं ? प्रभु ! इनका अनादर नहीं होता ? प्रभु ! शुद्ध उपयोग मेरी शरण है। इसमें ही अरिहन्त का आदर है क्योंकि यह भगवान की आज्ञा है। वीतराग की आज्ञा, वीतरागता उत्पन्न करने की है। आहा...हा... ! इसलिए वह शुद्ध उपयोग को हमारी शरण कहते हैं, यह वीतराग की आज्ञा है और वीतरागता उत्पन्न करने की ही हमारी यह बात है। आहा...हा... ! यह ७८ (गाथा) पूर्ण हुई। ı

गाथा ७९

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते -

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं।। ७९ ।।

त्यक्तवा पापारम्भं समुत्थितो वा शुभे चरित्रे।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मकं शुद्धम्।। ७९ ।।

यः खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिकं नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापि-शुभोपयोगवृत्त्या बकाभिसारिकयेवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसङ्कटः कथमात्मानमविप्लतं लभते। अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम्।। ७९ ।।

एवमुपसंहाररूपेण तृतीयस्थले गाथाद्वयं गतम्। इति शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं गाथादशकपर्यन्तं स्थलत्रयसमुदायेन प्रथमज्ञानकण्डिका समाप्ता। अथ शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिलक्षणशुद्धोपयोगेन मोक्षो भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम्। अत्र तु द्वितीयज्ञानकण्डिकाप्रारम्भे शुद्धोपयोगाभावे शुद्धात्मानं न लभते इति तमेवार्थं व्यतिरेकरूपेण दृढयति - **चत्ता पावारंभं** पूर्वं गृहवासादिरूपं पापारम्भं त्यक्त्वा **समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि** सम्यगुपस्थितो वा पुनः। क्क। शुभचरित्रे। **ण जहदि जदि मोहादी** न त्यजति यदि चेन्मोहरागद्वेषान् **ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं** न लभते स आत्मानं शुद्धमिति। इतो विस्तरः- कोऽपि मोक्षार्थी परमोपेक्षालक्षणं परमसामायिकं पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषयसुख-साधकशुभोपयोगपरिणत्या मोहितान्तरङ्ग सन् निर्विकल्पसमाधिलक्षण-पूर्वोक्तसामायिकचारित्राभावे सति निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिनसिद्धसदृशं निजशुद्धात्मानं न लभत इति सूत्रार्थः।। ७९ ।।

अब, सर्व सावद्ययोग को छोड़कर चारित्र अङ्गीकार किया होने पर भी यदि मैं शुभोपयोगपरिणति के वश होकर मोहादि का उन्मूलन[१] न करूँ, तो मुझे शुद्ध आत्मा की

---

१. उन्मूलन = जड़मूल से निकाल देना; निकन्दन।

प्राप्ति कहाँ से होगी ? – इस प्रकार विचार करके मोहादि के उन्मूलन के प्रति सर्वारम्भ (सर्वउद्यम) पूर्वक कटिबद्ध होता है –

छोड़ पापारम्भ को, शुभ-चरित उद्यत हो भले।
नहीं छोड़ता मोहादि जो, नहीं शुद्ध-आत्मा वो लहे॥

अन्वयार्थ : [पापारम्भं] पापारम्भ को **[व्यक्त्वा]** छोड़कर **[शुभे चरित्रे]** शुभ चारित्र में **[समुत्थितः वा]** उद्यत होने पर भी **[यदि]** यदि जीव **[मोहादीन्]** मोहादि को **[न जहाति]** नहीं छोड़ता, तो **[सः]** वह **[शुद्धं आत्मकं]** शुद्ध आत्मा को **[न लभते]** प्राप्त नहीं होता।

टीका : जो (जीव) समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका[१] (नायिका) की भाँति शुभोपयोगपरिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ (अर्थात् शुभोपयोगपरिणति के प्रेम में फँसता हुआ) मोह की सेना के वशवर्तनपने को दूर नहीं कर डालता – जिसके महा दुःख सङ्कट निकट हैं – ऐसा वह, शुद्ध (विकार रहित, निर्मल) आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ? (नहीं प्राप्त कर सकता) इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कसी है।

प्रवचन नं. ७१ का शेष **दिनाङ्क १९ मार्च १९७९**

अब, सर्व सावद्ययोग को छोड़कर चारित्र अङ्गीकार किया होने पर भी.... आहा...हा... ! **चारित्र अङ्गीकार किया होने पर भी...** अशुभ सावद्ययोग का प्रत्याख्यान तो यह करता है न ? **यदि मैं शुभोपयोगपरिणति के...** आहा...हा... ! **वश होकर मोहादि का उन्मूलन न करूँ,...** आहा...हा... ! यह व्रत-पञ्च महाव्रतादि के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण के परिणाम, उस **शुभोपयोगपरिणति के वश होकर मोहादि का उन्मूलन न करूँ,...** यहाँ चारित्रमोह की बात है। आ...हा... ! उन्मूलन = जड़मूल से निकाल देना; निकन्दन। निकन्दन कर डालना। आहा...हा... ! पञ्चम काल के सन्त की

१. अभिसारिका = सङ्केत अनुसार प्रेमी से मिलने जानेवाली स्त्री।

पुकार है ! काल को मत देख, काल को मत देख, परद्रव्य को मत देख... आहा...हा... ! तेरा नाथ भगवान परमात्मा पूर्ण स्वरूप से पर्याय के अन्तर्मुख में वर्तता है न ? आहा...हा... ! वह शुद्ध उपयोग हमारी शरण है। इस शुभ उपयोग का आचरण है, इसे उन्मूलन न करूँ आहा...हा... ! इसे रखूँ ऐसा नहीं है। पञ्च महाव्रत के परिणाम आये इसलिए रखूँ (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! अशुभ सावद्ययोग का त्याग किया है और ऐसे त्याग में शुभ उपयोग का त्याग नहीं किया है परन्तु कहते हैं कि अब मैं उसका त्याग-नाश न करूँ... आहा...हा... ! **उन्मूलन न करूँ,....** निकन्दन न कर डालूँ। आहा...हा... ! मेरा प्रभु शुद्धस्वरूप से विराजमान है, उसकी सन्मुखता के शुद्धोपयोग से इस शुभ उपयोग का निकन्दन न करूँ **तो मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कहाँ से होगी ?....** आहा...हा... ! ऐसा हो और वैसा हो - ऐसा नहीं है। स्वयं अपनी बात करते हैं। आहा...हा... ! ऐसी वाणी दिगम्बर के सिवाय कहाँ है ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : श्रीमद् में आता है कि 'साधन तजवा नोय ?'

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन तजवा नोय ! यह सब व्यवहार की बातें हैं। 'निश्चय रखकर लक्ष्य में, साधन करना सोय' यह सब व्यवहार है। सब पता है। यह बात पूरी अलग है। आहा...हा... ! वहाँ 'निश्चय रखकर लक्ष्य में' कहा है। वह साधन अर्थात् वहाँ व्यवहार आया, उस समय लोगों की ऐसी शैली थी तो उन्होंने उस शैली से बात की है। यह सन्तों की वाणी ! दिगम्बर मुनि ! ओ...हो... ! टंकोत्कीर्ण शाश्वत् चैतन्य प्रभु का अवलम्बन करके जो शुद्धोपयोग होता है, तो कहते हैं कि अब मैं इस शुभ उपयोग का निकन्दन नहीं करूँ... आहा...हा... ! **तो मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कहाँ से होगी ?...** इस शुभ उपयोग से मुझे शुद्ध (आत्मा की) प्राप्ति नहीं होगी - ऐसा कहते हैं। सावद्ययोग का त्याग किया, शुभ उपयोग का त्याग नहीं किया, उसका कोई प्रत्याख्यान नहीं किया परन्तु उसे मैं मूल में से निकन्दन (कर दूँ)। नहीं कर दूँ वहाँ तक मुझे शुद्ध की प्राप्ति नहीं होगी। आहा...हा... ! यह समयसार में आता है भाई ! कि कन्दमूल का त्याग करते हैं और वनस्पति हरितकाय खाते हैं, तथापि उसे कोई धर्म नहीं मानते हैं। इसी प्रकार सावद्ययोग का त्याग किया है, शुभयोग का त्याग साथ में नहीं है क्योंकि शुभयोग का त्याग हो तब तो शुद्ध हो जाये।

जयधवला में तो ऐसा भी कहा है... जयधवला! अरे! मैंने तो एक शुद्ध उपयोग ग्रहण करना, वही मैंने तो ग्रहण किया था। उसमें यह शुभ आ गया, यह तो मेरे प्रत्याख्यान का भङ्ग हुआ। आहा...हा...! देखो! यह सत् की वाणी! आहा...हा...! हमने तो शुद्ध उपयोग अङ्गीकार किया है, उसमें यह पञ्च महाव्रत का विकल्प आया और यह व्यवहार आया, वह हमारा प्रत्याख्यान भङ्ग हुआ है। आहा...हा...! इसलिए अन्त में इसका नया प्रत्याख्यान करते हैं। आहा...हा...!

शैली तो देखो! दिगम्बर सन्तों की शैली तो देखो! यह कोई पक्ष नहीं, यह कोई बाड़ा नहीं, यह तो वस्तु के स्वरूप की प्रसिद्धि है। आहा...हा...! परन्तु लोगों को ऐसा लगता है। दिगम्बर पक्ष ही सच्चा है, ऐसा उन्हें हो जाता है। यह पक्ष नहीं है बापू! प्रभु! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। भाई! ऐसा स्वरूप कहीं नहीं है। श्वेताम्बर में, स्थानकवासी में अत्यन्त विरुद्ध तत्त्व है। कड़क लगता है प्रभु! क्या हो? आहा...हा...!

मुनिराज यह कहते हैं कि इस शुभभाव के वश होकर मोहादि अर्थात् चारित्रमोह का... आहा...हा...! यह शुभभाव है यह चारित्रमोह है। उसका उन्मूलन... ऐसा शब्द है न! जड़मूल से निकाल देना। आहा...हा...! शुभराग को जड़मूल से निकाल देना। आ...हा...! पञ्चम काल के सन्त हजार वर्ष बाद यह टीका करनेवाले स्वयं अपनी बात करते हुए (ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! **मोहादि का उन्मूलन न करूँ, तो मुझे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति कहाँ से होगी? – इस प्रकार विचार करके मोहादि के उन्मूलन के प्रति...** इस शुभभाव के नाश – निकन्दन के प्रति, आहा...हा...! मोहादि शब्द से – इस पर की ओर का राग, रति आदि, प्रेम आदि, पञ्च परमेष्ठी के प्रति होनेवाला राग आदि किसी भी प्रकार का (उसके) **उन्मूलन के प्रति सर्वारम्भ (सर्वउद्यम) पूर्व कटिबद्ध होता है।**

शुभराग को उन्मूलन – निकन्दन करने के लिये (कटिबद्ध होता है)। आहा...हा...! अब यहाँ (अज्ञानी) कहता है कि शुभराग है, वह शुद्धता का कारण है! आहा...हा...! (दिगम्बर के एक बड़े विद्वान् ने) अमृतचन्द्राचार्य की आलोचना की है। उसमें यह डाला है। अरे प्रभु! ऐसा कैसे होता है? ऐसा कहते हैं कि 'यह व्रत और प्रतिमा है, यह सब

शुभभाव है और वह शुद्धता का कारण है।' आहा...हा...! यहाँ कहते हैं कि **सर्व आरम्भ से (सर्व उद्यम से)...** उसका निकन्दन करने के लिये मैं तो तैयार हुआ हूँ। इसे रखकर मुझे कोई लाभ होगा, पञ्च महाव्रत आदि की शुभ क्रिया, भगवान के स्मरण मन्त्र... मन्त्र... मन्त्र... ओम मन्त्र पञ्च परमेष्ठी का मन्त्र ऐसे विकल्प से मुझे लाभ होगा, यह बात तो नहीं है परन्तु उस विकल्प का निकन्दन करने के लिए मैं तैयार हुआ हूँ। आहा...हा...! जगत् को कठिन पड़ती है। मूल तत्त्व की, वस्तु की खबर नहीं होती और मूल तत्त्व की ओर झुकाव में कैसी दशा होती है कि जिससे तत्त्व की प्राप्ति होती है? (इसका भी पता नहीं है)। आहा... हा...!

मुनिराज स्वयं अपने सिर पर डालकर कहते हैं कि मैं सर्व आरम्भ से (उद्यम से) अर्थात् मुझमें जितनी पुरुषार्थ की ताकत है, उस पुरुषार्थ से शुभराग का निकन्दन करने के लिये मैंने कमर कसी है। आहा...हा...! यह कमरपट्टा नहीं बाँधते? लोग जरा कमरपट्टा बाँधते हैं न? आहा...हा...! यह तो कहते हैं कि मैंने शुभभाव का निकन्दन करने के लिये कमर कसी है। यह ७९ (गाथा का उपोद्घात हुआ।)

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं।। ७९।।

सुहम्मि (कहा है न) देखो?

नीचे हरिगीत –

छोड़ पापारम्भ को, शुभ-चरित उद्यत हो भले।
नहीं छोड़ता मोहादि जो, नहीं शुद्ध-आत्मा वो लहे॥

छोड़ पापारम्भ को,... मुनि होता है तो प्रत्याख्यान लेता है, तब सावद्य का त्याग करता है न? ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

टीका : जो (जीव) समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी.... आहा...हा...! यह प्रवचनसार! भगवान की दिवयध्वनि! प्रवचन अर्थात् दिव्यध्वनि का सार। भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी

का यह अकेला मक्खन... ! आहा...हा... ! भाग्यशाली को सुनने को मिले ऐसी बात है ! आहा...हा... ! व्यवहार के रसिकजनों को यह बात एकान्त लगती है।

आचार्य तो पुकार करते हैं कि हम **समस्त सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप परमसामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (नायिका) की भाँति....** आहा...हा... ! **अभिसारिका अर्थात् सङ्केत अनुसार प्रेमी से मिलने जानेवाली स्त्री।** आहा...हा... ! **धूर्त अभिसारिका (नायिका) की भाँति शुभोपयोगपरिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ...** आहा...हा... ! जैसे प्रेमी को प्रेमिका स्त्री मिलने जाती है। ऐसे अन्दर यह शुभोपयोग होता है। आहा...हा... ! उस शुभोपयोग परिणति से मिलन को प्राप्त होता हुआ। आहा...हा... ! (जैसे) व्यभिचारिणी स्त्री प्रेमी से मिलने जाती है, उस तरह इस शुभोपयोग को मिलने जाना... आहा...हा... ! गजब बात है !

(अर्थात् शुभोपयोगपरिणति के प्रेम में फँसता हुआ) मोह की सेना के वशवर्तनपने को दूर नहीं कर डालता.... आहा...हा... ! पञ्च महाव्रत का राग यह मोह की सेना है। यह स्वरूप का साधन नहीं है। आहा...हा... ! **जिसके महा दुःख सङ्कट निकट हैं - ऐसा वह, शुद्ध (विकाररहित, निर्मल) आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ?...** आहा...हा... ! जो इस शुभ को नष्ट नहीं कर डालता और जैसे वह स्त्री (प्रेमी को) मिलने जाये (उस तरह)। आहा...हा... ! वह **(विकाररहित, निर्मल) आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकता है ? (नहीं प्राप्त कर सकता) इसलिए मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को....** आहा...हा.... ! मोह की (सेना) अर्थात् राग - चारित्रमोह। **मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कसी है।** आहा...हा... ! **कमर कसी है।** कमर पट्टी बाँधी है। राग का नाश करने के लिये मैंने कमर कसी है कि जिससे मुझे मुक्ति होती है, इत्यादि। विशेष आयेगा... ı

गाथा - ८०

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।८०।।

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः।
य जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम्।।८०।।

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्। अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः। तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वयव्यतिरेकाः र्यायाः। तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यति। यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत्। अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्तांश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षण-क्षीयमाणकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निष्क्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः।।८०।।

अथ शुद्धोपयोगाभावे यादृशं जिनसिद्धस्वरूपं न लभते तमेव कथयति -

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिंहरत्थो।।५।।

तवसंजमप्पसिद्धो समस्तरागादिपरमावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः, बहिरङ्गेन्द्रियप्राणसंयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमतात्समरसीभावेन परिणमनं संयमः, ताभ्यां प्रसिद्धो जात उत्पन्नस्तपःसंयमप्रसिद्धः, **सुद्धो** क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितः, **सग्गापवग्गमग्गकरो** स्वर्गः प्रसिद्धः केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयलक्षणोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्मार्गं करोत्युपदिशति स्वर्गापवर्गमार्गकरः,

अमरासुरिंदमहिदो तत्पदाभिलाषिभिरमरासुरेन्द्रैर्महितः पूजितोऽमरासुरेन्द्रमहितः, **देवो सो** स एवंगुणविशिष्टोऽर्हन् देवो भवति। **लोयसिहरत्थो** स एव भगवान् लोकाग्रशिखरस्थः सन् सिद्धो भवतीति जिनसिद्धस्वरूपं ज्ञातव्यम् ।।५।। अथ तमित्थंभूतं निर्दोषिपरमात्मानं ये श्रद्दधति मन्यन्ते तेऽक्षयसुखं लभन्त इति प्रज्ञापयति-

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति।।६।।

तं देवदेवदेवं देवदेवाः सौधर्मेन्द्रप्रभृतयस्तेषां देव आराध्यो देवदेवदेवस्तं देवदेवदेवं, **जदिवरवसहं** जितेन्द्रियत्वेन निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषां वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभः प्रधानो यतिवर-वृषभस्तं यतिवरवृषभं, **गुरुं तिलोयस्स** अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुस्तं त्रिलोकगुरुं, **पणमंति जे मणुस्सा** तमित्थंभूतं भगवन्तं य मनुष्यादयो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणमन्त्याराधयन्ति **ते सोक्खं अक्खयं जंति** ते तदाराधनाफलेन परंपरयाऽक्षयानन्तसौख्यं यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थः।।६।।

अथ 'चत्ता पावारंभं' इत्यादिसूत्रेण यदुक्तं शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावे शुद्धात्मलाभो न भवति, तदर्थमेवेदानीमुपायं समालोचयति - **जो जाणदि अरहंतं** यः कर्ता जानाति। कम्। अर्हन्तम्। कैः कृत्वा। **दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं** द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वैः। **सो जाणदि अप्पाणं स** पुरुषोऽर्हत्परिज्ञानात्पश्चादात्मानं जानाति, **मोहो खलु जादि तस्स लयं** तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो लयं विनाशं क्षयं यातीति। तद्यथा - केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादयः सामान्यगुणाः, परमौदारिकशरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः, अगुरुलघुकगुण- षड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः, एवं लक्षणगुणपर्यायाधार-भूतममूर्तमसंख्यातप्रदेशं शुद्धचैतन्यान्वयरूपं द्रव्यं चेति। इत्थंभूतं द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपं पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मभावनाभि-मुखरूपेण सविकल्पस्वसंवेदनज्ञानेन तथैवागमभाषयाधःप्रवृत्तिकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञदर्शन-मोहक्षपणसमर्थ-परिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति। तदनन्तरमविकल्पस्वरूपे प्राप्ते, यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीयं धवलत्वं चाभेदनयेन हार एव, तथा पूर्वोक्त-द्रव्यगुणपर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते। इति भावार्थः।।८०।।

अब, 'मैं मोह की सेना को कैसे जीतूँ' – ऐसा उपाय विचारता है –

जो जानता अरिहन्त को, नित द्रव्य-गुण-पर्याय से।
वह जानता निज-आत्म को, अरु करे मोह-क्षय नियम से॥

अन्वयार्थ : [यः] जो [अर्हंतं] अरहन्त को **[द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः]** द्रव्यपनें

गुणपनें और पर्यायपनें **[जानाति]** जानता है, **[सः]** वह **[आत्मानं]** (अपने) आत्मा को **[जानाति]** जानता है और **[तस्य मोहः]** उसका मोह **[खलु]** अवश्य **[लयं याति]** लय को प्राप्त होता है।

टीका : जो वास्तव में अरहन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है, क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है और अरहन्त का स्वरूप, अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति, परिस्पष्ट (सर्व प्रकार से स्पष्ट) है, इसलिए उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है। वहाँ अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय का विशेषण वह गुण है और अन्वय के व्यतिरेक (भेद) वे पर्यायें हैं। सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहन्त में (अरहन्त के स्वरूप का ख्याल करने पर) जीव तीनों प्रकारयुक्त समय को (द्रव्य-गुण-पर्यायमय निज आत्मा को) अपने मन से जान लेता है-समझ लेता है। यथा 'यह चेतन[१] है' इस प्रकार का अन्वय वह द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है, और एक समय मात्र की मर्यादावाला कालपरिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त अन्वयव्यतिरेक[२] वे पर्यायें हैं - जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ (गाँठें) हैं।

अब, इस प्रकार त्रैकालिक को भी (त्रैकालिक आत्मा को भी) एक काल में समझ लेनेवाला वह जीव, जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में अन्तर्गत माना जाता है, उसी प्रकार चिद्विवर्तों का चेतन में ही संक्षेपण (अन्तर्गत) करके, तथा विशेषणविशेष्यता[३] की वासना का अन्तर्धान[४] होने से - जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित[५] किया जाता है, उसी प्रकार चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके, जैसे मात्र हार[६] को जाना जाता है, उसी

१. चेतन = आत्मा।
२. अन्वयव्यतिरेक = एक-दूसरे में नहीं प्रवर्तते ऐसे जो अन्वय के व्यतिरेक।
३. विशेषण गुण है और विशेष्य वो द्रव्य है।
४. अन्तर्धान = अदृश्य हो जाना।
५. अन्तर्हित = गुप्त; अदृश्य।
६. हार को खरीदनेवाला मनुष्य हार को खरीदते समय हार, उसकी सफेदी और उसके मोतियों इत्यादि की परीक्षा करता है, किन्तु बाद में सफेदी और मोतियों को हार में ही समाविष्ट करके उनका लक्ष्य छोड़कर वह मात्र हार को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो हार के पहिनने पर भी उसकी सफेदी आदि के विकल्प बने रहने से हार को पहनने के सुख का वेदन नहीं कर सकेगा।

प्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है, इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है; और इस प्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है - ऐसे उस (चिन्मात्र भाव को प्राप्त) जीव के मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है।

यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।

भावार्थ : अरहन्त भगवान और अपना आत्मा निश्चय से समान है। अरहन्त भगवान मोह-राग-द्वेषरहित होने से उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिए यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उस (अरहन्त भगवान के) स्वरूप को मन के द्वारा प्रथम समझ ले तो ''यह जो आत्मा, आत्मा का एकरूप (कथञ्चित् सदृश) त्रैकालिक प्रवाह है सो द्रव्य है, उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेष है, सो गुण है और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं सो पर्यायें हैं।'' इस प्रकार अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से मन के द्वारा ज्ञान में आता है। इस प्रकार त्रैकालिक निज आत्मा को मन के द्वारा ज्ञान में लेकर। जैसे, मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके मात्र हार ही जाना जाता है। उसी प्रकार आत्मपर्यायों को और चैतन्य-गुण को आत्मा में ही अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने पर परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाता है, इसलिए जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है, और उससे दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है, तो मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय प्राप्त कर लिया है - ऐसा कहा है॥ ८०॥

प्रवचन नं. ७२ दिनाङ्क १३ मई १९७९

(प्रवचनसार) ऐसी शैली ली है कि ७९ गाथा में यह कहा कि मैंने सर्व सावद्ययोग का त्याग करके, परम-सामायिक की प्रतिज्ञा की थी, तथापि (जो) शुभभाव (आता है वह) जैसे अभिसारिका प्रेमी से मिलने जाए, ऐसे शुभभाव को मिलने जाता (है)। अभिसारिका विषाद जैसी है। आहा...हा...! पूर्ण सामायिक की प्रतिज्ञा (की है अर्थात्)

रागरहित (होने की) प्रतिज्ञा की होने पर भी शुभ (भाव आता है वह) अभिसारिका (के समान है) अर्थात् (कि) प्रेमी से मिलने जानेवाली (स्त्री है) ऐसे ही राग को मिलने जाना (वैसा है)। आहा...हा...! वह व्यभिचार को मिलने जाने (के समान है) – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अब, उसे नष्ट कर देने के लिये **मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए कमर कसी है। कमर कसी है।** (अर्थात्) कमर पट्टा बाँधा है। आहा...हा...हा...! यह पञ्चम काल के मुनि ऐसा कहते हैं कि हमने **कमर कसी है!** शुभभाव का अभाव करने के लिए शुद्ध उपयोगरूपी परिणमन करने के लिए... आहा...हा...! **कमर कसी है।** इसके बाद यह अधिकार लिया है। इस अधिकार के बाद यह गाथा ली है। आहा...हा...!

अब, मैं मोह की सेना को... यह मोह की सेना कौन? कि वह शुभराग! आहा...हा...! यह मोह की सेना है। व्रत का, दया, दानादि, भक्ति का राग आता है, वह मोह की सेना है। चारित्रमोह की! आहा...हा...! उसे **किस प्रकार जीतूँ – ऐसा (उसे जीतने का) उपाय विचारता है।** इन्हें कोई नया उपाय विचारना है (ऐसा) नहीं है, परन्तु दूसरों को कहना है – इस अपेक्षा से **उपाय विचारता है** – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! श्रोता को साथ लेकर यह कहते हैं कि अब हम विचारते हैं। आहा...हा...! उन्हें कोई विचारना बाकी नहीं है, परन्तु कथन का विकल्प आया (है, इसलिए ऐसा कहते हैं।) आहा...! शुभभाव व्यभिचार है। आहा...हा...! उसका मूल निवेदन करने के लिए कमरपट्टा बाँधा है। आहा...! उसके बाद यह अधिकार लिया है। आ...हा...! उस राग की सेना को किस प्रकार जीतना? – ऐसा उपाय विचारते हैं।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।

जो जानता अरिहन्त को, नित द्रव्य-गुण-पर्याय से।
वह जानता निज-आत्म को, अरु करे मोह-क्षय नियम से॥

एक ओर यह कहते हैं कि परद्रव्य का कोई भी विचार हो, वह सब विकल्प है। **परदव्वादोदुग्गई!** अपने स्वभाव के आश्रय बिना परद्रव्य का कोई भी विचार (करना)

उसके द्रव्य-गुण-पर्याय का (विचार) करना, अरे... ! अपना जो स्वभाव है - द्रव्य-गुण-पर्याय (इन) तीन का विचार करना, वह (भी) शुभराग, व्यभिचार है, अनावश्यक है। आहा...हा... ! पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार करना, वह तो शुभभाव है परन्तु यहाँ आता है, उतनी बात अन्दर ली है। आहा...हा... !

अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय का विचार आता है, आता है - उसका हेतु दूसरा है। वहाँ उनके विचार में रुकना - ऐसा हेतु नहीं है। आहा...हा... ! उसका तात्पर्य तो अपनी पर्याय को द्रव्य में मिलाना और गुण को द्रव्य में मिलाकर... आहा...हा... ! निर्विकल्प वीतरागता प्रगट करना - यह उसका तात्पर्य है। यह समझ में आया ? बात ऐसी सूक्ष्म है !

यह बोल 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' में भाई ने (सोगानीजी ने) लिया है। अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय तो परद्रव्य है, उससे आत्मा को लाभ होता है ? आहा...हा... ! द्रव्यदृष्टि प्रकाश में है। बात इतनी है कि यह ऐसे बीच में आता है। है तो शुभभाव, अभिसारिका - व्यभिचार को मिलने जाना (है)। आहा...हा... ! परन्तु उसका तात्पर्य तो उससे हटकर - अरिहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से भी हटकर और अपने द्रव्य-गुण-पर्याय, मन के विकल्प से जान (लेना, वह है)। अपने तीन को (द्रव्य-गुण-पर्याय को) भी विकल्प से जानना। आहा...हा... ! फिर उसे - पर्याय को द्रव्य में समाहित कर देना और गुण को द्रव्य में समा देना - इसका नाम वीतरागी अव्यभिचारी वीतरागी पर्याय है। आहा...हा... ! ऐसा यहाँ बताना चाहते हैं।

टीका : जो वास्तव में अरहन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है... यहाँ भी **वास्तव में...** शब्द का प्रयोग किया है। है (तो वे) परद्रव्य, परन्तु परद्रव्य को भी जिस प्रकार है, उस प्रकार (जाने) आहा...हा... ! **जो वास्तव में अरहन्त को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है...** यहाँ तो ऐसी ही बात ली है। यह परद्रव्य को जानता है; ऐसे तो ग्यारह अङ्ग जानने में परद्रव्य को अनन्त बार जाना है परन्तु यहाँ तो ऐसी बात ली है कि जिसने इन्हें जाना, वह जानकर आत्मा में जानने का करेगा - ऐसे जीव को लिया है !

आहा...हा... ! वह भी कहनेवाले ने पञ्चम काल के जीव के लिए कहा है न ? वास्तव में तो अप्रतिबुद्ध है, उसके लिए यह है – ऐसा कहते हैं और इस पञ्चम काल का अप्रतिबुद्ध, परन्तु गुरु-सन्त उसे सत् कहते हैं अर्थात् वह अप्रतिबुद्ध, प्रतिबुद्धता पाता ही है। आहा...हा... ! (समयसार की) ३८ वीं गाथा में लिया है न ! ९२ में लिया है। प्रवचनसार ९२ (गाथा) ! पाता ही है और वह कैसा (पाता है) ? अप्रतिहत ! आहा...हा... ! ऐसी धीरज की बातें है।

जो वास्तव में अरहन्त को... जानता है (अर्थात् कि उनके) द्रव्य-गुण-पर्याय को (जानता है), **वह वास्तव में आत्मा को जानता है...** यह बात ली है। उन्हें (मात्र) जानने के लिए जानना – ऐसा नहीं लिया। अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, वह आत्मा को जानता है – यह अपेक्षा लेकर, उसे परद्रव्य का ज्ञान पहला कहा है, तथापि वह परद्रव्य का ज्ञान है, वह तो विकल्प और परद्रव्य (है) पर अपेक्षित है। आहा...हा... ! (तथापि) ऐसा क्यों (कहा) है ? **क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है...** भगवान आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय और परमेश्वर के द्रव्य-गुण-पर्याय (दोनों में) वस्तुस्थिति से फेरफार नहीं है; दोनों में वास्तव में अन्तर नहीं है। नियमसार में तो ऐसा भी कहा है न ! 'सिद्ध के आठ गुण हैं, वैसे संसारी जीव को आठ गुण हैं।' वे हैं यह कहीं व्यक्तरूप नहीं है। कहा है न ? जैसे सिद्ध को आठ गुण हैं, ऐसे (सर्व) जीवों को है, संसारी को भी है। आहा...हा... !

श्रोता : संसारी जीव अष्ट गुण मण्डित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्तिरूप (मण्डित है)। वहाँ व्यक्तरूप मण्डित – सहित नहीं है। वस्तु ही ऐसी है। आहा...हा... ! वस्तु ऐसी है कि सिद्ध के आठ गुणस्वरूप ही यह वस्तु है। आहा...हा... ! ऐसा कहा कि सिद्ध को आठ गुण तो पर्यायरूप है, ऐसे इसे पर्यायरूप भी है – ऐसा नहीं है, परन्तु इसका स्वभाव ही ऐसा है, आठ गुण सम्पन्न – शक्ति, सामर्थ्य (सम्पन्न है)। सत्ता का सत्य ही यह है। आहा...हा... ! इससे सिद्ध जैसे संसारी कहे गये हैं। आहा...हा... ! वीतराग की बातें अद्भुत (है) !

वास्तव में आत्मा को जानता है... सीधा यहाँ तो ऐसा लिया न ! अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, उन्हें जानने का जो लक्ष्य किया था, वह अपने आत्मा को

जानने के लिए किया था। वहाँ जानकर रुकना है...। आहा...हा...! इसके लिए नहीं। आहा...हा...! **क्योंकि दोनों में निश्चय से अन्तर नहीं है...** देखो! अरहन्त को तो पर्याय प्रगट है और आत्मा में तो पर्याय प्रगट नहीं है। यह तो वही की वही बात आयी – सिद्ध जैसे संसारी! आहा...हा...!

श्रोता : संसारी को किसी नय के बल से प्रगट हुई पर्याय कही जा सकती है या नहीं?

समाधान : पर्याय, सब व्यवहार है। सिद्ध (की पर्याय) व्यवहार, मोक्षमार्ग व्यवहार, – मोक्ष (और) संसार (की पर्याय) व्यवहार है। आहा...हा...! वस्तु जो सिद्धस्वरूपी ही है। उसका स्वभाव ही वैसा है और वह त्रिकाली शुद्ध है। आहा...हा...! जिसमें उदयभाव तो नहीं परन्तु जिसमें क्षायिकभाव भी नहीं – ऐसा ही उसका स्वरूप ही है। आहा...हा...! क्षायिकभावरूप प्रगट सिद्ध (जैसा संसारी जीव को) कहा है, वह शक्ति के स्वभाव की अपेक्षा कहा है। कुछ समझ में आया। आहा...हा...! सिद्ध वैसे संसारी! वस्तु ऐसी ही है। (अन्तर इतना कि) यहाँ (अरहन्त को) प्रगटी है (इतना) परन्तु यहाँ पर्याय का लक्ष्य ही नहीं है। आहा...हा...!

वस्तु भगवान सच्चिदानन्द प्रभु है। ध्रुव परम स्वभावभाव का अस्तित्व पूर्ण शुद्ध ही है। इसमें और सिद्ध में कोई अन्तर नहीं है। यहाँ अरहन्त में और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है – ऐसा कहा है। आहा...हा...! इसे अन्दर विश्वास (आना चाहिए)। अन्दर विश्वास में बैठे आहा...हा...! कि भले ही भगवान को प्रगट हुआ है परन्तु मैं वैसा ही हूँ। आहा...हा...! प्रगट-अप्रगट की कोई अपेक्षा बिना (मैं वैसा ही हूँ)। आहा...हा...! विश्वास में-दृष्टि में (आना चाहिए कि) पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण प्रभु है। जैसे अरहन्त हैं, वैसा मैं हूँ। जैसे सिद्ध हैं, वैसा मैं हूँ। आहा...हा...! वहाँ आगे द्रव्य के स्वभाव का अस्तित्व जो पूर्ण शुद्ध है, उसका जोर दिया है। आहा...हा...! अन्तर के विश्वास में सिद्ध जैसा हूँ और अरिहन्त जैसा ही हूँ... आहा...हा...! ऐसा जिसने जाना है, उसने आत्मा को जाना है। **क्योंकि दोनों में...** वास्तव में अन्तर नहीं है। यह अन्तर किस प्रकार नहीं है? वस्तुस्वभाव ही ऐसा है और ऐसा स्वभाव जिसने जाना, उसे अरहन्त की पर्याय प्रगट होनी ही है।

यहाँ तो अप्रतिहत पूर्ण द्रव्यस्वभाव है, उसकी प्रतीति, पर्याय में स्वज्ञेय का ज्ञान हुआ इतने महान प्रभु का ज्ञान हुआ; एक समय की पर्याय में पूर्ण द्रव्य का प्रतिभास हुआ। द्रव्य (पर्याय में) आया नहीं परन्तु द्रव्य का जितना जैसा स्वरूप है, वैसा यहाँ पर्याय में आ गया है। आहा...हा...! इसलिए अन्दर से विश्वास आया है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अरे...! ऐसा है। आहा...हा...! कहने की शैली-रीति यह है। दूसरे प्रकार से उसकी शैली है ही नहीं। आ...हा...!

और अरहन्त का स्वरूप.... अब (ऐसा कहते हैं कि) दोनों समान हैं - ऐसा क्यों कहा? और उसके साथ आत्मा को क्यों मिलाया? (वह कहते हैं) कि **अरहन्त का स्वरूप अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति....** सोने को ताव देते-देते अन्तिम में अन्तिम सोलहवान सोना होता है; ऐसा भगवान के आत्मा को सोलहवान सोना हुआ है। आहा...हा...! उस द्रव्य स्वभाव में एकाग्रता का ताप देने से पर्याय में सोलहवान् - सर्वज्ञपना अनन्तानन्त पर्यायरूप से प्रगट हुआ है। आहा...हा...! **अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भाँति,....** सोने के स्वरूप की भाँति, सोलहवान् प्राप्त स्वर्ण के स्वरूप की भाँति। आहा...हा...! **परिस्पष्ट (सर्व प्रकार से स्पष्ट)...** परिस्पष्ट है न? (स्पष्ट) अकेला शब्द नहीं। परिस्पष्ट! जैसा द्रव्य और गुण पूर्ण परिस्पष्ट है, वैसी ही उनकी पर्याय परिस्पष्ट है। आहा...हा...! **(सर्व प्रकार से स्पष्ट) है...** यह 'परि' का अर्थ किया।

इसलिए उसका ज्ञान होने पर... सोने में पूर्ण ताप देने से जैसे अन्तिम सोलहवान् हुआ, ऐसे ही भगवान की - प्रभु की पर्याय का स्वरूप अन्तर के ध्यान के ताप देने से सोलहवान् पूर्ण हो गया। आहा...हा...! **इसलिए उसका ज्ञान होने पर...** देखो! अब क्या कहते हैं? **सर्व आत्मा का ज्ञान होता है।...** ऐसा कहा है। (अर्थात्) सभी आत्मा ऐसे ही। आहा...हा...! बापू! साधारण बात नहीं है। अन्दर भाव (गम्भीर है)। **सर्व आत्मा...** इसमें अभव्य का आत्मा भी लिया है। 'सर्व जीव है सिद्धसम' आहा...हा...! **सर्व आत्मा का ज्ञान...** आत्मा ऐसा है - जिसे परिपूर्ण द्रव्य-गुण और पर्याय प्रगट हो गये हैं - ऐसे ही सर्व आत्माएँ हैं। आहा...हा...! भले ही (वर्तमान में) प्रगट नहीं हैं परन्तु वह प्रगट होने

की शक्ति है; इसलिए प्रगट होगा ही, इससे कोई सर्व आत्माएँ समान ही हैं। आहा...हा... !

अब, यहाँ द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों की व्याख्या करते हैं। **अन्वय वह द्रव्य है,...** अब वही का वही... वही... वही... वही... रहनेवाला, वह द्रव्य है। अन्वय अर्थात् वही... वही... वही... वही...वही... वही... रहता है, वह द्रव्य है। आहा...हा... ! **अन्वय का विशेषण वह गुण है...** वह... वह... वह... रहनेवाला... रहनेवाला... रहनेवाला... उसका विशेषण अर्थात् गुण है। द्रव्य वह विशेष है और उसके गुण वह विशेषण है। आहा...हा... ! **अन्वय के व्यतिरेक (भेद) वे पर्यायें हैं।** द्रव्य जो है... है... है... है... है... है... उसकी भिन्न-भिन्न व्यतिरेक - अवस्थाएँ (होती है), वह पर्यायें हैं। आहा...हा... !

जयसेनाचार्य की टीका में थोड़ा दूसरा लिया है। चेतन है, वह द्रव्य है। चैतन्य है, वह गुण है। केवलज्ञानादि वह विशेष गुण है, अस्तित्व आदि सामान्य गुण है। संस्कृत में लिया है। केवलज्ञानादि (अर्थात्) केवल - अकेला ज्ञानादि, वे विशेषगुण हैं और अस्तित्व है, वह दूसरों में भी है; इसलिए अस्तित्वादि सामान्य गुण हैं और शरीर प्रमाण आत्म प्रदेशों की आकृति है, वह उसकी व्यञ्जनपर्याय है। अगुरुलघु गुण की षट् गुण हानि-वृद्धि आदि की उसे पर्याय है, वह अर्थपर्याय है परन्तु उस द्रव्य में केवलज्ञानादि को विशेष गुणरूप से कहा। अस्तित्वादि को सामान्य गुण कहा। उसकी आकृति के प्रदेश को व्यञ्जनपर्याय कहा और अगुरुलघु गुण को अर्थपर्याय कहा, परन्तु इन सबका आधार एक द्रव्य है - ऐसा लिया है। उनका आधार - वस्तु एक है। भेद भले ही हो आहा...हा... ! संस्कृत में है। वहाँ मूल द्रव्य लिया है, अन्दर (संस्कृत टीका में) है - **लक्षणगुण-पर्यायाधारभूतममूर्तमसंख्यातप्रदेशं** फिर प्रदेश डाले हैं। आ...हा... ! असंख्यात प्रदेशी ! जयसेनाचार्यदेव की टीका है। ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायवाला, उसका आधार जो वस्तु है, वह द्रव्य है। आहा...हा... ! ऐसा सूक्ष्म है !

(वर्तमान मुनि) कहता है कि 'अभी तो शुभ उपयोग ही होता है।' अरे... प्रभु ! क्या करता है ? आहा...हा... ! अभी तो शुभ उपयोग ही होता है, वह ऐसा कहता है। आहा...हा... ! (दूसरा मुनि यह कहता है) - (समयसार की १५ वीं गाथा में) **अपदेश सन्त मज्झं** आता है। उसमें **अपदेश** का अर्थ अखण्ड प्रदेशी द्रव्य ऐसा लिया है ! आहा...हा... ! ऐसा

नहीं है। 'पूर्ण स्वरूप ऐसा है।' – यह कथन है, वह द्रव्यश्रुत है और पूर्ण की प्राप्ति है, वह भावश्रुत है। आहा...हा...! वास्तव में तो ऐसा है। अपदेश-कथन; **सन्त** (शब्द में) फिर विवाद उठा है। (दूसरे साधु ने) ऐसा अर्थ किया है कि सूत्र लेना। अपदेश में अखण्ड प्रदेश नहीं लेना, यह विशेषण जैन शासन का है। यह अपदेश विशेषण – अखण्ड प्रदेश – यह आत्मा का विशेषण नहीं है। समझ में आया? अपदेश कहकर तो अखण्ड प्रदेश होते हैं (ऐसा कहें तो) आत्मा का विशेषण हो गया, परन्तु अपदेश यह जैन शासन का विशेषण है। जैन शासन में कथन आता है और भावश्रुत है, वह जैन शासन है। आहा...हा...!

यहाँ जयसेनाचार्य (की टीका में) द्रव्य-गुण-पर्याय कहे, उसका आधार द्रव्य है – ऐसा कहा और यहाँ अमृतचन्द्राचार्य ने कहा कि **अन्वय, वह द्रव्य है; अन्वय का विशेषण, वह गुण है...** और व्यतिरेक अर्थात् भिन्न... भिन्न... दशा वे पर्यायें हैं।

सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहन्त में... आहा...हा...! **(अरहन्त के स्वरूप का ख्याल करने पर) जीव तीनों प्रकार युक्त समय को....** तीन प्रकार का समय अर्थात् द्रव्यसमय, गुणसमय और पर्यायसमय। आहा...हा...! **अपने मन से जान लेता है...** अभी तो यह विकल्प है न? यह क्या कहा? अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय, मन से जान लेता है क्योंकि वहाँ अभी विकल्प है। परद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं न? इसलिए मन द्वारा जान लेता है – ऐसा कहा है; आत्मा द्वारा जान लेता है – ऐसा नहीं कहा। आहा...हा...! **मन से जान लेता है...** किसे? इसे भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का ख्याल करने पर अपने को भी मन द्वारा जान लेता है। अपने को भी मन द्वारा जान लेता है अर्थात् वहाँ अभी विकल्प है। आहा...हा...! उन्हें मन द्वारा जान लेता है। है?

(अरहन्त के स्वरूप का ख्याल करने पर) जीव तीनों प्रकारयुक्त समय को (द्रव्य-गुण-पर्यायमय निज आत्मा को) अपने मन से.... आत्मा में भी तीन भेद पड़े हैं न? इसलिए मन से जान लेता है (ऐसा कहा है)। आहा...हा..! अन्वय, वह द्रव्य है और विशेषण, वह गुण है। व्यतिरेक, वह पर्याय है, यह भी अपने मन में जान लेता है। अभी यह विकल्प है। आहा...हा...! वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं है। आहा...हा...! परमात्मा को मन द्वारा जान लेता है, वे तो परद्रव्य हैं परन्तु यहाँ तो अपने तीन (भेद) पड़े हैं न?

तीन (भेद) पड़े हैं, इसलिए अभी विकल्प से जान लेता है। आहा...हा...! अभी अनुभव से जान लेता है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! **अपने मन से जान लेता-समझ लेता है।....** लाईन करके '**जान लेता है...**' इसका अर्थ किया अर्थात् कि जान लेता है। कहो समझ लेता है... कहो। **जान लेता है...** कहो (सब एकार्थ है)। **वह इस प्रकार...** आहा...हा...! अब अपने में आया।

यथा 'यह चेतन है' इस प्रकार का अन्वय.... आहा...हा...! यहाँ अन्वय अर्थात् द्रव्य! यह चेतन है - आत्मा है, वह अन्वय है, वह द्रव्य है। चेतन है, वह द्रव्य है। **अन्वय के आश्रित रहनेवाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है,....** ऐसा डाला! जयसेनाचार्य की अपेक्षा यह शैली (ली है)। चेतन, वह द्रव्य; चैतन्य, वह गुण। चेतन, वह सत्; चैतन्य, वह सत्व - सत् का सत्व। आहा...हा...! यह चेतन का - चेतनपना, चेतन का चेतनपना चेतन जो है, वह द्रव्य है। चैतन्य है वह उसका विशेषण - गुण है। आ...हा...! यह अभी मन से जान लेता है।

और एक समयमात्र की मर्यादावाला... आहा...हा...! **एक समयमात्र की मर्यादावाला काल परिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त...** (अर्थात्) पर्यायें एक दूसरे में नहीं प्रवर्तती - भिन्न, स्वतन्त्र (रहती है)। ऐसे अन्वय के भिन्न-भिन्न व्यतिरेक **वे पर्यायें हैं - जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की)...** (ग्रन्थि अर्थात् गाँठ)! है पर्याय, परन्तु उसे गाँठ कहा है। अनन्त पर्यायें हैं न? (इसलिए गाँठ कहा है)। आहा...हा...! द्रव्य और गुण बड़ी गठरी है। पर्याय है, वह बड़ी गाँठ है। अनन्त पर्याय की गाँठ है - ग्रन्थि है। यहाँ पर ग्रन्थि भेद (कहते हैं वह) नहीं। आहा...हा...!

चेतन वह द्रव्य है - अन्वय है और चैतन्य वह उसका गुण है। आहा...हा...! उसकी अलग-अलग व्यतिरेक (अर्थात्) भिन्न-भिन्न अवस्था, जिसका एक समयमात्र का माप है, परस्पर भिन्न-भिन्न है; एक-दूसरे में नहीं पड़ते - ऐसे अन्वय के - द्रव्य के भिन्न-भिन्न भाव, वह पर्यायें हैं। आहा...हा...! **जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की)** चिद्विवर्तन की (अर्थात्) चिद् गुण - द्रव्य की नहीं। चिद्विवर्तन - विशेष वर्तना। वह (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ हैं। नीचे (अर्थ में) ग्रन्थि अर्थात्

गाँठ लिखा है। आहा...हा... ! पर्याय को ग्रन्थि कहा है ! गाँठ है – पर्याय गाँठ है। (अन्वय वह) बड़ी गठरी है। आहा...हा... !

श्रोता : यह चिद्विवर्तन (अर्थात्) शुद्धपर्यायरूप से मन का अवलम्बन करती है या कोई पर्याय है ?

समाधान : चिद्पर्याय – ग्रन्थि अभी उसका निर्णय करती है। निर्णय है (तथापि) अनन्त पर्यायें हैं, वह ग्रन्थि है। अनन्त... अनन्त... अनन्त... है। वह स्वयं ग्रन्थि है – ऐसा विकल्प से निर्णय करती है।

श्रोता : परन्तु चिद्विवर्तन जो एक के बाद एक पर्याय होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले हो, एक समय में अनन्त है न ? एक समय में अनन्त, (पर्याय) है न ! एक समय में एक ही है – ऐसा नहीं है। पर्याय अनन्त है, उन्हें ग्रन्थि कहा है। पूरी गाँठ है।

श्रोता : ग्रन्थि समझ में आयी परन्तु चिद्विवर्तन जो पर्यायें होती हैं, वह शुद्ध पर्याय है, वह ऐसा नक्की करती है या दूसरी कोई पर्याय है।

समाधान : पर्याय है, वह नक्की करती है। यह ग्रन्थि पर्याय की है। चिद्विवर्तन अनन्त... अनन्त... पर्याय की गाँठ है।

श्रोता : पर्याय शुद्ध है – ऐसा निश्चित करती है ?

समाधान : शुद्ध ही है परन्तु यहाँ शुद्ध-अशुद्ध का विचार नहीं है। यहाँ तो चिद्विवर्तन की पर्यायें अनन्त हैं, वह गाँठ हैं। बस इतना ! फिर मिला देंगे, तब विकल्प को छोड़कर पर्याय को द्रव्य में मिला देंगे। यह तो चिद्विवर्तन है, भले ही मलिन पर्याय हो परन्तु एक समय में अनन्त पर्याय है न ? यह अनन्त (पर्याय की) गाँठ है। आहा...हा... !

अब, इस प्रकार त्रैकालिक को भी.... आहा...हा... ! **(त्रैकालिक आत्मा को भी) एक काल में समझ लेनेवाला वह.... एक काल में समझ लेनेवाला वह...** अभी तक विकल्प है। आहा...हा... ! भले उसमें अमुक मलिन-रागादि हों, परन्तु सम्पूर्ण पर्याय ग्रन्थि है – ऐसा (कहना है)। व्यतिरेक – भिन्न-भिन्न अकेली निर्मल (पर्याय) –

ऐसा नहीं। पर्याय, जितनी हैं, वह सब ग्रन्थियाँ हैं, पूरी गाँठ है। भगवान द्रव्य-गुण का पिण्ड है, यह एक ग्रन्थि है - गाँठ है। आहा...हा...! अभी इतने अस्तित्व का, सत्ता के इतने अस्तित्व का स्वीकार मन द्वारा समझता है। आहा...हा...!

इसलिए उसका अर्थ यह हुआ कि उस समय पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का लक्ष्य छूट गया है। आहा...हा...! मात्र मन से जान लेता है (उतना) उनका सम्बन्ध रह गया है। जो पाँच इन्द्रियों के झुकाववाली दशा है। आहा...हा...! वह मन से जान लेता है, उसमें यह दशाएँ छूट गयी हैं। इसमें समझ में आया? मात्र अन्तर्मुख में है विकल्प, परन्तु मन के साथ के सम्बन्धवाला विकल्प है। यह सब बन्द हो गया अर्थात् इन्द्रियों के ओर का लक्ष्य वहाँ मिट गया है। आहा...हा...! यहाँ तो (ऐसा कहना है कि) अभी अनुभव करने से पहले इसे ऐसा एक मन के संग का सूक्ष्म विकल्प होता है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है परन्तु सामने है न? आहा...हा...! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। बापू! आहा...हा...!

इस प्रकार त्रैकालिक को भी... ऐसा। एक समय को तो ठीक परन्तु त्रैकालिक को भी, **(त्रैकालिक आत्मा को भी) एक काल में समझ लेनेवाला वह जीव, जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में अन्तर्गत माना जाता है,....** यहाँ यह कहा है। मोतियों का झूलता हार है, उसमें मोती का हार में समावेश कर देते हैं। **उसी प्रकार चिद्विवर्तों का चेतन में ही संक्षेपण (अन्तर्गत) करके,...** मोती के स्थान पर पर्याय लेना और मोती की सफेदाई के स्थान पर गुण लेना। आहा...हा...! प्रथम तो **चिद्विवर्तों का चेतन में ही संक्षेपण (अन्तर्गत) करके,...** आहा...हा...! उस ओर का झुकाव करके, ऐसा (कहते हैं)। आहा...हा...! **तथा विशेषणविशेष्यता की वासना का....** (अर्थात्) विशेष द्रव्य और विशेषण गुण; विशेष चेतन और विशेषण चैतन्य - ऐसी वासना का आहा...हा...! (वासना) अर्थात् झुकाव, कल्पना, अभिप्राय। आहा...हा...! **अन्तर्धान होने से....** है? (अन्तर्धान अर्थात्) तिरोधान (अर्थात्) पर्याय का द्रव्य में मिल जाना, द्रव्य की तरफ ढल जाना, वह अन्तर्धान है। आहा...हा...! (अन्तर्धान अर्थात्) तिरोधान, अदृश्य हो जाना; भेद है, वह अदृश्य हो जाना। पर्याय का - चिद्विवर्तन की गाँठ का भेद है, उसका अदृश्य हो जाना। आहा...हा...! अन्तर के-अन्तर के मन के विकल्प में

चिद्‌विवर्तन का जो लक्ष्य था, वह छूट कर अन्तर में विलीन हो गया। आहा...हा... ! उस पर्याय को अन्दर में झुकाया, उस झुकाव में मलिन पर्याय अन्दर नहीं झुकती है। आहा...हा... !

....अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके,... जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है,... सफेदी वह गुण है। उसी प्रकार **चैतन्य को...** चैतन्य वह गुण है। उसे **चेतन में** अर्थात् द्रव्य में **गुण को चेतन में ही अन्तर्हित करके, जैसे मात्र हार को जाना जाता है,....** आहा...हा... ! मोती को (अर्थात्) भेद को – पर्याय को गुप्त की, सफेद को भी (गुणभेद को भी) दूर छोड़कर अकेला अन्तर्मुख प्रभु आत्मा – द्रव्यस्वभाव का जहाँ अनुभव हुआ... आहा...हा... ! **केवल हार को जानने में आता है, उसी प्रकार केवल आत्मा को जानने पर...** जहाँ तीन भेद भी छूट गये हैं। आ...हा... ! ऐसी सूक्ष्म बात है ! चेतन और चैतन्य – ऐसे यह विशेष का विशेषण है, उसे अन्तर्हित करके (अर्थात्) अभेद करके, भिन्न है, उसका विकल्प छोड़कर। आहा...हा... ! (यह) चेतन है और यह चैतन्य है – ऐसा जो विशेष्य और विशेषण का विकल्प है, (उसे) अन्तर्भूत करके, उसे अन्तर में झुका दे। आहा...हा... !

....उसी प्रकार केवल आत्मा को जानने पर, उसके उत्तरोत्तर क्षण में... आहा...हा... ! मन के विकल्प से भी छूटकर अभेद में जाता है, तब। **उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है,...** आहा...हा... ! (अर्थात्) आत्मा कर्ता है और परिणति उसकी क्रिया अथवा कार्य है, यह सब विभाव क्षय को प्राप्त होता जाता है। आहा...हा... ! यद्यपि उस समय सम्यग्दर्शन का परिणमन षट् कारक से परिणमता है परन्तु षट् कारक के भेद का लक्ष्य नहीं है। आहा...हा... ! है ? **कर्ता-कर्म-क्रिया...** (तीन कहें हैं परन्तु) हैं तो छह ही बोल।

क्या कहा ? निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होने पर वह सम्यग्दर्शन की पर्याय, षट् कारकरूप से स्वतन्त्र परिणमित होती है परन्तु यहाँ पर कर्ता-क्रिया का भेद है (वह विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है ऐसा कहा है) वास्तव में तो सारा कर्तापना पर्याय में ही है। द्रव्य में कर्तापना नहीं है। भाषा से कहा जाता है कि द्रव्य कर्ता और पर्याय कार्य है, वरना पर्याय का कर्ता-कर्म-क्रिया है। कारक हैं, वह क्रिया है। क्या कहा यह ? जो कर्ता, कर्म, करण,

सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण (आदि कारक हैं)। वह क्रिया के कारक हैं, वह द्रव्य के नहीं हैं। इस परिणति के कारक हैं - पर्याय के कारक हैं। इस पर्याय के कारकरूप परिणमते हैं परन्तु यह कर्ता है और यह कर्म है और यह क्रिया है - ऐसा भेद वहाँ नहीं है। आहा...हा...! भाई बहुत सूक्ष्म है।

कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है,... क्या कहा? यहाँ तो क्षय को प्राप्त होता जाता है (ऐसा कहा है)। उपशम होता जाता है - ऐसा भी नहीं। **मोहो खलु जादि तस्स लयं** आहा...हा...! अन्तर्मुख में द्रव्यस्वभाव तरफ-अभेद तरफ जाने पर पर्याय कर्ता और यह पर्याय कर्म - ऐसा भेद क्षय को प्राप्त होता है, तथापि परिणमन में है। भेद से क्षय को प्राप्त होता है। क्या कहा यह? कर्ता, कर्म, क्रिया यह भेद क्षय को प्राप्त होता है, तथापि वह सम्यग्दर्शन की निर्मल पर्याय षट् कारकरूप परिणमित होती है परन्तु वहाँ भेद पर लक्ष्य नहीं है। आहा...हा...! ऐसा है। यह दिगम्बर सन्त वीतराग के, केवली के आढ़तिया हैं, उनके (भाव) गम्भीर हैं। आहा...हा...!

यह **कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग...** 'भाग' ऐसा कहा है न? **यह कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है,....** आहा...हा...! **इसलिए निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है...** पर्याय में (प्राप्त होता है)। प्राप्त होना है तो पर्याय में है न? आहा...हा...! निष्क्रिय चिन्मात्र जो भाव वह त्रिकाली है, उसे पर्याय में प्राप्त होता है। आहा...हा...! यह अधिकार जरा सूक्ष्म लगा है परन्तु वस्तु यही है। (कहते हैं कि) **विभाग क्षय को प्राप्त होता जाता है, निष्क्रिय चिन्मात्रभाव....** (अर्थात्) त्रिकाल वस्तु है, उसे **प्राप्त होता है।** (अर्थात्) पर्याय में अनुभूत होता है। निर्विकल्प पर्याय में चिन्मात्र भगवान आत्मा अनुभूत होता है। अनुभव तो पर्याय का होता है परन्तु उसके लक्ष्य में (चिन्मात्र) है न? इसलिए उसे (चिन्मात्र को) अनुभव करती है - ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया कुछ? आहा...हा...!

निष्क्रिय चिन्मात्रभाव... आहा...हा...! एक ओर ऐसा कहें कि केवलज्ञान की पर्याय भी षट्कारकरूप परिणमती है। वह तो उसके स्वरूप रूप से बताया है परन्तु उसके भेद छह प्रकार - यह कर्ता और यह कर्म, ऐसा भेद-विकल्प वहाँ नहीं है। आ...हा...हा...!

ऐसी गाथा आयी ! आ...हा... ! आ...हा... ! **निष्क्रिय चिन्मात्रभाव...** अर्थात् वस्तु। उसे **प्राप्त होता है।...** अर्थात् पर्याय में उसका अनुभव होता है।

और इस प्रकार मणि की भाँति जिसका निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है.... (जिसका अर्थात्) प्रभु का ! आहा...हा... ! अकम्परूप से प्रवर्तमान है, वह पर्याय में। **ऐसे उस (चिन्मात्रभाव को प्राप्त) जीव के मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है।...** मोहरूपी अन्धकार को आश्रय नहीं होने से आहा...हा... ! अभेद में आश्रय गया इसलिए मोह के अन्धकार को (आश्रय नहीं रहा)। आश्रय यहाँ प्रकाश में गया। इसलिए कहा न ? **निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है...** इसके सामने लिया है। **निर्मल प्रकाश अकम्परूप से प्रवर्तमान है - ऐसे उस (चिन्मात्रभाव को प्राप्त) जीव के मोहान्धकार...** विकल्परूपी अन्धकार है, वह तो जाननेवाला नहीं है। ऐसा **मोहान्धकार निराश्रयता के कारण...** मोह को कोई आश्रय नहीं रहा, विकल्प होने को कोई आधार नहीं रहा। इस कारण **अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है।...** आहा...हा... ! वहाँ यह विकल्प है, वह मोह है। यह मोह है, वह चारित्रमोह है। मिथ्यात्व भी मोह है परन्तु वह तो पहले गया अर्थात् रस घट गया, परन्तु अभी गहरे-गहरे थोड़ा रस था, वह भी अन्दर नष्ट हो गया है।

मोहान्धकार निराश्रयता के कारण.... अब ७९ (गाथा में)। ऐसा लिया था कि शुभभाव को - अभिसारिका के प्रेम को मिलता भाव है। उसका निकन्दन करने के लिये मैं तैयार होता हूँ और फिर यह गाथा ली है। प्रथम की ली है, सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की दशा यह है और आगे चारित्रदशा को प्राप्त करने की भी यही स्थिति है। वरना बात तो चारित्र की ली थी। भाई ! समझे ? आहा...हा... ! (मिथ्यात्व को) मूल में से नष्ट करके अप्रतिहत सम्यग्दर्शन होता है। यह बताने के लिए यह गाथा ली है। चारित्रमोह का निकन्दन करना है, तथापि यह बात ली है। आहा...हा... ! पहले यह किया है और फिर ८१ गाथा में लेंगे।

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।। ८१।।

वहाँ अस्थिरता के राग-द्वेष घटाने की बात लेंगे। ७९ (गाथा में यह) लिया है कि अभिसारिका (अर्थात् जैसे स्त्री सङ्केतानुसार) प्रेमी को मिलने जाती है, उसी प्रकार यह राग का प्रेम करने जाता है, यह व्यभिचार है। आहा...हा...! उसका निकन्दन करने के लिए मैंने कमर कसी है परन्तु उससे पहले यह दशा होती है। आहा...हा...! और इसमें से फिर चारित्र विशेष (होता है)। यह विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. ७३ **दिनाङ्क १४ मई १९७९**

प्रवचनसार ८० गाथा का भावार्थ है। **अरहन्त भगवान और अपना आत्मा निश्चय से समान है।....** आ...हा...! जैसा भगवार अरहन्त का आत्मा है, वैसा ही (अपना) यह आत्मा है। **अरहन्त भगवान, मोह-राग-द्वेषरहित होने से उनका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है,...** पर्याय में (स्पष्ट है।) **इसलिए यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उस (अरहन्त भगवान के) स्वरूप को मन के द्वारा प्रथम समझ ले...** (यह अभी) विकल्प है। (क्योंकि) परद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय हैं न! आहा...हा...! **इसलिए यदि जीव द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से उस (अरहन्त भगवान के) स्वरूप को मन के द्वारा प्रथम समझ ले तो 'यह जो आत्मा, आत्मा का एकरूप (कथञ्चित् सदृश) त्रैकालिक...** है न? ध्रुव त्रिकाली। त्रिकाली एक प्रवाहरूप। **त्रैकालिक प्रवाह...** ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव...।

उसका जो एकरूप रहनेवाला चैतन्यरूप विशेषण है,... पहले द्रव्य कहा था। अब उसका गुण कहते हैं। **उसका जो एकरूप रहनेवाला...** उसे भी वहाँ एकरूप कहा था। कहा था न? **ऐसा एकरूप कथञ्चित् सदृश्य त्रैकालिक प्रवाह...** उसमें **एकरूप रहनेवाला चैतन्य विशेषण, वह गुण है और उस प्रवाह में जो क्षणवर्ती व्यतिरेक हैं, वे पर्यायें हैं। इस प्रकार अपना आत्मा भी द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से मन के द्वारा जानने में आता है।....** आहा...हा...! (जैसा) अरहन्त द्रव्य-गुण-पर्याय है, वैसा ही अपनी आत्मा का द्रव्य-गुण-पर्याय है, ऐसा मन द्वारा ख्याल में आता है। आहा...हा...! **इस प्रकार त्रैकालिक निज आत्मा को मन के द्वारा ज्ञान में लेकर...**

अभी विकल्प से (ज्ञान में लेता है)। आहा...हा...! मन से ज्ञान में लेकर अपने में भी! द्रव्य-गुण-पर्याय तीन हैं न? उन तीन को ज्ञान में लेकर।

जैसे मोतियों को और सफेदी को हार में ही अन्तर्गत करके मात्र हार ही जाना जाता है। उसी प्रकार आत्मपर्यायों को और चैतन्यगुण को आत्मा में ही अन्तर्गत करके... आहा...हा...! आत्मा की पर्यायों को और चैतन्यगुण को - पर्याय और गुण दोनों आये। (दोनों को) आत्मा में अन्तर्गत करके आहा...हा...! ऐसा अवसर कब आवे? प्रभु! आहा...हा...! तुझे यह अवसर है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! प्रभु! इन नरक के दुःखों का काल तेरा गया। याद नहीं आया तुझे।

एक क्षण के उष्ण गुण का दुःख और एक क्षण का शीत गुण का दुःख। प्रभु! यह तेरा अवसर अनन्त काल तूने उसमें बिताया। आ...हा...! वह तेरी जात नहीं है। आ...हा...! आचार्य कहते हैं कि जिसके एक क्षण के दुःख सुनने से यहाँ कँपकँपी उठती हैं। आ...हा...! इस काल में अब यह करने योग्य है। आहा...हा...! यहाँ लू चलती है, वहाँ कुछ हो जाता है। देखो न? अब ऐसी लू से तो अनन्त गुनी (गर्मी नरक में भोगी है) यह भाषा सुने भले ही परन्तु इस भाव में - दुःख में जो रहे हैं, उसका क्षण का दुःख कितना होगा? इसने सागरोपम तैंतीस सागर बिताये हैं।

यहाँ तो (ऐसा कहते हैं कि) सर्वज्ञ का आत्मा है, वैसा मेरा आत्मा है। बापू! अब (ऐसा अनुभव करने का) अवसर आया है। आहा...हा...! भाई! ऐसा अवसर (कब मिलेगा)? उस (नरक के दुःख का) काल गया। आहा..हा...! वह काल जाने का यह पन्थ है। आहा...हा..! भगवान अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को मन से जान ले। आहा...हा...! धीरज का काम है। यह कोई क्रियाकाण्ड का काम नहीं है। आहा...हा...! मन से जान लेता है, वहाँ इन्द्रियों की तरफ का लक्ष्य छूट गया है। आहा...हा...! एक मन का सम्बन्ध रहा है। आ...हा...! उसमें प्रभु के द्रव्य-गुण और पर्याय को जाना; इस प्रकार आत्मा भी ऐसा है - ऐसा जाना। आहा...हा...! भाई! यहाँ तक तू आया, वहाँ तक भी कोई वस्तु स्थिति नहीं है। आहा...हा...! आहा...हा...!

जैसे मोतियों को और सफेदी को... मोती अर्थात् पर्याय और सफेदी अर्थात्

गुण। **हार में ही अन्तर्गत करके केवल हार ही जाना जाता है। उसी प्रकार आत्म पर्यायों को और चैतन्यगुण को...** आहा...हा...! कहाँ तक आया? देखा? पाँच इन्द्रिय के ओर के सब विकल्प और विचार रुक गये हैं। आहा...हा...! अब इस अन्तर्मुख में मन के सम्बन्ध के विकल्प में आया है। आहा...हा...! वहाँ तक भी यह विकल्प है, वह दु:ख है। नरक के दु:खों की तो क्या बात करना प्रभु! विषाहार है न? क्या कहते हैं उसे? विषापहार स्तोत्र! नरक के दु:खों को याद करते हैं, वहाँ काँप उठते हैं। आहा...हा...! उसके कम्पन के आगे कहीं चित्त नहीं लगता। आहा...हा...! यहाँ कहते हैं कि अरहन्त के द्रव्य-गुण को जानकर और पर्याय को जानकर (तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय को जान ले)। प्रभु! उसे (दु:ख का) समय मिटाने के लिए यह अवसर मिला है। आहा...हा...!

कोई मनुष्य ऐसा कहता है न? कि क्रमबद्ध में पुरुषार्थ कहाँ रहा? ऐसा कहता है न? भाई! परन्तु प्रभु! क्रमबद्ध में तो अकर्तापना सिद्ध करना है। आहा...हा...! भले ही यहाँ तक ले कि पर का कर्ता नहीं है परन्तु वास्तव में तो पर्याय का कर्ता भी द्रव्य नहीं है, वहाँ तक बात ले जाना है। आहा...हा...! अकर्तापने की पराकाष्ठा! जबकि जगत् कहता है कि ईश्वर कर्ता है। तब परमात्मा ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू पर का कर्ता नहीं, राग का कर्ता नहीं, परन्तु तेरी पर्याय का भी द्रव्य कर्ता नहीं है। आहा...हा..! आहा...हा...! अकर्तापन की अन्तिम हद वहाँ ले जाना है। आहा...हा...! वहाँ पुरुषार्थ नहीं है - ऐसा कहते हैं (परन्तु यह निर्णय किया) यही पुरुषार्थ है भाई! आहा...हा...! जो पर्याय होती है, उसे भी जानना है, करना नहीं। आहा...हा...! ऐसा आया न? भाई! बन्ध-मोक्ष को जानता है। आहा...हा...! लोग ऐसा समझते हैं कि क्रमबद्ध में कहाँ हमें किस जगह कार्य करना? पुरुषार्थ कुछ आता नहीं। अरे...! प्रभु! तू समझ बापू! क्रमबद्ध में तो अकर्तापने की पराकाष्ठा है।

यहाँ कहते हैं कि यह द्रव्य-गुण-पर्याय का विकल्प है न? आहा...हा...! वह भी अभी क्रमबद्ध का निर्णय नहीं है। आहा...हा...! हार में सफेदी ऐसा गुण है और मोती ऐसी पर्याय है। उसे हाररूप करके, हार में समाहित करके... आ...हा...!

श्रोता : वर्तमान पर्याय या भूत, भविष्य की सभी पर्यायें लेना?

समाधान : यहाँ तो वर्तमान है, वह सब लेना। भूत-भविष्य की पर्याय तो अन्दर में है। वर्तमान, बाह्य पर्याय एक ही है। एक ही अर्थात् एक गुण की एक है, ऐसी अनन्त गुण की अनन्त (पर्यायें) हैं। आहा...हा...! यहाँ तो यह कहना है कि अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को विचार कर तूने अपने (द्रव्य-गुण-पर्याय का) विचार किया तो भी प्रभु! वह भी अभी तू एक विकल्प में खड़ा है। आहा...हा...!

प्रभु! तेरे नरक के दुःखों का काल। आहा...हा...! सन्तों को कहते हुए भी कंपकपाहट छूटे! नरक की वह दस हजार वर्ष की स्थिति! भाई! यहाँ तुझे एक क्षण की तेज लू कठोर लगती बापू! उस लू से अनन्त गुनी अग्नि (नरक में है)। आहा...हा...! शीत चौथे नरक से शुरु होती है, उष्णता तो पहले नरक से है। शीत वहाँ से शुरु होती है, वह सातवें तक है। आहा...हा...! यह सब अस्तित्व हुआ ऐसे अस्तित्व के दुःख का अवसर तेरा गया। प्रभु! आहा...हा...! अब दुनिया के सामने नहीं देखना है। आहा...हा...! दुनिया मुझे माने या न माने? बड़ा कहे कि मुझे आता है! प्रभु! इसके समक्ष तू मत देख अब! आहा...हा...! यहाँ तो मन में आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय जाना, तो भी कहते हैं कि यह कोई विशेष नहीं है। उससे क्या? आहा...हा...! पूर्णानन्द का नाथ त्रिकाली द्रव्य अन्वय है और उसके गुण वे विशेष हैं, वह चैतन्य है। प्रभु है, वह चेतन है। उसके गुण वह चैतन्य है और व्यतिरेक (अर्थात्) बदलती अनेक भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ, व्यतिरेक वह पर्याय है - ऐसा तूने द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप केवली के साथ मिलान किया, तथापि अभी आगे-आगे जाना है। आहा...हा...! इन पर्यायों को और गुणों को आत्मा में अन्तर्गर्भित करके (आगे जाना है।) आ...हा...हा...!

ऐसे अनन्त-अनन्त दुःख। दुःख अर्थात् प्रतिकूलता, इतना दुःख अर्थात् प्रतिकूलता उतना दुःख - ऐसा नहीं है। यह तो आ गया न? शुभभाव में भी दुःख ही है। आहा...हा...! प्रभु! इन चार गतियों में दुःख बिना कहीं कोई दशा नहीं है। आहा...हा...! स्वर्ग के देव भी शुभभाव के फल में दुःख की विजय प्रसिद्ध करते हैं, दुःख प्रसिद्ध करते हैं। प्रभु! वहाँ तेरा सुख नहीं है। आहा...हा...! अब यहाँ कहते हैं कि अवसर आया है। यहाँ तक तू आया, तूने अरहन्त को सुना और अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय भी तेरे ज्ञान में आये और

उनका ख्याल रखकर स्वयं आत्मा ही ऐसा और इतना है। (भावार्थ में) पहले कहा था न। **अपना आत्मा निश्चय से समान है।** आ...हा...! भले ही पर्याय प्रगट नहीं परन्तु वस्तु समान है। स्वयं पूरा परमात्मा ही है। आहा...हा...! भगवन्त तेरा अवसर आया है। दुःख का अवसर मिटना है। प्रभु! आहा...हा...! मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं कहा? सब अवसर आ गया है। आहा...हा...! अरे...रे...! प्रभु! ऐसी-ऐसी बातें कान में पड़े! तेरे द्रव्य-गुण और पर्याय की बात तुझे लक्ष्य में आवे, प्रभु! अब (इससे बढ़िया) अवसर दूसरा क्या होगा? आहा...हा...! अब तो एक बार यह कर! इस पर्याय और गुण को द्रव्य में मिला दे। आहा...हा...!

जैसे, उस हार की सफेदी के गुण को और मोती की पर्याय को हार में देखनेवाला उस सफेदी और मोती को नहीं देखता। आहा...हा...! इसी प्रकार प्रभु तेरा आत्मा चैतन्य के चैतन्य गुण और उसके व्यतिरेक भिन्न-भिन्न पर्यायों को न देखकर एकरूप वस्तु त्रिकाल है (उसे देख)। आहा...हा...! एकरूप प्रभु है। अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञायकभाव से भरपूर, अनन्त अतीन्द्रिय गुण का सागर है, वह एकरूप है, वहाँ जा! आहा...हा...!

अन्तर्गर्भित करके केवल आत्मा को जानने पर.... केवल एक आत्मा को जानने पर - गुण, पर्याय को भी उसमें समाहित कर दिया। आहा...हा...! **परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का...** परिणामी (अर्थात्) द्रव्य; परिणाम (अर्थात्) उसकी अवस्था और उसकी परिणति (अर्थात्) पर्याय अथवा परिणाम। आहा...हा...! परिणामी - पदार्थ, उसका परिणमन, जो भले गुण है और परिणति-अवस्था है, उसके **भेद का विकल्प नष्ट होता जाता है।...** मोह निराश्रय होता हुआ **जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है,....** विकल्प नाश को प्राप्त होता जाता होने से - प्राप्त होता जाता होने से, ज्ञायक की घनता, त्रिकाली प्रवाह पर दृष्टि पड़ने पर, **परिणामी-परिणाम-परिणति के भेद का विकल्प नष्ट होता जाता है,...** नष्ट होते जाने से **जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है...** यहाँ त्रिकाली की बात है। **जीव निष्क्रिय चिन्मात्रभाव...** (अर्थात्) त्रिकाली को पर्याय में प्राप्त होता है - ऐसी बात है।

अभी तो यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की बात है। आहा...हा...! जैसे (समयसार

की) १४४ गाथा में **व्यपदेश** ऐसा कहा है न! इसी प्रकार यह भी सम्यग्दर्शन और ज्ञान की बात है। मोह का अर्थात् मिथ्यात्व का नाश हो, उसकी यह व्याख्या है। आहा...हा...! अरे...! तुझे बाहर में कहाँ हर्ष भासित होता है? भगवान अन्दर आनन्दस्वरूप है न? उसके बिना अनन्त वस्तुएँ हैं, उसमें किसी भी वस्तु में तुझे चमत्कार लगे, विशेष लगे, अधिकता लगे, तेज लगे, ठीक लगे, आहा...हा...! यह क्या है प्रभु? क्या यह ठीक है? जिसके द्रव्य-गुण और पर्याय के भेद में भी ठीक नहीं है आहा...हा...! और बाहर की चीजें पैसा, लक्ष्मी, मकान, प्रतिष्ठा, धूल-धमाका सब श्मशान की बातें हैं। उसमें कहीं तूझे विशेषपना लगे - यह ठीक है ऐसा लगे (तो उसमें) भगवान एकरूप ठीक है, उसे तूने उड़ा दिया। आहा...हा...! बड़े गुणगान चलते हों - तुम ऐसे हो, तुम वैसे हो और तुम ऐसे हो... यह क्या है प्रभु? इस भाषा की वर्गणा - पुद्गल की पर्याय में तुझे अधिकपना भासित हो जाता है! आहा...हा...! यहाँ तो (ऐसा कहते हैं कि) अभी द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद में भी अटकना, वह भी वस्तुस्वरूप की प्राप्ति नहीं है। आहा...हा...! उसे छोड़कर परचीज माँस-हड्डी-चमड़ी... आहा...हा...! दाल, भात, सब्जी, चूरमा के लड्डू... आहा...हा...! रसगुल्ला, मैसूरपाक, शक्करपारा... आहा...हा...! इन किसी भी चीज में 'यह ठीक है' - ऐसा यदि तुझे हो जाता है प्रभु! तो अन्दर अनन्त गुणों का स्वामी अनन्त आनन्द सागर उसे तो तूने अठीक कर दिया। आहा...हा..! ऐसी बात है। आहा...हा...! यह पर तरफ का दर्शनमोह है। अपने स्वभाव से किसी भी बाहर की वस्तु में कहीं भी इसे अधिकपना (लगता है कि यह) ठीक है - ऐसे हर्ष का झोंका आता है, आहा...हा...! वह मिथ्यात्वभाव है।

यह तो निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को पाता है। देखा? आहा...हा...! जिसमें पर्याय का परिणमन भी नहीं! आहा...हा...! ऐसा निष्क्रिय चिन्मात्र-चेतनस्वरूपमात्र। चिन् अर्थात् अकेला चैतन्यस्वरूप - ऐसे भाव को... आहा...हा...! ऐसा चेतनस्वरूप - ऐसा अस्तित्वभाव - ऐसा जो भगवान का अकेला अस्तित्वभाव, उसे वह पाता है। उसे वह दृष्टि में दौलत को देखता है। इससे उसे अनुभव में निष्क्रिय आत्मा प्राप्त होता है। आहा...हा...! ऐसी विधि है। फिर मनुष्य-लोग एकान्त कहते हैं! यह करूँ और वह करूँ

और इससे होता है। आहा...हा..! यहाँ तो अभी अपने द्रव्य-गुण-पर्याय (देखने में) अरहन्त जैसे (अपने द्रव्य-गुण-पर्याय है ऐसा) देखने में तीनपने का ज्ञान हुआ, वह भी एक विकल्प है, वह भी दुःख है, उसे मिटाकर अभेद में जा, तुझे सुख होगा। आहा...हा...! ऐसा सुख जगत् में चौदह ब्रह्माण्ड में कहीं नहीं है। आहा...हा...! ऐसा चैतन्यस्वभाव, अकेला अतीन्द्रिय अनन्त... अनन्त... गुण का पिण्ड है। आहा...हा...!

ऐसे **निष्क्रिय चिन्मात्रभाव को प्राप्त होता है और उससे दर्शनमोह...** देखा! आहा...हा...! वरना चारित्रमोह में मुझे ऐसा करना, वैसा करना, वहाँ तक आ गया। तथापि फिर से पहले से लिया है। आहा...हा...! जब बात उठाते हैं, तब फिर मूल से उठाते हैं। आ...हा...! वरना ७९ गाथा में तो आ गया था। आ...हा...! मेरी वस्तु है, वह तो प्राप्त हो गयी है परन्तु यह प्रमादरूपी राग-शुभराग है, वह चोर है। आहा...हा...! यह फिर कहेंगे। वहाँ शुभभाव में अटक जाता हूँ तो मेरी वस्तु चोरी हो जाती है।

और उससे दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ... आत्मा के एकरूप स्वभाव की ओर, त्रिकाली ज्ञायकदल पर, एक पर दृष्टि पड़ने से दर्शनमोह को आश्रय नहीं रहा। आहा...हा...! **दर्शनमोह निराश्रय होता हुआ...** वह जहाँ तक विकल्प से अपना स्वरूप है - ऐसा मानता था, वहाँ तक दर्शनमोह को आश्रय (आधार) मिलता था। आ...हा...! अथवा एक समय की पर्याय को भी (अपनेरूप मानता था), 'पर्यायमूढ़ा परसमया' एक समय की पर्याय में भी रुकता था। आहा...हा...! अपने अतिरिक्त अनन्त परपदार्थ की विविधता के प्रकार तो कहीं रह गये, परन्तु इसकी पर्याय में रुकना, वह भी वहाँ मूढ़ता है। आहा...हा...! पर्यायमूढ़ापरसमया ओ...हो...हो...! क्योंकि एक अंश में त्रिकाली प्रभु कहीं आया नहीं। उसकी अंशबुद्धि में तो त्रिकाली का अनादर हुआ है। आहा...हा...! जहाँ इसकी स्वयं की एक समय की पर्याय है, यदि उसकी भी रुचि और प्रेम में पड़ा है, तो वह भी मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। (वहाँ) दर्शनमोह को आश्रय मिला। आहा...हा...! भगवान एकरूप स्वभाव है, वहाँ जाने पर दर्शनमोह को आश्रय नहीं रहा; इसलिए वह नष्ट होता है।

श्रोता : दोनों का अवलम्बन ले तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक का भी अवलम्बन नहीं है। एक (स्वभाव) के अतिरिक्त (दूसरे किसी का) अवलम्बन नहीं है। आहा...हा...! त्रिकाली प्रवाह एकरूप ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... (है, उसका) आश्रय पर्याय लेती है परन्तु पर्याय का आश्रय ही नहीं है। आहा...हा...!

यदि अपने अतिरिक्त अनन्त वस्तुओं में भी कहीं अधिकपना लगा – पाँच पचास करोड़ रुपये मिले, धूल मिली और अरब मिले और सुन्दर स्त्री मिली, छह-सात-दस लड़के कमाते हों (और मानते हों कि) बड़े कर्मी हुए! बापूजी...बापूजी... करते हों! अरे प्रभु! तुझे कहीं भी यदि अधिकपना भासित हुआ, तो तूने तेरे तत्त्व का अनादर किया है। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि यदि अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद में भी खड़ा रहा तो वहाँ तक तुझे तेरे तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। आहा...हा...! भाई! जगत् से अलग चीज है।

अभी जगत् में तो धर्म के नाम पर कुछ चला है। आ...हा...! व्रत करो, यात्रा करो, भक्ति करो, दान करो, मन्दिर बनाओ... आहा...हा...! प्रभु! परन्तु तू कहाँ है, जिससे इन वस्तुओं में तेरा अस्तित्व जाये और उनका कर्तापना हो? आ...हा...! तेरा अस्तित्व संक्रमण पाकर पर में जाये तो तेरे अलावा अनन्त आत्मा और अनन्त रजकणों का कुछ हो परन्तु अपने द्रव्य-गुण-पर्याय पर में तो संक्रमण को प्राप्त होते नहीं हैं। (समयसार की) १०३ (गाथा में यह बात आयी है न) आहा...हा...! मात्र तेरी मर्यादा में – पर्याय में राग हो और पर्याय का कर्ता हो, यह भी तेरी सत्ता का मिथ्या अस्तित्व है। आहा...हा...! इस मिथ्या अस्तित्व को भी टालना हो तो (चैतन्यस्वरूप का अवलम्बन ले)। आहा...हा...! आत्मा-वस्तु जिसे चेतन कहा था; चैतन्य भी नहीं; चैतन्य वह गुण है। गुणी और गुण यह (भेद) भी नहीं। चेतन अकेला भगवान पूर्णस्वरूप निष्क्रिय जो वस्तु है, उसमें पर्याय और गुण को मिलाकर और उस निष्क्रिय को पा! उससे दर्शनमोह का नाश होगा। आहा...हा...! यह भावार्थ है।

यदि ऐसा है,... आ...हा...हा...! अब, अपनी साक्षी देते हैं। आहा...हा...! **यदि ऐसा है, तो मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय प्राप्त कर लिया है...**

आहा...हा...! **यदि ऐसा है,...** (अर्थात्) इस प्रकार है, यह प्रकार इस प्रकार है... आहा...हा...! कि अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का विकल्प छोड़कर, गुण-पर्याय को (द्रव्य में) अन्तर्गत करके अकेले निष्क्रिय द्रव्य का अनुभव करना - यदि ऐसा है और यही वस्तु की स्थिति है... **तो मोह की सेना पर...** (विजय प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त कर लिया है)। आहा...हा...!

श्रोता : गुण-पर्याय को अन्तर्गत करना अर्थात् क्या ?

समाधान : अन्तर्गत करना अर्थात् गुण का लक्ष्य छोड़ना, भेद का लक्ष्य छोड़ना; द्रव्य पर दृष्टि जाना, अभेद पर दृष्टि जाना। पर्याय को अन्तर्गत करने का अर्थ - पर्याय को ऐसा अलग रखना कि यह पर्याय और यह गुण ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

प्रभु आचार्य कहते हैं - यदि यह स्थिति इस प्रकार है तो मोह की सेना... आहा...हा...! (सेना क्यों कहा ? क्योंकि) मिथ्यात्व के असंख्य प्रकार हैं न ? सूक्ष्म अनन्त है, स्थूल असंख्य है। मिथ्याश्रद्धा के स्थूल (प्रकार) असंख्य हैं, सूक्ष्म अनन्त प्रकार है। बड़ी सेना है, आहा...हा...! (उस पर) **विजय प्राप्त करने का...** (पूर्व गाथा में) यह कहा था कि शुभभाव का फल दुःख की विजय था। आ...हा...! (यहाँ पर) यह मेरी चीज की विजय हुई है। आहा...हा...! **ऐसा है...** (अर्थात्) वस्तु का स्वरूप ही इस प्रकार है और प्राप्त करने की विधि भी यह है तो इस प्रकार तो **मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त किया है...** आहा...हा...!

लोग ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दर्शन पाया है या नहीं - यह पता नहीं पड़ता; उसे केवली जाने। आहा...हा...! निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप केवली जाने। इसलिए व्यवहार सम्यग्दर्शन को मुँह आगे करना और उसके लक्षण - शम (संवेग), निरवेग, अनुकम्पा और आस्था, उसे पहचानो और उस पर जाओ। आहा...हा...! ऐसा कहते हैं।

यहाँ तो भगवान अमृतचन्द्राचार्य पञ्चम काल के मुनि-आचार्य! भगवान के बाद पन्द्रह सौ वर्ष के बाद हुए... आ...हा...! जिन्हें सीमन्धर भगवान का भी साक्षात्कार नहीं हुआ। जिन्हें महावीर का साक्षात्कार (कि जो) पन्द्रह सौ वर्ष पहले हो गये थे, उनका साक्षात्कार भी नहीं हुआ। आहा...हा...! परन्तु भगवान आत्मा, जैसा अरहन्त का आत्मा

है। वैसा मेरा (आत्मा है)। उसका (साक्षात्कार) हुआ तो परमात्मा का ही साक्षात्कार हो गया। आहा...हा...!

ऐसा है तो मोह की सेना... अर्थात् मिथ्यात्व के रस के जो अनन्त प्रकार (और भेद हैं) उन पर (विजय) प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त किया है... आ...हा...! यह कर्मों का क्षय हुआ और कर्म का घटना हुआ, इसलिए हुआ ऐसा नहीं है। आ...हा...! यह उपाय मैंने प्राप्त किया - मेरे पुरुषार्थ से प्राप्त किया है। आहा...हा...! इसमें कोई कहता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसका पता नहीं पड़ता। इसलिए व्यवहार समकित का लक्षण - शम, संवेग, निरवेग, अनुकम्पा है, उसे देखकर उसका व्यवहार करना। आहा...हा...!

श्रोता : पता नहीं पड़े तो करना किस प्रकार ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पता नहीं पड़ता यही मिथ्यात्व है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! हमें अपनी आत्मा की दृष्टि का, अनुभव का पता नहीं पड़ता - यही वहाँ मिथ्यात्वभाव है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! क्या हो ? अरे...! अनन्त काल से ऐसे का ऐसा कहीं न कहीं... कहीं न कहीं... कहीं न कहीं... कहीं न कहीं... भी फँसकर खड़ा रहा है। (अटकने के) बहुत प्रकार - अनन्त प्रकार हैं। छूटने का एक प्रकार, अटकने के अनन्त प्रकार। आहा...हा...! इन अनन्त प्रकार में से किसी भी प्रकार में अटकना, वह मोह की सेना है, (ऐसा) कहते हैं। मिथ्यात्व का लश्कर बड़ा है। आहा...हा...! **उस पर विजय प्राप्त करने का उपाय मैंने प्राप्त किया है - ऐसा कहते हैं।**

निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः।

संस्कृत है आहा...हा...!

श्रोता : पर्याय में इतना कर्तृत्व तो होता है !

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय का कर्तृत्व - पर्याय का कर्तापन द्रव्य में नहीं है। द्रव्य ध्रुव है, पर्याय का षट्कारक का कर्तापन, कर्मपन, पर्याय में है। आहा...हा...! यह सम्यग्दर्शन की पर्याय जो द्रव्य पर (दृष्टि करने से) हुई, वह पर्याय के षट्कारक भी पर्याय से हुए हैं (उसने) स्वतन्त्ररूप कर्ता होकर द्रव्य का - अभेद का आश्रय लिया है।

वह स्वतन्त्र पर्याय कर्ता होकर, कर्ता–कर्म–करण खड़ा करके (प्रगट हुई है)। आहा...हा...! कहते हैं कि अब हम संसार से तिर गये! आहा...हा...! अब तो हम मोक्ष के पन्थ में गये और अल्प काल में हमारा मोक्ष है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! अरे! पञ्चम काल के (सन्त ऐसा कहते हैं)! भगवान के बाद... पन्द्रह सौ वर्ष बाद! आहा...हा...! पन्द्रह सौ वर्ष बाद भी आत्मा को क्या है? अनन्त काल गया तो भी आत्मा तो है, वैसा ही ऐसा का ऐसा है। आहा...हा...! परन्तु वह है कैसा? इसका विश्वास, रुचि, पोषण अलौकिक है। आहा...हा...! दूसरे किन्हीं साधनों से वह प्राप्त हो ऐसा नहीं है। 1

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दुःखों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है; वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है, परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दुःख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशम रस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया।

(– पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११)

गाथा - ८१

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति -

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मनः सम्यक्।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मानं लभते शुद्धम्।।८१।।

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति। यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तते तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठित्त-शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तरस्ताम्यति। अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्तं जागरितव्यम्।।८१।।

अथ प्रमादोत्पादकचारित्रमोहसंज्ञश्चौरोऽस्तीति मत्वाऽऽप्तपरिज्ञानादुपलब्धस्य शुद्धात्म- चिन्तामणेः रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति - **जीवो** जीवः कर्ता। किंविशिष्टः। **ववगदमोहो** शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोहः। पुनरपि किंविशिष्टः। **उवलद्धो** उपलब्धवान् ज्ञातवान्। किम्। तच्चं परमानन्दैकस्वभावात्मतत्त्वम्। कस्य संबन्धि। **अप्पणो** निजशुद्धात्मनः। कथम्। **सम्मं** सम्यक् संशयादिरहितत्वेन **जहदि जदि रागदोसे** शुद्धात्मानुभूति-लक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति **सो अप्पाणं लहदि सुद्धं** स एवमभेदरत्नत्रयपरिणतो जीवः शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं लभते मुक्तो भवतीति। किंच पूर्वं ज्ञानकण्डिकायां 'उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं' इत्युक्तं, अत्र तु 'जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं' इति भणितम्, उभयत्र मोक्षोऽस्ति। को विशेषः। प्रत्युत्तरमाह - तत्र शुभाशुभयोर्निश्चयेन समानत्वं ज्ञात्वा पश्चाच्छुद्धे शुभरहिते निजस्वरूपे स्थित्वा मोक्षं लभते, तेन कारणेन शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्डिका भण्यते। अत्र तु द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं ज्ञात्वा पश्चात्तद्रूपे स्वशुद्धात्माने स्थित्वा मोक्षं प्राप्नोति, ततः कारणादियमाप्तात्ममूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्डिका इत्येतावान् विशेषः।।८१।।

अब, इस प्रकार मैंने चिन्तामणि-रत्न प्राप्त कर लिया है, तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है, ऐसा विचार कर जागृत रहता है -

जो मोहभाव को दूर करि, पाकर सम्यक् आत्म को।
यदि राग-द्वेष को छोड़ता, वो पाता है शुद्धात्म को॥

अन्वयार्थ : [**व्यपगतमोहः**] जिसने मोह को दूर किया है और [**सम्यक् आत्मनः तत्त्वं**] आत्मा के सम्यक् तत्व को (सच्चे स्वरूप को) [**उपलब्धवान्**] प्राप्त किया है, ऐसा [**जीवः**] जीव [**यदि**] यदि [**रागद्वेषौ**] राग-द्वेष को [**जहाति**] छोड़ता है, [**सः**] तो वह [**शुद्धं आत्मानं**] शुद्ध आत्मा को [**लभते**] प्राप्त करते हैं।

टीका : इस प्रकार जिस उपाय का स्वरूप वर्णन किया है, उस उपाय के द्वारा मोह को दूर करके भी सम्यक् आत्मतत्व को (यथार्थ स्वरूप को) प्राप्त करके भी, यदि जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है, तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। (किन्तु) यदि पुनः-पुनः उनका अनुसरण करता है - रागद्वेषरूप परिणमन करता है, तो प्रमाद के अधीन होने से शुद्धात्मतत्त्व के अनुभवरूप चिन्तामणि-रत्न के चुराये जाने से अन्तरङ्ग में खेद को प्राप्त होता है। इसलिए मुझे राग-द्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना चाहिए।

भावार्थ : ८० वीं गाथा में बताये गये उपाय से दर्शनमोह को दूर करके, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, जो जीव शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र के प्रतिबन्धक राग-द्वेष को छोड़ता है, पुनः-पुनः राग-द्वेषभाव में परिणमित नहीं होता, वही अभेदरत्नत्रय-परिणत जीव शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव आत्मा को प्राप्त करता है-मुक्त होता है। इसलिए जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भी, सरागचारित्र प्राप्त करके भी, राग-द्वेष के निवारणार्थ अत्यन्त सावधान रहना चाहिए॥ ८१ ॥

प्रवचन नं. ७३ का शेष **दिनाङ्क १४ मई १९७९**

(अब, ८१ गाथा)। **अब, इस प्रकार मैंने चिन्तामणि-रत्न प्राप्त कर लिया...** आ...हा...! चिन्तामणि-रत्न प्रभु (आत्मा)! वह चिन्तामणि मैंने प्राप्त किया है। **तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है, ऐसा विचार कर जागृत रहता है** - आहा...हा...! (अर्थात्) उसमें भी शुभभाव आता है, वह चोर है, गुनाह है; इसलिए मुझे जागृत रहना पड़ेगा। आहा...हा...! आहा...हा...! महाव्रत के परिणाम भी प्रमाद है। प्रमाद होता है न? छठवें

गुणस्थान में प्रमाद (होता है), उसमें यह प्रमाद है। आहा...हा...! मुनिराज कहते हैं कि मैंने चिन्तामणि प्राप्त किया है, **तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है,...** आहा...हा...! ऐसा विचार कर उससे जागृत रहता है। आहा...हा...! शुद्ध उपयोग में रहना है – ऐसा कहते हैं। जैसा आत्मा अनुभव किया है, देखा है, जाना है, उसमें अब लीन होना है। वरना राग का विकल्प उगता है, वह प्रमाद है – चोर है। यहाँ (अज्ञानी लोग) यह कहते हैं कि महाव्रत के परिणाम, चारित्र हैं और चारित्र से लाभ होता है! प्रभु! कठिन पड़ता है भाई! तेरे आत्मा को इस सत्य के सिद्धान्त से विरोध हो जाता है, सत्य से विरोध होता है। भाई... आहा...हा...! ८१ गाथा का उपोद्घात है कि

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति –

दस्यु अर्थात् चोर। आ...हा...! देखो यह मुनिराज! देखो आचार्य! आहा...हा...! जैन के साधु! जैन के आचार्य। बापा...! वे कैसे होते हैं? भाई! आहा...हा...! **जीवो ववगद मोहो...** मोह का तो नाश किया...।

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

नीचे हरिगीत –

जो मोहभाव को दूर करि, पाकर सम्यक् आत्म को।
यदि राग-द्वेष को छोड़ता, वो पाता है शुद्धात्म को॥

चारित्र लिया। (पहले जो) कटिबद्ध लिया था, वह वापस यहाँ डाला है। आहा...हा...! इसलिए (ऐसा कहते हैं कि) मोह नाश हुआ, यदि इतने से ही अटक गया तो प्रमाद का विकल्प उठता है, पञ्च महाव्रत का जो शुभभाव आयेगा, आहा...हा...! वह प्रमाद – चोर है। उसका फल दुःख है, उसका फल तो दुःख की विजय है। उसमें परमात्मा की विजय नहीं आयी। आहा...हा...!

टीका : इस प्रकार जिस उपाय का स्वरूप वर्णन किया है, उस उपाय के द्वारा... उस उपाय के द्वारा... हाँ! दूसरे किसी उपाय के द्वारा नहीं। आहा...हा...! **मोह**

को दूर करके भी... आहा...हा... ! **इस प्रकार जिस उपाय का स्वरूप वर्णन किया है, उस उपाय के द्वारा... उस उपाय के द्वारा...** मोह-मिथ्यात्व को **दूर करके भी सम्यक् आत्मतत्त्व को (यथार्थ स्वरूप को) प्राप्त करके भी...** आहा...हा... ! यह पञ्चम काल के सन्त ऐसी बात करते हैं ! यहाँ (लोग ऐसा) कहते हैं कि 'पञ्चम काल में शुभयोग ही होता है' अब इसमें क्या करना ? इन सब (मुनि को) शुभयोग ही होगा ? कुन्दकुन्दाचार्य शुभयोगवाले ? प्रभु ! क्या करता है ? स्वयं को पहुँच नहीं सकता तो क्या करता है ? आहा...हा... !

इस प्रकार जिस उपाय का स्वरूप वर्णन किया है, उस उपाय के द्वारा मोह को दूर करके भी.... एक बात। यह तो नास्ति कही। अब **सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके भी...** अर्थात् अस्ति कही। आहा...हा... ! **मोह को दूर करके भी...** यह तो पर का दूर हुआ, परन्तु प्राप्त क्या हुआ ? **सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके भी...** आहा...हा... ! **यदि जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है,...** इसके बाद भी यदि जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है **तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।** आहा...हा... ! सम्यक् दर्शन होकर भी यदि राग-द्वेष में रहता है तो उसे शुद्ध अनुभव नहीं होता। आहा...हा... ! **यदि जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है,...** भाषा देखी ? निर्मूल करता है (अर्थात्) मूल में से मिटा देता है। आहा...हा... ! अरे... ! पञ्चम काल के सन्त ! इतना अधिक जोर !! पहले कहा न ? कि मोह को दूर करके सम्यक् आत्मा को प्राप्त किया। (तत्पश्चात्) जो जीव राग-द्वेष को निर्मूल करता है (अर्थात्) जो पाँच महाव्रत आदि का विकल्प उत्पन्न होता है, वह शुभ व्यभिचार आदि है, (उसे निर्मूल करता है), **तो शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है।** वह शुद्ध आत्मा का अनुभव कर सकता है।

(किन्तु) यदि पुनः-पुनः उनका अनुसरण करता है... आ...हा...हा... ! (अर्थात् कि) उस पुण्य और पाप के राग का (अनुसरण करता है)... यहाँ मूल तो शुभराग की विशेष बात है। आहा...हा... ! यदि उस शुभराग का पुनः-पुनः अवलम्बन करता है, अनुसरण करता है। आहा...हा... ! वह **रागद्वेषरूप परिणमन करता है, तो प्रमाद के अधीन होने से...** आहा...हा... ! पञ्च महाव्रत, व्यवहार समिति, गुप्ति, निर्दोष आहार

लेना (यह सब विकल्प प्रमाद है) । आहा...हा... ! सदोष आहार लेते हैं (उसकी) तो यहाँ बात नहीं है । यहाँ तो निर्दोष आहार लेने का विकल्प है, वह भी प्रमाद है । आहा...हा... !

प्रमाद के अधीन होने से.... पुनः-पुनः राग-द्वेषरूप परिणमन करता है, वह **प्रमाद के अधीन होने से शुद्धात्मतत्व के अनुभवरूप चिन्तामणि-रत्न के चुराये जाने से अन्तरङ्ग में खेद को प्राप्त होता है ।...** देखा ? पञ्च महाव्रतादि के शुभपरिणाम, वह खेद है, दुःख है । आहा...हा... ! मुनिराज अपनी बात करते हैं । आहा...हा... ! **अन्तरङ्ग में खेद को प्राप्त होता है ।**

इसलिए मुझे राग-द्वेष को दूर करने के लिए... इस कारण **मुझे राग-द्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना चाहिए ।** आहा...हा... ! राग-द्वेष की उत्पत्ति न हो वैसे जागृत रहना योग्य है - ऐसा कहते हैं । अभाव करने का अर्थ तो ऐसा कहते हैं न ? आहा...हा... ! **राग-द्वेष को दूर करने के लिए अत्यन्त जागृत रहना चाहिए ।** (अर्थात्) ज्ञाता-दृष्टा की उग्रदशा प्रगट करना चाहिए । आहा...हा... ! वह राग-द्वेष के अभाव का एक उपाय है । **अत्यन्त जागृत रहना चाहिए ।** आहा...हा... !

प्रश्न : दूसरी जगह आता है कि पञ्चाचार मेरे साथ रहना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह व्यवहार की बात है । उसमें कहा है कि पञ्चाचार मेरा स्वरूप नहीं है । प्रवचनसार में (आता है कि) मैं जानता हूँ कि पञ्चाचार मेरा स्वरूप नहीं है परन्तु जब तक मैं पूर्णता को नहीं प्राप्त करूँ, तब तक तेरा निमित्तपना होता है, इतना ! आहा...हा... ! तेरा आश्रय लेकर (पूर्णता प्राप्त करूँ) - ऐसा नहीं परन्तु अपने स्वरूप में नहीं रह सकता; इसलिए पञ्चाचार का ऐसा यह भाव (आता है) । मैं जानता हूँ कि पञ्चाचार - व्यवहार मेरा स्वरूप नहीं है । ऐसा तो पहले कहा है । आहा...हा... ! यह मेरा स्वरूप नहीं है और मेरी जाति नहीं है । आहा...हा... ! विशेष भावार्थ करेंगे... !

प्रवचन नं. ७४ **दिनाङ्क १५ मई १९७९**

प्रवचनसार ८१ (गाथा का) **भावार्थ ।**

८० वीं गाथा में बताये गये उपाय से दर्शन-मोह को दूर करके,... आहा...हा... !

अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, जो जीव शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र के... शुद्ध आत्मा के स्वरूप का शुद्ध वीतराग आचरण-शुद्धात्म वीतराग आचरण-चारित्र के **प्रतिबन्धक राग-द्वेष को छोड़ता है,....** बात आगे ले गये हैं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भी, शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप चारित्र-अन्तर वीतरागता की रमणता है, उसे रोकनेवाले **प्रतिबन्धक राग-द्वेष को छोड़ता है, पुनः-पुनः राग-द्वेषभाव में परिणमित नहीं होता,...** आहा...हा... ! पञ्चम काल के साधु भी इस प्रकार बात करते हैं कि पञ्चम काल में ऐसा नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! पञ्चम काल के श्रोता से ऐसा कहते हैं। आ...हा... !

प्रथम आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन प्राप्त करके और शुद्धात्मा के (अनुभवरूप) वीतरागचारित्र को रोकनेवाले राग-द्वेष का अभाव करके, पुनः-पुनः (राग-द्वेष भाव से) परिणमित नहीं होता। आहा...हा... ! अन्तर में सम्यग्दर्शन के उपरान्त वीतरागभावरूप परिणमित होता है। आहा...हा... ! **वही...** वह एक ही; **अभेदरत्नत्रय-परिणत जीव... अभेदरत्नत्रय-परिणत जीव** (अर्थात्) अभेद पूर्ण चैतन्यस्वरूप का दर्शन, उसका ज्ञान और उसका चारित्र - यह निश्चय अभेद रत्नत्रय है। आहा...हा... ! **अभेदरत्नत्रय-परिणत...** (अर्थात्) अभेदरत्नत्रय से परिणमित हुआ जीव, **शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाव आत्मा को प्राप्त करता है...** लो ! यहाँ तो पञ्चम काल के जीव को ऐसा कहते हैं ! अभी मोक्ष नहीं है न ? भावार्थ में भी मोक्ष का अर्थ ही यह है।

शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव आत्मा को.... जो शुद्ध है, पवित्र है, ज्ञानकन्द है, एकस्वभाव है - ऐसे **आत्मा को प्राप्त करता है...** (अर्थात्) **मुक्त होता है।...** उसके ज्ञान में तो यह दशा होनी चाहिए। (ऐसा हो तो) मुक्त हो - ऐसा उसका अनुभव तो चाहिए न ? आहा...हा... ! भले ही (अभी) मोक्ष नहीं हो सकता, यह अलग बात है, परन्तु मोक्ष होता है तो इस प्रकार होता है। (ऐसा उसके ज्ञान में होता है)। सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ही बारम्बार राग-द्वेष में परिणमन होता हो तो वह तो चारित्र को प्रतिबन्ध करनेवाले हैं। उसे रोककर स्वरूप में - आनन्दकन्द ज्ञायकभाव में रमणता की, शुद्धात्मानुभूति चारित्रदशा प्रगट करता है। आहा...हा... ! **वही मुक्त होता है।...** आहा...हा... ! इसलिए जीव को

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भी आहा...हा... ! आत्मा शुद्ध चैतन्यघन आनन्द (स्वरूप), ऐसी विद्यमान वस्तु है, उसका अनुभव करके... आहा...हा... ! तदुपरान्त **सरागचारित्र प्राप्त करके भी...** आहा...हा... ! स्वरूप में चारित्र आया है परन्तु अभी छठवें गुणस्थान में रागभाव बाकी है। ऐसे रागभाववाला सरागचारित्र, (मूलचारित्र जो है) वह तो अरागी है, इतना ही है। परन्तु अभी पूर्ण चारित्र नहीं हुआ, इसलिए राग के साथ युक्त है। आहा...हा... ! **ऐसे सरागचारित्र को प्राप्त करके भी...** ऐसा... आहा...हा... ! सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके भी और ऐसे चारित्र को प्राप्त करके भी... आहा...हा... !

श्रोता : सरागचारित्र पालना पड़ा न ?

समाधान : पालना नहीं पड़ा, आता है; पालना नहीं पड़ा, कमजोरी के कारण बीच में आता है। यह पहले कह गये हैं कि राग बीच में आता है, उसे छोड़कर... शुरुआत में आया है न ? भाई ! आहा...हा... ! राग तो आता है परन्तु इसे करना (है वह) तो उसे (राग को) छोड़कर करना है।

अब कहते हैं - **राग-द्वेष के निवारणार्थ अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।** आनन्द का नाथ प्रभु, ज्ञायक स्वरूप, जो अकेला अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय शक्तियों का पिण्ड है, उसमें सम्यग्दर्शनसहित; अकेले सरागचारित्रसहित नहीं, रहते हुए... आहा...हा... ! उसमें वीतरागचारित्र को प्राप्त करके मुक्त होता है। इसलिए वहाँ **अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।** स्वरूप की तरफ (सावधान रहना योग्य है।) आहा...हा... !

एक तो स्वयं को इस प्रकार देखना है और दूसरे के शरीर की चेष्टाओं को, उसकी आकृतियों को - युवापन की अथवा वृद्धापन की (आकृतियों को) नहीं देखना। प्रभु कहते हैं आहा...हा... ! उनके अन्दर आत्मा क्या है, यह देखो। आहा...हा... ! क्योंकि वह भी जब राग से मुक्त आत्मा को जाना और देखा है तो उसका आत्मा ऐसा है, ऐसा तू देख। शरीर की युवापन की चेष्टा और शरीर के आकार की, इन्द्रियों की (आकृति)... आहा...हा... ! उनके प्रति लक्ष्य जाने पर भी उनका ज्ञान उन पर न जाकर उनका आत्मा अन्दर निर्मलानन्द राग से रहित है, ऐसा देख ! आहा...हा... ! अर्थात् बाहर की वस्तुओं की अनेक आकृतियाँ आदि, रूप आदि के प्रकार और स्थूल (शरीर) आदि के अथवा शरीर की

पुष्टि आदि के अथवा इन्द्रियों के आकार प्रकार हैं। आहा...हा...! उनसे नजर उठा दे। तूने जब राग से नजर उठाई है और वस्तु के स्वरूप की दृष्टि प्रगट की है; आत्मा अन्दर राग से भिन्न है ऐसा जाना - देखा है तो वैसा ही उनका आत्मा है। उस पर नजर कर न! भले ही विकल्प है, आहा...हा...! दूसरों के शरीर और उसके निवासस्थान, मकान, और उनके कपड़े या गहने... आहा...हा...! और उनके रहने के - बैठने के स्थान इन सब पर लक्ष्य अथवा जोर अब मत दे। आहा...हा...! क्योंकि उनका आत्मा; (जैसा) तू है - जैसा तूने जाना है, तो वैसा ही आत्मा उनका है, तुझे अन्दर में भले ही पर को जानने का विकल्प आयेगा कि उसका आत्मा ऐसा है परन्तु वह बाहर के आकार और बाहर के प्रकारों से भिन्न ऐसी चीज है; इस प्रकार जानने का विकल्प आयेगा।

अरहन्त को देखने के लिए भी उनका समवसरण और देव इस प्रकार चँवर ढोलते हैं इस पर नजर मत कर। आ...हा...हा...! उनका भगवान आत्मा उनको पूर्ण प्राप्त है - चैतन्यघन जैसी चीज है (वैसा) ही पर्याय में घन हो गया है। तुझे घन होना है। घन की दृष्टि हुई है तो उसके आत्मा पर तू नज़र कर। आहा...हा...! यह तो पहले अपने आ गया है न? **जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।** आहा...हा...! उसके बाद तो यह गाथाएँ हैं। आहा...हा...! उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को देखने के लिए उनके समवसरण और इन्द्र और देव चँवर ढोलते हैं, उन्हें मत देख। आहा...हा...!

श्रोता : पर्याय दिखती है परन्तु द्रव्य-गुण किस प्रकार देखना?

समाधान : पर्याय भी, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों जाने, तब पर्याय देखी कहलाती है। अकेली पर्याय देखे, वह पर्याय देखना नहीं है। अपना आत्मा राग से भिन्न जाना है; जानती है, यह तो पर्याय है परन्तु जिसे जाना है, वह द्रव्य है। आहा...हा...! तो दूसरे का आत्मा भी भले ही, उसकी पर्याय हो परन्तु वह पर्याय भी, जब तुझे निर्मल पर्याय में ख्याल में आया; तो वह चीज भी निर्मल पर्याय में उसे ख्याल में आयेगी ऐसा ही उसका आत्मा है। आहा...हा...! ऐसा पहले आ गया है। ८० वीं (गाथा में) यह मूल बात रखी है। आहा...हा...!

भले ही टीकाकार ने उनकी व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय ली परन्तु समवसरण

और वह नहीं लिया। क्या कहा समझे ? आहा...हा... ! वास्तव में तो उसमें भगवान की वाणी भी नहीं ली है। आहा...हा... ! कायम रहनेवाली व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय और विशेष तथा सामान्य गुण लिये हैं। आहा...हा... ! क्या शैली है ! समझे ! आहा...हा... ! उसे तू देख और फिर तू अन्दर में उतर जा ! आहा...हा... ! उनका आत्मा भी इसी प्रकार देख ! उनकी वाणी की ध्वनि ऐसी आती है और परम औदारिक शरीर है, यह भी नहीं कहा। उनकी व्यञ्जनपर्याय की आकृति ली है। आहा...हा... ! इसलिए (उनका) अन्तर का आत्मा कैसा है ? यह जानकर और अन्दर में तू उतर। उसमें उतरकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करके भी, दीक्षित होकर चारित्र अङ्गीकार किया हो – छठवाँ गुणस्थान (आया हो), तथापि उस राग में आना, वह चारित्र को रोकनेवाला है। आहा...हा... ! बहुत कठोर बात है।

इन **राग-द्वेष के निवारणार्थ अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।** आहा...हा... ! यह धन्धा कब करेगा ? यहाँ तो (शास्त्र) पढ़ना – ऐसा भी नहीं कहा है। यहाँ तो अन्दर में दर्शनशुद्धि हुई और चारित्र भी आया। (अब) थोड़ा राग है, उस राग के अभाव के लिए सावधान हो। आहा...हा... ! इन्हें कहाँ ले जाना है ? पहले सम्यग्दर्शन में ही इसके सब व्यापार-धन्धा, स्त्री-पुत्र-परिवार, सब पररूप से जानकर पर से पृथक् किया। आहा...हा... ! और उस पर से पृथक् करने के बाद ही उसे देखने में भी उनका आत्मा क्या है ? उस पर तेरी नजर चाहिए, क्योंकि तेरी नजर आत्मा पर है कि चैतन्य ऐसा है, ज्ञायकभाव से भरपूर प्रभु है – तो इस प्रकार वह भी ज्ञायकभाव से भरपूर तत्त्व है, वहाँ तेरी नजर होना चाहिए। वह भी अभी उन पर नजर है, वह राग है। आहा...हा... ! तो बाह्य शरीर के आकार और आकृति देखकर, युवावस्था के शरीर का दल, उसका आकार देखना यह तो बहुत तीव्रराग है। आहा...हा... ! इतना भी समेट दे। अब पहले दर्शन में समेटा था – सबसे जुदा पड़कर द्रव्य पर गया है, इस प्रकार अब अस्थिरता में जो राग आता है, उसे भी समेट दे। आहा...हा... ! उसमें **अत्यन्त सावधान रहना योग्य है।** यह ८१ (गाथा पूर्ण) हुई। 1

गाथा – ८२

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति -

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।।८२।।

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः।।८२।।

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थकराः, प्रकारान्तरस्यासंभवाद-संभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानीं वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य, निःश्रेयसमध्याश्रिताः। ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते। अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम। नमो भगवद्भ्यः।।८२।।

अथ पूर्वं द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं विज्ञाय पश्चात्तथाभूते स्वात्मनि स्थित्वा सर्वेऽप्यर्हन्तो मोक्षं गता इति स्वमनसि निश्चयं करोति - **सव्वे वि य अरहंता** सर्वेऽपि चार्हन्तः **तेण विधाणेण** द्रव्यागुणपर्यायैः पूर्वमर्हत्परिज्ञानात्पश्चात्तथाभूतस्वात्मावस्थानरूपेण तेन पूर्वोक्तप्रकारेण **खविदकम्मंसा** क्षपितकर्मांशा विनाशितकर्मभेदा भूत्वा. **किच्चा तधोवदेसं** अहो भव्या अयमेव निश्चयरत्नत्रयात्मक-शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षमार्गो नान्य इत्युपदेशं कृत्वा **णिव्वादा** निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाताः, **ते** ते भगवन्तः। **णमो तेसिं** एवं मोक्षमार्गनिश्चयं कृत्वा **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा**स्तस्मै निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्योऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिणः सन्तो `नमोस्तु तेभ्य' इत्यनेन पदेन नमस्कारं कुर्वन्तीत्यभिप्रायः।।८२।।

अब, यही एक (पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित यही एक), भगवन्तों ने स्वयं अनुभव करके प्रगट किया हुआ निःश्रेयस[१] का पारमार्थिकपन्थ है – इस प्रकार मति को व्यवस्थित[२] करते हैं –

---

१. निःश्रेयस = मोक्ष। २. व्यवस्थित = निश्चित; स्थिर।

क्षय करके सर्वहि कर्मों का, अरिहन्त उस ही विधान से।
उपदेश करके उसहि का, भये मुक्त, हो वन्दन उन्हें॥

अन्वयार्थ : [सर्वे अपि च] सभी **[अर्हन्तः]** अरहन्त भगवान **[तेन विधानेन]** उसी विधि से **[क्षपितकर्मांशाः]** कर्मांशों का क्षय करके **[तथा]** तथा उसी प्रकार से **[उपदेशं कृत्वा]** उपदेश करके **[निर्वृताः ते]** मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, **[नमः तेभ्यः]** उन्हें नमस्कार हो।

टीका : अतीत काल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थङ्कर भगवान, प्रकारान्तर[१] का असम्भव होने से जिसमें द्वैत सम्भव नहीं है; ऐसे इसी प्रकार से कर्मांशों (ज्ञानावरणादि कर्म भेदों) का क्षय स्वयं अनुभव करके (तथा) परमाप्तता[२] के कारण भविष्य काल में अथवा इस (वर्तमान) काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसी प्रकार से उसका (कर्म क्षय का) उपदेश देकर निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं; इसलिए निर्वाण का अन्य (कोई) मार्ग नहीं है - ऐसा निश्चित होता है। अथवा, अधिक प्रलाप से बस होओ! मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है। भगवन्तों को नमस्कार हो।

भावार्थ : ८० और ८१ वीं गाथा के कथनानुसार सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागचारित्र के विरोधी राग-द्वेष को दूर करना अर्थात् निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धानुभूति में लीन होना ही एकमात्र मोक्षमार्ग है; त्रिकाल में भी कोई दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है। समस्त अरहन्तों ने इसी मार्ग से मोक्ष प्राप्त किया है और अन्य मुमुक्षुओं को भी इसी मार्ग का उपदेश दिया है। उन भगवन्तों को नमस्कार हो॥ ८२॥

प्रवचन नं. ७४ का शेष **दिनाङ्क १५ मई १९७९**

अब, यही एक (पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित यही एक), भगवन्तों ने.... आहा...हा...! यही **भगवन्तों ने स्वयं अनुभव करके प्रगट किया हुआ...** आहा...हा...!

---

१. प्रकारान्तर = अन्य प्रकार (कर्मक्षय एक ही प्रकार से होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता, इसलिए उस कर्मक्षय के प्रकार में द्वैत अर्थात् दो-रूपपना नहीं है।)

२. परमाप्त = परम आप्त; परम विश्वासपात्र (तीर्थङ्कर भगवान सर्वज्ञ और वीतराग होने से परम आप्त हैं, यथार्थ उपदेष्टा है।)

अनन्त... अनन्त... भगवन्तों की एक तो आस्था करायी है। अनन्त... अनन्त... भगवन्तों ने कहा है, उसकी पहले आस्था करायी है। आहा...हा...! **भगवन्तों ने स्वयं अनुभव करके...** अनन्त... अनन्त... भगवन्तों ने अनुभव करके, आहा...हा...! पर की आस्था का विषय भी कितना बड़ा किया! आहा...हा...! अनन्त भगवन्त कि जिसकी आदि नहीं ऐसे अनन्त काल से (होते आ रहे)। अनन्त तीर्थङ्कर अनन्त भगवन्तों ने... आहा...हा...! **स्वयं अनुभव करके प्रगट किया हुआ....** उन्होंने ऐसा कथनमात्र दिया ऐसा नहीं, कहते हैं। **अनुभव करके प्रगट किया हुआ निःश्रेयस का पारमार्थिकपन्थ है....** निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष उसका पारमार्थिक पन्थ है। **इस प्रकार मति को व्यवस्थित करते हैं** – यही मति को व्यवस्थित करने का मार्ग है। आहा...हा...! है न? **मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है।** ऐसा (टीका के) अन्त में है। आहा...हा...! मति में अब कुछ फेरफार नहीं रहा। आहा...हा...! गाथा –

सव्वे वि य अरहंता.... आहा...हा...! समस्त अरहन्ता। जैसे – **वंदित्तु सव्व सिद्धे** (आता है) वहाँ सर्व अनन्त सिद्ध हैं – ऐसा विश्वास कराकर फिर सिद्ध की स्थापना की है। आहा...हा...! इसी प्रकार...

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।। ८२।।

कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं। ओ...हो...!

क्षय करके सर्वहि कर्मों का, अरिहन्त उस ही विधान से।
उपदेश करके उसहि का, भये मुक्त, हो वन्दन उन्हें॥

यह विधि है। आहा...हा...! **उपदेश करके उसहि का,...** आहा...हा...! अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जानकर स्वयं भी अन्दर में अरहन्तपना दर्शन करके प्राप्त-प्रगट किया है। आहा...हा...! **सव्वे वि य अरहंता...** अनन्त... अनन्त... काल के अनन्त... अनन्त... अरहन्त! आहा...हा...! अरे! कितना तो विश्वास है! आहा...हा...! ऐसे अनन्त तीर्थङ्कर! आहा...हा...! **क्षय करके सर्वहि कर्मों का, ...उस ही विधान से। उपदेश**

करके उसहि का,... जिस विधि से काम लिया और मोक्ष हुआ, वह विधि जगत् को बतायी। आहा...हा... ! निवृत्त हुए और मुक्ति प्राप्त हुए, फिर उस उपदेश से भी निवृत्ति को प्राप्त हुए। आहा...हा... ! **हो वन्दन उन्हें।** उनके पन्थ को और उन्हें नमस्कार करता हूँ।

टीका : अतीत काल में क्रमशः हुए.... आहा...हा... ! भूतकाल में – अतीत काल में क्रमश: हो गये अनन्त... अनन्त... अनन्त... तीर्थङ्कर, जिनकी आदि नहीं – ऐसा जो अतीत काल ! आहा...हा... ! **अतीत काल में क्रमशः हुए....** सब एक साथ नहीं हुए। एक के बाद एक हुए हैं। आहा...हा... ! **अतीत काल में क्रमशः हुए समस्त तीर्थङ्कर भगवान,....** तीर्थङ्कर भगवान लिये हैं। आहा...हा... ! अनन्त... अनन्त... अनन्त... त्रिकाल में, त्रिकाल के जाननेवाला का विरह कभी नहीं होता। त्रिकाली वस्तु को जाननेवाले का – त्रिकाली को, त्रिकाल में जाननेवाले का त्रिकाल में कभी विरह नहीं होता। आहा...हा... ! वीतरागमार्ग बहुत गहरा है भाई ! गम्भीर... गम्भीर... आहा...हा... !

अनन्त... अनन्त... **क्रमशः...** क्रम से हुए; एक साथ नहीं होते। भरत में, ऐरावत में महाविदेह में... **क्रमशः हुए समस्त तीर्थङ्कर भगवान, प्रकारान्तर का असम्भव होने से...** (प्रकारान्तर) अर्थात् **अन्य प्रकार (कर्मक्षय एक ही प्रकार से होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता, इसलिए उस कर्मक्षय के प्रकार में द्वैत अर्थात् दो-रूपपना नहीं है।)** किसी को कोई अपवास करने से होता है और किसी को अन्दर में ध्यान में एकाग्रता से होता है – ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। आहा...हा... !

यह प्रवचनसार है ! समयसार की तो लोग महिमा करते हैं परन्तु यह तो प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय आहा...हा... ! भगवान की साक्षात् वाणी है। **प्रकारान्तर का असम्भव होने से...** अनन्त भूतकाल के अनन्त तीर्थङ्कर... आहा...हा... ! **क्रमशः हुए...** ऐसे (अनन्त तीर्थङ्कर) और उनका जो मार्ग है, वह एक ही प्रकार का है। **जिसमें द्वैत सम्भव नहीं है;...** किसी को कुछ कहा और किसी को कुछ कहा – ऐसा नहीं है। द्वैतपना नहीं है, एक अद्वैतपना है। सभी तीर्थङ्कर एक ही (प्रकार से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं)। दर्शनमोह का नाश होकर समकित प्राप्त करके और (तत्पश्चात्) राग का भी नाश करके और चारित्र प्राप्त करके मुक्ति होती है – (यह) एक ही प्रकार का वर्णन है। आहा...हा... !

श्रोता : अपवाद नहीं है ?

समाधान : अपवाद बताया है, वह ज्ञान कराया है। अपवाद का अर्थ ही अपवाद है। आता है, उत्सर्ग आता है न ? वह तो इसमें नहीं रह सकते, इसलिए आता है, परन्तु वह मार्ग है – ऐसा नहीं। वस्तु तो वहाँ है, यह तो आ गया और उत्सर्ग और अपवाद की हठ नहीं है। इसका अर्थ कि अन्दर स्वरूप में निर्विकल्परूप से स्थित नहीं रहा जा सके तो उसे हठ नहीं है कि मुझे आत्मा में ही रहना है। विकल्प आवे... आता है, उसे जानता है, उसका स्वामी और मालिक नहीं होता। आहा...हा... ! और उससे स्वरूप में कुछ भी वृद्धि मिलेगी, सहायता होगी – ऐसा भी नहीं मानता। आहा...हा... !

द्वैत सम्भव नहीं है; ऐसे इसी एक प्रकार से.... इसी एक प्रकार से अर्थात् स्वरूप का दर्शन और स्वरूप में स्थिरता। आहा...हा... ! चिदानन्द भगवान द्रव्यस्वभाव का अनुभव करके प्रतीति करना और स्थिरता करके चारित्र करना। आहा...हा... ! ऐसा मार्ग है।

श्रोता – इस काल में भक्ति मार्ग सरल है !

पूज्य गुरुदेवश्री – नहीं... नहीं... नहीं... कहते हैं दिव्यध्वनि में कहा है। श्रीमद् में तो कहा है सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करो। आहा...हा... ! यह विधि एक ही है। भगवान तो अनन्त तीर्थङ्कर हुए, अनन्त सत्पुरुष हुए, तो उनके कारण जगत का कल्याण क्यों नहीं हुआ ? आहा...हा... ! जगत तो है वह है, उल्टा है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बातें हैं बापू ! लोगों को बाहर से अच्छा लगता है। सत्पुरुषों के योगबल से जगत का कल्याण हो। अपने को अच्छे पुरुष मिले नहीं – इससे कल्याण हुआ नहीं ?... यह तो विकल्प है भाई ! ज्ञायकस्वरूप भगवान है, उसमें विकल्प तो मेल और दुःख है। आहा...हा... ! यह पर के योगबल से आत्मा में कुछ कार्य हो – ऐसा कुछ नहीं है। तीर्थङ्कर के समवसरण में अनन्त बार गया, सुना अनन्त बार, उससे क्या ? यह तो विकल्प-राग है। आहा...हा... ! परद्रव्य की ओर से – समस्त परद्रव्यों से हटकर... इसलिए आया न ? अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जानें और जानकर फिर उसमें अपने में मिलान करे और उसमें मिलाकर गुण-पर्याय को द्रव्य में अन्तर्गत किया। आहा...हा... ! अन्दर एकरूप प्रभु है, उसका अनुभव

वह सम्यग्दर्शन है और फिर राग आता है परन्तु उसमें सावधान न होकर राग के अभाव के लिए सावधान हो! ऐसा ही मार्ग अनन्त तीर्थङ्करों ने किया है और कहा है।

श्रोता : भगवान ने किया कुछ और कहा कुछ – ऐसा नहीं है।

समाधान : ऐसा नहीं है। कितने ही कहते हैं कि भगवान ने किया कुछ और कहा कुछ। ऐसा है ही नहीं बापू! आहा...हा...! यह कहा है वही किया है और किया है वही कहा है और फिर वही करने को कहा है। यह यहाँ पर कहा है।

ऐसे इसी एक प्रकार से कर्मांशों (ज्ञानावरणादि कर्मभेदों) का क्षय स्वयं अनुभव करके... आहा...हा...! उपशम और क्षयोपशम यह बात भी यहाँ तो नहीं ली है। आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों की बात गजब है! **कर्मांशों का क्षय स्वयं अनुभव करके (तथा) परमाप्तता के कारण...** परम आप्त (अर्थात्) परम विश्वासपात्र। परम आप्त; परम विश्वासपात्र (तीर्थङ्कर भगवान सर्वज्ञ और वीतराग होने से परम आप्त हैं, यथार्थ उपदेष्टा है।) आहा...हा...! यद्यपि अध्यात्म पञ्च संग्रह में, समकिती को भी आप्त कहा है। उससे यहाँ परम है न? परम आप्त है न? परम आप्त हैं। आहा...हा...! पण्डित दीपचन्दजी का अध्यात्म पञ्च संग्रह है न? आप्त की व्याख्या करते हुए, सम्यग्दर्शन तक आप्त लिखा है। यह तो परम आप्त हैं। आहा...हा...! बापू! संसार के अनन्त प्रकार का उत्साह यह ऐसे छूटना चाहिए भाई! आहा...हा...! (उत्साह के) अनन्त... अनन्त... प्रकार हैं। यहाँ अनन्त... अनन्त... गुणों का नाथ प्रभु और ऐसे बाहर में (उत्साह के) अनन्त प्रकार। उस ओर का उत्साह और जोश (छूट जाना चाहिए)। उसमें नहीं आया था? विकल्प का उत्साह निवृत्त हुआ है। आहा...हा...! पर तरफ तो नहीं परन्तु पर तरफ के श्रुतज्ञान का जो विकल्प है, आहा...हा...! उसके अनुभव में भी उत्साह निवृत्त हुआ है। आहा...हा...!

परमाप्तपने के कारण... परम आप्तपने के कारण, परम विश्वासपात्र के कारण, आहा...हा...! भगवान को परम विश्वासपात्र हैं। तीर्थङ्कर भगवान सर्वज्ञ (और) वीतराग होने से परम आप्त हैं, यथार्थ उपदेष्टा हैं। अभी बहुत से तो ऐसा लिखते हैं; आज ही कहीं आया है कि भगवान की वाणी में कितना कुछ है और कितना नहीं कहा; इसलिए अभी

बहुत प्रकार होंगे और जो कहे हैं, उनसे भी बहु अन्तर होंगे? अरे प्रभु! यह तू क्या करता है? यह तो उनकी विशेषता का गम्भीरता का अनन्तता का पार न है परन्तु जो कहा है, वह तो वही सत् है। इसलिए ऐसा कहा है न? कि **वे स्वयं अनुभव करके, परमाप्तता के कारण...** परम आप्तपना है। उन्होंने जो कहा है, वह परम विश्वास करने योग्य है। वे परम आप्त पुरुष हैं। आहा...हा...! वैसा आता अवश्य है न कि भगवान ने जितना जाना है, उतना कह नहीं सके; अनन्तवें भाग कहा है परन्तु बापू! यह वाणी है और वह वस्तु है, सो अरूपी चीज है और वाणी में तो अनन्तवाँ भाग आता है। आहा....हा...! और वह कहनेवाले ने जो अनन्तवाँ भाग कहा, उसे गणधर ने अनन्तवें भाग झेला। आहा...हा...! उसके अनन्तवें भाग में (शास्त्रों की) रचना हुई। इससे कहीं (दूसरा कहीं बाकी रह गया होगा – ऐसा नहीं है)। (जितना देखा, उतना कह नहीं सके, ऐसा जो कहा) वह तो सत्य की अनन्तता की और गम्भीरता की बात है परन्तु इससे जो कहा है, उससे भी दूसरा कुछ अन्दर होगा (ऐसा नहीं है)। आज कहीं आया है – ऐसा भगवान ने (भले ही) कहा परन्तु दूसरा भी अभी कुछ अन्दर है! आहा...हा...! अरे... रे...! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कहा, वह भले ही अनन्तवें भाग आया, परन्तु आया है वह सत्य है। रचा गया वह भी सत्य है, आहा...हा...! अनन्तवाँ भाग कहा गया, अनन्तवाँ भाग झेला गया। अनन्तवें भाग रचा गया; इस कारण कहीं उसमें किसी अंश में अन्तर है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

परमाप्तता को प्राप्त! आहा...हा...! यह भूतकाल के तीर्थङ्कर पहले लिये। **भविष्य काल में अथवा इस वर्तमान काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी...** अन्य मुमुक्षु (अर्थात्) मोक्ष के अभिलाषी, जिन्हें आत्मा की अत्यन्त निवृत्ति चाहिए। आहा...हा...! ऐसे मुमुक्षुओं को भी... आहा...हा...! (एक ही प्रकार से कर्मांशों का क्षय) स्वयं अनुभव करके और भविष्यकाल में और इस काल में भी (इसी प्रकार से उपदेश करके), यह काल दूसरा है, इसलिए कुछ फेरफार है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! परम – अर्थात् जितना कहा गया, उतना परम सत्य है। इस काल में भी परम सत्य भगवान की वाणी आहा...हा...! जो दिगम्बर में आयी है, वह बात सत्य है; वह अन्यत्र कहीं नहीं है। आहा...हा...! **भविष्य काल में अथवा इस वर्तमान काल में अन्य मुमुक्षुओं को भी इसी प्रकार से उसका**

(कर्म क्षय का) उपदेश देकर.... यह हल्का काल है, इसलिए इसके लिए कुछ शिथिल करना – दूसरी कोई विधि बताना (ऐसा नहीं होता)। आहा...हा...!

आहा...हा...! प्रभु की भक्ति-पूर्णानन्द का नाथ प्रभु का भजन, उसकी रमणता का भजन, उसकी दृष्टि का भजन तो पहले हुआ परन्तु फिर भी उसकी रमणता की माला फेरना, अर्थात् राग को छोड़कर स्वरूप की सावधानी का अभ्यास (करना...) आहा...हा...! (इन्दौरवाले एक भाई ने) कहा था कि व्यवहार आवे उसमें से कुछ विश्राम मिले, फिर निश्चय में जाया जाता है। फिर वापस फिर गये थे, फिर तो बेचारे आये थे। बाहर की इस दुनिया में जरा इस देश-काल को अनुकूल होने से सम्पूर्ण सत्य बात छोड़ दे बापा! आहा...हा...! दुनिया माने या न माने, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? सत्य का स्वीकार होने में असत्यवाले कोई मदद नहीं करते; विरोध करे इससे सत्य ढीला कर देना, ऐसी कोई चीज नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ तो भविष्य, अतीत, वर्तमान – तीनों काल में – 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' आहा...हा...! इस पर ध्यान नहीं देते और दूसरा कुछ कहा हो तो वहाँ खड़े रहते हैं। आहा...हा...! 'गुरु की आज्ञा में रहने से मोक्ष होता है।' (ऐसा कहा हो) परन्तु गुरु की आज्ञा माने क्या? आज्ञा अर्थात् यह वीतरागता (प्रगट करना)। स्व के आश्रय में जाना वह उनकी आज्ञा है। आहा...हा...! ऐसा है। दुनिया की जाति से यह सारी जाति क्या होगी? बापू! यह तो (वीतराग का) मार्ग! आहा...हा...! राग में अनादि की रेलझेल हो गयी है बापू! यहाँ तो आत्मा की रमणता की बातें हैं। आहा...हा...! भगवान पूर्णानन्द का नाथ, विद्यमान शक्तिवाला तत्व, उसका निर्मल अनुभव होना और फिर भी स्वरूप तरफ की सावधानी और राग के त्याग की सावधानी (होना) – ऐसा मार्ग भगवान ने भूतकाल में वर्णन किया है और वर्तमान में यही वर्णन किया है। आहा...हा...!

अन्य मुमुक्षुओं को भी इसी प्रकार से उसका (कर्म क्षय का) उपेदश... किया है। आहा...हा...! वाणी निकली न? इसलिए उपदेश किया ऐसा कहा है; वरना तो उपदेश किया कहाँ है? परन्तु निमित्त से कथन किया है। आहा...हा...! आया अवश्य है न? दिव्यध्वनि में सत्य आया है (इसलिए उपदेश किया ऐसा कहा है)। आहा...हा...!

निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए हैं;... यही उपदेश करके परमात्मा भूत-भविष्य और वर्तमान में निःश्रेयस पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। आहा...हा... ! **इसलिए निर्वाण का अन्य (कोई) मार्ग नहीं है...** प्रभु ! तू बालक, युवा और वृद्ध मत देख ! स्त्री, पुरुष, नपुंसक, बैल और तिर्यञ्च ऐसा मत देख ! आहा...हा... ! कहते हैं कि ऐसा जो प्रभु आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद भी परतरफ के विकल्पों की सावधानी छोड़ दे। आहा...हा... ! यही निर्वाण का मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। आहा...हा... ! शास्त्र में ऐसा आता है कि व्यवहार सहायक है। लो ! धर्मास्तिकाय गति में सहायक है (ऐसा आता है)। सहायक है का अर्थ क्या ? यह चीज साथ है इतना। परन्तु उसकी कार्य की पर्याय का काल है, वहाँ होता है, उसमें दूसरी चीज क्या करे ? आहा...हा... ! उस-उस द्रव्य की उस पर्याय का अपना-अपना स्वकाल है, उसे देव-गुरु-शास्त्र की वाणी की पर्याय भी उसे क्या करे ? आहा...हा... !

(यहाँ कहते हैं) **इसलिए निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है - ऐसा निश्चित होता है....** आहा...हा... ! **अथवा अधिक प्रलाप से बस होओ!....** जो कहा उससे अधिक कहने से अब बस होओ ! आहा...हा... ! जो कहा... दिगम्बर सन्तों तो... आहा...हा... ! केवली के आढ़तिया! ऐसा केवलज्ञान को खड़ा रखा है न ? आहा...हा... ! **अथवा अधिक प्रलाप से बस होओ!...** अर्थात् जो कहा है, वही मार्ग है। अब विशेष कहने से बस होओ ! **अलम्** आहा...हा... ! पाठ तो अलम है। **अलम्** संस्कृत टीका में है न ? **अलमथवा प्रलपितेन।** बस होओ ! आ....हा... ! क्या कहें ? संस्कृत टीका है। **अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम। नमो...** आहा...हा... ! अमृतचन्द्राचार्य टीका के समय भी आनन्द में आ गये हैं ! है विकल्प ! **मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है।...** आहा...हा... ! मेरी मति में कहीं कुछ अव्यवस्थित नहीं रहा कि अनन्त तीर्थङ्कर भगवानों ने कहा, वह कैसे होगा ? उन्होंने कहा उतना थोड़ा कहा इसलिए उतना ही सत्य होगा ? या दूसरा कोई अन्दर होगा ? आहा...हा... !

समयसार की ५ वीं गाथा में कम-ज्यादा कहा - ऐसा भी कहा है। पूरा कहा, पूरा दिया है। सम्पूर्ण तत्त्व की स्थिति पूरी आयी है, यह तो एक अपेक्षा से... आहा...हा... ! है ?

टीका में है। टीका में है। आहा...हा... ! मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है। आहा...हा... ! अरे भगवान ! के बाद पन्द्रह सौ वर्ष में हुए आज से एक हजार वर्ष पहले हुए पञ्चम काल के मुनि ! आहा...हा... ! भगवान का साक्षात्कार नहीं हुआ... आहा...हा... ! तथापि कहते हैं कि मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है। मेरी मति में कुछ अव्यवस्थितपना नहीं रहा है। जैसा मार्ग है, वैसा ख्याल में आ गया है और भगवान ने वही कहा है। वही कहा है, वह जाना है। अब मति में कुछ भी अव्यवस्थितपना अंशमात्र भी नहीं रहा। आहा...हा.. ! गजब बात है न ! भगवान के पन्द्रह सौ वर्ष बाद हुए पञ्चम काल के सन्त ऐसा कहते हैं कि अनन्त तीर्थङ्करों ने जो कर्मक्षय का मार्ग कहा है। वह भविष्य काल के और वर्तमान काल के मुमुक्षुओं को भी यही कहा है। आहा...हा... ! हम भी मुमुक्षु हैं, हमें भी भगवान ने यही कहा है।

मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है।..... आहा...हा... ! अब शङ्का का अंशमात्र भी स्थान नहीं है। निःशङ्क निर्विकल्प भगवान ऐसा है और उसमें हम दृष्टि देकर निशःङ्करूप से स्थिर हुए हैं। मति व्यवस्थित हो गयी है। आहा...हा... ! है यह फिर पर्याय की बात। आहा...हा... ! आहा...हा... ! अन्तर का पूर्ण स्वरूप, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है और उसके आश्रय से स्थिरता-चारित्र होता है - ऐसा ही भगवान ने मार्ग कहा है। इसी प्रकार मेरी मति व्यवस्थित हो गयी है। आहा...हा... ! ऐसी वाणी है। श्वेताम्बर में ऐसी वाणी नहीं है। यह तो परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर.... आहा...हा... ! दिगम्बर मुनियों अर्थात्... आहा...हा... ! केवलज्ञान के आढ़तिया ! तथापि मेरी मति है, केवलज्ञान नहीं (ऐसा कहते हैं)। छद्मस्थ हूँ परन्तु मति व्यवस्थित हो गयी है कि अब कहीं सन्देह को स्थान नहीं है। आहा...हा... ! अनन्त... अनन्त... प्रकार हो परन्तु हमें तो मति व्यवस्थित हो गयी है। आहा...हा... ! धन्य अवतार !! धन्य काल ! आहा...हा... ! ऐसे सन्तों की वाणी !! पञ्चम काल में ऐसी रह गयी। आहा...हा... ! दिगम्बर सन्त ! अर्थात् कहीं नहीं है। इनकी वाणी के साथ किसी सम्प्रदाय का मेल करना, यह हो ऐसा नहीं है। अन्य मत में तो कहीं है ही नहीं परन्तु श्वेताम्बर स्थानकवासी में भी इस बात का मेल खाये - ऐसा कुछ नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा है आहा...हा... !

ऐसा करके कहते हैं... आहा...हा... ! **अलम** – बस होओ ! मति व्यवस्थित हो गयी है। कुछ बाकी नहीं है। विशेषपना कुछ जानना ऐसा कुछ बाकी नहीं रहा। हो गया जो हो गया। **भगवन्तों को नमस्कार हो।** आहा...हा... ! यह विकल्प आया। आहा...हा.. ! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भगवन्तों को नमस्कार हो। प्रभु ! यह दिगम्बर सन्त !! टीका करके भी यह कहते हैं आहा...हा... ! ऐसी टीका भरतक्षेत्र में कहीं नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी यह जो टीका यहाँ है, ऐसी अन्यत्र कहीं नहीं है। अमृतचन्द्राचार्य की टीका ऐसी है। आहा...हा... !

भावार्थ : ८० और ८१ वीं गाथा के कथनानुसार सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, वीतरागचारित्र के विरोधी... आहा...हा... ! **राग-द्वेष को दूर करना अर्थात् निश्चय-रत्नत्रयात्मक शुद्धानुभूति में लीन होना.....** आहा...हा... ! पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का नाथ आत्मा, उसका सम्यग्दर्शन करके भी, वीतरागचारित्र के लिए उसमें लीन होना। आहा...हा... ! महाव्रत पालना अथवा समिति-गुप्ति पालना, यह कोई बात नहीं ली है। वह विकल्प है, राग है। आहा...हा... ! **निश्चयरत्नत्रयात्मक शुद्धानुभूति में लीन होना ही एकमात्र मोक्षमार्ग है;...** आहा...हा... ! **त्रिकाल में भी कोई दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है।...** पूर्णानन्द के नाथ का आश्रय, वह सम्यग्दर्शन है। जघन्य आश्रय सम्यग्दर्शन; विशेष आश्रय चारित्र; पूर्ण आश्रय वह केवलज्ञान है। आहा...हा... ! ऐसा एक ही मार्ग परमात्मा ने कहा है और सन्त पञ्चम काल में प्रसिद्ध करते हैं। आहा...हा... ! यहाँ तो भगवान को पच्चीस सौ वर्ष हुए। पच्चीस सौ वर्ष हुए न ? यह पच्चीस सौ और कितना ? पाँचवाँ चलता है न ? आहा...हा... ! पच्चीस सौ पाँच वर्ष पहले प्रभु हुए परन्तु अनन्त भगवन्त साक्षात् हैं। आहा...हा... ! इसी मार्ग से... आहा...हा... ! **समस्त अरहन्तों ने इसी मार्ग से मोक्ष प्राप्त किया है...** आहा...हा... ! उन भगवन्तों को नमस्कार ! आहा...हा... ! ८०, ८१ और ८२ बहुत अलौकिक गाथायें हैं। 1

गाथा - ८३

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति -

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा।। ८३।।

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति।
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेषं वा।। ८३।।

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीपोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः। तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्याया-नात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः, प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो, दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो, रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य, प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति। अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः।। ८३।।

अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशंसानमस्काराहा भवन्ति नान्या इति कथयति-

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्कारिरिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं।। ७।।

दंसणसुद्धा निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्तवसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः। **पुरिसा** पुरुषा जीवाः। पुनरपि कथंभूताः। **णाणपहाणा** निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञानेन प्रधानाः समर्थाः प्रौढा ज्ञानप्रधानाः। पुनश्च कथंभूताः। **समग्गचरियत्था** निर्विकारनिश्चालात्मानुभूतिलक्षणनिश्चय-चारित्रसाधकेना-चारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठानादिरूपेण चारित्रेण समग्राः परिपूर्णाः समग्रचारित्रस्थाः **पूजासक्कारिरिहा** द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशंसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्या भवन्ति। **दाणस्स य हि** दानस्य च हि स्फुटं **ते** ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधाराः। **णमो तेसिं** नमस्तेभ्य **इति** नमस्कारस्यापि त एव योग्याः।। ७।।

एवमाप्तात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्डिका गता। अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतमोहस्य स्वरूपं भेदांश्च प्रतिपादयति - **दव्वादिएसु** शुद्धात्मादिद्रव्येषु, तेषां द्रव्याणामनन्तज्ञानाद्यस्तित्वादिविशेषसामान्यलक्षणगुणेषु, शुद्धात्मपरिणतिलक्षणसिद्धत्वादिपर्यायेषु च यथासंभवं पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च **मूढो भावो** एतेषु पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसंशयजनको मूढो भावः **जीवस्स हवदि मोहो त्ति** इत्थंभूतो भावो जीवस्य दर्शनमोह इति भवति। **खुब्भदि तेणुच्छण्णो** तेन दर्शनमोहेनावच्छन्नो झम्पितः सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभं स्वरूपचलनं विपर्ययं गच्छति। किं कृत्वा। **पप्पा रागं व दोसं वा** निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूपं चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं वा प्राप्य चेति। अनेन किमुक्तं भवति। मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वयं चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति।।८३।।

अब, शुद्धात्मलाभ के परिपंथी[१]–मोह का स्वभाव और उसके प्रकारों को (भेदों को) व्यक्त करते हैं –

द्रव्य–गुण–पर्याय में, जो मूढ़ता–अज्ञान है।
मोह से आच्छन्न को, राग–द्वेष कर क्षोभित बने॥

अन्वयार्थ : [जीवस्य] जीव के **[द्रव्यादिकेषु मढ़ः भावः]** द्रव्यादि सम्बन्धी मूढ़ भाव (द्रव्य–गुण–पर्यायसम्बन्धी जो मूढ़तारूप परिणाम) **[मोहः इति भवति]** वह मोह है, **[तेन अवच्छन्नः]** उससे आच्छादित वर्तता हुआ जीव **[रागं वा द्वेषं वा प्राप्य]** राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके **[क्षुभ्यति]** क्षुब्ध होता है।

टीका : धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति, जीव के जो पूर्व वर्णित द्रव्य–गुण–पर्याय हैं, उनमें होनेवाला तत्व–अप्रतिपत्तिलक्षण[२] मूढ़ भाव वह वास्तव में मोह है। उस मोह से निजरूप आच्छादित होने से यह आत्मा परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप से, परगुण को स्वगुणरूप से, और परपर्यायों को स्वपर्यायरूप समझकर–अङ्गीकार करके, अति रूढ़–दृढ़तर संस्कार के कारण परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्ध[३] इन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत[४] में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर–अरुचिकर विषयों में राग–द्वेष

---

१. परिपंथी = शत्रु, मार्ग में लूटनेवाला।
२. तत्व अप्रतिपत्तिलक्षण = तत्व की अप्रतिपत्ति (अप्राप्ति, अज्ञान, अनिर्णय) जिसका लक्षण है ऐसा।
३. दग्ध = जली हुई; हल्की; शापित। ('दग्ध' तिरस्कारवाचक शब्द है।)
४. इन्द्रियविषयों में - पदार्थों में 'यह अच्छे हैं और यह बुरे' इस प्रकार का द्वैत नहीं है; तथापि वहाँ भी मोहाच्छादित जीव अच्छे–बुरे का द्वैत उत्पन्न कर लेते हैं।

करके अति प्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त सेतुबन्ध (पुल) की भाँति दो भागों में खण्डित होता हुआ अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है। इससे मोह, राग और द्वेष – इन भेदों के कारण मोह तीन प्रकार का है ॥ ८३ ॥

प्रवचन नं. ७४ का शेष **दिनाङ्क १५ मई १९७९**

अब, शुद्धात्मलाभ के परिपंथी... आहा...हा! भगवान आत्मा के शुद्धस्वरूप के पन्थ में, परिपंथी अर्थात् शत्रु, मार्ग में लूटनेवाला – इतने अर्थ नीचे किये हैं। (शुद्धात्मलाभ का परिपंथी) **मोह...** यह चारित्रमोह है। **शुद्धात्मलाभ के परिपंथी...** आहा...हा...! **मोह का स्वभाव और उसके प्रकारों को (भेदों को) व्यक्त करते हैं** – आहा...हा...! मोह का नाश करके वर्णन किया परन्तु अब उस मोह का स्वरूप क्या है और मोह है, वह मार्ग का लुटेरा है (– ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! लूटनेवाला है। मार्ग में जानेवाले को यह राग लूटनेवाला है। आहा...हा...! यह लुटेरा है, यह राग बीच में आता है, यह लुटेरा है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग...!

इष्टोपदेश में कहा है न? वह अब (किसी ने लेखन में) डाला है। ऐसा कि 'अव्रत को छोड़कर व्रत में रहना, वह छाया में रहने के समान है।' परन्तु वहाँ उसका अर्थ दूसरा है, जितने व्रत की भूमिका है, उसकी तुलना में शान्ति की थोड़ी भूमिका बढ़ावे और व्रत का विकल्प आवे, उसकी बात है। क्या कहा समझे? यूँ ही चौथा गुणस्थान है और व्रत का विकल्प आता है और वह व्रतधारी हुआ – ऐसा नहीं है। समझे इसमें? यह डाला है। देखो! इसमें भी ऐसा है। आहा...हा...! यह तो प्रवचनसार में भी अपवादमार्ग में डाला है परन्तु इस अपवाद का अर्थ ही यह है कि यह निन्दा योग्य है। आहा...हा...! जिसके फल में दु:ख की विजय है, वहाँ तक तो प्रसिद्ध किया है। आहा...हा...!

शुद्धात्मलाभ... लो, यह बनिये का लाभ सवाया आया।

श्रोता : यह तो भगवान का लाभ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...! **शुद्धात्मलाभ के परिपंथी...** – लूटनेवाला; **मोह का स्वभाव...** मोह का स्वभाव क्या है? भगवान आत्मा के स्वभाव का आश्रय

लेकर मोक्ष होता है, यह बात तो की, परन्तु लूटनेवाला मोह है। उसका समावेश (करते हैं)। **उसके प्रकारों को (भेदों को) व्यक्त करते हैं** - बराबर है न?

विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. ७५ **दिनाङ्क १६ मई १९७९**

(प्रवचनसार) ८३ की टीका।

टीका : धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति,.... (अब) मोह की व्याख्या करते हैं। पहले (यह कहा कि) अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को यथार्थ जाने, पर के (अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने) और फिर (अपने गुण-पर्याय को) अन्तर्गत करके अपने द्रव्य को जाने, वह सम्यग्दृष्टि है। यहाँ, अब यह बताते हैं कि **धतूरा खाये हुए मनुष्य की भाँति,...** धतूरा पिया हुआ हो, वह धतूरे के नशे में सबको दूसरे प्रकार से देखता है। इसी प्रकार **जीव को पूर्व वर्णित द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, उसमें....** पूर्व कथित द्रव्य-गुण-पर्याय के विषय में, पूर्व में कहा था न? कि अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय (जाने) और उसी अनुसार अपने द्रव्य-गुण-पर्याय (जाने) फिर पर्याय-गुण को भी द्रव्य में अन्तर्गत करके द्रव्य का अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है।

पूर्व वर्णित द्रव्य-गुण-पर्याय है, उनमें होनेवाला तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण मूढ़ भाव.... वास्तविक तत्त्व की अप्राप्ति, वास्तविक तत्त्व का अज्ञान, वास्तविक तत्त्व असमझ, वास्तविक तत्त्व का अनिर्णय - यह जिसका लक्षण है ऐसा मोह - ऐसा मूढ़भाव। आहा...हा...! कहीं भी परद्रव्य गुण-पर्याय में अपनापना मानकर वहाँ रुक गया है। आहा...हा...! वह कहते हैं। (पूर्वकथित) **द्रव्य-गुण-पर्याय है, उनके विषय में तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण...** अर्थात् वास्तविक तत्त्व की असमझ के कारण **मूढ़ भाव है, वह मोह है।**

उस मोह से निजरूप आच्छादित होने से... वास्तविक तत्त्व के अज्ञान के कारण, अपना वास्तविक तत्त्व वहाँ अज्ञान से ढँक गया है। आहा...हा...! जो भगवान आत्मा, द्रव्य अर्थात् कायम रहनेवाला अन्वय; गुण अर्थात् उसके साथ रहनेवाले गुण-

विशेष और सामान्य गुण; आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुण और अस्तित्व आदि सामान्य गुण – ऐसे ही दूसरों के भी विशेष और सामान्य गुण, उनका जो वर्णन किया था, उसमें **मोह से निजरूप आच्छादित होने से...** उस स्वरूप की वास्तविक असमझ के कारण... कर्म से ढँक गया है – ऐसा नहीं कहा। आहा...हा... ! वास्तविक अपना स्वरूप – द्रव्य, गुण और पर्याय और पर के द्रव्य, गुण और पर्याय, इनकी भिन्नता के भान के बिना – इनमें अज्ञान के कारण – असमझ के कारण अपना वास्तविक तत्त्व ढँक गया है, आहा...हा... ! आच्छादित हो गया है। आच्छादित इस कारण हुआ है – ऐसा कहा न ? तत्त्व की असमझ, अज्ञान, अनिर्णय – ऐसा जो मूढ़ भाव है, वह मोह है, उस मोह से निजरूप आच्छादित है। कर्म से आच्छादित है – ऐसा नहीं कहा। आहा...हा... ! परद्रव्य – वस्तु अत्यन्त भिन्न है। जिसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव स्वतन्त्र सत्ता में है। इसके (जीव के) उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने अस्तित्व की सत्ता में है। इसलिए पर के कारण इसमें कुछ आच्छादित हो – ऐसा नहीं है। अपने वास्तविक तत्त्व की असमझ से अथवा दूसरे के भी वास्तविक तत्त्व की असमझ से – ऐसे स्व-पर दोनों... आहा...हा... ! स्व एक और दूसरे अनन्त (पर), इन सबके द्रव्य-गुण-पर्याय जिस प्रकार से अपने अस्तित्व में है, उस प्रकार से नहीं समझकर उसके अनिर्णय में तथा यथार्थ निर्णय में निशङ्क नहीं होकर शङ्का में पड़ गया होने से...।

यह आत्मा परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप से,... आहा...हा... ! शरीर, वाणी, कर्म, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लड़का-लड़की, लड़कियाँ, माँ-बाप-बेटा... ये सब परद्रव्य हैं। आहा...हा... ! परद्रव्य के कारण कुछ भी मेरा अस्तित्व टिक रहा है – ऐसी मान्यता है, वह मूढ़ है। आहा...हा... ! बाह्य पदार्थ साता के उदय से अनुकूलतारूप होवे तो ठीक पड़ता है, असाता के उदय से प्रतिकूल होवे तो अठीक पड़ता है, यह दृष्टि ही विपरीत है। आहा...हा... ! **परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप...** आहा...हा... ! वास्तव में तो परद्रव्य जो शरीर, कर्म, देव, शास्त्र, गुरु, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, मकान... आहा...हा... ! इन परद्रव्यों को स्वद्रव्यरूप मानता है। है न ? **परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप से,... समझकर** (समझकर)। वहाँ (लाईन में) अन्तिम शब्द ! **अङ्गीकार करके...** आहा....हा... ! यह लड़का मेरा है, पिता मेरा है, बाप मेरा है, मेरी माँ है, मेरी लड़की है, मेरा मकान है, मेरा

पैसा है, जगत् में मेरी प्रतिष्ठा है। यह परद्रव्य को अपनेरूप मानता है। आहा...हा...! वास्तव में तो परद्रव्य को अपनेरूप मानना, (वह मोह है)।

परगुण को स्वगुणरूप से,.... मानता है। अब यहाँ फिर आया है कि परगुण, पर के हैं, उन्हें अपनेरूप मानता है। मेरा लड़का होशियार हुआ है तो वह मैं ही हूँ न? आहा...हा...! होशियार किसे कहना? ज्ञान का क्षयोपशम हो, वह दशा तो अज्ञान है। उसमें भी वह (दशा) उसकी है। उसमें तुझे क्या है? आहा...हा...! लड़का दस हजार-पन्द्रह हजार-बीस हजार का वेतन पाता हो, कान से सुना, वहाँ गहरे-गहरे प्रसन्नता होती है। आहा...हा...! अकेले पर के गुण को और पर के द्रव्य को अपना मानता है, आहा...हा...! वह मूढ़ है, मोह है; उससे स्वतत्त्व ढँक गया है। आहा...हा...!

श्रोता : अपना नहीं माने तो उनका कर्त्तव्य चूक जाते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्त्तव्य कब था? आहा...हा...! इसका कर्त्तव्य तो स्वतरफ की दृष्टि करके, स्थिर होना - यह कर्त्तव्य है।

श्रोता : साहिब! वह तो स्वार्थी कहलाता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : वही वस्तु है - स्वार्थी ही वस्तु है। आहा...हा...! अपने प्रयोजन को साधना ही। अज्ञानी पर को अपना मानता है। आहा...हा...!

यहाँ तो (कहते हैं कि) देव-गुरु और शास्त्र पर हैं, वे परद्रव्य हैं। मन्दिर परद्रव्य है। गिरनार, सम्मेदशिखर, शत्रुञ्जय परद्रव्य है। परद्रव्य को अपनेरूप मानता है कि वे हमारे हैं। आहा...हा...! शत्रुञ्जय हमारा है, गिरनार हमारा है, वहाँ से भगवान मोक्ष पधारे हैं। सम्मेदशिखर से तो अनन्त तीर्थङ्कर पधारे हैं, वह सम्मेदशिखर हमारा है। आहा...हा...! उस परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप निर्णय करके, असमझ में मोहरूप से उलझ गया है - ऐसा कहते हैं।

इसी प्रकार परगुण को अपना गुण मानता है न? **परगुण को स्वगुणरूप से...** (मानता है)। कोई लड़का प्रतिष्ठा में अथवा पैसे में बढ़ गया हो तो (मानता है कि) मैं बढ़ गया! आहा...हा...! पर का (लड़के-लड़कियों का) ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ गया तो

ऐसा मानता है कि वह बढ़ गये इतना भी मुझे लाभ है न ? वह तो परगुण को अपना मानना है। आहा...हा.. !

और परपर्यायों को स्वपर्यायोंरूप समझकर.... सिद्ध आदि पर्याय, राग आदि पर्याय। पर की सिद्धपर्याय, राग की पर्याय... आहा...हा... ! यह सभी पर-पर्यायें हैं। जो दिखाई देती है, वे सभी पर्यायें पर हैं। गुण और द्रव्य तो सामान्य हैं, जो उनकी विशेष पर्यायें हैं, उनके कारण मुझे ज्ञान हुआ और वह पर्याय मेरी है... आहा...हा... ! यह शास्त्र की पर्याय भी मेरी है और शास्त्र की पर्याय से मुझे ज्ञान होता है, वह पर पर्याय को अपनी पर्याय मानता है। आहा...हा... ! उसमें (फिर) स्त्री, पुत्र, पुत्री... आहा...हा... ! उनके प्रेम में फँसता है और उनकी शरीर की पर्याय जो जड़ की है, उसे सुन्दर मानकर (मानता है कि) मुझे इनसे सुख होता है, ठीक पड़ता है, अनुकूल पड़ता है - यह सब परपर्यायों को अपनी मानकर मिथ्यात्व का सेवन करके स्वरूप को ढाँक देता है। आहा...हा... ! ऐसा है... आहा...हा... !

श्रोता : लड़के बापूजी... बापूजी... करते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री : बापूजी... बापूजी... करते हैं। पैर दबायें और बापूजी... बापूजी... करें, छह-आठ हजार का वेतन (हो, वहाँ प्रसन्न... प्रसन्न... हो जाता है)।

श्रोता : लड़के दादाजी... दादाजी... करते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ करते हैं। करेंगे न ! कौन दादा और कौन बापू ? आहा...हा... ! मेरा हो, वह अलग नहीं रहता और अलग रहे, वह मेरा नहीं होता। जिसका अस्तित्व भिन्नरूप है, उसके द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तित्व मुझसे भिन्नरूप है, उसके अस्तित्व के अंश से मेरा अस्तित्व है - (ऐसा नहीं है)। आहा...हा... ! कठिन बात है।

इस शरीर के अवयव सुन्दर लगते हैं, पाँच इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के (अवयव) पुष्ट हों... आहा...हा... ! वह पर्याय मेरी है और मुझे अनुकूल शरीर है - वह परपर्याय को अपनी मानता है। उसने अपने को आच्छादित कर दिया है। आहा...हा... ! अपने स्वरूप को जानने में परदा लगा दिया है। आहा...हा... ! बापू ! कठिन काम है। आहा...हा... !

परपर्यायों को स्वपर्यायरूप समझकर... इन सब में यह ले लेना। परद्रव्य को स्वद्रव्यरूप 'समझकर', पर गुण को स्वगुणरूप 'समझकर', पर पर्यायों को स्वपर्यायरूप 'समझकर' – (ऐसा ले लेना)। आहा...हा...! मैसूरपाक की पर्याय, लड्डू की पर्याय, रसगुल्ला की पर्याय... आहा...हा...! यह ढोकले की पर्याय, मिर्ची की पर्याय, शक्कर की पर्याय – यह सब जड़ की पर्यायें हैं। आहा...हा...! उनके कारण मुझे उनका ज्ञान होता है। वे मेरी हैं, ऐसा मानना, यह तो महामूढ़ता है... आहा...हा...! परन्तु उनकी पर्यायों को देखता हूँ, इससे मुझे ज्ञान होता है, वह परपर्याय को अपनी पर्याय मानता है। आहा...हा...! इसे बहुत बदलना पड़ेगा। सबमें रहना और सबसे अकेला भिन्न हूँ (– ऐसा मानना)! आहा...हा...! सबमें रहा हूँ – ऐसा मानता है। रहता तो अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव की सत्ता के अस्तित्व में ही त्रिकाल रहा है। आहा...हा...! आत्मद्रव्य तो अपने उत्पाद-व्यय और ध्रुव में रहा है। पर्याय का अस्तित्व और ध्रुव का अस्तित्व, बस इतने में ही है; अनादि से इतने में ही है। समयसार १०३ गाथा में आया है न? कोई द्रव्य-गुण-पर्याय दूसरे में संक्रमण को (प्राप्त) नहीं होते। आहा...हा...! तथा स्व और पर दोनों के बीच तो अत्यन्ताभाव की दीवार है। अरे रे...! उसको कौन तोड़ सकता है?

भगवान आत्मा का द्रव्य-गुण-पर्यायमय अस्तित्व और जड़, कर्म, शरीर, वाणी, मन का अस्तित्व – इन सबमें तो अत्यन्त-अत्यन्त अभाव की वज्र दीवार है। उसे तोड़कर पर का अस्तित्व अपना हो (– यह असत्य है)। आहा...हा...! ऐसा काम है। प्रिय में प्रिय अर्द्धांगिनी! आहा...हा...! यह हमारी धर्मपत्नी है। गहराई में तो प्रेम है। पति से ऐसा कहती है – हमारे पतिदेव हैं। अरे... प्रभु कौन पतिदेव? किसके बापा...? आहा...हा...! यह परद्रव्य-गुण-पर्याय को स्वद्रव्य-गुण-पर्याय में मानता है। कठिन बात है भाई!

एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य में अत्यन्त अभाव – त्रिकाली अभाव – तीनों काल अभाव है। निगोद में अनन्त आत्माएँ साथ रहे हैं, फिर भी एक आत्मा और दूसरे आत्मा के बीच अत्यन्त अभाव है। उनके साथ तेजस और कार्मणशरीर के अनन्त रजकण भी साथ (रहे हैं)। उस एक रजकण और भगवान आत्मा के बीच अत्यन्त अभाव है।

आहा...हा... ! संश्लेष सम्बन्ध (आता है) उसमें बड़ा विवाद है। है न? कर्म के साथ संश्लेष सम्बन्ध है (किसी विद्वान् ने उसमें वर्णन किया है)। भाई ! किसके साथ सम्बन्ध है? भाई ! **नास्ति सर्वोऽपि संबंधः** (समयसार के) २०० नम्बर के कलश में आया नहीं ? आहा...हा... !

श्रोता : एक में तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहा है !

पूज्य गुरुदेवश्री : उस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अर्थ ही है कि (किसी के साथ सम्बन्ध) नहीं है। निमित्त की पर्याय निमित्त में और नैमित्तिक की पर्याय नैमित्तिक में। और वह भी उसके स्वकाल में वह होती है। वह निमित्त है, इसलिए होती है - ऐसा नहीं है तथा यहाँ पर्याय है, इसलिए निमित्त को आना पड़ता है - ऐसा भी नहीं है। आहा...हा... !

ऐसे अनन्त... अनन्त... पदार्थों के द्रव्य-गुण-पर्यायें हैं। एक को भूलकर दूसरे को देखता है और उस देखने में उसका भान वहाँ रुक जाता है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! जाननेवाले को जानने में नहीं जाता, जाननेवाले को जानने में नहीं जाता और जाननेवाला पर को जाने उसमें रुक जाता है। आहा...हा... ! उसने परद्रव्य को पर की पर्याय को अपनी माना है। कठिन काम है बापू ! आहा...हा... !

गृहस्थाश्रम में रहकर भी सम्यग्दर्शन कोई ऐसी चीज है ! आहा...हा... ! कि जिसे राग के बीच भी अत्यन्त अभाव (वर्तता है)। आहा...हा... ! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप ! उसे दया, दान और भगवान की भक्ति के राग के बीच अत्यन्त अभाव है। यह अध्यात्म का अत्यन्त अभाव है। आगम के चार अभाव - प्राग्भाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव (अत्यन्ताभाव) है, वह अलग बात है। आहा...हा... ! इसके बदले मेरा और पर का कुछ भी सम्बन्ध है - बन्ध है, वह पर पर्याय को अपनी मानता है। आहा...हा... ! वास्तव में तो राग की पर्याय के साथ, स्वभाव का सम्बन्ध है (- ऐसा जो मानता है), वह भी परपर्याय को अपनी पर्याय मानता है। आहा...हा... ! आहा...हा... ! इतने तक जाना ! ऐसा है। वस्तुस्थिति वहाँ ऐसी है। वह कहाँ किसी ने गिनती से असत् करके खड़ा किया है। असत् को खड़ा करने के लिए तो कितने ही कुतर्क चाहिए। यह तो सत् को सत्‌रूप

(कहने में तो) जो है, उसमें तो उसी प्रकार है और उसे सिद्ध करने के लिए कोई कुतर्क और कोई दृष्टान्त नहीं लाना पड़ता। आहा...हा... !

वह परपर्याय को स्व-पर्यायरूप **समझकर-अङ्गीकार करके अतिरूढ़-दृढ़तर.....** आहा...हा... ! गाढ़ (हुए)। भगवान की पर्याय की तरफ न देखकर और उस पर्याय को द्रव्य तरफ न देखकर (नहीं झुकाकर)... अति गाढ़ हुआ, रूढ़ हुआ, रूढ़-रूढ़ (हुआ) दृढ़तर संस्कार के कारण। आहा...हा... ! अनादि... अनादि... उसका संस्कार दृढ़तर लिया है, दृढ़तम नहीं लिया। आहा...हा... ! दृढ़ और दृढ़तर तक लिया है, दृढ़तम नहीं लिया है। इसलिए अधिक नहीं जा सकता - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! उसकी भी - संस्कार की भी अमुक मर्यादा है। इसलिए अधिक शुद्ध प्रभु है कि वह पर को अपने मानने की हद में भी दृढ़तम नहीं होता। आहा...हा... ! दृढ़तर संस्कार के कारण.... आहा...हा... ! संस्कार के कारण कुछ नहीं होता - ऐसा आया है न ? वह तो पर को अपना मानने के संस्कार अपने में है। समझ में आया ?

उस दिन आया था - इन्द्रियों का ज्ञान, संस्कार, पूर्व का उघाड़ यह कोई इसमें काम नहीं करता। आहा...हा... ! सीधे आत्मा का ज्ञान हो, उसका नाम ज्ञान है। आहा...हा... ! पूर्व के किञ्चित् संस्कार हों, उनके कारण अभी ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। ऐसा स्वरूप नहीं है, यह कहते हैं। आहा...हा... ! वर्तमान में स्वयं ही संस्कार का लक्ष्य छोड़कर, भले ही अच्छे संस्कार अन्दर पड़े हों... आहा...हा.... ! उनका भी लक्ष्य छोड़कर, प्रभु त्रिकाल आनन्द का नाथ (अन्दर में है), ज्ञायक दल है, ध्रुव दल है, उसकी तरफ ढल, झुक ! वह स्वतन्त्र है।

ऐसे दृढ़तर संस्कार को भी छोड़ सकता है और यह कहने के आशय में (अर्थात् कि) दृढ़तर संस्कार हुआ है - ऐसा कहने के आशय में भी उस दृढ़तर संस्कार को दूर करने के लिये कहते हैं। आहा...हा... ! वह दृढ़तर संस्कार है, उसका इसे ज्ञान कराते हैं और (ज्ञान) करके उस संस्कार को दूर करना, यह उसका तात्पर्य है; उसमें रहने के लिए (कहते हैं अथवा) यह दृढ़ संस्कार है, इसलिए तुझे दूर नहीं होंगे, इसलिए हम उपदेश देते हैं, तथापि तुझे लाभ नहीं होगा (ऐसा कहने का आशय नहीं है)। उपदेश से तो लाभ

नहीं होता परन्तु तेरे दृढ़ संस्कार हैं, इसलिए लाभ नहीं होता यह हमें यहाँ कहना नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

यह दृढ़ संस्कार – **दृढ़तम संस्कार के कारण परद्रव्य को ही सदा....** आहा...हा...! एक समय के अन्तराल बिना... **परद्रव्य को ही सदा ग्रहण करता हुआ...** आहा...हा...! परद्रव्य को ही सदा – हमेशा, जहाँ एक समय का भी विरह नहीं पड़ने देता। आहा...हा...! यदि एक समय का विरह पड़े तब तो द्रव्य की ओर ढल जाये। आहा...हा...! इसमें ऐसा नहीं लिया है कि कर्म का जोर है, दर्शन-मोह का जोर है, इसलिए वह आच्छादित है; इससे उसके कारण तुझे समझ में नहीं आता – ऐसा नहीं लिया है। आहा...हा...! अभी यह बड़ा अन्तर है। जहाँ हो वहाँ यही कहते हैं कि यह सब विकार है, वह कर्म के कारण है न? परन्तु यहाँ कर्म की बात ही नहीं है। आहा...हा...!

'अपने का आप भूलकर हैरान हो गया।' – श्रीमद् में ऐसा आता है न? 'तेरी भूल से ही तू भटका है। तेरी भूल इतनी कि पर को अपना माना और अपने को भूल गया।' है न उनका सूत्र? वहाँ बोटाद में कमरे पर लिखा है।

आचार्य ऐसा कहते हैं कि तू अपनी भूल से भटका है – एक बात। अब तेरी भूल क्या? कर्म से भटका यह (भूल) नहीं, यह भूल नहीं। आहा...हा...! तू अपनी भूल से भटका है। वह तेरी भूल क्या? कि पर को अपना मानना और स्व-तरफ, चिदानन्द समुद्र भरा है, उसे भूल जाना। आहा...हा...! जिससे वह चीज खाली है... आहा...हा...! परद्रव्य के गुण-पर्याय से और राग से तो प्रभु खाली है, उसे इनसे भरा (मानना) और यह मेरे हैं – ऐसा मानना... आहा...हा...! यही गुण से भरपूर को भूल जाने की रीति है। किसी कर्म ने तुझे रोका है, ऐसा है नहीं।

(समयसार – संवर अधिकार में भी) कहा है न? **भेदविज्ञानतः सिद्धाः.... अस्यैवाभावतो बद्धा....** आ...हा...हा...! ऐसा नहीं कहा कि कर्म के जोर के कारण बँधे हैं। आहा...हा...! **भेदविज्ञानतः सिद्धाः...** कर्म, शरीर, वाणी और उसके गुण तथा उनकी पर्यायें – यह और अपना राग इनसे भेदज्ञान करे तो सिद्ध होता है, तो उसे सम्यग्दर्शन से लेकर पूर्णता की प्राप्ति होती है। **भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल**

केचन। वहाँ तो एक ही बात की है – **सिद्धा ये किल केचन** (अर्थात्) जो कोई सिद्ध हुए वह वास्तव में राग से (अपने को) भिन्न पाड़कर भेदज्ञान से सिद्ध हुए हैं, उसमें कोई दूसरा उपाय नहीं किया है। व्यवहार से (होता है), राग से होता है, दया, दान अथवा पूजा भक्ति के परिणाम से आत्मा को सिद्धि होती है – ऐसा तो कहा नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो यही कहा है कि विकल्पमात्र का भेदज्ञान किया है। इस भेदज्ञान के कारण **भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।** जितने अनन्त सिद्ध हुए... आहा...हा...! अनादि काल से छह महीना आठ समय में छह सौ आठ (जीव) मुक्ति को प्राप्त करते हैं, वह भेदविज्ञान से प्राप्त करते हैं। आहा...हा...! ऐसा आया कि नहीं? **भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।** कोई भी (जीव) अनन्त भव में अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे भेदविज्ञान से प्राप्त हुए हैं। पर को अपने में सहायकरूप मानकर (मोक्ष को प्राप्त नहीं हुए हैं)। आहा...हा...!

धर्मास्तिकाय को सहायक कहा है न? उसे फिर वहाँ ऐसा भी कहा है कि वह तो उदासीन निमित्त है। आहा...हा...! इसी प्रकार सभी वस्तुएँ, निमित्तमात्र वस्तुएँ उदासीन निमित्त है। वे तुझे कुछ कराती है (– ऐसा नहीं है)। धर्मास्तिकायवत् कहा है। आहा...हा...! धर्मास्तिकाय की तरह दूसरे निमित्त – अनन्त... अनन्त... वस्तुएँ हैं। कर्म का उदय हो (तो भी) वह सब निमित्तमात्र वस्तु धर्मास्तिकायवत् है। आहा...हा...! और वहाँ तो ऐसा सिद्ध किया है कि यदि धर्मास्तिकाय से गति होती हो तो जीव गति पाया ही करे। अधर्मास्तिकाय से स्थिर होता हो तो स्थिर हुआ ही करे। यह तो गति करे तो तब उसे निमित्त कहते हैं और स्थिर होता है तो उसे निमित्त कहते हैं – तो इसका अर्थ क्या हो गया? आहा...हा...! गति करने में भी अपनी पर्याय से उस काल की योग्यता से गति होती है। तब उसे (धर्मास्तिकाय को) निमित्त कहते हैं। वरना तो निमित्त है, यदि उससे होता हो तो सदा ही – निरन्तर गति कराया करेगा। यही बात उड़ाते हैं। आहा...हा...! आ...हा...! दो द्रव्य यही सिद्ध करते हैं कि दो द्रव्य स्वतन्त्र हैं। तेरे लिये वे कुछ प्रेरक हैं और वे आकर तुझे गति कराते हैं – (ऐसा नहीं है)। यदि वह गति कराये तो अधर्मास्तिकाय स्थिर करायेगा, तो यह तो प्रसङ्ग रहता नहीं है।

यह प्रश्न उठा है न ? कि नारकी में जाता है, तब नारकी का आयुष्य उसे वहाँ ले जाता है (तो कहते हैं) कि नहीं। आयुष्य कर्म की पर्याय तो पर-जड़ की है और उस समय की, उस जीव की, उस समय की वह पर्याय उस प्रकार से गति होने की, वहाँ आगे जाने की योग्यतावाली है। जीव है, वह कर्म के कारण नहीं है। आहा...हा... ! वहाँ भी ऐसा मानना कि आयुष्य के कारण गति करता है तो पर की पर्याय के कारण अपनी पर्याय हुई... आहा...हा... ! - ऐसा हुआ न इसमें ? आहा...हा... ! क्या प्रभु की शैली ! ! आहा...हा... !

श्रेणिक राजा ने अशुभकर्म बाँधा न ? वरना तो वे तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। प्रतिसमय तीर्थङ्कर (नामकर्म) बाँधते हैं। आयुष्य बाँधा, इसलिए वे नरक में जाते हैं - ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! उस समय की उत्पाद-व्यय की पर्याय अपनी-अपने से स्वकाल है, इसलिए वहाँ स्वकाल से ऐसी गति करती है। आहा...हा... ! नरक में जाने की वह स्वकाल की योग्यता से गति करता है। आहा...हा... ! नरक का आयुष्य उसे वहाँ नरक में ले जाता है और नरक में भी है, वह नरक का आयुष्य है, इसलिए वे वहाँ रहे हैं - ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! वरना तो किसी की पर्याय के कारण किसी की पर्याय होगी, यह तो ऐसा हुआ। आहा...हा... !

यहाँ भी मनुष्य की आयुष्य है, उतना काल यहाँ शरीर में जीव को रहना (होता है) - ऐसा भी नहीं है। आहा...हा... ! वरना तो आयुष्य की पर्याय के कारण मेरी शरीर में रहने की पर्याय की योग्यता रही। आहा...हा... ! ऐसा कठिन। इसके सिद्धान्तों के दृष्टान्त देने जाये, वहाँ दृष्टान्त भी कितने कठिन पड़ते हैं। आहा...हा... !

चश्मे की पर्याय को भी मैं ऐसा करता हूँ (ऐसा माने) तो वह पर्याय का मालिक-स्वामी होता है। उस पर-पर्याय को करता हूँ, अर्थात् उस परपर्याय को अपनी पर्याय मानता है। आहा...हा... ! एक दूसरे की अनन्त... अनन्त... पर्यायें एक समय में साथ-एक ही प्रदेशों में है। आहा...हा... ! आकाश का एक प्रदेश उसमें भगवान आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, वहाँ अनन्त निगोद के जीवों के प्रदेश हैं। अनन्त कार्मणशरीर के प्रदेश हैं। प्रत्येक की पर्याय का (वहाँ रहने का) स्वयं का काल है; इस कारण वे वहाँ रहती हैं। आहा...हा... !

निगोद में रहे, वे निगोद का आयुष्य बाँधकर गये हैं, इसलिए वहाँ रहे हैं (- ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! वरना तो उस पर की पर्याय को अपनी पर्याय माना है - ऐसा हुआ। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **दृढ़तर संस्कार के कारण....** इसकी खतौनी ही ऐसी उलटी हो जाती है। आ...हा...! परद्रव्य को ही प्रतिदिन ग्रहण करता हुआ... प्रतिदिन - इसका अर्थ ही प्रत्येक समय है। शब्द तो ऐसे हैं न? कि प्रतिदिन अर्थात् हमेशा, आहा...हा...! **सदा ही ग्रहण करता हुआ, दग्ध इन्द्रियों की रुचि के वश से....** आहा...हा...! (इन्द्रियों को दग्ध कहकर) तिरस्कार किया। इन्द्रियाँ कैसी हैं? दग्ध = जली हुई; हल्की; शापित। ('दग्ध' तिरस्कारवाचक शब्द है।) जल गयी है। वे तो तुझमें हैं ही नहीं। वह चीज तो तुझमें है ही नहीं। आहा...हा...! यह सब पाँच इन्द्रियाँ तो जली हुई है। आहा...हा...! तेरे हिसाब से तो इन इन्द्रियों का अभाव है। तेरा सत् तुझसे है और इस कारण वह सत् है, वह तेरे सत् की अपेक्षा से असत् है। आहा...हा...! भगवान आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय सत् हैं, इस अपेक्षा से दूसरे सब गुण - द्रव्य-पर्याय असत् हैं। इस जगत् में तेरे लिये वे हैं ही नहीं। आहा...हा...! असत् है। उस असत् को सत मानना? तेरी अपेक्षा से दूसरे द्रव्य अ-द्रव्य, अ-क्षेत्र हैं, अ-काल हैं, अ-भाव है। आहा...हा...! उन्हें अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में मिलाना... मान्यता से! मानने से वे मिल नहीं जाते हैं। आहा...हा...! माने तो यह मान्यता कहीं द्रव्य में मिल नहीं जाती है। आहा...हा...!

इन्द्रियों के लिये दग्ध शब्द प्रयोग किया है। **दग्ध इन्द्रियों की रुचि...** जली हुई, हल्की, शापित इन पर तेरा प्रेम! अरे रे...! आहा...हा...! उनकी **रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ....** भगवान तो इन्द्रियों से भिन्न अद्वैत चीज-अकेला है। उसे इन इन्द्रियों का द्वैतपना, एक में अद्वैत में द्वैतपना प्रवृत्ति करता हुआ आहा...हा...! मानो कि यह ज्ञान मुझे होता है, वह यह जड़ इन्द्रियाँ हैं, इसलिए होता है। आहा...हा...! कान से सुनने का ज्ञान होता है न? यह जली हुई इन्द्रियाँ तिरस्कार करने योग्य है अर्थात् तिरस्कार शब्द आता है न? भाई! समयसार १९ गाथा! आहा...हा...! इन राग-द्वेष से लेकर (समस्त) परपदार्थ तिरस्कारणी; तेरी वस्तु का तिरस्कार करते हैं। आहा...हा...!

अर्थात् इनकी अस्ति मानने से तेरी अस्ति का तिरस्कार होता है। आहा...हा...! इनके कारण (तेरी) अस्ति मानने से तेरी अस्ति का अनादर होता है। आहा...हा...! एक भी बात सत्य होनी चाहिए न? बहुत लम्बा हो परन्तु अन्दर स्पष्ट न आवे तो वह वस्तु सत्य नहीं है। आहा...हा...!

जली हुई **इन्द्रियों की रुचि के वश से...** आहा...हा...! मरा हुआ मुर्दा है, उसकी रुचि रखनेवाला! आहा...हा...! यह मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। पहले एक (बात आती है) 'मुर्दे को जीवित मानना है' – ऐसा (कहकर बात आती) है। वह आता है, उसमें। आहा...हा...! बहुत डाला है। मोक्षमार्गप्रकाशक में हजारों बोल डाले हैं। आहा...हा...! इन जली हुई इन्द्रियों की रुचि के वश से, रुचि के वश से? **अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ...** आहा...हा...! (अर्थात्) इन्द्रियों के विषयों में–पदार्थों में 'ये अच्छे हैं और ये बुरे हैं' – (ऐसा द्वैत खड़ा करता हुआ)! आहा...हा...! यह तो वहाँ तक कहा है न, कि आत्मा है वह भला है और परद्रव्य हैं वे खराब हैं – यह राग-द्वेष का कारण है। आहा...हा...! ओ...हो...! मोक्षमार्गप्रकाशक में पृष्ठ २१८ में कहा है... आहा...हा...! यह वस्तु स्वयं मैं हूँ, वह भला है और यह सब दूसरी चीजें बुरी हैं – यही राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण है। आहा...हा...! जाननेवाले को मैं भला और यह बुरा – ऐसा कहाँ जानने में आता है? आ...हा...!

अद्वैत में... अकेला प्रभु भिन्न है, उसे यह सब जली हुई इन्द्रियाँ तिरस्कार करने योग्य तिरस्करणीय है। उनमें वर्तमान में प्रेम पड़ा है। आहा...हा...! रुचि कहा है न? **रुचि के वश से अद्वैत में भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके...** रुचिकर अर्थात् रुचित अर्थात् रुचते, अच्छे लगते, अच्छे नहीं लगते आहा...हा...! अच्छे लगते और अच्छे नहीं लगते हैं, के भाग किये हैं। वस्तु में भाग नहीं हैं। सभी वस्तुएँ तो ज्ञेय हैं। तीर्थङ्कर भी ज्ञेय हैं, निगोद का जीव भी ज्ञेय है और कषायी का जीव है, वह भी ज्ञान में ज्ञेय है उसमें दो भाग किये कि यह ठीक नहीं है और यह ठीक है। वे भाग वस्तु में तो नहीं हैं। भ्रम से दो भाग किये हैं। आहा...हा...! ऐसा सुनना कठिन पड़ता है। आहा...हा...! भाग्यशाली के कान में पड़े – ऐसी बात है। अरे... ऐसी बात कहाँ

है भाई! आहा...हा...! **रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके....** आहा...हा...! **अति प्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त....** आहा...हा...! क्या कहते हैं? पानी का प्रवाह एकदम आता हो, उसमें बीच में पुल आया। पुल, सेतु - दो भाग पड़ गये। फिर एक ओर ऐसा गया और एक ओर ऐसा गया। पुल बँधते हैं, एक ही हों भले ही। आहा...हा...! एकरूप प्रवाह है। **अति प्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त सेतुबन्ध (पुल) की भाँति...** आहा...हा...! पुल... पुल...! पानी का प्रवाह ऐसे वेगपूर्वक चला आता है, उसमें जहाँ पुल आया, वहाँ दो भाग पाड़ दिया। अमुक प्रवाह इस ओर गया अमुक प्रवाह (दूसरी बाजू) में गया। दो भाग कर दिये। आहा...हा...! क्या कहते हैं!

अति प्रचुर जलसमूह के वेग से प्रहार को प्राप्त सेतुबन्ध की भाँति दो भागों में खण्डित होता हुआ.... आहा...हा...! ज्ञान का प्रवाह तो एकरूप जानना, वह उसका स्वभाव है, उसमें द्वैत करता हुआ... (सेतु बन्ध की भाँति) जैसे पानी के प्रवाह के दो भाग पड़ जाते हैं, उसी प्रकार यह रुचि और अरुचि, ठीक और अठीक (- ऐसे दो भाग करता है)। आहा...हा...! पाँच इन्द्रियों के विषय एक ही प्रकार के ज्ञेय हैं, उन्हें ज्ञान का प्रवाह एकरूप चलता है, उस प्रवाह के दो भाग कर देते हैं। यह ठीक है और यह अठीक है... आहा...हा...! (- ऐसा होने पर) वह प्रवाह टूट गया। वेगपूर्वक पानी का प्रवाह चलता हो, पच्चीस इंच बरसात हुई हो - ऐसे परन्तु जहाँ पुल आता है, वहाँ भाग पड़ जाते हैं। एकरूप चलता हो, वहाँ भाग पड़ गये। आहा...हा...! यह दृष्टान्त भी कैसा दिया है। देखो न? आहा...हा...!

अति प्रचुर जलसमूह... थोड़ा बहुत साधारण पानी ऐसा नहीं। अति प्रचुर जलसमूह का वेग... अधिक पानी हो और वेग भी ऐसा हो, तथापि जहाँ पुल आता है, वहाँ दो भाग पड़ जाते हैं। आहा...हा...! इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान का पूर है, एकरूप प्रवाह चलता है... आहा...हा...! उसमें इन्द्रियों के विषय में दो भाग करने पर आहा...हा...! **दो भागों में खण्डित होता हुआ...** (अर्थात्) यह ठीक है और यह अठीक है (- ऐसा परिणमता हुआ)। आहा...हा...! मुझे ठण्डा बर्फ ठीक है अग्नि ठीक नहीं है। मुझे सर्दी है, इसलिए चरपराहट के कारण मिर्ची ठीक है - ऐसे भेद पाड़ता है। आहा...हा....!

उसका प्रवाह एकरूप ज्ञाता-दृष्टा का है, उसमें (इन्द्रियों के) विषय के जो पदार्थ हैं, उनमें दो प्रकार नहीं होने पर भी, उन्हें अपने अज्ञान से दो प्रकार – द्वैतपने को प्राप्त करा देता है कि यह ठीक है यह ठीक नहीं है। आहा...हा...! शरीर अच्छा मिला, इसलिए मुझे ठीक है। आता है न? शरीर माध्यम खलु धर्म साधनं – पुरुषार्थसिद्धियुपाय में पहले कथन आता है। यह तो निमित्त की बात है। बापू...! आहा...हा...! (अज्ञानी) ऐसी बातें लेता है।

इष्टोपदेश में आया है न? अव्रत की धूप में रहने से व्रत की छाया में रहना ठीक है। आ...हा...! किस अपेक्षा से कहा? बापू! अकेले व्रत के विकल्प है, उसकी वहाँ अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! चौथे गुणस्थान में अकेले व्रत के विकल्प हो सकते हैं? आहा....हा....! वहाँ तो अन्दर जरा शान्ति को बढ़ाकर व्रत के विकल्प होते हैं। उन्हें वहाँ अव्रत के दुःख में न रहकर वह व्रत की छाया में है – ऐसा उसकी अपेक्षा से कहा गया है। साथ में (आत्मा की) शान्ति है। उसकी अपेक्षा करके (बात की है)। अकेले व्रत के विकल्प हैं, इसलिए वहाँ अच्छा है – छाया है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अन्दर थोड़ी शान्ति बढ़ी है। आहा...हा...! उसकी भूमिका में व्रत के विकल्प होते हैं। अव्रत के भाव से 'यह ठीक है' – ऐसा उसकी अपेक्षा से कहा जाता है। शान्ति बड़ी है और उस भूमिका में विकल्प उत्पन्न हुआ है। इस अपेक्षा से (कहा जाता है)। आहा...हा...! उन्हें अब भिन्न किया है।

भगवान आत्मा – आत्मा जो है, वह ज्ञान के जानन प्रवाह के नूर का पूर है। जानन... जानन... जानन... जानन प्रवाह का पूर है। उसे, जैसे सेतू-पुल आता है तो पूर के प्रवाह के दो भाग पड़ जाते हैं; इसी प्रकार भगवान आत्मा के नूर का एकरूप प्रवाह है, वह इन्द्रियों के विषयों में एक ही प्रकार का ज्ञेयपदार्थ है, तथापि उसके दो भाग कर डालता है कि यह मुझे ठीक है और यह मुझे अठीक है – वह ज्ञान के (एकरूप) प्रवाह के टुकड़े कर देता है। आहा...हा...! थोड़ी-थोड़ी भाषा समझ में आती है? थोड़ी-थोड़ी! गुजराती भाषा तो सादी है। आहा...हा...!

रुचिकर-अरुचिकर विषयों में राग-द्वेष करके अति प्रचुर.... आहा...हा...! प्रवाह, जल समूह का बड़ा प्रवाह चलता हो, पाँच-दस इंच वर्षा हुई हो और नदी का पानी

भरचक प्रवाहित हो, उसमें पुल आया हो तो एकदम दो भाग पड़ जाते हैं। इसी प्रकार प्रभु आत्मा चैतन्य के नूर का पूर अन्दर चलता है, उसके एकरूप पूर में इन्द्रियों के विषय एक ही रूप से ज्ञान में ज्ञेयरूप हैं, ज्ञान में भी ज्ञेयरूप जानता है, ज्ञान भी ज्ञेयरूप जानता है, ज्ञेय में भी ज्ञेय ज्ञाता होने योग्य है – ऐसा दोनों में कोई अन्तर नहीं है, तथापि एक विषय मुझे अनुकूल है आहा...हा...! विषय की वासना और शरीर का भोग यह मुझे ठीक है! अरे! प्रभु यह ठीक है यह तुझे कहाँ से आया? आहा...हा...! और मुझे रोग आया... आहा...हा...! १०६-१०८ डिग्री बुखार (आया) परन्तु यह तो इन्द्रिय के विषय की परवस्तु है। उसमें यह अठीक है और निरोगता ठीक है। आ...हा...! तूने विषय की रुचि में ऐसे दो भाग ज्ञान प्रवाह में कर डाले हैं। कठिन काम है भाई! वीतराग का मार्ग कोई साधारण नहीं है।

आहा...हा...! तीन लोक के नाथ महाविदेह में विराजमान हैं। सीमन्धर प्रभु तो समवसरण में विराजते हैं। उनका यह प्रवाह है। वहाँ से आयी हुई यह बात है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे। आठ दिन रहे थे। आहा....हा...! आकर शास्त्र बनाये थे आहा...हा...! उनकी वाणी के रहस्य का उद्घाटन अमृतचन्द्राचार्य ने किया कि प्रभु ऐसा कहना चाहते हैं। भाई! उनके रहस्य का उद्घाटन अमृतचन्द्राचार्य ने किया है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **दो भागों में खण्डित होता हुआ अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है।** भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु, ज्ञान के नूर के तेज का पूर, वह तो परवस्तु को पररूप से जानने के स्वभाववाला है और परवस्तु है, वह ज्ञात होने योग्य ही है। ऐसे दो भाग उसमें हैं। तथापि दूसरे दो भाग पाड़ना की यह विषय ठीक है और यह विषय ठीक नहीं है। आहा...हा...! मैसूरपाक को भोगते हुए मुझे मिठास आती है, अफीम को पीते हुए कड़वास आती है बापू...! कड़वाहट और मिठास तुझमें आती ही नहीं, कड़वाहट और मिठास तो जड़ है। प्रभु! तू तो अरूपी है न? उस अफीम की कड़वाहट का नशा और शक्कर की मिठास तुझे छूती भी नहीं है। आहा...हा...! परन्तु भेद करके वह विकल्प उठाया। आहा...! गजब बात की है! **अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त करता है।** आहा...हा...! वह तो आकुलता को प्राप्त करता है। दो भाग किये कि यह विषय ठीक है और यह

अठीक... जैसे पुल में पानी के प्रवाह के दो भाग पड़ गये इसी प्रकार (चैतन्य के) नूर के तेज के पूर में दो भाग तूने किये। प्रभु! ठीक और अठीक। तूने मोह को उत्पन्न किया – मिथ्यात्वभाव को उत्पन्न किया। आहा....हा....!

आ....हा...! प्रात:काल आया था न? ब्राह्मण का! चाण्डाल का लड़का था, तथापि (ऐसा कहता है) 'हमारे यह नहीं चलता, हमारे यह नहीं चलता।' इस प्रकार शुभभाववाला कर्ता होकर (यह कहता है) 'यह इन्द्रिय के विषय नहीं चलते, यह नहीं चलते।' भाई! यह सब तिरस्कार करके तुझे क्या करना है? यह दो भाग करना – यह हमारे चलता है – यह चलता है। तू ज्ञाता है उसमें दो भाग कहाँ से पड़े कि यह हमारे चलता है और यह हमारे नहीं चलता। आहा...हा...! ऐसा क्षोभ पाता है।

इससे मोह, राग और द्वेष – इन भेदों के कारण मोह तीन प्रकार का है। इस प्रकार मोह के तीन प्रकार कहे गये हैं और इसके कारण यह (जीव) चार गति में परिभ्रमण करता है। विशेष कहेंगे.... l

कब कहलाता है शुद्धात्मा का श्रवण

शुद्धात्मा का श्रवण किया तो तब कहलाता है कि जब उसका आशय समझकर तदनुसार परिणमित हो अर्थात् भावपूर्वक के श्रवण को भी यहाँ सुनने में गिना गया है। निमित्त के साथ उपादान का मेल होने पर ही उसे निमित्त कहते हैं। अनादि से काम- भोग- बन्धन की कथा के निमित्त के साथ जीव के उपादान का मेल हुआ है परन्तु शुद्ध ज्ञायक एकत्व-विभक्त आत्मस्वरूप को बतलानेवाले निमित्त के साथ उसके उपादान का मेल नहीं हुआ है; इसलिए उसने शुद्ध आत्मा की बात सुनी ही नहीं है। यहाँ तो उपादान-निमित्त की सन्धिपूर्वक कथन है। निमित्तरूप से ऐसे अपूर्व श्रवण को स्वीकार किया है कि जिसका श्रवण किया, उसकी रुचि और अनुभव भी करे ही।

(- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आतम के हित पन्थ लाग!, पृष्ठ- 12-13)

गाथा - ८४

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति -

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा।।८४।।

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्याः।।८४।।

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य, मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य, तृणपटलावच्छगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव, भवति नाम नानाविधो बन्धः। ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः।।८४।।

अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीया इत्याघोषयति - **मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स** मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहित-परमात्मस्वरूपपरिणतिच्युतस्य बर्हिमुखजीवस्य **जायदि विविहो बंधो** शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तद्वलेन जीवप्रदेशकर्मप्रदेशानामत्यन्त-विश्लेषो द्रव्यमोक्षः, इत्थंभूतद्रव्यभावमोक्षाद्विलक्षणः सर्वप्रकारोपादेयभूतस्वाभाविकसुखविपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविधबन्धो जायते। **तम्हा ते संखवइदव्वा** थतो रागद्वेषमोहपरिणतस्य जीवस्येत्थंभूतो बन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहा सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम्।।८४।।

अब, तीनों प्रकार के मोह को अनिष्ट कार्य का कारण, कहकर उसका (तीन प्रकार के मोह का) क्षय करने को सूत्र द्वारा कहते हैं –

रे मोहरूप अरु रागरूप, अरु द्वेष परिणत जीव है।
वे विविध पावें बंध सो, मोहादि सब क्षययोग्य हैं॥

अन्वयार्थ : [मोहेन वा] मोहरूप **[रागेण वा]** रागरूप **[द्वेषेण वा]** अथवा द्वेषरूप **[परिणतस्य जीवस्य]** परिणमित जीव के **[विविधः बंधः]** विविध बन्ध

[जायते] होता है; **[तस्मात्]** इसलिए **[ते]** वे (मोह-राग-द्वेष) **[संक्षपयितव्याः]** सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य हैं।

टीका : इस प्रकार तत्त्व-अप्रतिपत्ति (वस्तुस्वरूप के अज्ञान) से रुके हुवे, मोहरूप-रागरूप या द्वेषरूप परिणमित होते हुए इस जीव को-घास के ढेर से ढँके हुए खड्डे को प्राप्त होनेवाले हाथी की भाँति, हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीर में आसक्त हाथी की भाँति और विरोधी हाथी को देखकर, उत्तेजित होकर (उसकी ओर) दौड़ते हुए हाथी की भाँति -विविध प्रकार का बन्ध होता है; इसलिए मुमुक्षु जीव को अनिष्ट कार्य करनेवाले इस मोह, राग और द्वेष का यथावत् निर्मूल नाश हो इस प्रकार क्षय करना चाहिए।

भावार्थ : (१) हाथी को पकड़ने के लिये धरती में खड्डा बनाकर उसे घास से ढक दिया जाता है, वहाँ खड्डा होने के अज्ञान के कारण उस खड्डे पर जाने से हाथी गिर पड़ता है और वह इस प्रकार पकड़ा जाता है। (२) हाथी को पकड़ने के लिये सिखाई हुई हथिनी भेजी जाती है; उसके शारीरिक राग में फँसने से हाथी पकड़ा जाता है (३) हाथी पकड़ने की तीसरी रीति यह है कि उस हाथी के सामने दूसरा पालित हाथी भेजा जाता है; उनके पीछे वह हाथी उत्तेजित होकर लड़ने के लिये दौड़ता है और इस प्रकार वह पकड़नेवालों के जाल में फँस जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से जैसे, हाथी (१) अज्ञान से, (२) राग से या (३) द्वेष से अनेक प्रकार के बन्धन को प्राप्त होता है। उसी प्रकार जीव (१) मोह से, (२) राग से या (३) द्वेष से अनेक प्रकार के बन्धन को प्राप्त होता है, इसलिए मोक्षार्थी को मोह-राग-द्वेष का भलीभाँति-सम्पूर्णतया मूल से ही क्षय कर देना चाहिए॥ ८४॥

प्रवचन नं. ७६ **दिनाङ्क १७ मई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ८४ - उपोद्घात - **अब, तीनों प्रकार के मोह को...** अर्थात् मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव। (इनमें) फिर शुभ और अशुभभाव चाहे जो हो, वह मोह और राग-द्वेष - यह तीन प्रकार का मोह है। ये तीन तो **अनिष्ट कार्य का कारण...** है। आहा...हा...! आत्मा के इष्ट / धर्मकार्य का यह कारण नहीं है। **अनिष्ट कार्य**

का कारण कहकर उसका (तीन प्रकार के मोह का) क्षय करने को सूत्र द्वारा कहते हैं -

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा।। ८४।।

नीचे हरिगीत -

रे मोहरूप अरु रागरूप, अरु द्वेष परिणत जीव है।
वे विविध पावें बंध सो, मोहादि सब क्षययोग्य हैं॥

आहा...हा...! तीनों को अनिष्ट कार्य का कारण कहा है। शुभराग भी अनिष्ट कार्य का कारण है - ऐसा हुआ न? आहा...हा...! शुभराग या अशुभराग या द्वेष या मिथ्यात्व - तीन में सब आ गया। वह अनिष्ट कार्य का कारण हैं। भाषा स्पष्ट है न? **अनिष्ट कार्य का कारण....** है। आहा...हा...! आत्मा का इष्ट कार्य जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसका यह मोह और शुभराग या अशुभराग या द्वेष कारण नहीं हैं।

आहा...हा...! डॉक्टर भी क्षण में देह छोड़ जाते हैं, कुछ रख नहीं सकते। आहा...हा...! जीव की पर्याय (और) देह की पर्याय भी उस समय उसी प्रकार से... आ...हा...! षट् कारकरूप से देह की (छूटने की) पर्याय परिणमित होने है। आहा...हा...! इस प्रकार होने का काल है और वही होता है। आहा...हा...! शरीर लट्ठ जैसा (होवे तो भी) क्या करे? आयुष्य की स्थिति हो, वह समय तीन काल में बदलेगा? आ...हा...! उसकी अपनी पर्याय की योग्यता इतनी है, इसलिए वहाँ तक रहेगी। इस शरीर के कारण, आयुष्य के कारण रहेगी - ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! वह परद्रव्य है, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? अपना शरीर में भिन्नरूप से रहने का काल जिस समय का है, उस प्रकार से रहेगा। आहा...हा...! परन्तु जगत् को विश्वास बैठना (कठिन है)। बाहर से ऐसा करेंगे तो ऐसा होगा और ऐसा करूँगा तो ऐसा होगा; दवा करूँगा, हवा-पानी बदलूँगा, सिर पर पंखा लगाऊँगा, ऐसा करूँगा और वैसा करूँगा; तेल मर्दन करूँगा और घी मर्दन करूँगा और वैसा करूँगा... अरे भगवान बापू! जिस समय पर्याय होना है, वह पर्याय होना ही है।

आहा...हा... ! (डॉक्टर) रोगियों को देखने के लिए निकला और स्वयं एक रोगी के पलंग के पास समाप्त हो गया ! यहाँ आते थे।

यहाँ तो कहते हैं प्रभु ! तेरा मोह और राग-द्वेष, शुभ या अशुभराग, अनिष्ट कार्य का कारण हैं। आहा...हा... ! इसलिए इष्ट कार्य करनेवाले को उनका क्षय करना चाहिए। क्षय से ही शुरु किया है ! नाश करना चाहिए।

टीका : इस प्रकार तत्त्व-अप्रतिपत्ति (वस्तुस्वरूप के अज्ञान) से रुके हुवे,.... आहा...हा... ! जो मोह-राग-द्वेष में आये हैं, वे स्वरूप से रुक गये हैं, ढँक गये हैं। आहा...हा... ! तत्त्व की अप्रतिपत्ति-यह अपने पहले आ गया है। तत्त्व अप्रतिपत्ति की व्याख्या (८३ गाथा में आ गयी है)। तत्त्व अप्रतिपत्ति है न उस ओर ? अप्राप्ति, अज्ञान, अनसमझ, अनिर्णय, तत्त्व की अप्राप्ति। वस्तु भगवान आत्मा, आनन्द का कन्द प्रभु ऐसे तत्त्व की अप्राप्ति अथवा ऐसे तत्त्व के अज्ञान के कारण... आहा...हा... ! ऐसे तत्त्व की असमझ के कारण, भगवान तो अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय वीतराग और अतीन्द्रिय ज्ञानमय स्वरूप है। उसके अज्ञान के कारण **रुके हुवे, मोहरूप-रागरूप या द्वेषरूप परिणमित होते हुए....** आहा...हा... ! जिसकी शक्ति की व्यक्तता - वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी प्रतीति, वीतरागी आचरण - यह जिसका प्रगटपना होना चाहिए, वह रुक गया है, ढँक गया है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! किसके कारण ? मोह और राग-द्वेषरूप परिणमते हुए। मोह और राग-द्वेषरूप परिणमते हुए। देखो, कर्म के कारण ढँक गया है, रुक गया है - ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! स्वयं के... आहा...हा... ! मोह-राग-द्वेषरूप होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से रुक गये हैं, ढँक गये हैं। अन्दर परमात्मस्वरूप प्रभु उसका जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह ढँक गया है-रुक गया है।

ऐसे मोह और राग-द्वेष से परिणमित हुए जीव को घास के ढेर से ढँके हुए खड्डे को प्राप्त होनेवाले हाथी की भाँति,.... हाथी को पकड़ना होता है, तब बड़ा गड्ढा करते हैं और उसे ढँक कर घास भरते हैं, ऊपर से (ऐसा लगता है) मानो भरा हुआ है परन्तु जैसे ही वहाँ जाये, धड़ाम से अन्दर गड्ढे में गिर जाता है। आहा...हा... ! **घास के ढेर से ढँके हुए...** ऊपर थोड़ा घास डाला हो - ऐसे **खड्डे को प्राप्त होनेवाले....** आहा...हा... !

हाथी की भाँति, हथिनीरूपी कुट्टनी के शरीर में आसक्त हाथी की भाँति... आहा...हा... ! एक तो घास के ढेर से ढँका हुआ खड्डे को प्राप्त होनेवाला हाथी की भाँति आया। आहा...हा... ! और दूसरा **हथिनीरूप कुट्टनी के शरीर में आसक्त हाथी की भाँति और विरोधी हाथी को देखकर,....** तीन भेद किये हैं। भाई... ! मोह-राग और द्वेष। आहा...हा... !

मोह की व्याख्या ऐसे की... आहा...हा... ! **घास के ढेर से ढँके हुए खड्डे को प्राप्त होनेवाले...** यह मिथ्यात्व की उपमा दी। आहा...हा... ! **हथिनीरूप कुट्टनी के शरीर में आसक्त...** यह राग (हुआ)। **और विरोधी हाथी को देखकर, उत्तेजित होकर (उसकी ओर) दौड़ते हुए हाथी की भाँति,...** यह द्वेष हुआ। आहा...हा... !

विविधप्रकार का बन्ध होता है।... इन तीनों प्रकारों से अनेक प्रकार का बन्ध होता है। आहा...हा... ! मानों खड्डा नहीं है (क्योंकि) ऊपर जरा घास बिछाया हुआ है। बाँस के छोटे टुकड़े करके ऐसे लम्बे-लम्बे बिछाये हों और ऊपर जरा घास हो, अन्दर पूरा खड्डा खाली हो आहा...हा... ! पतले सड़े हुए बाँस आदि हों, उन बाँसों की भाग करते हैं, वह क्या कहलाती है ? पूरे बाँस की आधी करते हैं वह ? खपाटू... खपाटू... ! खपाटू.... ! एकदम पतली होती है, उस पर घास डाला हो, हाथी घास खाने जाता है, वहाँ खड्डे में गिर जाता है। इस प्रकार पर को अपना मानकर, स्वयं को भूलकर खड्डे में - मिथ्यात्व के खड्डे में पड़ता है। आहा...हा... !

जिस प्रकार हाथी घास से ढँके हुए खड्डे में गिरता है, उसी प्रकार अज्ञानी अपना आनन्द और ज्ञान शुद्धस्वभाव है, उसे नहीं जानकर बाह्य पदार्थों की प्रीति के प्रेम में एकत्वबुद्धि से जैसे वह हाथी खड्डे में गिरता है, इस प्रकार यह मिथ्यात्व में पड़ता है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! अभी (८५ वीं गाथा में) तो मनुष्य और तिर्यञ्च की करुणा को भी दर्शनमोह का चिह्न कहेंगे ! आहा...हा... ! आहा...हा... ! क्योंकि तेरा स्वभाव जानने-देखने का है। प्रेक्षा - देखने का स्वभाव है। उसके बदले इस तिर्यञ्च, मनुष्य को दुःख होता है; इसलिए करुणा (उत्पन्न होती है यह) इनके कारण करुणा उत्पन्न होती है, आहा...हा... ! वह मिथ्यात्वरूपी खड्डे में गिरता है - ऐसा मेरा कहना है। यहाँ वह दृष्टान्त

दिया है। आहा...हा...! ८५ वीं (गाथा में) आयेगा। वहाँ तक दर्शनमोह का चिह्न लिया है। जीव का स्वभाव तो जानना-देखना है, उसे उल्लंघकर तिर्यञ्च, मनुष्य के दुःख को देखकर, करुणा (उत्पन्न होती है)... आहा...हा...! उनके आश्रय से करुणा (उपजती है) ऐसा। कमजोरी से जो कुछ होता है वह नहीं। यह तो उनके आश्रय से करुणा होती है, उनके प्रति करुणा होती है इतना, उसमें मिथ्यात्व का खड्डा है। आहा...हा...!

तीन प्रकार कहे हैं - (पहला) खड्डे में पड़ा - त्रिकाली आनन्द का नाथ भरपूर भगवान जो परद्रव्य की एकताबुद्धि में खड्डे में पड़ा है आहा...हा...! जहाँ अपना कोई तत्त्व नहीं है, स्वयं वहाँ नहीं है... आहा...हा...! ऐसे मिथ्यात्वरूपी खड्डे में पड़ा है और या हथिनी के प्रेम में हाथी है, उसी प्रकार जगत् के पदार्थों के प्रेम में पड़ा है। वह भी अनेक प्रकार के बन्धन का कारण है। आहा...हा...! **और विरोधी हाथी को देखकर उत्तेजित...** देखने से यह द्वेष हुआ - ऐसे **दौड़ते हुए हाथी की भाँति...** आहा...हा...! उत्तेजित हो गया हो, इसलिए पीछे दौड़ता है। द्वेष से दौड़ता है। आहा...हा...! इसी प्रकार (अज्ञानी) प्रतिकूल चीज है, ऐसी कल्पना करके (दूर भागता है)। कोई चीज प्रतिकूल नहीं है। आहा...हा...! ज्ञेय है, फिर उसमें अनुकूल और प्रतिकूल क्या? परन्तु प्रतिकूल ऐसा द्वेष खड़ा करके उसमें फँस जाता है। आहा...हा...! उनकी तरह अनेक प्रकार के **विविध प्रकार का बन्ध होता है;...** आहा...हा...!

इसलिए मुमुक्षु जीव को... (अर्थात्) आत्मार्थी को, आत्मार्थी हित के अर्थी को, **अनिष्ट कार्य करनेवाले...** आहा...हा...! यह मोह-राग और द्वेष तीनों अनिष्ट कार्य करनेवाले हैं। इन मोह-राग-द्वेष का **यथावत् निर्मूल नाश हो...** यथावत् और निर्मूल दो (शब्द लिये हैं) आहा...हा...! ऐसे आत्मा की ओर के झुकाव में जोर करे कि जैसे द्रव्य वापिस नहीं पड़ता, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी वापिस नहीं पड़ता। (इस प्रकार) निर्मूल नाश करे। आहा...हा...! भाषा तो देखो, पञ्चम काल के श्रोता को पञ्चम काल के मुनि ऐसा कहते हैं! उसे ऐसा नहीं कहते कि तू पञ्चम काल में है, इसलिए (तुझसे) नहीं हो सकेगा। आहा...हा...! और वह भी इसमें - (खड्डे में) पड़े हुए जीव को कहते हैं। आहा...हा...! **मुमुक्षु जीव को अनिष्ट कार्य करनेवाले इस मोह, राग और द्वेष का**

यथावत्... (अर्थात् कि) जिस प्रकार उनका स्वरूप है, वैसा जानकर और उनसे विरुद्ध प्रभु का – आत्मा का स्वरूप है, उसे जानकर **निर्मूल नाश हो...** मूल में से नाश हो; आहा...हा...! पुनः इसका अंकुरपना उत्पन्न न हो! आहा...हा...! वाणी तो देखो! दिगम्बर सन्तों की वाणी!! आहा...हा...! निर्मूल नाश हो जाये। मिथ्यात्व, राग, द्वेष का किञ्चित् भी मूल नहीं रहे। यह गधा है, वह घास खाता है न? तो मूल में से खाता है; गाय है, वह ऊपर–ऊपर से खाती है, उसकी जड़ रखती है... मूल रखती है। यह गधा जैसे खाता है – ऐसे ज्ञानी (मूल में से मिथ्यात्व, राग–द्वेष का नाश करता है)। आहा...हा...!

मुमुक्षु (अर्थात्) आत्मा के पूर्ण आनन्द के लाभ की अभिलाषावत् मुमुक्षु को... आहा...हा...! इन तीनों का **यथावत् निर्मूल नाश हो, इस प्रकार क्षय करना चाहिए।** आहा...हा...! क्या बात करते हैं। प्रभु... परन्तु इस पञ्चम काल के प्राणी को तुम इतना...! आहा...हा...! बापू! काल वाल जिसमें नहीं है – ऐसा महाप्रभु विराजमान है! तेरी नजर में निधान नहीं आया, इसलिए तुझे अविद्यमान लगता है। विद्यमान वस्तु है... विद्यमान वस्तु है। प्रगट वस्तु है, व्यक्त वस्तु है... आहा...हा...! आनन्द का धाम, स्थल, सत्ता... आहा...हा...! ऐसी चैतन्यसत्ता, आत्मसत्ता... आहा...हा...! उसका आश्रय करके **इस प्रकार क्षय करना चाहिए।** आहा...हा...! इस प्रकार उपशम करने योग्य है – ऐसा भी नहीं कहा। आहा...हा...! वाणी की उग्रता तो देखो! उपशम करो, ढँको, (ऐसा नहीं कहा)। **निर्मूल नाश हो, इस प्रकार क्षय करना चाहिए।**

भावार्थ : (१) हाथी को पकड़ने के लिये धरती में खड्डा बनाकर उसे घास से ढक दिया जाता है,... पोला–पोला घास भरते हैं, थोड़ी बाँस डालकर ऊपर से घास डालते हैं। **हाथी, वहाँ खड्डा होने के अज्ञान के कारण....** देखो! मिथ्यात्व लेना है न? (इसलिए ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! यह खड्डा है, उसके अज्ञान के कारण **उस खड्डे पर जाने से उसमें गिर पड़ता है....** आहा...हा....! **और वह इस प्रकार पकड़ा जाता है।...** खड्डे में पड़ा इसलिए हो गया। (फिर उसे) पकड़ते हैं। आहा...हा...!

(२) हाथी को पकड़ने के लिये सिखाई हुई हथिनी भेजी जाती है; उसके शारीरिक राग में फँसने से... हथिनी के प्रेम में (फँसता हुआ) हाथी पुरुष है और वह

हथिनी स्त्री है। आहा....हा...! **हाथी को पकड़ने के लिये सिखाई हुई हथिनी भेजी जाती है; उसके शारीरिक राग में फँसने से हाथी पकड़ा जाता है...** यह राग (हुआ)। आहा...हा...! (ऐसे अज्ञानी) पर के प्रति प्रेम में पकड़ा जाता है। आहा...हा...! देश के, परिवार के, पैसे के (प्रेम में पकड़ा जाता है)। आहा...हा...! देह के छूटने का प्रसङ्ग आये तो भी अपने कामकाज की व्यवस्था से परान्मुख नहीं होता। आहा...हा...! मानो (मौत) अभी नहीं आयेगी... अभी नहीं आयेगी... आहा...हा...! अभी क्या अवसर है? ऐसा कहता है। निरोगी शरीर है, उसमें मौत आना कहाँ है? अरे बापू! निरोगी शरीर अर्थात्? एक क्षण में अन्दर खून रुक जाता है, खत्म! यहाँ तो मिथ्यात्व के खड्डे की बात की है। ऐसी जो क्षणिक नाशवान् वस्तु है, उसके प्रेम में फँस गया है, वह मिथ्यात्व के खड्डे में गया – ऐसा कहना है। आहा...हा...! दो (बोल) हुए।

(३) हाथी पकड़ने की तीसरी रीति यह है कि उस हाथी के सामने दूसरा पालित हाथी भेजा जाता है; उनके पीछे वह हाथी उत्तेजित होकर लड़ने के लिये दौड़ता है... जाता है। द्वेष... द्वेष... सिद्ध करना है न? आहा...हा...! उसके पीछे दौड़ते हुए **पकड़नेवालों के जाल में फँस जाता है।**

उसके पीछे दौड़ते हुए (पकड़ा जाता है)। पकड़नेवाले तो वहाँ खड़े ही होते हैं कि यह हाथी के पीछे आयेगा आहा...हा...! इसी प्रकार प्रतिकूलता के द्वेष के अंश में (अज्ञानी पकड़ा जाता है)। कोई वस्तु प्रतिकूल नहीं है परन्तु प्रतिकूल मानकर द्वेष में पकड़ा जाता है। आहा...हा...!

शरीर में रोग हुआ, क्षयरोग लागू पड़ा अथवा क्या कहते हैं? कैंसर! कैंसर लागू पड़ा, वह तो जड़ की पर्याय का काल है। आहा...हा...! परन्तु यह उसके प्रति द्वेष करता है – यह क्यों? क्यों? ऐसा क्यों होता है? बराबर ध्यान रखें तो नहीं होता? धूल भी ध्यान नहीं रखा जा सकता। सुन तो सही! आहा...हा...!

डॉक्टर का उदाहरण तो प्रत्यक्ष तैरता है। कितने वर्ष से यहाँ रहता था बेचारा! बेचारा आता और वह बेचारा रोगी को देखने गया होगा... अरे प्रभु... प्रभु...! क्या पकड़ा गया है! नौकरी है न? आहा...हा...! रोगियों को देखने की नौकरी बजाने में वह फँस गया

था। आहा...हा... ! आ...हा... ! अरे... ! कोई आधार, कोई शरण नहीं। अनजाने द्रव्य – अनजाना क्षेत्र, अनजाना काल–भाव में कहीं जन्म लेगा। आहा...हा... ! जहाँ कोई एक भी पहचानता नहीं होगा। आहा...हा... ! पूरा भव पलटकर, भाव पलट जाते हैं। आहा...हा... ! देह दूसरा मिलता है, क्षेत्र दूसरा होता है, काल दूसरा होता है और उस समय भाव दूसरे होते हैं। आहा...हा... ! आ...हा.... ! अरे.... प्रभु ! कुछ चेत बापा ! अवसर आया है, भाई ! आहा...हा... ! यहाँ यही कहते हैं न। हाथी के साथ वहाँ वह (हाथी) पकड़ा जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से जैसे, हाथी (१) अज्ञान से, (२) राग से या (३) द्वेष से.... देखा, तीन शब्द है न ? (उनमें) **अनेक प्रकार के बन्धन को प्राप्त होता है। उसी प्रकार जीव (१) मोह से,....** (अर्थात्) मिथ्यात्व से। आहा...हा... ! मिथ्याभ्रम से (मानता है कि) परपदार्थ में किसी भी अंश में कुछ भी सुख है, मुझे लाभदायक है। आहा...हा... ! भगवान पूर्णानन्द का नाथ, पूर्ण लाभदायक है, उसका तो पता नहीं और उसके अतिरिक्त शुभ–अशुभभाव से लेकर परपदार्थ के अनेक प्रकार हैं, उनका कोई भी एक अंश मुझे लाभदायक है (– ऐसा माननेवाला), वह मिथ्यात्व के खड्डे में पड़ा है। आहा...हा... ! जैसे हाथी खड्डे में पड़ा है, उसी प्रकार यह मिथ्यात्व के खड्डे में पड़ा है। आहा...हा... ! जहाँ कोई नहीं वहाँ पड़ा है और जहाँ है वहाँ से हट गया है – ऐसा कहना है। आहा...हा... !

प्रभु स्वयं चैतन्य, सच्चिदानन्द ध्रुवधाम स्थल जिसका है ! आहा...हा... ! वह अनन्त गुणों से भरपूर... भरपूर है। पर से मुझे कुछ भी लाभ होगा ऐसी जो मान्यता उसमें कुछ नहीं, तेरा कुछ नहीं है, खाली वस्तु है। आहा...हा... ! ऐसे मिथ्यात्व में पड़ा है। आ...हा... ! मिथ्यात्व में पकड़ा गया है। कहते हैं **(२) राग से...** उस हाथी को बन्ध है, यह चारित्रमोह कहा।

(इस प्रकार) **(३) द्वेष से अनेक प्रकार के बन्धन को प्राप्त होता है, इसलिए मोक्षार्थी को...** इसलिए मोक्षार्थी को ! ऐसा कहकर फिर बताना तो (यह है कि इसका) तात्पर्य वीतरागता करना वह है। आहा...हा... ! ऐसे दोष बताना है, वे दोष हैं, इतना ज्ञान करके उनमें रुक जाने के लिये नहीं बताते हैं। आहा...हा... ! वहाँ से हट जाना

और जहाँ प्रभु विराजमान हैं, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द अनन्त गुण से ध्रुवरूप नित्यानन्द का सहजात्मप्रभु (विराजमान है), उसकी तरफ ले जाने के लिये यह बात करते हैं; उनमें (दोषों में) रुकाने के लिए बात नहीं करते हैं। आहा...हा... !

उपर्युक्त प्रकार से जैसे हाथी, मोह-राग-द्वेष से (बन्धन को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीव बन्धन को प्राप्त करता है)। **इसलिए मोक्षार्थी को मोह-राग-द्वेष का भलीभाँति-सम्पूर्णतया मूल से ही....** भलीभाँति मूल से क्षय करना चाहिए। आहा...हा... ! आहा...हा... ! जिससे तुझे अल्प काल में परमात्मा ही हुआ जा सके। आहा...हा.... ! ***यह ८४ वीं गाथा। ८४ के अवतार में से निकलने की गाथा है!*** आहा...हा... ! मुमुक्षु को क्या करना ? - यह कहा है न ? ८४ लाख के अवतार में-स्वर्ग का (अवतार) हो या नरक का हो या भोगभूमि का जुगलिया का हो... आहा...हा... ! नरक का हो या हलके तिर्यञ्च का हो; सभी भव दुःखरूप हैं। आहा...हा... ! मोक्षार्थी को ऐसा कहा है न ? भवार्थी को - गति के अर्थी को ऐसा नहीं कहा। आहा...हा... ! अन्तर में आत्मा के पूर्ण आनन्द का लाभ हो ऐसा जो मोक्ष, उसके अर्थी को। आहा...हा... ! मोक्ष अर्थात् पूर्ण दुःख का अभाव और पूर्ण आनन्द का लाभ - इसका नाम मोक्ष है, उसका मुमुक्षु (अर्थी है) आहा...हा... ! पूर्ण अतीन्द्रिय आत्मलाभ ऐसा जो मोक्ष उसके अर्थी मुमुक्षु जीव को... आहा...हा... ! इस प्रकार मोह-राग-द्वेष को पहचान कर नष्ट करना - नाश करना चाहिए। सम्पूर्णतः निर्मूल करना चाहिए। आहा...हा... ! ı

गाथा - ८५

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति -

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि।। ८५।।

अर्थे अयथाग्रहणं करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि।। ८५।।

अर्थानामयाथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहमभीष्टविषयप्रसङ्गेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः।। ८५।।

अथ स्वकीयस्वकीयलिङ्गै रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासंभवं त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति - **अट्ठे अजधागहणं** शुद्धात्मादिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेऽपि विपरीताभिनिवेशरूपेणा-यथाग्रहणं **करुणाभावो य** शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीतः करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः। केषु विषयेषु। **मणुवतिरिएसु** मनुष्यतिर्यग्जीवेषु इति दर्शनमोह-चिह्नम्। **विसएसु च प्पसंगो** निर्विषयसुखास्वादरहितबहिरात्मजीवानां मनोज्ञामनोज्ञविषयेषु च योऽसौ प्रकर्षेण सङ्गः संसर्गस्तं दृष्ट्वा प्रीत्यप्रीतिलिङ्गाभ्यां चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ च ज्ञायेते विवेकिभिः, ततस्तत्परिज्ञानानन्तरमेव निर्विकारस्वशुद्धात्मभावनया रागद्वेषमोहा निहन्तव्या इति सूत्रार्थः।। ८५।।

अब, इस मोह-राग-द्वेष को इन (आगामी गाथा में कहे गये) चिह्नों-लक्षणों के द्वारा पहिचान कर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए, ऐसा प्रगट करते हैं -

पदार्थ का अयथार्थ धारण, करुणा मनुज-तिर्यञ्च की।
अरु विषयों की सङ्गति ग्रहण, पहचान हैं सब मोह की॥

अन्वयार्थ : [अर्थे अयथाग्रहणं] पदार्थ का अयथाग्रहण (अर्थात् पदार्थों को जैसे हैं, वैसे सत्यस्वरूप न मानकर उनके विषय में अन्यथा समझ) **[च]** और **[तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभावः]** तिर्यञ्च-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव, **[विषयेषु प्रसंगः**

च] तथा विषयों की सङ्गति (इष्ट विषयों में प्रीति और अनिष्ट विषयों में अप्रीति) **[एतानि]** यह सब **[मोहस्य लिंगानि]** मोह के चिह्न-लक्षण हैं।

टीका : पदार्थों की अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति[१] के द्वारा और तिर्यञ्च – मनुष्य, प्रेक्षायोग्य[२] होने पर भी उनके प्रति करुणाबुद्धि से मोह को (जानकर), इष्ट विषयों की आसक्ति से राग को और अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष को (जानकर) – इस प्रकार तीन लिङ्गों के द्वारा (तीन प्रकार के मोह को) पहिचानकर तत्काल ही उत्पन्न होते ही तीनों प्रकार का मोह नष्ट कर देने योग्य है।

भावार्थ : मोह के तीन भेद हैं – दर्शनमोह, राग और द्वेष। पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से विपरीत मान्यता तथा तिर्यञ्चों और मनुष्यों के प्रति तन्मयता से करुणाभाव, वे दर्शनमोह के चिह्न हैं; इष्ट विषयों में प्रीति राग का चिह्न है और अनिष्ट विषयों में अप्रीति द्वेष का चिह्न है। इन चिह्नों से तीनों प्रकार के मोह को पहिचानकर मुमुक्षुओं को उसे तत्काल ही नष्ट कर देना चाहिये॥ ८५॥

प्रवचन नं. ७६ का शेष **दिनाङ्क १७ मई १९७९**

अब, उनकी पहचान कराते हैं। **अब, इस मोह-राग-द्वेष को इन चिह्नों द्वारा...** (अर्थात् कि) उनके चिह्नों द्वारा; मोह-राग-द्वेष के चिह्न-लक्षण, प्रतीक... आहा...हा...! **चिह्नों-लक्षणों के द्वारा पहिचान कर उत्पन्न होते ही...** इसका अर्थ यह है कि उत्पन्न होने ही नहीं देना – ऐसा कहते हैं। **उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए, ऐसा प्रगट करते हैं** – अनुकम्पा, पर की करुणा का भाव नष्ट कर देने योग्य है। आहा...हा...! यहाँ दर्शनमोह का चिह्न कहेंगे। आहा...हा...!

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि।। ८५।।

---

१. पदार्थों की अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति = पदार्थ जैसे नहीं हैं, उन्हें वैसा समझना अर्थात् उन्हें अन्यथा स्वरूप से अङ्गीकार करना।

२. प्रेक्षायोग्य = मात्र प्रेक्षकभाव से-दृष्टाज्ञातारूप से-मध्यस्थभाव से देखने योग्य।

देव और नारकी तो यहाँ है नहीं, तिर्यञ्च और मनुष्य हैं। आहा...हा...! ये उसके चिह्न – लक्षण।

पदार्थ का अयथार्थ धारण, करुणा मनुज-तिर्यञ्च की।

उनकी करुणा करता हूँ – ऐसा। उनके दु:ख को देखकर उनकी करुणा करता हूँ। आहा...हा...!

अरु विषयों की सङ्गति ग्रहण, पहचान हैं सब मोह की॥

टीका : पदार्थों की अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति के द्वारा... पदार्थों की अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति = पदार्थ जैसे नहीं हैं, उन्हें वैसा समझना अर्थात् उन्हें अन्यथा स्वरूप से अङ्गीकार करना। आहा...हा...! अपने भगवान के अतिरिक्त, राग से लेकर किसी भी वस्तु की अयथार्थ समझ के कारण, उसमें से मुझे कुछ लाभ होगा – ऐसी असमझ के – मिथ्यात्व के कारण, आहा...हा...! **पदार्थों की अयथातथ्यरूप प्रतिपत्ति के द्वारा...** यह दर्शनमोह का चिह्न है–मिथ्यात्व का चिह्न है, यह मिथ्यात्व का लक्षण है। आहा...हा...!

तिर्यञ्च – मनुष्य, प्रेक्षायोग्य होने पर भी.... तिर्यञ्च और मनुष्य (प्रेक्षायोग्य होने पर भी)... बहुत गजब काम किया है! परवस्तु तो ज्ञेय है कहते हैं, वह तो जानने योग्य है, तेरे लिये जानने योग्य है आहा...हा...! जानने योग्य–देखने योग्य है। है न? (प्रेक्षायोग्य का अर्थ) नीचे है – **मात्र प्रेक्षकभाव से–दृष्टाज्ञातारूप से–मध्यस्थभाव से देखने योग्य है।** आहा...हा....! **तथापि...** भगवान आत्मा को तो वे तिर्यञ्च और मनुष्य के दु:ख परज्ञेय हैं; मात्र जानने–देखने योग्य हैं। आहा...हा...! ऐसा जानने–देखने योग्य हैं, उसे उल्लंघ कर **उनके प्रति करुणाबुद्धि से...** उनके प्रति करुणाबुद्धि से (ऐसा कहा है)! मानो उनकी करुणा करता हो – यह मोह–मिथ्यात्व–दर्शनमोह का चिह्न है। मिथ्यात्व का लक्षण है। आहा...हा...!

जयसेनाचार्यदेव ने दो अर्थ किये हैं। **करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभावः।** ऐसा अर्थ किया है। **शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षा–संयमाद्विपरीतः करुणाभावो....** ऐसा। भगवान आत्मा तो राग से भी उपेक्षा करके

अपने संयम स्वभाव में रहना, वह उसका स्वरूप है। आहा...हा... ! उसके आनन्द के घर में रहना, वह उसका स्वरूप है। आहा...हा... ! उसे छोड़कर, **उनके प्रति... करुणाबुद्धि से** ऐसा, हाँ ! अन्दर में दया के परिणाम कमजोरी से आ जाये, वह अलग बात है परन्तु यह तो मानो इसका कुछ कर दूँ, यह दुःखी है तो कुछ कर दूँ – ऐसी उनके प्रति करुणाबुद्धि, यह दर्शनमोह का लक्षण–मिथ्यात्व का लक्षण है। आहा...हा... ! यह शब्द है न ? **करुणाभावो य तिरियमणुएसु** – ऐसा शब्द है। तिर्यञ्च और मनुष्यों में, तिर्यञ्च और मनुष्यों के कारण, उन्हें दुःखी देखकर, उनकी करुणा। जानने देखने योग्य वस्तु है, उसे उल्लंघ कर उनकी कुछ करुणा करूँ तो उन्हें कुछ ठीक पड़ेगा – यह मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा... !

वैसे समकित के पाँच लक्षण वर्णन किये हैं। उसमें शम, संवेग, निर्वेग, आस्था और अनुकम्पा (कहे गये हैं) । वह वीतरागी अनुकम्पा है। तथापि वह वीतरागी अनुकम्पा आती है न ? धवल में आता है, वीतरागी को करुणा होती है। वह करुणा अर्थात् अकषायभाव। धवल में आता है – करुणा अर्थात् अकषायभाव। (इसलिए) लोग लेते हैं कि देखो ! भगवान को करुणा होती है ! परन्तु प्रभु ! करुणा माने क्या ? आहा...हा... ! वीतरागभाव है, वही करुणा है। 'करुणा हम पावत है हम तुमकी' श्रीमद् ने ऐसा कहा है न ? करुणा हम पावत... वह करुणा अर्थात् वीतरागता। आहा...हा... ! प्रभु ! तेरे ज्ञान में हम भासित हुए, (हमें) सम्यग्दर्शन है, भव्य हैं, यह भासित हुआ, वही आपकी करुणा है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! बात में अन्तर बहुत है ! थोड़ा अन्तर वह मिथ्यात्व का लक्षण है।

यहाँ नजर में नारकी और देव तो है नहीं। यह दो गतियाँ हैं, इसलिए कहते हैं कि **करुणाभावो य तिरियमणुएसु।** पर से आधार से करुणा उत्पन्न हो कि यह दुःखी है, इसलिए मुझे करुणा आती है। उस दुःख को मैं मिटाऊँ आहा...हा... ! यह मिथ्यात्वभाव है –ऐसा कहते हैं। (अज्ञानी कहता है कि) 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया ही सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति में गये...' स्थानकवासी में तो ऐसा बहुत गाते हैं। संवत् ८१ में हमारा चामुर्मस 'गढ़डा' में था, तब बड़े बैनर लिखे गये थे। 'दया सुख की बेल है...' पर की दया, स्व दया की तो बात ही कहाँ थी ! 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया ही सुख की

खान।' यहाँ कहते हैं कि पर का करुणाभाव, उसके विषय की करुणा, वह मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा...! बहुत अन्तर है! इसमें (तिर्यञ्च, मनुष्य के प्रति करुणा) नहीं परन्तु अपनी मन्दकषाय के भाव से कोई दया का भाव आता है, तो भी वह राग है, वह भी स्वरूप की हिंसा है। वह चारित्र का दोष है और यह करुणाबुद्धि अर्थात् यह दुःखी है, इसलिए मुझे करुणा आती है – यह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! जो चीज है, वह वास्तव में ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है। प्रेक्षायोग्य कहा है न? तदुपरान्त यह इससे आगे गया है। देखने योग्य है – जानने योग्य ही है, इससे आगे बढ़कर उनकी करुणा करूँ, परद्रव्य की करुणा करूँ (– ऐसा आगे गया है)। आहा...हा...! बहुत कठिन काम है! क्योंकि पर की करुणा कर नहीं सकता है। अपने किन्हीं साधनों से भी उनकी दया पालन नहीं कर सकता है। आहा...हा...! बहुत कठिन काम! जगत् की शैली से वीतराग की शैली एकदम अलग! आहा...हा...!

अन्वयार्थ में **तिर्यञ्च - मनुष्यों के प्रति करुणाभाव** - ऐसा शब्द है न? तिर्यञ्च–मनुष्यों के प्रति करुणाभाव – उसका यहाँ (टीका में) डाला है कि **तिर्यञ्च–मनुष्य प्रेक्षायोग्य होने पर भी उनके प्रति करुणाबुद्धि...** ऐसा। यहाँ प्रेक्षायोग्य शब्द डालकर अधिक स्पष्ट किया है। आहा...हा...! क्योंकि उनके प्रति तू करुणाबुद्धि कर तो करुणाभाव से उन्हें कुछ लाभ हो तथा तुझे लाभ हो – ऐसा कुछ नहीं है। आहा...हा...! इसलिए बन्ध अधिकार में जयसेनाचार्यदेव ने कहा है कि मैं दूसरों को जिलाने–मारने में निमित्तमात्र हूँ, निमित्तकर्ता नहीं। निमित्तमात्र हूँ अर्थात् जानने–देखनेवाला हूँ। आहा...हा...! बन्ध अधिकार में जयसेनाचार्यदेव की टीका में आता है। दूसरे को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ – यह मिथ्यात्वभाव है। दूसरे को सुख–दुःख दे सकता हूँ, सुविधा दे सकता हूँ, असुविधा दे सकता हूँ – यह मिथ्यात्वभाव है। तब स्पष्ट किया कि तब इसमें यह क्या है? आ...हा...! आ...हा...! (तो कहते हैं कि) अपनी कमजोरी के कारण उनकी ओर का जरा राग आता है, वह चारित्रदोष है, वह भी हिंसा है। आहा...हा...! ऐसा एक भाव होता है परन्तु उससे कहीं तू ऐसा माने कि इसकी करुणा करता हूँ, इसलिए यह बच जाता है और बचाने का साधन करता हूँ, इसलिए बचा जाता है तो यह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! भाई! जगत् से जुदी जाति है।

मनुष्यों और तिर्यञ्चों – एकवचन नहीं है। आहा...हा... ! **तिर्यञ्च और मनुष्य प्रेक्षायोग्य...** हैं। मात्र प्रेक्षाभाव से – दृष्टा-ज्ञातारूप से – मध्यस्थभाव से देखने योग्य है। आहा...हा... ! उसे उल्लंघ कर उनका कुछ करूँ, उनके लिए मुझे करुणा आयी है, इसलिए कुछ करूँ। आहा...हा... ! यह मिथ्यात्व का लक्षण है। यह कठोर बात है ! एक ओर व्यवहार समकित का लक्षण अनुकम्पा कहते हैं – संवेग, निर्वेग, अनुकम्पा आदि कहते हैं। आहा...हा... !

बन्ध अधिकार में भी आया है न ? शुभभाव है, वह छहकाय के जीवस्वरूप है, क्योंकि छहकाय के जीव की ओर के लक्ष्य से वह शुभभाव हुआ है। इसलिए शुभभाव बन्ध का कारण है, वहाँ उन छह जीवनिकाय को बचाने का लक्ष्य है। आहा...हा... ! चहुँओर की खोज तो देखो ! प्रभु ! इसका शुभभाव है, वही छहकाय का जीव है – ऐसा कहा है, क्योंकि छहकाय के जीवों के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ है न ? इसलिए शुभभाव को छहकाय के जीव ही कह दिया है। आहा...हा... ! और वह शुभभाव तो ज्ञानी को भी आता है परन्तु वह तो कमजोरी से आता है। यह दु:खी है, इसलिए मुझे (भाव) आता है – ऐसा नहीं है। यह अन्तर है। वह दु:खी है, इसलिए मुझे राग आता है, यह अलग बात है और मेरी कमजोरी के कारण मुझे राग आता है (यह अलग वस्तु है)। वहाँ उसका ज्ञाता-दृष्टा रहकर उसको बन्ध का कारण नहीं होता। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है। बहु व्यवहार... व्यवहार चलता हो, उसमें ऐसा रखें तो कठोर लगता है !

प्रेक्षायोग्य होने पर भी... यह शब्द रखा है। वे तो जानने-देखने योग्य हैं। आहा...हा... ! (एक भजन) आता है न ? 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पीर पराई जाने रे...' तब किसी ने उसमें जोड़ दिया 'जैनदर्शन-जिनधर्म उसे कहिये कि पर पीड़ाई जाने रे...' कठोर काम है बापू ! गाँधी कहते थे न ? 'वैष्णव जन तो तेने कहिये पर पीड़ाई जाने रे...' जाने न ? 'करे' (ऐसा) उसमें कहाँ आया ? कि पर पीड़ा होती है, उसमें कुछ कर दे (ऐसा कहाँ आया) ? आहा...हा... ! वह भी उस प्रकार के ज्ञान के उत्पन्न होने का उस समय का काल है; वह वहाँ है, इसलिए उसे जानता देखता हूँ अर्थात् उसके कारण यहाँ जानने-देखने के परिणाम हुए – ऐसा नहीं है। उसे और स्व को जानने-देखने के परिणाम

का स्वकाल है, इसलिए वहाँ उत्पन्न हुए हैं – इतनी मर्यादा है। उसे उल्लंघ कर पर के कारण मैं यह करता हूँ, यह मुझे ऐसा होता है और इसे कुछ करूँ। आहा...हा...! यह तो मिथ्यात्व का लक्षण है।

(पर के प्रति होनेवाली करुणाबुद्धि द्वारा) **मोह को जानकर....** देखा! मोह अर्थात् मिथ्यात्व। **इष्ट विषयों की आसक्ति से राग को (पहिचानकर)....** इष्ट विषय-कल्पना की है न? विषय इष्ट नहीं है परन्तु इसे अपने अनुकूल लगें – ऐसे इष्ट विषयों के प्रति आसक्ति (होती है) वह राग है, वह चारित्रदोष है। आहा...हा...! अरे रे...! बापू! वीतरागता कोई अलग चीज है न?

प्रभु स्वयं जिनस्वरूप ही है। 'घट-घट अन्तर जिन वसै...' भगवान! घट-घट में जिन प्रभु है और 'घट-घट अन्तर जैन...' आहा...हा...! पर की करुणा करूँ तो ही सच्चा जैन है – ऐसा नहीं है। इस जिनस्वरूप की अन्दर की स्वसन्मुखता से जो दृष्टि और ज्ञान हुआ है, वह जैनपना है। वह जैनपना है। वह जैनपना अन्तर में होता है, बाहर के वेष में नहीं दिखता... आहा...हा...!

समकिती है, समकित के लक्षण हैं, छह खण्ड के राज्य में खड़ा हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ (हों)। आहा...हा...! तथापि वह समकिती है। उनके राग का स्वामी नहीं है, राग का कर्ता नहीं है, परवस्तु अच्छी-बुरी है – ऐसे (दो) भाग जिसे नहीं हैं। और अज्ञानी मुनि हुआ हो दिगम्बर सन्त! आ...हा...! रत्नकरण्डश्रावकाचार में आता है न? गृहस्थ भी मोक्षमार्ग में है, मुनि उन्मार्ग में है, मिथ्यात्व में है। ऐसा (एक पण्डित) बोलता था। मुनि होने पर भी (ऐसा मानता हो कि) आत्मा के अतिरिक्त किसी भी परपदार्थ से मुझे लाभ होता है; दया-दान के भाव से लाभ होता है, वह मिथ्यादृष्टि उन्मार्ग में है। आहा...हा...! और गृहस्थी है, सम्यग्दृष्टि है, वह जानता है कि मैं किसी का कुछ नहीं कर सकता, किसी के कारण मुझे राग नहीं होता। आहा...हा...! वह दु:खी है इसलिए मुझे राग आया है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! आहा...हा...! राग आता है, तब यह जानता है कि वह जीव दु:खी है, उसमें मेरा निमित्तपना है। इसे दु:ख का जरा भाव आया है न? इतना निमित्तपना है, निमित्त करता है। उसकी दशा की करुणा की क्रिया या उसका

मैं कर्ता नहीं हूँ। आहा...हा...! करुणा का भाव आया है, उसका वह कर्ता नहीं है। आ...हा...! वह ज्ञाता है और अज्ञानी को उस भाव में 'उसके कारण राग आया है' (ऐसा लगता है)। इसलिए वह कर्ता होता है। बहुत कड़क शब्द है यह – प्रेक्षायोग्य होने पर भी... आहा...हा...!

इष्ट विषयों की आसक्ति से राग को पहिचान... (इस) आसक्ति से राग को पहचानकर। **और अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष को (पहिचानकर); इस प्रकार तीन लिङ्गों के द्वारा (तीन प्रकार के मोह को) पहिचानकर...** (मोह अर्थात्) दर्शनमोह और चारित्रमोह। **तीन लिङ्गों के द्वारा (तीन प्रकार के मोह को) पहिचानकर तत्काल ही उत्पन्न होते ही तीनों प्रकार का मोह नष्ट कर देने योग्य है।** अर्थात् कि उत्पन्न होने देने योग्य ही नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा....! एकदम उत्पन्न होते ही... अर्थात् उन्हें उत्पन्न होने ही नहीं देना। आहा...हा...!

तीनों प्रकार का मोह नष्ट कर देने योग्य है। आहा...हा...! यह मोह (अर्थात्) मिथ्यात्व, विषयों में प्रीति (अर्थात्) राग; विषयों में अप्रीति (अर्थात्) द्वेष। आहा...हा...! अनिष्ट विषयों में द्वेष; इष्ट विषयों में राग; अतत्त्व की अप्रतिपत्ति अर्थात् अज्ञान और मनुष्य के लिए करुणा – ऐसे मोह-राग-द्वेष के लक्षण पहचानकर... आहा...हा...! **तत्काल ही उत्पन्न होते ही...** उत्पन्न होते ही कहा! उत्पन्न हुआ है, उसका नाश किस प्रकार होगा? उत्पन्न हुआ है, उसका नाश किस प्रकार होगा? नाश तो दूसरे समय होता है। उसका अर्थ ही यह है कि उसे उत्पन्न ही नहीं होने देना। आहा...हा...! ऐसा **मोह नष्ट कर देने योग्य है।**

भावार्थ कहेंगे....!

प्रवचन नं. ७७ **दिनाङ्क १८ मई १९७९**

प्रवचनसार ८५ गाथा का भावार्थ।

भावार्थ : मोह के तीन भेद हैं – दर्शनमोह, राग और द्वेष।... मोह के तीन भेद हैं। **पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से विपरीत मान्यता...** जैसा जड़-चैतन्य का स्वरूप है;

द्रव्य-गुण-पर्याय का जैसा स्वतन्त्रस्वरूप है, उस प्रकार नहीं मानना (और) उससे विपरीत मान्यता (होना, वह मिथ्यात्व है)। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उस समय स्वतन्त्ररूप से षट् कारक के परिणमन से उत्पन्न होती है, उसे दूसरे प्रकार से मानना कि निमित्त हो तो होती है, यह पदार्थ की पर्याय की (मान्यता की) विपरीतता है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य-गुण से तो ध्रुव है परन्तु परिणमन के काल में जिस समय उसकी पर्याय (होती है), वह स्वतन्त्र अपने षट् कारक से परिणमित होती है, उसमें कुछ भी गड़बड़ करना (कि) निमित्त हो तो होती है (यह विपरीतता है)। निमित्त है, यह अलग वस्तु है परन्तु निमित्त है, इसलिए (कार्य) हुआ; उसकी कुछ थोड़ी सी मदद है - यह **पदार्थों के यथार्थ स्वरूप से विपरीत मान्यता...** है। आहा...हा...! एक बात! - यह मिथ्यात्व का लक्षण है।

तथा तिर्यञ्चों और मनुष्यों के प्रति तन्मयता से करुणाभाव... ऐसी बात! इतना अन्तर है। हिन्दी में 'ममता' कहा है। तिर्यञ्च और मनुष्यों की ममता से करुणाभाव होना कि यह मेरे हैं, मुझे करना चाहिए। आहा...हा...! यहाँ 'तन्मयता' से कहा है। मैं उनकी करुणा कर सकता हूँ, उनकी दया पालन कर सकता हूँ - ऐसा जो तन्मयता का भाव है। आहा...हा...! जीव दया मण्डली और गौशालावालों को यह बात कठोर लगती है। आहा...हा...! वस्तु का स्वरूप ऐसा है, वे परपदार्थ उस काल में वह पर्याय होने में स्वतन्त्र हैं। उसके बदले (यह मानना कि) करुणाभाव से तन्यमता से मानो उनका कुछ करूँ, यह दर्शनमोह-मिथ्यात्व का लक्षण है। आ...हा...! **तिर्यञ्चों और मनुष्यों के प्रति तन्मयता से करुणाभाव, वे दर्शनमोह के चिह्न हैं।...** लोगों को ऐसा कठोर पड़ता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने तो एकदम स्पष्ट किया है; दुनिया को बैठे न बैठे स्वतन्त्र है। आहा...हा...!

इष्ट विषयों में प्रीति... विषय इष्ट नहीं है, विषय तो ज्ञेय हैं परन्तु उनमें अनुकूल मानकर, इष्ट है - ऐसा मानकर उनमें राग करना, **वह राग का चिह्न है।...** आहा...हा...! और अनिष्ट विषयों में अप्रीति... अपने को अरुचिकर (पदार्थ में) द्वेष करना, अरुचिकर वस्तु कोई है नहीं, वस्तु तो ज्ञेय है परन्तु अपने को ठीक नहीं लगती, इसलिए उसके प्रति जरा अप्रीति का भाव खड़ा हुआ, **वह द्वेष का चिह्न है...** आहा...हा...!

इन चिह्नों से... (अर्थात्) इन लक्षणों से, इस निशान से **तीनों प्रकार के मोह को...** पहिचानना चाहिए। **पहिचानकर मुमुक्षुओं को...** (मुमुक्षु अर्थात्) आत्मा का पूर्ण लाभ-आनन्द के पूर्ण लाभ के अभिलाषी को आ...हा... ! **मुमुक्षु को उसे तत्काल ही नष्ट कर देना चाहिए।** ऐसा टीका में आया था न ? **तत्काल ही उत्पन्न होते ही...** इसकी व्याख्या की है। **तत्काल ही उत्पन्न होते ही तीनों प्रकार का मोह नष्ट कर देने योग्य है।** उसका अर्थ किया है कि उनका तत्काल नाश करना योग्य है अर्थात् उन्हें पहचानकर उस ओर का झुकाव छोड़कर, स्वभाव सन्मुख झुकाव करना, तत्काल स्वभावसन्मुख झुकना, जिससे वह उत्पन्न नहीं हो, उसे नाश किया - ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार यह ८५ गाथा पूर्ण हुई। 1

उसने तो कामभोग की कथा ही सुनी है

एक तो शुद्धात्मा के भान बिना अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक के भव करनेवाला जीव और दूसरा नित्य निगोद का जीव है - यह दोनों एक ही जाति के हैं, दोनों अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव कर रहे हैं। निगोद के जीव को श्रवण का निमित्त प्राप्त नहीं हुआ और नौवें ग्रैवेयक जानेवाले जीव को निमित्त प्राप्त होने पर भी उसका उपादान नहीं सुधरा; इसलिए उसने शुद्धात्मा की बात सुनी - ऐसा यहाँ अध्यात्मशास्त्र में नहीं गिना जाता। काम-भोग की कथा तो निमित्तमात्र है, उसे सुनने का फल क्या है ? विकार का अनुभव। उस विकार का अनुभव तो निगोद का जीव कर ही रहा है; इसलिए उस जीव ने काम-भोग की कथा सुनी है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आतम के हित पन्थ लाग!, पृष्ठ-१२)

गाथा - ८६

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति -

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।। ८६।।

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात्।
क्षीयते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम्।। ८६।।

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथाज्ञान मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नं, तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपदः सहृदयहृदयानंदोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः। अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम्।। ८६।।

अथ द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्तं पूर्वं तदर्थमागमाभ्यासं कारयति। अथवा द्रव्यगुणपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञानं भवतीति यदुक्तं तदात्मपरिज्ञान- मिममागमाभ्यासमपेक्षत इति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति - **जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा** जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात्। किं फलं भवति। **खीयदि मोहोवचयो** दुरभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः क्षीयते प्रलीयते क्षयं याति। **तम्हा सत्थं समधिदव्वं** तस्माच्छास्त्रं सम्यगध्येतव्यं पठनीयमिति। तद्यथा - वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् `एगो मे सस्सदो अप्पा' इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावदात्मानं जानीते कश्चिद्भव्यः, तदनन्तरं विशिष्टाभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहितमानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मानं परिच्छिनत्ति, तथैवानुमानेन वा। तथा हि - अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मास्ति। कस्माद्धेतोः निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति, तथैवान्येऽपि पदार्था यथासंभवमागमाभ्यासबलोत्पन्न-प्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञायन्ते। ततो मोक्षार्थिना भव्येनागमाभ्यासः कर्तव्य इति तात्पर्यम्।। ८६।।

अब, मोह क्षय करने का उपायान्तर (दूसरा उपाय) विचारते हैं –

जिनशास्त्र से, प्रत्यक्षादि से अर्थों को जो जानता।
मोह निश्चय पावे नाश, सम-अध्ययन करना शास्त्र का॥

अन्वयार्थ : [**जिनशास्त्रात्**] जिनशास्त्र द्वारा [**प्रत्यक्षादिभिः**] प्रत्यक्षादि प्रमाणों से [**अर्थान्**] पदार्थों को [**बुध्यमानस्य**] जाननेवाले के [**नियमात्**] नियम से [**मोहोपचयः**] मोहोपचय[१] [**क्षीयते**] क्षय हो जाता है [**तस्मात्**] इसलिए [**शास्त्रं**] शास्त्र का [**समध्येतव्यम्**] सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिए।

टीका : द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव से अरिहन्त के ज्ञान द्वारा आत्मा का उस प्रकार का ज्ञान मोहक्षय के उपाय के रूप में पहले (80 वीं गाथा में) प्रतिपादित किया गया था, वह वास्तव में इस (निम्नलिखित) उपायान्तर की अपेक्षा रखता है। (वह उपायान्तर क्या है, सो कहा जाता है) –

जिसने प्रथम भूमिका में गमन किया है – ऐसे जीव को, जो सर्वज्ञोपज्ञ[२] होने से सर्व प्रकार से अबाधित है – ऐसे शब्द प्रमाण को (द्रव्य श्रुतप्रमाण को) प्राप्त करके क्रीड़ा करने पर, उसके संस्कार से विशिष्ट संवेदनशक्तिरूप[३] सम्पदा प्रगट करने पर, सहृदय[४] जनों के हृदय को आनन्द का उद्भेद[५] देनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा उससे[६] अविरुद्ध अन्य प्रमाणसमूह से तत्वतः[७] समस्त वस्तुमात्र को जानने पर अतत्त्व-अभिनिवेश[८] के संस्कार करनेवाला मोहोपचय (मोहसमूह) अवश्य ही क्षय को प्राप्त होता है। इसलिए मोह का क्षय करने में, परम शब्दब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से सम्यक् प्रकार अभ्यास करना, सो उपायान्तर है। (जो परिणाम

---

१. मोहोपचय = मोह का उपचय। (उपचय = संचय; समूह)
२. सर्वज्ञोपज्ञ = सर्वज्ञ द्वारा स्वयं जाना हुआ (और कहा हुआ)।
३. संवेदन = ज्ञान।
४. सहृदय = भावुक; शास्त्र में जिस समय जिस भाव का प्रसङ्ग होय, उस भाव को ग्रहण करनेवाला; बुध; पण्डित।
५. उद्भेद = स्फुरण; प्रगटता; फुवारा।
६. उससे = प्रत्यक्ष प्रमाण से।
७. तत्वतः = यथार्थ स्वरूप से।
८. अतत्त्व-अभिनिवेश = यथार्थ वस्तुस्वरूप से विपरीत अभिप्राय।

भावज्ञान के अवलम्बन से दृढ़ीकृत हो – ऐसे परिणाम से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना, सो मोहक्षय करने के लिये उपायान्तर है) ॥ ८६ ॥

प्रवचन नं. ७७ का शेष **दिनाङ्क १८ मई १९७९**

(अब,) ८६ (गाथा।) **अब, मोह क्षय करने का उपायान्तर...** एक उपाय तो ८०, ८१, ८२ (गाथा में कहा था)। अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानना और जानकर; पर्याय-गुण को द्रव्य में अभेद करना – अन्तर्गत करना – यह एक मोह के नाश का उपाय कहा था, परन्तु दूसरा उपाय साथ में कहते हैं। **अब, मोह क्षय करने का उपायान्तर (दूसरा उपाय) विचारते हैं –** 'विचारते हैं' (– ऐसा कहा)। वह तो आचार्य ने स्वयं शैली (से बात की है), बाकी उन्हें कुछ विचारना नहीं है परन्तु जगत् को समझाने के लिए कहते हैं कि देखो हम विचारते हैं। आहा...हा...!

८६ गाथा।

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।। ८६ ।।

नीचे हरिगीत –

जिनशास्त्र से, प्रत्यक्षादि से अर्थों को जो जानता।
मोह निश्चय पावे नाश, सम-अध्ययन करना शास्त्र का॥

जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि से... इतना जोर है! **प्रत्यक्ष...** अर्थात् की स्व का लक्ष्य करके – आदर करके। आहा...हा...! **जिनशास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि से...** प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों से। **पदार्थों को जाननेवाले के...** (अर्थात्) पदार्थ को, **उसका मोह नियम से नष्ट हो जाता है, इसलिए शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।** अपनी भाव के लक्ष्य से, भाव के अवलम्बन से, भावश्रुत ज्ञान के अवलम्बन से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करने योग्य है – ऐसा कहते हैं। (दूसरी जगह शास्त्र में रमनेवाली बुद्धि को) व्यभिचारी

कहा था या नहीं ? वहाँ तो दूसरी अपेक्षा है। स्व के लक्ष्य बिना अकेली शास्त्रबुद्धि है, उस बुद्धि को व्यभिचारिणी कहा था। (क्योंकि) परद्रव्य में लक्ष्य जाता है न ? यहाँ तो स्व के लक्ष्य से, स्व के अवलम्बन से, ऐसा आगे टीका में कहेंगे। आ...हा...! (टीका में कहेंगे) **शब्दब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा....** (टीका में) अन्त में है न ? **शब्दब्रह्म की उपासना का....** (अर्थात्) भगवान की वाणी भी होना चाहिए। यह तो पहले निर्णय करना चाहिए कि सर्वज्ञ की वाणी है या नहीं ? आ....हा...! और वह भी **भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से सम्यक्प्रकार से अभ्यास करना, वह उपायान्तर है।** देखा ? यह टीका है। भाव के अवलम्बन बिना अकेले द्रव्यश्रुत में बुद्धि जाये, वह शुभराग है। वह व्यभिचार है - ऐसा कहा है। आहा...हा...! ८६ की टीका।

टीका : द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव से अरहन्त के ज्ञान द्वारा आत्मा का उस प्रकार का ज्ञान मोहक्षय के उपाय के रूप में... पहले वर्णन किया था - ऐसा कहते हैं। यह तो उपायान्तर (अर्थात्) दूसरा उपाय बताना है। द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों के नाम भी अभी तो कितने ही लोगों को नहीं आते हैं। सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण किया करते हैं। एक बार इन्दौर में कहीं शिविर में आया था कि द्रव्य-गुण-पर्याय के नाम भी न आते हों यह दिगम्बर! शिक्षण-शिविर में आया था। द्रव्य-गुण और पर्याय....! आहा...हा...! (अर्थात्) त्रिकाली रहनेवाला तत्त्व, वह द्रव्य है। त्रिकाली रहनेवाला उसका गुण, वह भाव अर्थात् वह गुण। त्रिकाल रहनेवाली वस्तु, वह द्रव्य और त्रिकाली और त्रिकाल रहनेवाला भाव, वह उसका गुण... आहा...हा...! और समय-समय की अवस्था का पलटना-बदलना (होता है), वह पर्याय है - ऐसे। **द्रव्य-गुण-पर्यायस्वभाव से अरहन्त के ज्ञान द्वारा आत्मा का उस प्रकार का ज्ञान मोहक्षय के उपाय के रूप में पहले (80 वीं गाथा में) प्रतिपादित किया गया था,....** ८० वीं गाथा - **जो जाणदि अरहंतं** उसमें यह आ गया है।

वह वास्तव में इस (निम्नलिखित) उपायान्तर की अपेक्षा रखता है।.... अरहन्त के द्रव्य-गुण जानने में भी शास्त्र का अध्ययन, भावश्रुत के अवलम्बन से (होता

है – ऐसी) अपेक्षा रखता है। सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में क्या आया ? पहले सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि अनुसार, भगवान की वाणी के शास्त्र कौन से हैं ? यह निर्णय करना चाहिए। आहा...हा... ! **उपायान्तर की अपेक्षा रखता है।...** इन अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय जाने, उन्हें जानकर अपने (द्रव्य-गुण-पर्याय जाने) और अपना अभेद अनुभव किया, परन्तु उसमें दूसरे उपायान्तर की अपेक्षा रखता है। भाव ज्ञान के लक्ष्य से द्रव्य शास्त्र का भी अभ्यास करना। आहा...हा... ! **वह वास्तव में निम्नलिखित उपायान्तर की...** अर्थात् अन्य उपाय की – इसके अतिरिक्त दूसरे उपाय की **अपेक्षा रखता है। वह उपायान्तर क्या है, सो कहा जाता है।...** आहा...हा... !

जिसने प्रथम भूमिका में गमन किया है... कहते हैं कि अभी जानने की शुरुआत की है – **ऐसे जीव को...** आहा...हा... ! **जो सर्वज्ञोपज्ञ होने से...** (सर्वज्ञोपज्ञ अर्थात्) सर्वज्ञ ने स्वयं जाना हुआ और कहा हुआ होने से; आहा...हा... ! अभी तो यह छद्मस्थ कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य का कथन है परन्तु सर्वज्ञ से कथित है, वह है। आहा...हा... !

श्वेताम्बर में तो सर्वज्ञ कथित शास्त्र हैं ही नहीं। आहा...हा... ! कठोर बात है ! वहाँ तो सब शास्त्र कल्पित दृष्टि से बनाये हैं, वे सर्वज्ञ (कथित) शास्त्र हैं ही नहीं। आहा...हा... ! यह तो कुन्दकुन्दाचार्य सीधे भगवान के पास गये थे, उनके पहले के भी सभी शास्त्र सर्वज्ञों से कहा गया तद्नुसार कहे गये हैं। यह तो भगवान के पास गये थे, आठ दिन भगवान की वाणी साक्षात् सुनी थी, किञ्चित् समाधान के लिए श्रुतकेवलियों के पास समाधान किया था। आहा...हा... ! यह साक्षात् सर्वज्ञ की वाणी इनमें है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, गोम्मटसार आदि लो... आ....हा... ! सर्वज्ञ के आढ़तिया ! सन्तों की वाणी है, वह केवली की ही वाणी है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम है ! श्वेताम्बर, स्थानकवासी सम्प्रदाय का बहुत भाग अभी है। अब, उन्हें यह कहना कि यह सर्वज्ञ कथित शास्त्र नहीं है ! इस शास्त्र में तो यह लिखा है कि एक वस्त्र का टुकड़ा रखकर भी मुनिपना माने, मनावे और माननेवाले को मुनि जाने तो मिथ्यात्व होता है और निगोद में जाता है। और उन (श्वेताम्बर) शास्त्र में तो (ऐसा कहते हैं कि) कपड़े के ढ़ेर पहने

रहे तो भी मुनिपना होता है और मोक्ष में जा सकते हैं। इतना बड़ा अन्तर है – ऐसा एक बोल के लिए नहीं, ऐसे तो कितने ही बोल में (बातों में) पूरा अन्तर है। आहा...हा...!

पहले तो यह निश्चित करना चाहिए कि सर्वज्ञ द्वारा कथित, सर्वज्ञ द्वारा जानकर कहे गये (शास्त्र) होने से **सर्व प्रकार से अबाधित है...** आहा...हा...! सूक्ष्म बात है। भाई! कठिन पड़ती है। आहा...हा...! **सर्वज्ञोपज्ञ होने से सर्व प्रकार से अबाधित है....** (अबाधित अर्थात्) कहीं बाधा नहीं आती, विघ्न नहीं आता, विपरीतता नहीं आती – ऐसी वीतराग की वाणी (होती है।) **ऐसे शाब्द प्रमाण को...** यह है तो वाणी, ऐसा कहते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि! आहा...हा...! ऐसे 'शाब्द' शब्द है, शाब्द बहुवचन है, **शाब्द प्रमाण...** शब्द अर्थात् क्या? (श्रोता – शब्द का) शब्द का! 'शाब्द' शब्द है, शब्द का प्रमाण! ठीक! **(द्रव्यश्रुतप्रमाण को)** आहा...हा...! पहले तो अभी वीतराग की वाणी कौन है? उसका निर्णय करना, फिर उसका अभ्यास करना। आ...हा...!

शाब्द प्रमाण को (द्रव्य श्रुतप्रमाण को)... श्रुत के दो भेद हैं न? द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। प्रमाण के भी दो भेद हैं न? प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष (प्रमाण), इसलिए इसमें डाला है प्रत्यक्षादि। **ऐसे शाब्द प्रमाण को (द्रव्य श्रुतप्रमाण को) प्राप्त करके...** आहा...हा...! सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि – शब्द प्रमाण... आहा...हा...! उसे प्राप्त करके; वे शास्त्र सर्वज्ञ के हैं, उसे प्राप्त करके। ऐसी इतनी तो पहले शर्त है। आहा...हा...! कठिन लगे भाई! परन्तु क्या हो? बापू!

जिसमें एक भी तत्त्व की भूल हो, वह शास्त्र कैसे कहलायेगा? आहा...हा...! शास्त्र तो उसे कहते हैं, जिसमें – सर्वज्ञ की वाणी में कहीं एक भी भूल नहीं होती। आहा...हा...! दूसरों ने मिलायी हुई बात हो, वह कहीं सर्वज्ञ की नहीं है। श्वेताम्बर के 'दस वैकालिक' (ग्रन्थ में) ऐसा आता है कि 'अनन्त ज्ञान प्राप्त किया हो, तथापि गुरु का विनय नहीं छोड़ता।' यह वाणी भगवान की है? नौंवाँ अध्ययन – विनय अध्ययन है (उसमें आता है)। दस वैकालिक! पूरा कण्ठस्थ था न! आहा...हा...! अनन्तज्ञान प्राप्त किया हो, केवलज्ञान हुआ हो तो भी गुरु का विनय नहीं छोड़ता! अर्थात् अभी केवली को

भी गुरु का विनय है। सातवें गुणस्थान के बाद विकल्प ही नहीं होता आहा...हा...! लोगों को जरा कठोर लगता है। अपना जो पक्ष बाँधा हो, उसमें दूसरी बात आती है, वह कठोर लगती है।

यहाँ तो **सर्वज्ञोपज्ञ...** सर्वज्ञ ने जानकर कहा हुआ – ऐसा पहले निर्णय होना चाहिए। आहा...हा...! (सर्वज्ञोपज्ञ होने से) सर्व प्रकार से अबाधित है। उसके कारण सब प्रकार से विघ्नरहित है – ऐसे शब्द प्रमाण को प्राप्त करके। आहा...हा...! ऐसे सर्वज्ञ की वाणी को प्राप्त करके। आहा...हा...! वह भी कोई पूर्व के पुण्य का भाग्य हो, तब तो अभी सर्वज्ञ की वाणी प्राप्त होती है। आहा...हा...! **प्राप्त करके क्रीड़ा करने पर...** यह अधिक (कहते हैं)। वाणी सुने और उसमें यथार्थ तत्त्व में बहुत क्रीड़ा करे (अर्थात्) यह (बात) यथार्थ है। यह स्वभावसन्मुख की बात है, विभाव से विमुख (होने की) बात है। निमित्त से उपेक्षा करने की बात है, स्व की अपेक्षा करने की बात है। आहा...हा...! क्योंकि वीतराग की वाणी चार अनुयोग है। चारों ही अनुयोगों में वीतरागता उत्पन्न हो, वह कथन है। जिसमें कुछ भी राग उत्पन्न हो और लाभ हो – (ऐसा कहते हैं), वह कथन वीतराग का कथन है। आहा...हा...!

श्रोता : मुनि को आहारदान दे, उससे सम्यग्दर्शन होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहारदान दे तो शुभभाव होता है। सम्यग्दर्शन (नहीं होता)। यह कहा न? यह बात नहीं हुई थी? भगवान को रोग हुआ, (इसलिए एक मुनि) बाहर बहुत रोये। भगवान ने कहा कि मुनि को बुलाओ क्यों रोता है? मेरे लिये आहार ले आओ! मेरे लिये बनाया हो वह मत लेना, उनके घोड़े के लिये बनाया हो, वह लेना। वह आहार दिया तो पारित संसार किया। यह वीतराग की वाणी ही नहीं। 'विपाक' के दसों अध्ययन में यह बात है कि मिथ्यादृष्टि है, मुनि को आहार देता है और संसार परित कर लेता है। वस्तुत: यह वीतराग की वाणी ही नहीं है। क्या हो बापू! आहा...हा...! बहुभाग यह और बहुभाग में यहाँ जन्मे हुए आये हैं। स्थानकवासी और श्वेताम्बर बापू! मार्ग तो ऐसा है भाई! क्योंकि सर्वज्ञ की वाणी में द्रव्य-गुण और पर्याय जैसे हैं, उस रूप से उनका कथन होगा। आहा...हा...! दूसरे में ऐसा कथन नहीं आता। आहा...हा...! अन्यमत में तो यह है ही नहीं

परन्तु जैन सम्प्रदाय में भी सर्वज्ञ की वाणी जो दिव्यध्वनि है, वह दिगम्बर शास्त्रों में उस दिव्यध्वनि का सार है, उसे प्राप्त करके... ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

क्रीड़ा करने पर, उसमें प्रेम से क्रीड़ा करने पर, प्रेम से रस लेने पर (अर्थात्) शास्त्र क्या कहते हैं ? उनका भाव क्या है ? इस तरह प्राप्त करके रस लेने पर; यूँ ही प्राप्त करके सुनना है और हम सुनते हैं – ऐसा नहीं। आहा...हा...! **क्रीड़ा करने पर उसके संस्कार से...** आहा...हा...! उसके **संस्कार से विशिष्ट संवेदनशक्तिरूप सम्पदा प्रगट करने पर,...** आहा...हा...! लो, संवेदन अर्थात् ज्ञान। ज्ञान शक्तिरूप सम्प्रदा प्रगट करने पर उसे सच्चा ज्ञान प्रगट होता है। आहा...हा...! (८० वीं गाथा में) अकेली अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने की बात की थी; और यह तो सर्वज्ञ की वाणी में समस्त द्रव्य -गुण-पर्याय की वास्तविकता क्या है यह बात (जानना), उपायान्तर में यह डाला है। आहा...हा...! **उसके संस्कार से...** अर्थात् उनकी वाणी सुनकर फिर अन्दर जो रस आता है आहा...हा...! **विशेष संवेदनशक्तिरूप सम्पदा करने पर,...** विशिष्ट ज्ञान-सम्यग्ज्ञान। आहा...हा...! ऐसी सम्पदा, सम्यक्ज्ञान की सम्पदा – यह सम्पदा है। भगवान की वाणी में कहा, वैसा सत्य – सत्यज्ञान प्रेम से होता है, रस से होता है, आहा...हा...! उसे सच्ची सम्पदा कहते हैं। वह ज्ञान सच्ची सम्पदा है। यह बाहर की सब धूल है, यह सब आपदा है। आहा...हा...! ज्ञानलक्ष्मी मिली – ऐसा कहते हैं! भगवान की वाणी सुनकर रस लिया, उसमें उसे सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, यह इसे लक्ष्मी प्रगट हुई (ऐसा कहते हैं)! आहा...हा...! सम्पदा प्रगट हुई! आहा...हा...! भले ही बाहर में गरीब हो परन्तु उसे स्वसंवेदन-स्वसंवेदनशक्तिरूप ज्ञानलक्ष्मी प्रगट हुई है। आ....हा...!

दो प्रकार डाले हैं। **उसके संस्कार से विशिष्ट संवेदनशक्तिरूप सम्पदा...** है ? **विशिष्ट संवेदनशक्ति...** (अर्थात्) विशिष्ट स्व को जानने की पर्याय जो यथार्थज्ञान वेदन – ऐसे ज्ञान की सम्पदा को प्रगट करने पर, आ...हा...! **सहृदयजनों के हृदय को आनन्द का उद्‌भेद देनेवाला...** आहा...हा...! अद्‌भुत डाला! सहृदय का अर्थ (नीचे) किया है। भावुक; सामनेवाले के भावों को अथवा वृत्तियों को समझ सकनेवाला; आहा...हा...! एक बात। सामनेवाले के भावों को (अर्थात् कि) किस अपेक्षा से बोलता

है, कहता है – इस प्रकार सामनेवाले के भावों को (समझ सकनेवाला) आहा...हा... ! वृत्ति को समझ सकनेवाला – एक बात। (दूसरी बात) शास्त्र में जिस समय जिस भाव का प्रसङ्ग होय... आहा...हा... ! (अर्थात्) उत्कर्ष और अपवाद की व्याख्या आवे; एक बार अकेले आत्मा का ही आश्रय करना – ऐसा आवे, आहा...हा... ! उस समय वह किस अपेक्षा से किस प्रकार है, उसे... आहा...हा... ! जिस समय जिस भाव का प्रसङ्ग हो, उस भाव को हृदय में ग्रहण करनेवाला... उसे सहृदयजन कहा जाता है। हृदयवाला... वह हृदयवाला जन है। एक तो सामनेवाले के हृदय को जानता है और भगवान के कथित जिस समय जो भाव हों, उसके भाव को जानता है। आहा...हा... !

सहृदयजनों के हृदय को आनन्द का उद्‌भेद देनेवाला... आहा...हा... ! जहाँ आनन्द की स्फुरणा प्रगट होती है, आनन्द का फव्वारा फूटता है, आनन्द का झरना बहता है। आनन्द का फव्वारा बाहर आता है; अकेला ज्ञान नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! है ? गाथा बहुत अच्छी है। यह उपायान्तर की बात करते हैं। एक उपाय अरहन्त के द्रव्य–गुण–पर्याय को जानने की बात तो की और एक यह भी उपाय है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ! उनके कथित शब्दब्रह्म–शब्द प्रमाण को प्राप्त करके, उसमें रस लेकर... आहा...हा... ! उसके संस्कार से विशिष्ट संवेदनशक्तिरूप सम्पदा; ज्ञान की शक्ति – ऐसी सम्पदा प्रगट करने पर... आहा...हा... ! और हृदय को आनन्द देनेवाला, उद्‌भेद देनेवाला... आहा...हा... ! आनन्द की स्फुरणा – अतीन्द्रिय आनन्द की स्फुरणा, अतीन्द्रिय आनन्द की प्रगटता, अतीन्द्रिय आनन्द का फव्वारा, अतीन्द्रिय आनन्द का झरना, इतने अर्थ किये हैं। उद्‌भेद के इतने अर्थ किये हैं ! आहा...हा... !

भगवान की वाणी को प्राप्त करके उसमें रस लेने पर जो विशिष्ट ज्ञान प्रगट होता है, आहा...हा... ! उस ज्ञान के साथ आनन्द का झरना आता है। आनन्द स्फुरित होता है। आहा...हा... ! अकेला ज्ञान – ऐसा नहीं। ज्ञान उसे कहते हैं कि रसपूर्वक भगवान की वाणी सुनकर, जिसे स्वयं से विशिष्ट सम्यग्ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान में आनन्द का स्फुरण आता है। आहा...हा... ! देखो, यह टीका ! वास्तविक तत्त्व की प्रसिद्धि ! दिगम्बर सन्त प्रसिद्ध करते हैं... आहा...हा... ! ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। आहा...हा... ! एक तो

सर्वज्ञ की वाणी को सिद्ध किया और वह वाणी तुझे प्राप्त होती है, भले ही दुनिया में तो है परन्तु तुझे प्राप्त हो – दो बात और उसमें तुझे रस आवे आहा...हा..! तीन; और रस आने पर संस्कार से अन्दर विशिष्ट ज्ञान प्रगट हो, स्व का सम्यग्ज्ञान प्रगट हो आहा...हा...! बहुत सरस बात है! सह + रस है = रसवाली है। आनन्द के रसवाली है, उसे ज्ञान कहते हैं। आहा...हा...! कितनी गम्भीरता! **हृदय को आनन्द का उद्भेद देनेवाले प्रत्यक्ष प्रमाण से....** आहा...हा...! अर्थात् सीधे प्रत्यक्ष मतिश्रुत ज्ञान से ज्ञान किया और आनन्द आया – ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण से। आहा...हा...! क्योंकि भगवान की वाणी में भी यह आया था कि स्वस्वरूप है, उसका प्रत्यक्ष वेदन कर! स्वस्वरूप है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञान के साथ आनन्द का वेदन (कर)! आहा...हा...! ऐसे **प्रत्यक्ष प्रमाण से...** आहा...हा...!

अथवा उससे अविरुद्ध... (अर्थात्) प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध नहीं ऐसा, **अन्य प्रमाण समूह है...** भले ही दूसरे अनुमान प्रमाण आदि हैं परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध नहीं होते। आहा...हा...! जिस मति और श्रुत (ज्ञान से) सीधा भगवान (आत्मा) ज्ञात होता है – ऐसा जो प्रत्यक्ष प्रमाण, उससे विरुद्ध नहीं – ऐसे अनुमानप्रमाण आदि से भी आहा...हा...! **तत्त्वतः...** (अर्थात्) यथार्थस्वरूप से **समस्त वस्तुमात्र को जानने पर...** भाषा देखो! पहले में अरहन्त के द्रव्य-गुण-पर्याय – तीन लिये थे। आहा...हा...! इसमें **समस्त वस्तुमात्र को जानने पर...** (ऐसा लिया है)। आहा...हा...! भले ही प्रत्यक्ष मति-श्रुतज्ञान है, तथापि उस ज्ञान में **समस्त वस्तुमात्र को जानने पर...** आहा...हा...! **अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार करनेवाला मोहोपचय (मोहसमूह) अवश्य ही क्षय को प्राप्त होता है।...** आहा...हा...!

समस्त वस्तु को भगवान ने जिस प्रकार कहा है, उस प्रकार सुनकर, रस लेकर और अन्दर ज्ञान की सम्पदा प्रत्यक्ष प्रगट करके, उसके आनन्द के वेदनसहित... आहा...हा...! ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध नहीं – ऐसे अनुमान आदि प्रमाण से भी जानता है। आहा...हा...! इसमें बहुत सूक्ष्म आया है! इसमें कितना याद रखे! एक गाथा में (कितना भर दिया है)! आहा...हा...!

यह तो प्रवचनसार है! यह प्रवचनसार है न? 'प्र' अर्थात् दिव्यध्वनि का, 'वचन' अर्थात् सार। यह दिव्यध्वनि का सार है! साक्षात् तीन लोक के नाथ प्रभु महाविदेह में विराजमान हैं, उनकी वाणी साक्षात् सुनकर, रस लेकर, स्वसंवेदनज्ञान स्वयं से प्रगट किया है और वैसे प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध नहीं – ऐसे अनुमानादि प्रमाण से भी – परोक्ष प्रमाण से भी... आहा...हा...! **समस्त वस्तुमात्र को जानने पर...** यहाँ वजन है। (पहले) मात्र तीन की (अरहन्त के द्रव्य–गुण–पर्याय की बात) थी। है न? **समस्त वस्तुमात्र को जानने पर...** आहा...हा...! इसमें कोई बाकी नहीं रहा। 'चार पैसे सेर तो मन का अडी' इस चाबी में सब न्याय आ गये। सवा सेर पाँच पैसा, डेढ़ सेर छह पैसा, साढ़े सैंतीस के साढ़े तेरह आना... इस प्रकार इस तत्त्व से जहाँ वस्तु जानी, उसने समस्त वस्तुओं को जान लिया है। आहा...हा...! आ....हा...!

समस्त वस्तुमात्र को जानने पर अतत्त्वअभिनिवेश... (अतत्त्वअभिनिवेश अर्थात्) यथार्थ वस्तुस्वरूप से विपरीत जो अन्तरङ्ग आग्रह (अभिप्राय) था, आहा...हा...! उसके जो संस्कार थे – ऐसा **मोहोपचय** (अर्थात्) मिथ्यात्व का ढेर। आहा...हा...! मोह अर्थात् मिथ्यात्व – मोह का ढेर, उसका नाश होता है। वह **क्षय को प्राप्त होता ही है।...** आहा...हा...! पञ्चम काल के सन्त, पञ्चम काल के श्रोता को यहाँ तक चलाकर ले जाते हैं! आहा...हा...! ऐसा नहीं कहा कि यह पञ्चम काल है; इसलिए ऐसे और वैसे... आहा...हा...! (एक जगह) आता है न? श्रावक को शुद्धोपयोग नहीं होता – वह तो मुनि का जो उपयोग है, ऐसा उसे नहीं होता – यह कहना है। फिर श्रावक का अधिकार आता है न? (उसमें आता है कि) शुद्धोपयोग न हो वहाँ (अज्ञानी) लोग ऐसा कहते हैं कि श्रावक को शुद्धोपयोग होता ही नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि पहली वस्तु (यह है कि) तुझे जो अतत्त्व का संस्कार था, उसका अभाव होकर वास्तविक तत्त्व के संस्कार का उपयोग शुद्ध होता है। आहा...हा...! स्वसंवेदन में प्रत्यक्षज्ञान शुद्ध होता है। आहा...हा...! पञ्चम काल के प्राणी को भी अतत्त्व के संस्कार थे – ऐसा कहा है न? आहा...हा...! पञ्चम काल के प्राणी को ऐसा काल नहीं लिया कि पञ्चम काल के पहले, पाँच सौ वर्ष तक ऐसा होता है और हजार वर्ष तक ऐसा होता है और फिर ऐसा होता है। आहा...हा...!

समस्त वस्तु को जानने पर अतत्त्वअभिनिवेश का संस्कार करनेवाला.... जो मोह था... आहा...हा... ! वह **अवश्य ही क्षय को प्राप्त होता है।....** आहा...हा... ! वहाँ भी (८० वीं गाथा में) ऐसा कहा था कि –

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।। ८०।।

उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है। इसका अर्थ ही क्षय किया है। यहाँ क्षय पाता है (ऐसा कहा है)। आहा...हा... ! पञ्चम काल है, इसलिए वहाँ क्षय नहीं होता; हल्का काल है – ऐसा रहने दे प्रभु। आहा...हा... ! अमृत का ईश आत्मा यहीं है न ? अन्दर विराजमान है न ? यह कहते हैं कि उससे विरुद्ध कुछ भी संस्कार पड़े हों, उनका नाश हो जाता है। आहा...हा... ! (अतत्त्व अभिनिवेश के) **संस्कार करनेवाला मोहोपचय...** कर्म नहीं, विपरीत संस्कार करनेवाला मोहोपचय (अर्थात्) भाव लिया है, कर्म नहीं। आहा...हा... ! **अतत्त्वअभिनिवेश के संस्कार करनेवाला मोहोपचय...** (अर्थात्) जो मिथ्यात्व का ढेर है, आहा...हा... ! वह अवश्य ही क्षय को प्राप्त होता है। आहा...हा... ! बहुत लिखा है ! बहुत-बहुत लिखा है !! एक तो काल का निषेध कर लिया है। एक तो श्रोता साधारण हो, इसलिए उसे ऐसा नहीं समझ में आता, यह निकाल दिया है। आहा...हा... ! एक तो सर्वज्ञ की वाणी है, वह वाणी प्राप्त होवे और रस आवे, उसे स्वसंवेदनज्ञान होता ही है। आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आता है ? ऐसा है। आहा...हा... ! ऐसी लाईन और ऐसी गाथा कहाँ है ? (श्वेताम्बर के) पैंतीस सूत्र पढ़ो तो उसमें कहीं नहीं मिलेगी। आहा...हा... ! क्या वस्तु कहते हैं ? बहुत गम्भीरता भरी है। आहा...हा... ! और यह भी कहते हैं कि अतत्त्व संस्कार पड़े होते हैं, उन्हें यह आत्मा के अन्तर संस्कार-स्वसंवेदन के ज्ञान द्वारा (क्षय को प्राप्त कराते हैं)। आहा...हा... ! वह भी समस्त वस्तुओं को जाननेवाला ! आहा...हा... ! ऐसा नहीं कि यह मति-श्रुतज्ञान है, इसलिए ज्ञान थोड़ा जानता है। आहा...हा... !

इसलिए मोह का क्षय करने में... आहा...हा... ! मोक्षमार्गप्रकाशक में पहले अधिकार में आता है कि कल्याण के लिये आगम का अभ्यास करना। अन्त में आता है न ? परन्तु

इस प्रकार (अभ्यास करना)। यह शास्त्र, सर्वज्ञ के कथित शास्त्र, (उनका अभ्यास करना)! उसकी बात भी की है, सभी बात की है। श्रोता कैसे होते हैं, वक्ता कैसे होते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक में बहुत अच्छा लिया है। उसके गहरे आशय को समझना चाहिए, यूँ ही वाँच कर (रख दे ऐसा नहीं)। आहा...हा...!

इसलिए मोह का क्षय करने में, परम शब्दब्रह्म की उपासना का... परम शब्दब्रह्म की सेवा का; अब यहाँ शर्त देते हैं - **भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा...** आहा...हा...! अन्दर आत्मा जो ज्ञान-भावज्ञान हुआ है (उसके अवलम्बन द्वारा) आहा...हा...! **एगम् जाणइ सव्व जाणइ।** (अर्थात्) उसे जिसने जाना है, वह समस्त वस्तु को जानता है। आहा...हा...! इस **भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से...** शर्त यह है। अकेले द्रव्यश्रुत (के अभ्यास से) - ऐसा नहीं। **भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से...** आहा...हा...! देखो, शास्त्र के अभ्यास में यह शर्त है! आहा...हा...!

श्रोता : देशना लेकर अभ्यास करना?

समाधान : देशनालब्धि वह निमित्त है, वह कुछ नहीं। देशनालब्धि अनन्त बार मिली। यह तो इसका रस पड़ा है और जो भाव कहते हैं, उस जाति का ज्ञान प्रगट हुआ है - यह शैली ली है; और वह ज्ञान भी समस्त वस्तु को जानता है - ऐसा नहीं है कि पञ्चम काल का प्राणी है, अभी मति-श्रुतज्ञान में आया है, स्वसंवेदन में आया है; इसलिए थोड़ा ही जानता है। आहा...हा...! **एगम् जाणइ सव्व जाणइ** - समस्त वस्तु को (जानता है)। जिसने वास्तविक एक आत्मा को वेदन से - ज्ञान से जाना, उसका मोहोपचय विनाश को प्राप्त होता ही है। आहा...हा...!

बहुत मीठी मधुर अमृत की धारा बहती है! अमृतचन्द्राचार्य! आहा...हा...! टीका तो टीका है! अमृतधारा बहती है! कितने न्याय, कितने भाव इसमें समा दिये हैं! आहा...हा...! ऐसे ही ऊपर-ऊपर से पढ़ जाये, यह बात यहाँ नहीं है। प्राप्त करके ऐसा रस पढ़े... और रस पढ़कर इसे आत्मज्ञान होता है! आहा...हा...! बापू यह मार्ग है भाई! आहा...हा...! तीन काल का - तीन काल - तीन लोक में यह तो परमसत्य की पुकार है। आहा...हा...! एक

तो सर्वज्ञ की वाणी मिलना... आहा...हा... ! उसमें रस पड़ना... आहा...हा... ! और उसमें जाकर आत्मा में रस पड़ना... जिसमें से आत्मा की सम्पदा – ज्ञान की सम्पदा प्रगट होती है। आहा...हा... ! है न ? यह सब आ गया है न ? आहा...हा... ! वह ज्ञान कैसा होता है ? आहा...हा... ! कि सामनेवाले के भाव को और किस अपेक्षा से बोलता है, उसका भी इसे ज्ञान होता है और शास्त्र में किस समय किस काल में किस नय से किस अपेक्षा से कहा है ? इसका इसे ज्ञान होता है – ऐसा कहा है। आहा...हा... ! स्वसंवेदन ज्ञान होने पर वह ज्ञान ऐसा होता है। आहा...हा... ! अरे रे... ! यह कोई पैसे से मिले या करोड़ों रुपये देने से मिले – ऐसा है ? आहा...हा... !

परम शब्दब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से... इसके दृढ़ किये गये परिणाम से, सम्यक्प्रकार से अभ्यास करना... – यह शर्त का शब्द समझ में आता है ? आहा...हा... ! **परम शब्दब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से सम्यक्प्रकार से अभ्यास करना, वह उपायान्तर है।...** आहा...हा... ! कितनी शर्तें ! कितना उत्तरदायित्व अन्दर डाला है ! अकेला पढ़ना... पढ़ना... सुनना – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! जिसका भव का अन्त आ जाता है, जिसमें आत्मा का अन्त आ जाये ! आत्मा का अन्त आ जाये, अर्थात् जैसा है वैसा (ज्ञान में आ जाये) आहा...हा... ! अरे ! समस्त वस्तुओं का अन्त आ जाये। आहा...हा... ! जिसने एक जाना, उसने समस्त वस्तुओं की सभी मर्यादायें बराबर जान ली हैं। आहा...हा... !

(जो परिणाम, भावज्ञान के अवलम्बन से दृढ़िकृत हों – ऐसे परिणाम से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना, वह.... इतनी शर्तवाला ! **ऐसे परिणाम से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना, वह मोहक्षय करने का उपायान्तर है।)** जैसा (अरिहन्त का) द्रव्य-गुण-पर्याय (जानने का उपाय) मोहक्षय के लिये कहा था, उसमें यह भी एक उपायान्तर है। आहा...हा... ! विशेष कहेंगे... 1

गाथा – ८७

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति -

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो।।८७।।

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः।। ८७।।

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः। तत्र गुणपर्यायानियृति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयृति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयृति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः। यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयृति तेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयृति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः। एवमन्यत्रापि। यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्ण-मेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा।। ८७।।

अथ द्रव्यगुणपर्यायाणामर्थसंज्ञां कथयति - **दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया** द्रव्याणि गुणास्तेषां द्रव्याणां पर्यायश्च त्रयोऽप्यर्थसंज्ञया भणिताः कथिता अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः। **तेसु** तेषु त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये **गुणपज्जयाणं अप्पा** गुणपर्यायाणां संबंधी आत्मा स्वभावः। कः इति पृष्टे। **दव्व त्ति उवदेसो** द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेशः, अथवा द्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति। अथ विस्तर :- अनन्तज्ञानसुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्व-सिद्धत्वादिपर्यायांश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते। किम्। शुद्धात्मद्रव्यम्। तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियूति गच्छन्ति परिणमन्त्याश्रयन्ति येन कारणेन ततोऽर्थो भण्यन्ते। **के** ते। ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाः। ज्ञानत्वसिद्धत्वादि-गुणपर्यायाणामात्मा स्वभावः क इति पृष्टे शुद्धात्मद्रव्यमेव स्वभावः, अथवा शुद्धात्मद्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव। एवं शेषद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसंज्ञा बोद्धव्येत्यर्थः।। ८७।।

अब, जिनेन्द्र के शब्दब्रह्म में अर्थों की व्यवस्था (पदार्थों की स्थिति) किस प्रकार है, सो विचार करते हैं –

द्रव्य-गुण-पर्याय को है, अर्थ जिनवर ने कहा।
आत्मा, गुण-पर्याय का द्रव्य, भिन्न नहीं वस्तु वहाँ॥

अन्वयार्थ : [द्रव्याणि] द्रव्य, **[गुणाः]** गुण **[तेषां पर्यायाः]** और उनकी पर्यायें **[अर्थसंज्ञया]** 'अर्थ' नाम से **[भणिताः]** कही गई हैं। **[तेषु]** उनमें, **[गुणपर्यायाणाम् आत्मा द्रव्यम्]** गुण-पर्यायों का आत्मा, द्रव्य है (गुण और पर्यायों का स्वरूप-सत्व द्रव्य ही है, वे भिन्न वस्तु नहीं हैं) **[इति उपदेशः]** इस प्रकार (जिनेन्द्र का) उपदेश है।

टीका : द्रव्य, गुण और पर्यायों में अभिधेयभेद होने पर अभिधान का अभेद होने से वे 'अर्थ' हैं [अर्थात् द्रव्यों, गुणों और पर्यायों में वाच्य का भेद होने पर भी वाचक में भेद न देखें तो 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक (शब्द) से ये तीनों पहिचाने जाते हैं]। उसमें (इन द्रव्यों, गुणों और पर्यायों में से), जो गुणों को और पर्यायों को प्राप्त करते हैं – पहुँचते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं – पहुँचे जाते हैं – ऐसे 'अर्थ'[१] वे द्रव्य हैं। जो द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं-पहुँचते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं-पहुँचे जाते हैं – ऐसे 'अर्थ' वे गुण हैं। जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं – पहुँचते हैं अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से (क्रमशः होनेवाले परिणाम के कारण) प्राप्त किये जाते हैं – पहुँचे जाते हैं – ऐसे 'अर्थ' वे पर्याय हैं।

जैसे द्रव्य स्थानीय (द्रव्य के समान, द्रव्य के दृष्टान्तरूप) सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुणों को और कुण्डल इत्यादि पर्यायों को प्राप्त करता है – पहुँचता है अथवा (सुवर्ण) उनके द्वारा (पीलापनादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों द्वारा) प्राप्त किया जाता है – पहुँचा जाता है, इसलिए द्रव्यस्थानीय सुवर्ण 'अर्थ' है। जैसे पीलापन इत्यादि गुण,

---

१. 'ऋ' धातु में से 'अर्थ' शब्द बना है। 'ऋ' अर्थात् पाना, प्राप्त करना, पहुँचना, जाना। 'अर्थ' अर्थात् (१) जो पाये-प्राप्त करे-पहुँचे, अथवा (२) जिसे पाया जाये-प्राप्त किया जाये-पहुँचा जाये।

सुवर्ण को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं-पहुँचते हैं अथवा (वे) आश्रयभूत सुवर्ण के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं - पहुँचे जाते हैं, इसलिए पीलापन इत्यादि गुण 'अर्थ' हैं; और जैसे कुण्डल इत्यादि पर्यायें सुवर्ण को क्रमपरिणाम से प्राप्त करती हैं-पहुँचती हैं अथवा (वे) सुवर्ण के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त की जाती हैं - पहुँची जाती हैं, इसलिए कुण्डल इत्यादि पर्यायें 'अर्थ' हैं; इसी प्रकार अन्यत्र[१] भी है, (इस दृष्टान्त की भाँति सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों में भी समझना चाहिए)।

और जैसे इन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायों में (इन तीनों में, पीलापन इत्यादि गुणों का और कुण्डल इत्यादि पर्यायों का) सुवर्ण से अपृथक्त्व होने से उनका (पीलापन इत्यादि गुणों का और कुण्डल इत्यादि पर्यायों का) सुवर्ण की आत्मा है, उसी प्रकार उन द्रव्य-गुण-पर्यायों में गुण-पर्यायों का द्रव्य से अपृथक्त्व होने से उनका द्रव्य ही आत्मा है (अर्थात् द्रव्य ही गुण और पर्यायों का आत्मा-स्वरूप-सर्वस्व-सत्व है)।

भावार्थ : ८६ वीं गाथा में कहा है कि जिनशास्त्रों का सम्यक् अभ्यास मोहक्षय का उपाय है। यहाँ संक्षेप में यह बताया है कि उन जिनशास्त्रों में पदार्थों की व्यवस्था किस प्रकार कही गयी है। जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि अर्थ (पदार्थ) अर्थात् द्रव्य, गुण, और पर्याय। इसके अतिरिक्त विश्व में दूसरा कुछ नहीं है और इन तीनों में गुण और पर्यायों का आत्मा (उसका सर्वस्व) द्रव्य ही है। ऐसा होने से किसी द्रव्य के गुण और पर्याय अन्य द्रव्य के गुण और पर्यायरूप किञ्चित्मात्र नहीं होते, समस्त द्रव्य अपने-अपने गुण और पर्यायों में रहते हैं - ऐसी पदार्थों की स्थिति मोहक्षय के निमित्तभूत पवित्र जिनशास्त्रों में कही है॥ ८७॥

---

१. जैसे, सुवर्ण, पीलापन आदि को और कुण्डल आदि को प्राप्त करता है अथवा पीलापन आदि और कुण्डल आदि के द्वारा प्राप्त किया जाता है (अर्थात् पीलापन आदि और कुण्डल आदिक सुवर्ण को प्राप्त करते हैं) इसलिए सुवर्ण 'अर्थ' है, वैसे द्रव्य 'अर्थ' है; जैसे, पीलापन आदि आश्रयभूत सुवर्ण को प्राप्त करता है अथवा आश्रयभूत सुवर्ण द्वारा प्राप्त किये जाते हैं (अर्थात् आश्रयभूत सुवर्ण पीलापन आदि को प्राप्त करता है) इसलिए पीलापन आदि 'अर्थ' हैं, वैसे गुण 'अर्थ' हैं; जैसे, कुण्डल आदि सुवर्ण को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं अथवा सुवर्ण द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त किया जाता है (अर्थात् सुवर्ण कुण्डल आदि को क्रम परिणाम से प्राप्त करता है) इसलिए कुण्डल आदि 'अर्थ' हैं, वैसे पर्यायें 'अर्थ' हैं।

प्रवचन नं. ७८ **दिनाङ्क १९ मई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ८७।

अब जिनेन्द्र के शब्दब्रह्म में... पहले आया है न कि भगवान की वाणी को प्राप्त करके, उसमें क्रीड़ा करना, रस लेना, परन्तु उस वाणी में पदार्थ का स्वरूप क्या कहा है? **जिनेन्द्र शब्दब्रह्म में...** वीतरागदेव के शब्दब्रह्म में – वाणी में। **अर्थ की व्यवस्था...** (अर्थात्) पदार्थ की व्यवस्था, **इस प्रकार है, सो विचार करते हैं** –

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो।।८७।।

(नीचे) हरिगीत –

द्रव्य-गुण-पर्याय को है, अर्थ जिनवर ने कहा।
आत्मा, गुण-पर्याय का द्रव्य, भिन्न नहीं वस्तु वहाँ॥

टीका : द्रव्य, गुण और पर्यायों.... तीन हैं न? द्रव्य है, गुण है और पर्याय है – तीन हैं। वाच्यरूप से तीन है परन्तु उन्हें एक शब्द से कहना हो तो तीनों को अर्थ (शब्द से) कहा जाता है। **द्रव्य, गुण और पर्यायों में अभिधेयभेद होने पर भी....** अर्थात् वाच्य का भेद होने पर भी। द्रव्य, गुण और पर्यायों – ऐसा नाम भेद, वाच्य का भेद होने पर भी वाचक में भेद नहीं करें (अर्थात्) उनके कथन में तीन भेद नहीं करें तो तीनों को 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक शब्द से (कहा जा सकता है)। तीनों को अर्थ (कहा जाता है) – द्रव्य अर्थ, गुण अर्थ, पर्याय अर्थ – तीनों को अर्थ कहते हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय – ऐसे वाच्य के भेद सामने हैं, तथापि तीनों को एक नाम से कहना हो तो 'अर्थ' (शब्द से) कहा जाता है। कुछ समझ में आया? ऐसी व्याख्या! बनियों को निवृत्ति नहीं मिलती कि निवृत्ति लेकर (समझें कि) यह पदार्थ क्या है? – उसका अभ्यास करना, रस लेना। उसकी व्यवस्था भगवान की वाणी में क्या आयी है? इस बात का वर्णन करते हैं।

द्रव्य, गुण और पर्यायों में अभिधेयभेद होने पर भी... (अर्थात्) वाचक ध्येय, अर्थात् द्रव्य, गुण ऐसा नामभेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से (अर्थात्) कथन के एकपने की अपेक्षा से कहें तो तीनों को **अर्थ हैं...** ऐसा कहा जाता है, ऐसा है। **[अर्थात् द्रव्यों, गुणों और पर्यायों में वाच्य का भेद होने पर भी वाचक में भेद न देखें तो 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक शब्द से ये तीनों पहिचाने जाते हैं।]...** ऐसी बात है।

उसमें (उन द्रव्यों, गुणों और पर्यायों में से), जो गुणों और पर्यायों को प्राप्त करते हैं।... आहा...हा...! द्रव्य उसे कहते हैं, द्रव्य-अर्थ उसे कहते हैं कि जो स्वयं गुण और पर्याय को प्राप्त करता है। आहा...हा...! वह द्रव्य स्वयं **गुणों को और पर्यायों को प्राप्त करते हैं, पहुँचते हैं।...** आहा...हा...! द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को (प्राप्त करते हैं)। गुण, पर्यायों को प्राप्त करते हैं और पर्यायें गुण को प्राप्त करती हैं - ऐसा नहीं है। समझे ? गुण, पर्याय को प्राप्त करते हैं और पर्याय, गुण को प्राप्त करती है - ऐसा नहीं है। गुण और पर्यायें द्रव्य को प्राप्त करते हैं और द्रव्य स्वयं अपने गुण, पर्याय को प्राप्त करता है। आहा...हा...!

अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं.... आहा...हा...! अपने गुण और पर्यायों के द्वारा प्राप्त, **प्राप्त किये जाते हैं - पहुँचे जाते हैं, ऐसे अर्थ वे द्रव्य हैं।....** (अर्थों शब्द का) अर्थ नीचे किया है। 'ऋ' धातु में से 'अर्थ' शब्द बना है। 'ऋ' अर्थात् पाना, प्राप्त करना, पहुँचना, जाना। 'अर्थ' अर्थात् (१) जो पाये-प्राप्त करे-पहुँचे, अथवा (२) जिसे पाया जाये-प्राप्त किया जाये-पहुँचा जाये। इसका दृष्टान्त देंगे तब (ठीक से समझ में आयेगा)। **जो गुणों को और पर्यायों को प्राप्त करते हैं...** अर्थात् जो यह आत्मा द्रव्य है, वह अपने कायम गुण हैं और (उनकी) पलटती पर्यायें हैं, उन्हें पहुँचता है, उन्हें प्राप्त करता है और उन्हें पाता है। आहा...हा...!

श्रोता : बाहर के किसी पदार्थ को नहीं प्राप्त करता ?

समाधान : बाह्य किसी पदार्थ की पर्याय को उसकी (आत्मा की) पर्याय प्राप्त करे, पहुँचे या प्राप्त किये जाये ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह शरीर है। देखो, ऐसे हिलता है, ऐसे होता है, उस पर्याय को इसका द्रव्य है, वह इसके गुण, पर्याय को पहुँचते हैं, आत्मा

नहीं। आहा...हा... ! ऐसे हिलने में कितने ही की हालत ऊँट जैसी होती है, कितने ही की हाथी जैसी होती है, किसी को (ऐसा होता है...) कहते हैं कि शरीर की ये जो पर्याय होती है, उस पर्याय को उसका द्रव्य और उसके गुण, पर्याय को पहुँचते हैं। उनकी पर्याय को आत्मा प्राप्त करता है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

सामनेवाले जीव का जीवन टिकता है, वह उसके गुण और पर्याय को पहुँचनेवाला द्रव्य है, उसके कारण टिकता है। दूसरा कहे कि मेरे कारण वह जीवित है तो यह बात अत्यन्त भ्रम है क्योंकि जीवद्रव्य ऐसा है कि अपनी त्रिकाली शक्तियों और पलटती अवस्था को पहुँचता है, प्राप्त करता है और प्राप्त किया जाता है। दूसरे द्रव्य को भी वह दूसरा द्रव्य उसके गुण, पर्याय को प्राप्त करें, पहुँचें और पावें... अरे... अरे.... !

जो जड़कर्म है, वह द्रव्य है। उसमें अनुभाग आदि शक्ति-गुण हैं और उदय आता है, तब उसकी पर्याय होती है। वह कर्म द्रव्य है, वह स्वयं गुण, पर्याय को पहुँचता है और वे पर्याय और गुण उसके द्रव्य को पहुँचते हैं परन्तु यह कर्म, राग को पहुँचता है और राग को कराता है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

श्रोता : कठोर उदय आया हो तब ?

समाधान : उदय उसके घर में रहा। उसकी पर्याय, उसके द्रव्य को पहुँचती है और द्रव्य उस पर्याय को पहुँचता है। आत्मा उसकी पर्याय को पहुँचता है – ऐसा तीन काल में नहीं है। आहा...हा... ! कुछ समझ में आया ? ऐसा जिनेन्द्र कथित तत्त्व, तत्त्व की व्यवस्था, उसकी स्थिति की मर्यादा, इस प्रकार है। आहा...हा... !

यह भाषा होती है तो कहते हैं कि इस भाषा की जो पर्याय है, वह भाषा के परमाणु को पहुँचती है, उनसे पर्याय होती है, पाती है, प्राप्त की जाती है, आत्मा से नहीं। आहा...हा... !

कोई भी आत्मा, निगोद में अनन्त आत्माएँ हैं और एक साथ अनन्त कर्म के रजकण हैं, तथापि उनका द्रव्य जो है – जो निगोद का जीव है, वह अपने गुण और विकारी अवस्था है, उसे वह द्रव्य पहुँचता है और वे गुण और विकारी अवस्थाएँ द्रव्य से प्राप्त की जाती हैं और पहुँचती हैं। आहा...हा... !

श्रोता : कर्म को प्राप्त नहीं करता!

समाधान : कर्म के कारण वह विकारी पर्याय पहुँचे, प्राप्त करे, प्राप्त हो ऐसा नहीं है – ऐसी बात है। व्यापार-धन्धे के कारण ऐसा निर्णय करने की फुरसत कहाँ है? आहा...हा...!

श्रोता : किसी को किसी दूसरे का काम करना या नहीं करना?

समाधान : काम कर सकता ही नहीं। कोई अर्थात् दूसरी चीज; वह चीज उसके गुण पर्याय को पहुँचती है और उसके गुण-पर्याय उसके द्रव्य को प्राप्त करते हैं। इसमें दूसरे का करना, यह बात तीन काल में नहीं रहती। आहा...हा...!

श्रोता : समस्त भ्रम छूट जाये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत अन्तर... बहुत अन्तर... वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर... आहा...हा...! यह जो मन्दिर बना है... यह जो मन्दिर बना है यह इसके परमाणु इसके गुण-पर्याय को पहुँचते हैं, (दूसरा कोई जीव) नहीं। आहा...हा....! ऐसा काम है! जगत् के, वाणी के, शरीर के, अथवा कर्म के जो परमाणु हैं, वे परमाणु अपनी शक्ति अथवा सत्व (और) पलटती पर्यायों को पहुँचते हैं, उन्हें प्राप्त करते हैं, उन्हें पहुँचते हैं... आहा...हा...! उन्हें पाते हैं... आहा...हा...! परन्तु दूसरे द्रव्य के गुणों की पर्याय को प्राप्त नहीं करते (अथवा नहीं पहुँचते)। यहाँ तो द्रव्य के गुण, पर्याय ऐसा लिया है न? गुण की पर्याय ऐसा नहीं लिया। गुण-पर्याय को पहुँचता है और पर्याय, गुण को पहुँचती है – ऐसा नहीं है। द्रव्य ही गुण, पर्याय को पहुँचता है और गुण, पर्याय द्रव्य को पहुँचते हैं। आहा...हा...! धीरे से... धीरे से... समझना! शीर्षक में आया है न? **जिनेन्द्र के शब्दब्रह्म में अर्थों....** अर्थात् पदार्थों। अर्थों अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्याय, उसकी **व्यवस्था (पदार्थ की स्थिति) किस प्रकार है सो विचार करते हैं.....** आहा...हा...!

जो सब्जी सीजती है, वह सब्जी के परमाणु, उसकी पर्याय को – सीजनेरूप पर्याय को पहुँचते हैं, अग्नि के कारण सब्जी सीजती है या पानी के कारण सब्जी सीजती है – ऐसा तीन काल में नहीं है। आहा...हा...!

उमराला के पास (एक गाँव) है न? कौन सा कहलाता है? बड़ोद... बड़ोद...! बड़ोद में एक कुँवारा मनुष्य था। उसे रोटी बनाना नहीं आती, रोटी बनाते-बनाते बेलन उल्टा-सीधा हो जाये, इसलिए रोटी ऐसी बहिनें जैसी बनाती हैं, वैसी एक सरीखी नहीं होती। एक अणी इधर तो एक अणी उधर निकलती। उसे आती नहीं, इस कारण ऐसा होता है न? उन परमाणुओं की पर्याय को – इस प्रकार द्रव्य उसके गुण और पर्याय को पहुँचता है और उसके गुण और पर्याय उस द्रव्य को पहुँचते हैं, यह सब गुण और पर्यायरूप सर्वस्व वह द्रव्य है। आहा...हा...! उसमें कोई दूसरे का अंश मदद करे, सहायता करे (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! ऐसी वस्तु की स्थिति जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में इस रीति से ज्ञात हुई है और ज्ञात हुई है, वैसा कहा है। आहा...हा...! शीर्षक में (उपोद्घात में) ऐसा कहा है न! **शब्द ब्रह्म में अर्थों की व्यवस्था....** भगवान की वाणी में अर्थों की व्यवस्था कैसी है, यह कहा जाता है। आहा...हा...!

यह पृष्ठ जो ऐसे ऊँचा होता है, उसकी जो यह पर्याय होती है, वह इसके परमाणु और गुण पर्याय को पहुँचते हैं। इस अंगुली से नहीं, अंगुली से ऊँचा नहीं हुआ है – ऐसा कहते हैं।

श्रोता : यहाँ पर (ऐसी बात) चलती है, बाजार में नहीं चलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूर्खाई में नहीं चलती। मूर्ख मानते हैं कि हम ऐसा करते हैं, वैसा करते हैं, यह करते हैं। आहा...हा...! गाथा बहुत सरस है! कल भी बहुत अच्छी गाथा थी! आहा...हा...!

श्रोता : भगवान ने क्या कहा है?

समाधान : यह क्या कहा कि भगवान ने शब्द वाणी से जानकर जो कहा वह क्या कहा है परन्तु? उसमें पदार्थों की व्यवस्था उन्होंने क्या जानी है? जानकर किस प्रकार कही है? आहा...हा...! यह बाल है और कंघा होता है न कंघा? वह कंघा (बाल को) स्पर्श ही नहीं करता है? यह बाल हैं वे ऐसे होते हैं, इनकी पर्याय को इनका द्रव्य पहुँचता है, उस पर्याय को द्रव्य पहुँचता है और द्रव्य उस पर्याय को प्राप्त करता है। आहा...हा...! ऐसे... ऐसे... करते हैं न? इस ओर को ऐसे और इस ओर को ऐसे! बीच में फिर माँग रखते

हैं न ? दो बाजू ऐसे... ऐसे... करते हैं न ? दो बाजू संवार कर बीच में माँग रखते हैं न ? काँच में देखकर ठीक करते हैं, पागल जैसे लगते हैं। आहा...हा...!

कहते हैं कि यह लकड़ी जो ऐसी ऊँची होती है। लो ! उसका द्रव्य उस पर्याय को पहुँचता है और पर्याय द्रव्य को पहुँचती है, वह पर्याय अंगुली का स्पर्श नहीं करती, अंगुली को नहीं पहुँचती और अंगुली की पर्याय इसे स्पर्श नहीं करती, प्राप्त नहीं करती। आहा...हा...! साधारण मनुष्य को तो एकान्त लगता है (परन्तु) वस्तु की व्यवस्था ही ऐसी है। आहा...हा...!

हम किसी का भला कर देते हैं, सुख-दुःख देते हैं, सुविधा देते हैं, दुःखी हो तो अनाज-पानी देते हैं ! (यहाँ) कहते हैं कि वे अनाज और पानी के परमाणु जो हैं, वे अपनी उस काल में पर्याय होती है, उसे वे पहुँचते हैं। दूसरा यह मानता है कि मैं इसको पानी देता हूँ और आहार दिया (ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है)। अरे... ऐसा है। थोड़ा गुजराती सीखना। (कोई कहता था कि) महाराज ! हिन्दी (प्रवचन) करना ! यहाँ अधिक लोग गुजराती हैं। अधिक लोगों में नहीं चलता, एक तो गुजराती भाषा भी कठिन है। आहा...हा...!

ओहो...हो...! यह चश्मे की पर्याय यहाँ जो नाक पर रही है, कहते हैं कि वह नाक का स्पर्श ही नहीं करती। उसके जो परमाणु हैं, उसकी पर्याय को इस प्रकार परमाणु पहुँचते हैं और वह पर्याय द्रव्य को पहुँचती है। इस नाक को (नहीं पहुँचती)। नाक के कारण नहीं, इस हाथ के कारण नहीं। हाथ के कारण ऐसा हुआ (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

देखो, **उसमें (इन द्रव्यों, गुणों और पर्यायों में से), जो...** अर्थात् द्रव्य **गुणों को और पर्यायों को प्राप्त करते हैं...** आहा...हा...! द्रव्य जो है, वह अपनी शक्ति - सत्व है, उसे और पलटती पर्याय - अवस्था को **प्राप्त करते हैं, पहुँचते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं...** अर्थात् द्रव्य। आहा...हा...! धीमे से समझने जैसी बात है बापू ! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर का वीतराग मार्ग है। इसमें लोगों को एकान्त लगता है। कहते हैं कि एकान्त है। स्व से होता है और पर से होता है तो अनेकान्त कहलाता है ? यहाँ तो (कहते हैं कि) स्व से होता है और पर से नहीं होता, इसका नाम

अनेकान्त है। आहा...हा...! इतना अन्तर है! अरे... सत्य को सत्य किस प्रकार समझना। कठिन है भाई!

अरे... ऐसा मनुष्यपना मिला, वह चला जा रहा है। यह नरक और निगोद के भव किये हैं बापा! यह विचार करने से इसे (कंपकपी छूठे ऐसा है)। सातवें नरक की दुःखी की पर्याय को इसका आत्मा पहुँचता है और वह दुःख की पर्याय उस द्रव्य की है और अपने द्रव्य को पहुँचती है। आहा...हा...! अभी निर्मल (पर्याय) की बात नहीं है। अभी निर्मल और मलिन दोनों पर्यायों की बात है। आहा...हा...! कुछ समझ में आया?

यह तो तीन लोक के नाथ वीतराग जिनेश्वरदेव का कथन है। आया है न (उपोद्घात में)? **शब्द ब्रह्म में अर्थों की व्यवस्था....** वीतराग की वाणी में पदार्थों की व्यवस्था किस प्रकार है? कैसे कही है? वह हम विचार कर कहते हैं। आहा...हा....!

तीन लोक के नाथ की वाणी में पदार्थ को 'अर्थ' कहा है। द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों को अर्थ कहा है और अर्थ की व्याख्या इस प्रकार की है कि वह-वह द्रव्य अपने गुण-पर्याय को पाता है, वह अर्थ है और वे-वे गुण, पर्याय अपने द्रव्य को पहुँचते हैं, उनका नाम अर्थ है। आहा...हा...! इस प्रकार द्रव्य को भी अर्थ कहते हैं और पर्याय को भी ऐसे अर्थ कहते हैं कि उस पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है और वह पर्याय द्रव्य से आती है - होती है। आहा...हा...! उस पर्याय को ऐसा अर्थ कहते हैं। उसकी अवस्था का स्वतन्त्र होना होता है परन्तु वह द्रव्य के कारण होती है - ऐसा कहा जाता है। अभी तो यह सिद्ध करना है न?

श्रोता : वरना तो पर्याय, पर्याय से होती है!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह फिर बाद में। अभी (यह सिद्ध करना है)। आहा...हा...!

बोलने की भाषा अथवा लिखने की भाषा (होती है)। उसमें कलम है, वह ऐसे-ऐसे होती है, उसमें वे परमाणु, उसकी पर्याय को पहुँचते हैं, अँगुली के कारण वह कलम ऐसे फिरती है या वहाँ नाम लिखा जाता है, नमः सिद्धाय - यह कलम की पर्याय से वहाँ, वह शब्दों की पर्याय हुई है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! 'यह तो मण का अढ़ाई तो सेर

का चार पैसा' - यह चाबी है। (ऐसे) यह तो दृष्टान्त है। दृष्टान्त में इसे पकड़ में आता है-समझ में आता है। यह आहा...हा...! होता है, उसे परमाणु की पर्याय, उस शब्द की पर्याय को पहुँचती है। आहा...हा...! ऐसी पदार्थ की व्यवस्था! उसे गड़बड़ करके (मानते हैं कि) दूसरों की सहायता से होता है - ऐसा होता है?

अरे भाई! क्रमबद्ध तो अभी एक ओर रहा, इस पर्याय में आयेगा। आहा...हा...! परन्तु क्रमबद्धपर्याय परिणमती है, वह द्रव्य उस पर्याय को पहुँचता है। आहा...हा...! इस कारण क्रमबद्धपर्याय का निर्णय करनेवाले को द्रव्य अकर्ता है, उसका पुरुषार्थ होता है। आहा...हा...! क्योंकि क्रमबद्ध की जो पर्याय है, वह द्रव्य से हुई है। अभी तो यह सिद्ध करना है न? द्रव्य उसे पहुँचता है और वह पर्याय द्रव्य को प्राप्त करती है। आहा...हा...! इसलिए कि उसका पुरुषार्थ, पर्याय के क्रमबद्ध का (निर्णय करनेवाले का पुरुषार्थ) द्रव्य की दृष्टि पर जाता है और वास्तव में तो उस पर्याय को द्रव्य पहुँचता है (ऐसा जो कहते हैं) वह तो अभी तीन को समझाना है। इसलिए (ऐसा कहते हैं)। वरना तो पर्याय, पर्याय को पहुँचती है। कर्ता, कर्म साधन (आदि) समस्त षट् कारक वहीं के वहीं पर्याय में हैं। आहा...हा...! द्रव्य के कारण पर्याय हुई है - ऐसा भी नहीं है और वह पर्याय द्रव्य को पहुँचती है (ऐसा भी नहीं है)। यहाँ तो अभी शुरुआत करते हैं न? (इसलिए ऐसा कहते हैं) बाद में आगे एक सौ एक गाथा में ले लेंगे कि ऐसी व्यवस्था है। आहा...हा...! ९९ (नम्बर), १०१ (नम्बर), १०२ (नम्बर ये) गाथाएँ आयेंगी। आहा...हा...!

जो अर्थात् द्रव्य, गुणों और पर्यायों को प्राप्त करते हैं।... प्रत्येक द्रव्य अपनी शक्ति को, परिणति को प्राप्त करता है, उसे प्राप्त करता है। अपनी शक्ति और पलटती अवस्था को उस समय वह द्रव्य प्राप्त करता है, वह द्रव्य पहुँचता है। आहा...हा...! अथवा **जो गुणों और पर्यायों द्वारा...** (जो अर्थात्) द्रव्य। द्रव्य अर्थात् अर्थ। **गुणों और पर्यायों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, पहुँचे जाते हैं - ऐसे अर्थ वे द्रव्य हैं।...** अभी यह द्रव्य की व्याख्या हुई।

जीव में अन्दर राग हुआ, उस राग को जीव स्वयं प्राप्त करता है और उस समय जो कर्म बँधता है, उसे उस कर्म के परमाणु, उस पर्याय को प्राप्त करते हैं। यहाँ राग हुआ,

इसलिए वहाँ कर्म की – बन्धन की पर्याय होती है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! एकदम अनजान हो, उसे तो ऐसा लगे कि सब वफम जैसा लगे। यह क्या सब क्या है? ऐसी बात! वफम नहीं है भाई! वस्तु की स्थिति ऐसी है भाई! आहा...हा...! तेरी नजर पर–पर्याय को पहुँचने के लिये जाती है, वह भ्रम है। तेरी पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है तो दृष्टि वहाँ जानी चाहिए और यह द्रव्य पर्याय को प्राप्त करता है, इसलिए भी (द्रव्य पर दृष्टि जानी चाहिए)। आहा...हा...! क्या कहा यह? सम्यग्दर्शन की पर्याय को द्रव्य पहुँचता है। दर्शनमोह का क्षयोपशम हुआ, उदय का अभाव हुआ, इसलिए (सम्यग्दर्शन हुआ – ऐसा) नहीं है। ऐसी चीज! आहा...हा...! नहीं समझता इसलिए गड़बड़ करता है।

मोक्षपाहुड़ में कहा है कि जो सम्यग्दृष्टि है, वही शूरवीर और पण्डित है। वह पण्डित है! भले ही कुछ भी विशेष नहीं आता हो, बहुत कहना नहीं आता हो, परन्तु सत्य यह है कि जो द्रव्य है, वह अपनी पर्याय को पहुँचता है तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त पर्याय में द्रव्य पहुँचता है और सम्यग्दर्शन की पर्याय, द्रव्य को अवलम्बती है और प्राप्त करती है। यह पर्याय इसकी (इस द्रव्य की) है – ऐसे प्राप्त करती है। आहा...हा...! यह सम्यग्दर्शन की पर्याय देव–शास्त्र और गुरु से भी प्राप्त नहीं होती, गुरु की कृपा से भी प्राप्त नहीं होती – ऐसा कहते हैं। आहा...हा....! ऐसी बात है।

क्षायिकसमकित की पर्याय होती है, वह अरिहन्त के (पादमूल में होती है)। तथापि उस क्षायिकसमकित की पर्याय को उसका द्रव्य पहुँचता है। भगवान का समीपपना था, इसलिए (समकित) हुआ है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! काललब्धि से कहने पर वह पर्याय उस समय काललब्धि से होनी है, उस पर्याय को द्रव्य पहुँचता है। आहा...हा...! और वह पर्याय द्रव्य को प्राप्त करती है, द्रव्य को पहुँचती है। आहा...हा...! समझ में आया!

(कहते हैं) **अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, पहुँचे जाते हैं – ऐसे अर्थ वे द्रव्य हैं।...** आ...हा...! यह द्रव्य की व्याख्या की है। अर्थ कहा है न? (अर्थात्) द्रव्य को अर्थ कहना, गुण को अर्थ कहना और पर्याय को अर्थ कहना। भले ही तीन नाम हैं परन्तु एक शब्द से कहना हो तो तीनों को 'अर्थ' कहा जाता है। अर्थ

अर्थात् प्रत्येक पर्याय अपने से – द्रव्य से प्राप्त होती है और वह पर्याय द्रव्य को प्राप्त करती है – ऐसी अर्थ की व्याख्या है। आहा...हा... ! ऐसा अर्थ का अर्थ है – ऐसा नहीं। ऐसी अर्थ की व्यवस्था है आहा...हा... ! अरे रे... !

दूसरे द्रव्य को सुविधा दे सके या असुविधा दे सके – ऐसा नहीं है। इसलिए ८५ (गाथा में) आया था न ? कि पर की ममता के कारण करुणाभाव होता है, वह दर्शनमोह का लक्षण है। आहा...हा... ! उसमें 'तन्मयता' शब्द है। हिन्दी में 'ममता' शब्द है। मैं इसकी करुणा करूँ... करुणा करूँ... किसकी करे... बापा ? उसकी पर्याय को उसका द्रव्य पहुँचता है, तेरी पर्याय को तेरा द्रव्य पहुँचता है। पर की करुणा की पर्याय, परजीव की दया पालने में पहुँचती है – ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। आहा...हा... ! उसी प्रकार दूसरे जीव को मारने की जो हिंसा की क्रिया वहाँ हुई, उसमें उसके आयुष्य के परमाणु और आत्मा उस प्रकार से उसकी पर्याय को पहुँचते हैं। दूसरा कहता है मैं इसकी हिंसा कर सकता हूँ, उसकी पर्याय को मैं प्राप्त करता हूँ – ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा सुनना कठिन पड़ता है।

श्रोता : ऐसा सुनने को मिलता है !

पूज्य गुरुदेवश्री : मिलता है तो भाग्यशाली है न। बापा ! आहा...हा... ! भगवान की वाणी में (वस्तु की) यह व्यवस्था है। आचार्य महाराज कहते हैं कि हम कहते हैं – ऐसा नहीं। आहा...हा... ! जिनेन्द्र भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर देव की ओम् ध्वनि में पदार्थ की यह व्यवस्था इस प्रकार आयी है। आहा...हा... ! भगवान की ओम् ध्वनि ! आहा...हा... !

सुननेवाले को वहाँ जो पर्याय होती है, तो कहते हैं कि वह पर्याय शब्दों से हुई है – ऐसा नहीं है। शब्द की पर्याय को उसके परमाणु पहुँचते हैं और सामने ज्ञान हुआ है, वहाँ उसका द्रव्य पहुँचता है। आहा...हा... ! इस शब्द से वहाँ सामनेवाले को ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

अब, गुण लेते हैं। **जो द्रव्य को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं....** वे गुण... गुण... ! आत्मा के जो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि त्रिकाली गुण हैं... त्रिकाली... त्रिकाली,

वे गुण उन द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं, और आश्रय के रूप में पहुँचते हैं। **अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं....** वे गुण उसके द्रव्य में हैं। अपने द्रव्य से वे प्राप्त किये जाते हैं। आहा...हा...! पर्याय की बात बाद में लेंगे। यहाँ तो आत्मा है, उसमें जो अनन्त गुण हैं, वे गुण उस द्रव्य द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। आहा...हा...! है ? **आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं....** इन गुणों का आश्रयभूत द्रव्य है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र त्रिकाली; अभी गुण की बात है। पर्याय बाद में (कहेंगे।)

आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं-पहुँचे जाते हैं अथवा **जो द्रव्यों को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं-पहुँचते हैं - ऐसे अर्थ वे गुण हैं....** पहले कहा कि ऐसे अर्थ वे द्रव्य हैं। अब (कहते हैं कि) ऐसे अर्थ वे गुण हैं। वे गुण उनके द्रव्य से प्राप्त किये जाते हैं और गुण भी उस द्रव्य को पहुँचते हैं। आहा...हा...! परमाणु में जो वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श (आदि) अनन्त गुण हैं, उन गुणों का आश्रय उनका परमाणु है; इसलिए उन गुणों की प्राप्ति को द्रव्य से है और द्रव्य उन गुणों को प्राप्त करता है। अनादि से ऐसा है, (क्योंकि) गुण तो दो हैं न! आहा...हा...! इसी प्रकार आत्मा में अनन्त अतीन्द्रियगुण हैं, उन अनन्त गुणों को द्रव्य प्राप्त करता है अथवा उन अनन्त गुणों का आश्रय जो द्रव्य है, उससे वे प्राप्त किये जाते हैं। आहा...हा...! इसमें याद कितना रखना!

वह तो (सरल था कि) इच्छामि पडिक्कमणं... तस्य मिच्छामि दुक्कणम (कर लिया इसलिए) हो गयी सामायिक! धूल में भी सामायिक नहीं। वहाँ तो मिथ्यात्व है। मैं यह भाषा करता हूँ, यह पर की दया पालता हूँ, कायोत्सर्ग करने के लिए मैं शरीर को ऐसे रखता हूँ... यह सब पर्याय का स्वामी होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, वह तो मिथ्यात्व की पर्याय को प्राप्त करता है। ऐसा (यह तत्त्व) दुनिया से उलटा है।

दुनिया तो ऐसा कहती है - गाँधीजी ऐसा कहते थे न! 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जो पर पीड़ा जाने रे...' इसी प्रकार (अभी लोग कहते हैं कि) जैन तो उसे कहिये कि 'पर की पीड़ा जानें' (वैसे तो मात्र) जानता है परन्तु उन्हें यह कहना है कि जानता है अर्थात् उनकी पीड़ा मिटाता है। समझ में आया ? यह तो अपने आ गया या नहीं ? (८५ वीं गाथा) 'प्रेक्षायोग्य होने पर भी' परजीव को दुःख होता है, उसका यह जाननेवाला होने पर भी, मैं

उसका कर सकता हूँ, उसके दु:ख को मिटा सकता हूँ – ऐसा करुणाभाव उत्पन्न होता है, वह मिथ्यात्व का लक्षण है और उस मिथ्यात्व की पर्याय को भी उसका द्रव्य प्राप्त करता है। उस समय उसे दर्शनमोह के उदय का जोर है, इसलिए ऐसा भाव हुआ है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! 'उत्तराध्ययन' मैं बीसवें अध्याय में 'अनाथी मुनि' का अध्ययन आता है, वहाँ गाथा है कि आत्मा कर्म का कर्ता और आत्मा कर्म का भोक्ता है। बस जाओ!

यहाँ कहते हैं कि यह बात सत्य नहीं है। कर्म की पर्याय का होना, वह कर्म के पुद्गल के कारण है और तुझे अन्दर जो राग का होना होता है, उस तेरी पर्याय को तेरा द्रव्य करता है, द्रव्य पहुँचता है। आहा...हा... ! उस कर्म के कारण राग का कर्ता होता है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! और राग हुआ, इसलिए वहाँ कर्मबन्धन होता है, उसका कर्ता जीव है – (ऐसा नहीं है)। ज्ञानावरणीय के बन्ध के भाव को इसने किया, उस पर्याय को वह द्रव्य पहुँचा है परन्तु इससे वहाँ ज्ञानावरणीय कर्म उसके कारण बँधा है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा कहा जाता है कि छह प्रकार से ज्ञानावरणीय बँधता है, आता है न? आहा...हा... !

जगत् के तत्त्व अनन्त हैं, वे अनन्त (तत्त्व) उस–उस समय अपने गुण और पर्याय को प्राप्त करते हैं और वे गुण, पर्याय द्रव्य के द्वारा प्राप्त होते हैं। आहा...हा... ! इसके अतिरिक्त तत्त्व की वस्तुस्थिति दूसरी नहीं होती। आहा...हा... ! यह लाखों पुस्तकें बनी हैं; लो सोनगढ़ से २२–२३ लाख (पुस्तकें छपी हैं)! और यह तुम्हें करना है न? मुम्बई में सात लाख इकट्ठे किये हैं न? पैंतीस पुस्तकें! यह क्या बात है? (यहाँ कहते हैं कि) वह पुस्तक होने की पर्याय है, उस काल में उसके परमाणु उसे पहुँचते हैं। आहा...हा... ! पैसा एकत्रित हुआ, इसलिए वहाँ यह पुस्तकें होंगी (छपेंगी ऐसा नहीं)।

(मुम्बई में एक मुमुक्षु के) घर आहार किया, वहाँ एक थाली लाये। थाली में इकतीस हजार रुपये थे, नोट होंगे। हमने कुछ नहीं देखा था। थाली देखी थी। इकतीस हजार के नोट भरे परन्तु वह तो उस पर्याय का उस क्षेत्र में, उस काल में, वे परमाणु उसे पहुँचते हैं। बापू! कोई किसी ने दिया और किसी ने लिया यह वस्तु में ऐसा कुछ है नहीं। आहा...हा... !

श्रोता : घोषित तो किया कि इस भाई ने इतने रुपये दिये!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु (वह तो ऐसी) भाषा बोली जाती है, निमित्त का कथन है उसमें निमित्त कौन था, इसलिए बोला जाता है। आहा...हा...!

पदार्थ जितनी संख्या में हैं, उतनी संख्या में रहकर प्रत्येक समय उनकी पर्याय को वे पहुँचते हैं। पर्याय की (बात) अब आगे आयेगी। यह तो गुण की बात है।

अब (कहते हैं) **जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं...** ठीक। जो पर्याय **द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं - पहुँचते हैं....** आहा...हा...! इसी पर्याय में जो पर्याय होने का काल है, उसे वह द्रव्य पहुँचता है। आहा...हा...! आगे-पीछे नहीं। (एक विद्वान्) ऐसा कहते हैं न? एक के बाद एक (पर्याय होती) अवश्य है परन्तु यह होने के बाद यही होगी - ऐसा नहीं है। भगवान कहते हैं कि (जिस पर्याय) के बाद जो पर्याय होनी है, वही होती है; जिसके बाद होनी है, वही होती है। वह द्रव्य के कारण से है, संयोग के कारण नहीं। संयोग बदले, इसलिए पर्याय बदल गयी - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा गले उतरना....!

भगवान की भक्ति से आत्मा का कल्याण होता है, यह इसमें नहीं रहता। आहा...हा...! भगवान की भक्ति है, वह राग है। उस राग को तो उसका द्रव्य पहुँचता है, उससे मुक्ति होती है, यह प्रश्न नहीं है। उस समय राग हुआ, बस इतना। चाहे तो भगवान की भक्ति व पूजा और यात्रा-सम्मेदशिखर की यात्रा का भाव हो, लाखों लोगों के साथ दस लाख खर्च किये हों तो भी उस राग की पर्याय को पहुँचा है। दूसरा कुछ वहाँ है ही नहीं - ऐसा है! उस पैसे के कारण नहीं, हिलने के कारण नहीं आहा...हा...! कोई डोली में बैठकर जाते हैं, कोई चल कर जाते हैं। आहा...हा...!

जो यह परमाणु हैं, उनकी जिस प्रकार रहने की स्थिति है। उनकी पर्याय को क्रम परिणाम से वह द्रव्य प्राप्त करता है। आहा...हा...! शरीर की युवावस्था की परमाणु की पर्याय... उसकी खाने-पीने की बहुत सावधानी रखता है, इसलिए उसका शरीर युवा रहता है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उस समय उस शरीर के युवावस्था के परमाणु-रजकण की पर्याय को उसके परमाणु पहुँचते हैं और वह पर्याय द्रव्य से होती है, द्रव्य को पहुँचती

है; शेष दूसरों के साथ कुछ लेना-देना या सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! दवा से रोग मिटता है, इस बात का यहाँ इनकार किया है। आहा...हा...!

श्रोता : दवा से रोग मिटे तो कोई मरेगा नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह रोग की पर्याय उस काल में मिटने की थी, उस पर्याय को द्रव्य पहुँचता है, दवा नहीं। आहा...हा...! दवा की परमाणु की पर्याय को भी वह दवा पहुँचती है। आहा...हा...! डॉक्टर को देने का भाव हुआ कि यह इसे दूँ, इसलिए वह दवा की पर्याय ऐसी हुई है - ऐसा है नहीं। भाई! जगत् से उल्टा है।

जिनेन्द्र की वाणी में पदार्थ की व्यवस्था ऐसी आयी है। आहा...हा...! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव, उनकी वाणी में - शब्दब्रह्म-दिव्यध्वनि-ओंकारध्वनि में पदार्थ की व्यवस्था इस प्रकार आयी है। इससे कुछ भी अन्तर माननेवाला मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहा...हा...! हो गया तब, आत्मा पंगु हो गया! आत्मा क्या, अनन्त... अनन्त... पदार्थ के लिये प्रत्येक पदार्थ पंगु है। परमाणु भी एक परमाणु दूसरे परमाणु की पर्याय के लिये पंगु है। वह आता है न? 'गुण अधिकम्!' वहाँ ऐसा आता है - दो गुण हैं, ऐसा चार गुणवाला उसे परिणमाता है - ऐसा आता है, परिणमाता है - ऐसा आता है। यहाँ इनकार करते हैं। परिणमाता है, ऐसा कहा, वह तो निमित्त कौन था उसका ज्ञान कराया है। उस समय चार गुणरूप परिणमता है, उस पर्याय को उसका द्रव्य पहुँचता है, वह (दूसरा परमाणु) चार गुणवाला है, इसलिए चार गुणवाली पर्याय हुई है (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! कठिन काम है! शास्त्र के अर्थ में भी शास्त्र का कहना यह है कि जिनेश्वर के शब्दब्रह्म में ऐसा आया है, यह बात कहना है।

एक परमाणु में दूसरे परमाणु का (अभाव है)। एक में चार गुण पर्याय है और दूसरे में छह गुण हैं। एक में तीन है और दूसरे में पाँच है। यह एकत्रित होती है, तब पाँचरूप होता है, इसलिए वह उससे हुई है - ऐसा नहीं है। उस काल में उसके क्रमपरिणाम में उस प्रकार की पाँच गुणरूप पर्याय होना थी, उसे उसका द्रव्य पहुँचता है और वह पर्याय द्रव्य को प्राप्त करती है। आहा...हा....! उधर छह गुण हैं और पाँच गुण हैं; इसलिए उसे प्राप्त करते हैं - ऐसा नहीं है।

द्रव्यों को क्रम परिणाम से प्राप्त करते हैं.... देखो, यहाँ फिर इसमें क्रमबद्ध आया! क्रमपरिणाम से (ऐसा जो कहा तो) लोग यह कहते हैं कि क्रमपरिणाम होते हैं परन्तु इसके बाद यही होते हैं – ऐसा नियम नहीं है? ऐसा उपदेश और ऐसी वाणी! आहा...हा...! वह तो सीधा था – दया पालो, व्रत पालो, भक्ति करो, पूजा करो, दान करो, ब्रह्मचर्य पालो, दूज, पञ्चम, अष्टम् पालो....! अरे! सुन तो भाई! आहा...हा...! उस समय वे राग के परिणाम होते हैं, उस राग के कारण पुण्यबन्ध होता है। वह पुण्यबन्ध भी राग के कारण होता है – ऐसा नहीं। राग से धर्म तो नहीं होता, इसी प्रकार राग से कर्म भी नहीं होता तथा पूर्व की पहली पर्याय में राग तीव्र था इसलिए दूसरी पर्याय में राग हुआ – ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! है?

द्रव्यों को क्रम परिणाम से प्राप्त करते हैं-पहुँचते हैं अथवा जो द्रव्यों के द्वारा... प्राप्त होते हैं, पर के द्वारा प्राप्त होते हैं – ऐसा नहीं। इन चार गुण द्वारा यह दो गुणवाला, चार गुण हुआ – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! **जो द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से (क्रमशः होनेवाले परिणाम के कारण) प्राप्त किये जाते हैं-पहुँचे जाते हैं ऐसे 'अर्थ' वे पर्याय हैं।** इसे भी अर्थ कहा है। द्रव्य को अर्थ, गुण को अर्थ और पर्याय को अर्थ (कहा है।) अर्थ क्यों कहा? (क्योंकि) उन-उन गुण और पर्याय को वह-वह द्रव्य पहुँचता है, इसलिए वह अर्थ हैं। वह द्रव्य अपने गुण पर्यायों को पहुँचता है, इसलिए उसे अर्थ कहते हैं। आहा...हा...! यह तो तत्त्व के सिद्धान्त की व्यवस्था कही है। आहा...हा...!

यह वस्त्र पहनने की ऐसी क्रिया होती है तो कहते हैं कि (यह क्रिया) अंगुली नहीं कर सकती है। जरा विशेष लम्बा हो तो ऐसे कहते हैं न? ऐसे जरा ऊँचा चढ़ाते हैं न! यह ऐसे चढ़ाने की जो पर्याय होती है, उसे आत्मा नहीं कर सकता; उसे आत्मा तो नहीं कर सकता परन्तु अंगुली भी नहीं कर सकती। आहा...हा...! ऐसी ही (पदार्थ की व्यवस्था) जहाँ सर्वज्ञ के ज्ञान में आयी, ऐसा उनके शब्दब्रह्म में आया, ऐसा ही उस वस्तु का स्वरूप है। आहा...हा...! उसे उस प्रकार से जाने और माने तब तो व्यवहार सच्चा कहलाता है, फिर अनुभव करे तब निश्चय होता है। आहा...हा...! समझ में आया कुछ?

इन पर्यायों को इस प्रकार अर्थ कहा जाता है। अब, सिद्धान्त इस प्रकार है। उसे प्रचलित दृष्टान्त से समझाते हैं, इसके लिए जरा दृष्टान्त देते हैं। वह विशेष कहा जायेगा... लो!

प्रवचन नं. ७९ **दिनाङ्क २० मई १९७९**

प्रवचनसार ८७ वीं गाथा। इसमें नीचे टीका में दृष्टान्त है। प्रातः काल बात आ गयी थी न भाई! यह समयसार कलश में निकली, मुझे लगा था नीचे है। प्रातःकाल बात नहीं ली थी? १०८ नम्बर का कलश है, उसमें यह लिखा है देखो! **कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है...** कोई ऐसा मानता है कि पञ्च महाव्रत के परिणाम, बारह व्रत के परिणाम यह चारित्र हैं - ऐसा कोई अज्ञानी मानता है। आहा...हा...! **वे करने योग्य नहीं हैं, उसी प्रकार वर्जन योग्य भी नहीं हैं** - ऐसा कोई कहे। कठिन काम है बापू! धर्म कोई अलग वस्तु है। वीतराग का धर्म कोई अलग वस्तु है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, अपवास आदि का भाव वह शुभभाव है और वह शुभराग कोई जानेगा कि **आचरणरूप चारित्र है, वह करने योग्य नहीं है...** ऐसा कोई यह माने कि करने योग्य भले ही नहीं है... आहा...हा...! कड़क बात है बापा! जगत् को धर्म सुनना मिलना भी भाग्यशाली हो उसे मिलता है। आहा...हा...! बाकी तो हैरान होकर ढोर की तरह जिन्दगी चली जाती है। आहा...हा...! भले ही पाँच-पच्चीस लाख इकट्ठे हुए हों, वे ढोर जैसे हैं। आहा...हा...! पशु कहा है।

व्रत की तप की शुभ क्रिया (और) भक्ति के परिणाम से अन्दर प्रभु आत्मा भिन्न है। आहा...हा...! व्रत के, तप के, शील के, दान के, दया के शुभपरिणामरूप चारित्र करने योग्य नहीं हैं - ऐसा कोई कहे, **उसी प्रकार वर्जन योग्य भी नहीं हैं..** ऐसा कोई कहे, उसका **उत्तर यह है...** सूक्ष्म बात है। भगवान क्या कहते हैं? देखो अब **वर्जन योग्य है।** यह शुभराग है। महाव्रत, बारह व्रत, भक्ति, पूजा, भगवान का स्मरण, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण यह सब राग हैं। आहा...हा...! यह धर्म नहीं हैं, यह चारित्र नहीं है, यह सम्यग्दर्शन नहीं है। आहा...हा...! सूक्ष्म है प्रभु!

कोई कहता है कि (यह शुभरागरूप) चारित्र करने योग्य भले ही नहीं है परन्तु वर्जन योग्य भी नहीं है। उसे **उत्तर यह है कि वर्जनयोग्य है...** आहा...हा...! क्यों? सूक्ष्म बात है प्रभु! सुनना कठिन पड़े ऐसी। बापा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह हुकम है, यह उपदेश है। आहा...हा...! कि इस शुभराग की जो चारित्र की क्रिया है, वह **व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है।...** प्रातःकाल यह निकाला था। आहा...हा...! 'तिरोधायी' में निकला। भाई! तिरोधाई है न? (समयसार श्लोक १०८)। प्रभु! सूक्ष्म बात है। अभी चलनेवाली बातों से दूसरी लगेगी प्रभु! आहा...हा...! यह क्रियाकाण्ड के जितने भाव हैं – व्रत के, तप के, भक्ति के, सामायिक के, प्रौषध, प्रतिक्रमण के, यह सब विकल्प राग हैं – शुभराग हैं। आहा...हा...! यह व्यवहारचारित्र है, वह आचरण करने योग्य नहीं है। प्रभु! आहा...हा...! परन्तु वर्जन करने योग्य भी नहीं है – ऐसा कोई कहे तो (कहते हैं कि) नहीं, वर्जन करने योग्य है। **क्योंकि यह व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है....**! आहा...हा...!

भगवान आत्मा अन्दर अमृत का सागर है। भगवान आत्मा! सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने देखा और कहा, वह तो अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है, कन्द है। अरे...रे...! कभी भी सुना न हो। ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का जो तत्त्व है प्रभु, उससे (विरुद्ध ऐसी) यह सब शुभभाव की क्रियाएँ सब दुष्ट है। आहा...हा...! यह 'कलश टीका' है! प्रातःकाल हाथ में नहीं आता था न? फिर दोपहर में देखा यह गया कहाँ? आहा...हा...! कठिन पड़ता है प्रभु! क्या करें? यह तो वीतराग तीन लोक के नाथ 'सीमन्धर भगवान' विराजते हैं, उनकी यह वाणी है! आहा....हा....!

कहते हैं कि दया, दान, व्रत, तप, अपवास, भक्ति, पूजा – यह शुभभाव धर्म तो नहीं, इसलिए आचरण योग्य नहीं हैं परन्तु वर्जन योग्य भी नहीं हैं – ऐसा कोई कहता हो तो (कहते हैं कि) वर्जन योग्य तो है। आहा...हा...! क्योंकि यह तो दुष्ट है। यह किस दिन सुनने मिले बापू! क्या करे? दुनिया की खबर है। आहा...हा...! कारण कि छयासठ वर्ष तो दुकान छोड़कर दीक्षा लिया हुए हो गये। इस शरीर को नब्बेवाँ वर्ष चलता है! बहुत प्रकार की पूरी दुनिया देखी है। आहा...हा...! प्रभु का मार्ग कहीं रह गया!

यहाँ तो कहते हैं आहा...हा... ! आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु के स्वभाव से... जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के शुभभाव हैं, यह शुभभाव है, वह दुष्ट हैं क्योंकि प्रभु के स्वभाव से... प्रभु अर्थात् आत्मा उसके स्वभाव से यह विरुद्ध हैं। प्रभु ! तुझे पता नहीं है। दुष्ट है। प्रात:काल यह कहना था। अनिष्ट है, यह इष्ट नहीं है। प्रभु ! क्या करे ? आहा...हा... ! अभी तो सम्प्रदाय में एक ही बात चलती है - व्रत करो और अपवास करो और यह करो और सामायिक करो, प्रौषध करो... अरे ! अभी समकित का ठिकाना नहीं हो, उसमें सामायिक आये कहाँ से ? अरे रे... ! क्या करें प्रभु !

तीन लोक के नाथ परमात्मा का यह हुक्म है कि व्यवहार क्रियाकाण्ड का जो शुभभाव है, वह समस्त ही **दुष्ट है, अनिष्ट है...** यह कहना था और **घातक है...** तीन शब्द प्रयोग किये हैं। कलश-टीका में एक १०८ (नम्बर का कलश है।) यहाँ तो हजारों लाखों शास्त्र देखे हैं न ? आहा...हा... ! परन्तु सब याद नहीं रह सकता। प्रात:काल याद नहीं आता था, कहा था कि इस ओर नीचे है। आहा...हा... ! क्या कहा प्रभु ? यह व्यवहारचारित्र जो है, वह **दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है; इसलिए....** कहना यह था **विषय कषाय की तरह क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है...** आहा...हा... ! जैसे विषय-कषाय का भाव अशुभ है - भोग का, विषय का, धन्धे का, दुकान में बैठकर पैसा-धन्धा सम्हालना यह सब पाप है। इसी प्रकार दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम भी उसी जाति के बन्ध के कारण है। आहा...हा... ! कठिन पड़ता है।

प्रभु ! तुझे अपनी प्रभुता का पता नहीं है। भाई ! आहा...हा... ! तुझमें तो अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान और अनन्त शान्ति का सागर छलाछल भरा है आहा...हा... ! भाई ! तेरा तत्त्व है, वस्तु है, पदार्थ है और पदार्थ वस्तु के स्वभाव से खाली नहीं होता। आहा...हा... ! प्रभु तेरे स्वभाव में तो इतना अनन्त आनन्द और शान्ति पड़ी है। आहा...हा... ! कि उसका कोई माप नहीं हो सकता - ऐसी वस्तु है। ऐसा जो आत्मद्रव्य-वस्तु है, उससे यह शुभराग (विरुद्ध जाति का है)। आहा...हा... !

(किसी को) कठोर लगे ऐसा है। दुनिया को जानते हैं बापा ! पूरे हिन्दुस्तान में दस-दस हजार मील घूमे हैं। यहाँ तो नब्बे वर्ष हुए। दुकान छोड़े ६७ वर्ष हुए। मैं तो दुकान

पर भी शास्त्र पढ़ता था, निवृत्ति थी। छोटी उम्र थी, ६५ की साल से पढ़ता था। अट्ठारह वर्ष की उम्र थी, अभी तो नब्बे हुए हैं। बहत्तर-तेहत्तर वर्ष हुए। आहा...हा...! यह चीज – भगवान की चीज कोई अलग चीज है।

कहते हैं कि व्यवहारचारित्र की जो क्रिया है, उसमें जो तुम धर्म मानते हो, वह **दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है...** तीन बात। एक बात हुई; और **विषय कषाय की तरह...** आहा...हा...! है? **विषय कषाय की तरह क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है...** अशुभभाव की तरह निषिद्ध है। प्रभु! यह शुभभाव भी निषिद्ध है। यह कोई जन्म-मरण का अन्त लाये ऐसी चीज नहीं है। यह तो संसार है। आहा...हा...!

श्रोता : आत्मा में रह नहीं सकते...!

पूज्य गुरुदेवश्री : रह नहीं सकते (और) आता है तो बन्ध का कारण है संसार।

श्रोता : कोई इससे सरल मार्ग बताओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर में जाना यह मार्ग है। आहा...हा...! सरल माने विपरीत वह सरल कहलाता है? करोड़ रुपयेवाले को चार आना कहना कि यह सरल है। तुम चार आनेवाले हो यह सरल है? यह (बात) ठीक है? वस्तु की स्थिति जो भगवान सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा ने कही है, उससे दूसरे प्रकार से कहना, वह सरल कहलाता है? (वह तो) विपरीत कहलाता है। कुछ समझ में आया? सवेरे यह शब्द कहना थे।

यहाँ तो वहाँ तक लिया है कि **विषय कषाय की तरह क्रियारूप चारित्र...** यह दया, दान, व्रत, भक्ति, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, पञ्च महाव्रत के परिणाम, बारह व्रत के परिणाम... (विषय कषाय जैसे ही हैं)। भगवान! कठिन पड़ेगा बापू! आहा...हा...! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की यह आज्ञा है – यह हुकम है। आहा...हा...! अरे रे..! सुनने मिलता नहीं, वह कब समझे और कब रुचि करे? बापू! आहा...हा...! अरे...रे...! जन्म-मरण का फेरा, चौरासी का अवतार... प्रभु! सुने नहीं जायें, ऐसे अनन्त भव किये हैं। आहा...हा...! इस मिथ्यात्व के कारण। इस शुभ क्रिया में धर्म मानना वह मिथ्यात्व है।

श्रोता : तप से निर्जरा कही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तप, वह कौन सा तप? यह नहीं, यह सब तो लंघन है। सम्यग्दर्शन, आत्मा का अनुभव; आत्मा के आनन्द का अनुभव हो, उस अनुभव के आनन्द में उग्र आनन्द का अनुभव करे, उसे तप कहते हैं। बापू! जगत् से जुदी व्याख्या है। नाथ! आहा...हा...! दुनिया का सब पता है, हमने लाखों लोगों को देखा है, लाखों लोग परिचय में आये हैं। आ...हा...! प्रभु! मार्ग कोई अलग है। आहा...हा...! ऐसा है। अभी इसे सुनने को नहीं मिलता। ५०-६०-७० वर्ष यों के यों ही चले जाते हैं। आहा...हा...!

यहाँ प्रभु कहते हैं कि **विषय कषाय की तरह क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है...** सवेरे इतना कहना था। जैसे विषय कषाय का भाव अशुभ है, वैसे यह दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव शुभ है। दोनों विकार, दोनों दु:खरूप और दोनों बन्ध का कारण है। आहा...हा...! प्रभु! इन शुभ-अशुभ परिणाम से भिन्न है। अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु सच्चिदानन्द प्रभु जो परमेश्वर, जिनेश्वर द्वारा कथित है, जिनेश्वर के सिवाय लोग आत्मा... आत्मा... करते हैं, वह किसी ने जाना नहीं है और जाने बिना बात करते हैं, अन्यमत में बहुत अधिक आत्मा... आत्मा... तो करते हैं। वेदान्त में आत्मा की बहुत बात चलती है। यह तो जिनेश्वर, परमेश्वर, सर्वज्ञ एक समय में तीन काल और तीन लोक का ज्ञान जिन्हें प्रत्यक्ष हुआ है - ऐसे तीन लोक के नाथ की यह आज्ञा है, यह उपदेश है, यह हुकम है। आहा...हा...! यह मार्ग सरल है। विपरीत कहना यह सरल है?

श्रोता : दर्शन-ज्ञान-चारित्र में चारित्र तो कहा है?

समाधान : चारित्र (अर्थात्) यह अन्दर आया वह। अन्दर स्थिरता! यह शब्द आज लिया था। इस कलश टीका में चौतीसवें पृष्ठ पर है। देखो, इकतीसवाँ कलश **भावार्थ ऐसा है कि मिथ्यात्व परिणति का त्याग होने पर....** यह व्यवहार की दया, दान की क्रिया राग है, धर्म नहीं, पुण्य है और इसमें धर्म मानना, वह मिथ्यात्व, अज्ञान, अनन्त संसार का कारण है। आहा...हा...! अर...र...र...र...! प्रभु... प्रभु...! कठिन पड़ता है भाई! यहाँ मुझे दूसरा कहना है, उसमें तीनों ही समाहित हैं - ऐसा कहना है। भाई! कलश टीका में है। **मिथ्यात्व परिणति का त्याग होने पर शुद्धस्वरूप का अनुभव होने पर साक्षात् रत्नत्रय घटित होता है...** दूसरे बहुत दृष्टान्त हैं - इसमें आठवें पृष्ठ

पर है, ९५ पृष्ठ पर है, तीन पृष्ठों पर यह बात है परन्तु यह अधिक स्पष्ट है। आहा...हा...! भगवान आत्मा, सच्चिदानन्द शुद्ध चैतन्य प्रभु को पुण्य-पाप के भाव से भिन्न अनुभव करना। आहा...हा...! ऐसा जो भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, सिद्ध स्वरूपी प्रभु स्वभाव से-शक्ति से है... आहा...हा...! उसे अन्तर सन्मुख होकर अनुभव करना, यह अनुभव होने पर मिथ्यात्व का नाश होता है, आहा...हा...! है ? **मिथ्यात्व परिणति का त्याग होने पर शुद्धस्वरूप का अनुभव होने पर साक्षात् रत्नत्रय घटित होता है।...** भाई! यह तो जरा स्वरूपाचरण का साथ ही आया है। आहा...हा...!

मिथ्यात्व-विपरीत मान्यता में अनन्त संसार में मुनि भी अनन्त बार हुआ। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो' इस ग्रीवा की जगह नौवें ग्रैवेयक है। भगवान ने केवलज्ञान में चौदह राज लोक - इस ब्रह्माण्ड को असंख्यात प्रदेशी लोक के आकार से देखा है। लोक की ग्रीवा है, उस ग्रीवा के स्थान में ग्रैवेयक है - नौ ग्रैवेयक है। वहाँ साधु होकर अनन्त बार जीव हो आया है। ऐसे पञ्च महाव्रत तो अभी हैं भी नहीं। ऐसे पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति शुभभाव की क्रिया इतनी की इसकी चमड़ी उतार कर नमक छिड़क दे तो भी क्रोध नहीं करे, परन्तु सम्यग्दर्शन क्या चीज है ? - उसका पता नहीं है। आहा...हा...! शुभक्रिया से धर्म होता है (ऐसा नहीं है)।

अन्दर भगवान आत्मा शुभभाव से भिन्न पड़ा है। महा चिद्घन है, आनन्दकन्द है, उसकी दृष्टि और अनुभव होने पर मिथ्यात्व का नाश होता है, उसे साक्षात् रत्नत्रय घटित होता है। यहाँ तो (यह कहना है कि) उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और स्वरूपाचरण की स्थिरता का अंश - चारित्र का अंश, वहाँ साथ ही है। आहा...हा...! बापू कठिन बात है! अरे, इसमें समय कहाँ मिलता है ? एक ओर पूरे दिन दस-बारह घण्टे धन्धा, छह-सात घण्टे नींद में जायें, दो-चार घण्टे स्त्री-पुत्रादिक को प्रसन्न रखने में जायें। अर...र...र! अकेले पाप में जिन्दगी (पूरी हो जाती है)। यहाँ तो कहते हैं कि यह पाप छोड़कर कदाचित् दया, दान, व्रत के पुण्य में आ गया... आहा...हा...! तो भी वह संसार है। बापू! उसे तू धर्म मानेगा तो मिथ्यात्व है और वह मिथ्यात्व अनन्त संसार में परिभ्रमण का कारण है। आहा...हा...! यहाँ तो इतना (बताना है कि) आठवें पृष्ठ पर है और पिच्यानवेवें पृष्ठ पर है। यहाँ लिखा

है परन्तु तीनों में यह अधिक मुख्य है। आहा...हा... ! इकतीसवाँ कलश है, कलश-टीका है। ऐसे तो हजारों शास्त्र देखे हैं न ?

श्रोता : पञ्चम काल में अनुभव तो हो सकता है !

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कहता है कि नहीं हो सकता ? पञ्चम काल में आत्मा है या नहीं ? काल किसे रोकता है ?

आहा...हा... ! आनन्दकन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर है। प्रभु ! तूने सुना नहीं है। आहा...हा... ! यह भगवत् स्वरूप है ! 'घट-घट अन्तर जिन वसै, घट-घट अन्तर जैन' बापू ! प्रभु ! आचार्य तो भगवान कहकर ही बुलाते हैं, भले ही तू पर्याय में पामर है परन्तु तेरी वस्तु तो भगवान है। बापू ! तुझे पता नहीं है और यदि आत्मा भगवन्तस्वरूप न हो तो पर्याय में केवलज्ञान भगवन्त कहाँ से लायेगा ? कहाँ से आयेगा ?

परमात्मा केवलज्ञान को प्राप्त हुए। भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। अभी समवसरण में विराजते हैं, उपदेश चलता है। इन्द्र और सिंह और बाघ और गणधर सभा में सुनते हैं आहा...हा... ! सीमन्धर प्रभु आदि परमात्मा महाविदेह में विराजमान हैं। यह सामायिक करते हुए आज्ञा नहीं लेते ? कहाँ इसे सामायिक का भी कहाँ पता है और आज्ञा का भी कहाँ पता है ? इन परमात्मा के पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। संवत् ४९ में, दो हजार वर्ष हुए, आठ दिन वहाँ रहे थे। भगवान को तो सीधे सुना था, साक्षात् समवसरण में प्रभु विराजमान हैं, अभी हैं। वे तो जब यहाँ बीसवें मुनि सुव्रत भगवान हुए, तब से प्रभु सीमन्धर स्वामी का जन्म है और यहाँ आगामी चौबीसी के तेरहवें तीर्थङ्कर होंगे, तब (सीमन्धर परमात्मा सिद्ध होंगे)। अभी प्रभु 'णमो अरिहंताणं' अरहन्त पद में हैं। चार (घातिकर्म) नष्ट हुए हैं, चार (अघातिकर्म) शेष हैं। आगामी तेरहवें तीर्थङ्कर के समय चार कर्मों का नाश करके सिद्ध होंगे - णमो सिद्धाणं ! जैसे अभी चौबीस तीर्थङ्कर सिद्ध में मिल गये हैं, अभी अरहन्त में नहीं हैं। ऋषभदेव, महावीर आदि यहाँ विराजते थे, तब अरहन्त पद में थे। अभी णमो सिद्धाणं में हैं। इसी प्रकार (सीमन्धर) प्रभु विराजमान हैं, वे अरहन्त पद में हैं और आगामी चौबीसी के तेरहवें तीर्थङ्कर के काल में सिद्ध हो जानेवाले हैं। णमों

सिद्धाणं में जानेवाले हैं आहा...हा...! अरे...रे...! यह कैसे बैठे? उनके पास प्रभु कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, उनकी यह वाणी है।

अब हम (प्रवचनसार का) चलता अधिकार लेते हैं। **जैसे द्रव्यस्थानीय...** बापू! सूक्ष्म बात है, ध्यान रखना समझ में आवे ऐसा है। बापू! न समझ में आवे ऐसा कुछ नहीं है। अरे... प्रभु! अन्दर में केवलज्ञान का कन्द है न? आहा...हा...! क्या कहते हैं? है नीचे? **जैसे द्रव्यस्थानीय (द्रव्य के समान)....** जैसे आत्मा द्रव्य है, परमाणु द्रव्य है (ऐसे) छह द्रव्य हैं। भगवान ने केवलज्ञान में छह द्रव्य देखे हैं। परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ने छह द्रव्य देखे हैं। आत्मा-जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल - यह छह द्रव्य देखे हैं। उनमें आत्मा अनन्त है, परमाणु उनसे अनन्त गुना है, कालाणु असंख्य है, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश एक-एक है। इस प्रकार भगवान ने ज्ञान में छह द्रव्य देखे हैं। इन द्रव्य के स्थान का यहाँ दृष्टान्त है।

द्रव्य उसे कहते हैं कि **(...द्रव्य के समान द्रव्य के दृष्टान्तरूप) स्वर्ण, पीलापन इत्यादि गुणों को...** यह सोना! सोना है न सोना! वह **पीलापन इत्यादि गुणों और कुण्डल इत्यादि पर्यायों को प्राप्त करता है।...** सोना अपने गुण और पर्यायों को प्राप्त करता है, गुण और पर्यायों को पहुँचता है। आहा...हा...! कड़क बात है प्रभु! क्या कहते हैं? यह सोना जो है; उसमें पीलापन, चिकनापन, आदि अनन्त गुण हैं, उन्हें यह द्रव्य पहुँचता है। और इसकी वर्तमान अवस्था होती है, उसे यह द्रव्य प्राप्त करता है। स्वर्णकार से यह कड़ा इत्यादि की अवस्था हुई है, इससे यहाँ इनकार करते हैं। आहा...हा...! ऐसा काम है।

यह **(स्वर्ण) उनके द्वारा (पीलापन आदि गुण और कुण्डलादि पर्यायों द्वारा) प्राप्त किया जाता है, पहुँचा जाता है, इसलिए द्रव्य स्थानीय स्वर्ण अर्थ है...** इसलिए द्रव्य स्थानीय स्वर्ण है, उसे अर्थ कहा जाता है। क्यों उसे - सोने को कहा जाता है? (क्योंकि) वह अपने गुण और पर्यायों को (प्राप्त करता है)। गुण अर्थात् कायम रहनेवाले पीलापन चिकनापन वजन और पर्याय अर्थात् कुण्डल, कड़ा इत्यादि बदलती अवस्था। ऐसी शक्ति और अवस्था को वह सोना प्राप्त करता है अथवा उन पर्यायों द्वारा,

गुणों द्वारा द्रव्य प्राप्त होता है, इसलिए द्रव्य स्थानीय यहाँ सोना कहा गया है। समझ में आया? **द्रव्य स्थानीय स्वर्ण अर्थ है...** आहा...हा...! ऐसा सुनना (कठिन पड़ता है)। पहले तो मिच्छामि दुक्खणं (सरल पड़ता था)। अप्पाणं क्या कहलाता है और वोसरे क्या कहलाता है? इसका भी पता नहीं। गाड़ी हाँकी और हो गयी सामायिक! आहा...हा...! प्रभु मार्ग अलग है बापा! जिनेश्वर वीतराग....! आहा...हा...!

दुनिया में चतुर होकर घूमता है, कुछ पाँच-पचास लाख की धूल मिले (इसलिए हो गया)। गोवा के (एक भाई के पास) दो अरब चालीस करोड़ रुपया! अभी पौने दो वर्ष हुए मर गये। लड़का है, वह आया था। अभी हम मुम्बई थे, तब लड़का दर्शन करने आया था। दो अरब चालीस करोड़! दशाश्रीमाली बनिया है। जोरावर नगर में उनका मकान है। दो अरब और चालीस करोड़ धूल है। आहा...हा...! पौने दो बरस पहले उसकी बहू को हेमरेज हो गया था, वहाँ चालीस लाख का बंगला-मकान है, दस-दस लाख के दूसरे दो बंगले हैं। गोवा में है, अपना दशाश्रीमाली बनिया है।

यहाँ तो सब देखा है बापा! आहा...हा...! दुकान पर थे तब सब (देखा है)। सत्रह वर्ष की उम्र थी। पिताजी संवत् ६३ की साल में स्वर्गस्थ हो गये थे। संवत ५९ में गये थे, इस देह का जन्म उमराला में हुआ है न? यह उमराला यहाँ से ग्यारह मील है, दुकान पालेज में है। ५९ की साल में गये थे, पिताजी ६३ में स्वर्गवासी हुए, तब मेरी उम्र सत्रह वर्ष की थी। मैंने सत्रह से बाईस ऐसे पाँच वर्ष भागीदारी में दुकान चलायी थी, बड़ी दुकान है, चालीस लाख रुपये हैं, पालेज में अभी दुकान है, चार लाख की आमदनी है। उस समय की यह मेरे हाथ की दुकान है, धूल की... धूल की... आहा...हा...! यह धूल - मिट्टी है, पुद्गल है... पुद्गल! यह प्रभु नहीं, आत्मा नहीं भाई! इस अजीव को जीव स्वयं निज मानता है, यह महा मिथ्यात्व है। अजीव को जीव माने (यह मिथ्यात्व है)। प्रतिक्रमण में पच्चीस (प्रकार के) मिथ्यात्व में आता है - अजीव को जीव माने वह मिथ्यात्व है। परन्तु किसे खबर है? गड़िया हाँके जाये। अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व, जीव को अजीव माने तो मिथ्यात्व; कुसाधु को साधु माने तो मिथ्यात्व, साधु को कुसाधु माने (तो मिथ्यात्व)। अभी साधु का पता नहीं पड़ता, साधु किसे कहें बापू! अभी

सम्यग्दर्शन क्या है ? इसका भी पता नहीं है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं **स्वर्ण अर्थ है....** क्यों ? सोने को अर्थ क्यों कहते हैं ? क्योंकि अपने गुण-पर्याय को पहुँचता है और गुण-पर्यायों द्वारा प्राप्त होता है इसलिए। इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा और परमाणु को अर्थ क्यों कहते हैं ? प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु को परमात्मा अर्थ कहते हैं। क्यों ? (क्योंकि) प्रत्येक द्रव्य-आत्मा और परमाणु अपने गुण-पर्याय को पहुँचता है और गुण-पर्याय द्वारा पहुँचा जाता है। आहा...हा... ! बापा ! कठिन बात है ? एक तो सोना कुण्डल और कड़े की पर्याय को पहुँचता है, वह सोनी से नहीं, ऐरन से नहीं। बापा ! वह स्वतन्त्र द्रव्य है। इसी प्रकार यह भगवान आत्मा और यह परमाणु... यह जो अवस्था है, यह देखो ! यह अवस्था परमाणु की, जड़ की अवस्था है; यह मिट्टी की अवस्था है। इस अवस्था के परमाणु पहले धूलरूप थे फिर यह परमाणु गेहूँरूप हुए, फिर ये परमाणु आटारूप हुए, फिर यह परमाणु रोटीरूप हुए, यह परमाणु अभी खूनरूप हुए हैं। परमाणु कायम रहनेवाले हैं और यह अवस्थाएँ बदलीं हैं। आ....हा... ! इन अवस्थाओं को परमाणु प्राप्त करता है, आत्मा नहीं।

यह हाथ हिलता है, इसकी अवस्था को यह परमाणु प्राप्त करते हैं और इस पर्याय से यह द्रव्य है - ऐसा ज्ञात होता है। आत्मा इस पर की - शरीर की पर्याय को करे, (ऐसा नहीं है।) आहा...हा... ! काम बहुत कठिन है ! इस प्रकार इस स्वर्ण को अर्थ कहा गया है। इसी तरह प्रत्येक द्रव्य को (अर्थ कहा जाता है)। यह अन्त में कहेंगे। **इसी प्रकार अन्यत्र भी है** - कहेंगे। यह अन्तिम शब्द है। यह तो दृष्टान्त देकर कहते हैं। गाथा कल हो गयी थी। बात ऐसी कठिन है बापा ! वीतराग मार्ग, परमेश्वर वीतराग, त्रिलोकनाथ जिनेश्वर का मार्ग, अभी तो उलटे रास्ते चढ़ा दिया है। आहा...हा... !

श्रोता : उल्टे चढ़ा था, वहाँ से वापस हटाया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा... ! जैसे सोना अपने पीलापन, चिकनापन गुण को प्राप्त करता है और कुण्डल, कड़े की अवस्था होती है, उसे सोना प्राप्त करता है। सोनी से नहीं, ऐरन से नहीं, हथोड़ा से नहीं आहा...हा... ! यह जो सोने की कुण्डल, कड़े की पर्याय हुई है, वह द्रव्य को प्राप्त करती है अर्थात् उनका लक्ष्य द्रव्य पर जाता है। यह पर्याय

किसकी ? कि इस द्रव्य की है। यह पर्याय पर के कारण हुई है और पर की है – ऐसा नहीं है। अरे... अरे... आ...हा... !

यह होंठ हिलते हैं, यह मिट्टी है, यह पुद्गल परमाणु है। यह होंठ ऐसे... ऐसे... हिलते हैं, इस अवस्था को वे जड़-परमाणु पहुँचते हैं; आत्मा के कारण यह होंठ हिलते हैं – ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं है। अर...र...र... ऐसा बैठना ! समझ में आया कुछ ?

यह आँख जो ऐसे... ऐसे.... होती है, वह परमाणु हैं उनकी यह पर्याय है। वे परमाणु अपनी इस पर्याय को प्राप्त करते हैं और इस पर्याय द्वारा यह परमाणु हैं, यह ज्ञात होता है परन्तु ऐसे... ऐसे... हो, उस पर्याय को आत्मा करता है, ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम ! वीतराग का मार्ग ऐसा होगा ?! हमने तो यह सुना है कि छह काय की दया पालना, व्रत पालना, रात्रि भोजन नहीं करना, पानी नहीं पीना, छह पर्वों में ब्रह्मचर्य पालना, कन्दमूल नहीं खाना... अरे प्रभु ! यह सब बातें राग की क्रिया की बातें हैं। आहा...हा... !

भगवन्त ! तुझे तेरे स्वरूप की महत्ता और महात्म्य नहीं है। अन्दर यह प्रभु आत्मा कौन है ? यह तो वर्तमान इसकी जो पर्याय-अवस्था है, उस पर इसकी नजर है परन्तु यह जो पर्याय पलटती है, उसके साथ अन्दर में ध्रुव भगवान ध्रुव है, नित्य है। प्रभु ! इसे देखने के लिए किसी दिन निवृत्त नहीं हुआ। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं जैसे स्वर्ण अर्थ के स्थान पर है; उसी प्रकार द्रव्य, गुण-पर्याय को प्राप्त करता है अथवा गुण-पर्याय द्वारा प्राप्त होता है; इसलिए उस द्रव्य को अर्थ स्थानीय कहा जाता है। द्रव्य-आत्मद्रव्य अथवा परमाणु को अर्थ कहते हैं। अरे... अरे... ! ऐसी बातें ! नया सुनने आया हो (उसे घर पर कोई पूछे कि) तुमने क्या सुना ? कौन जाने क्या कुछ कहते हैं... यह द्रव्य इसे प्राप्त करता है और यह करता है...। अरे... प्रभु ! अरे... ! प्रभु की वाणी तो यह है बापा ! आहा...हा... !

(यहाँ पर) स्वर्ण आया न ? अब गुण आये। गुण और पर्याय। **जैसे पीलापन इत्यादि को स्वर्ण को आश्रय के रूप में प्राप्त करते हैं-पहुँचते हैं अथवा (वे) आश्रयभूत स्वर्ण द्वारा प्राप्त किये जाते हैं....** सोने से वे गुण ज्ञात होते हैं और उन गुणों

द्वारा वह सोना है – ऐसा ज्ञात होता है। (इस प्रकार) वह **प्राप्त किये जाते हैं-पहुँचे जाते हैं; इसलिए पीलापन इत्यादि गुण अर्थ...** कहलाते हैं।

इसलिए सोने को क्यों अर्थ कहा? क्योंकि गुण पर्याय को प्राप्त करता है और गुण पर्याय द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए उसे अर्थ कहते हैं। अब गुण को अर्थ क्यों कहा? (क्योंकि) द्रव्य गुण को प्राप्त करता है और गुण द्वारा द्रव्य प्राप्त किया जाता है; इसलिए गुण को भी अर्थ कहा जाता है। यह अर्थ अर्थात् यह पैसा नहीं। धर्म, अर्थ और काम – तीन नाम नहीं आते? धर्म अर्थात् पुण्य; अर्थ अर्थात् पैसा; काम अर्थात् विषयभोग। आहा...हा...!

इसलिए पीलापन इत्यादि गुण अर्थ हैं... इस प्रकार यह आत्मा हैं। इसमें ज्ञान-दर्शन आनन्द (आदि) त्रिकाली गुण हैं। उन गुणों को यह आत्मा प्राप्त करता है और उन गुणों द्वारा यह आत्मा ज्ञात होता है कि यह गुण इसके हैं। आहा...हा...! यह तो अभी ठीक! पर्याय में जरा सूक्ष्म आयेगा। आहा...हा...!

और जैसे, कुण्डल इत्यादि पर्यायें.... स्वर्ण में से जो कुण्डल, कड़ा, अँगूठी होती है, वह **स्वर्ण को क्रमपरिणाम से प्राप्त करती है...** स्वर्ण को क्रमपरिणाम से वह पर्याय प्राप्त करती है। आहा...हा...! वह कुण्डल, कड़े की पर्याय, सोने द्वारा होती है और उस पर्याय द्वारा सोना ज्ञात होता है कि यह पर्याय इस स्वर्ण की है। वह पर्याय सोनी से होती है – ऐसा नहीं है। अर...र...! ऐसी बातें! भाई! भगवान का मार्ग बहुत सूक्ष्म है! प्रवर्तमान प्रवाह से दूसरा लगता है परन्तु तीनों काल परमात्मा का मार्ग तो यह एक ही है। 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ', भगवान त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह एक ही मार्ग है।

(यहाँ पर) पर्याय में क्या कहा? कि सोना है, वह कुण्डल, कड़े की पर्याय को पहुँचता है, स्वर्णकार नहीं। इसी प्रकार उन कुण्डल, कड़ा की पर्याय से यह सोना है – ऐसा ज्ञात होता है। इसी प्रकार इस आत्मा की जो विकारी या अविकारी पर्याय है, उसे यह आत्मा पहुँचता है, कर्म के कारण विकार होता है और कर्म के अभाव कारण सम्यग्दर्शन होता है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

फिर से – आत्मा में जो मिथ्यात्व और सम्यग्दर्शन की पर्याय होती है, उस पर्याय को वह द्रव्य पहुँचता है; द्रव्य प्राप्त करता है, द्रव्य पाता है। आहा...हा...! मिथ्यात्व को दर्शनमोह का उदय है, इसलिए मिथ्यात्व पाता है – ऐसा नहीं है। कर्म अलग वस्तु है – जड़ है, वह तो मिट्टी सूक्ष्म धूल है। जैसे यह धूल है, वैसी वह धूल है।

लोगस्स में 'विह्मरयमला' आते हैं। उसकी भी इसे कहाँ खबर है? लोगस्स में विह्मरयमला आते हैं – हे नाथ! हे परमात्मा! आप 'विह्म' (अर्थात्) विशेष 'ह्म' धूई अर्थात् जैसे धूल चिपकी हो और पंखा उसे गिरा देता है, उसी प्रकार हे नाथ! आपने रज–कर्म की रज को नष्ट कर दिया है। रह्मयमला है न? और मल अर्थात् हे नाथ! आपने मल अर्थात् पुण्य और पाप, शुभ–अशुभभाव मल थे, आठ कर्म की रज थी, और यह मल थे; आपने दोनों को अभाव किया है। आहा...हा...! अर्थ का किसे पता है? जय नारायण (करके चले जाते हैं)! एक घण्टा मुश्किल से कटता है... जय महाराज! सामायिक की, प्रौषध किया... आहा...हा...! बापू! यह वचन अलग हैं भाई! वे लोग उल्टी–सीधी प्ररूपणा करते हैं... जय नारायण! जय... जय... वचन प्रमाण! खबर ही नहीं है – सत्य प्रमाण किसे कहना? पागल की तरह! दुनिया पागल है। आहा...हा...!

देखा? कुण्डल–कड़े की पर्याय को सोना पहुँचता है। है? **अथवा (वे) स्वर्ण के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त की जाती हैं...** उस पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है और उस पर्याय से द्रव्य प्राप्त किया जाता है। वह पर्याय ऐसा बतलाती है कि यह सोना द्रव्य है, उसकी यह पर्याय है। आहा...हा...! इस प्रकार यह परमाणु – शरीर, मिट्टी, धूल है। उसकी जो यह हिलने की अवस्था होती है, उसे – इसकी पर्याय को, इसके परमाणु हैं, वे पहुँचते हैं; आत्मा को नहीं और उस पर्याय द्वारा यह परमाणु हैं – ऐसा ज्ञात होता है। उस पर्याय द्वारा अन्दर आत्मा हिलाता है, इसलिए हिलती है – ऐसा ज्ञात नहीं होता। आहा...हा...! ऐसी बातें! एक घण्टे में कितनी बातें? सब फेरफारवाली बातें!

यहाँ तो सारी दुनिया को जानते हैं न? चालीस–चालीस हजार लोगों के बीच व्याख्यान दिये हैं। सम्प्रदाय में तीन–तीन हजार लोगों के बीच (व्याख्यान दिया है)। राजकोट में संवत् ८९ के साल, ४६ वर्ष पहले ८९ का चातुर्मास राजकोट में था, बाहर

स्थानकवासी की भोजनशाला है न? तीन-तीन हजार लोग! ८९ के साल! डेढ़ घण्टे पहले तो गाड़ियों की भीड़ जम जाये, ८९ की बात है! राजकोट, जामनगर, पोरबन्दर सब जगह (व्याख्यान) किये हैं न? आहा...हा...! बापू! यह वस्तु अलग है!

जैसे यह सोना अपनी पर्याय को पहुँचता है और पर्याय सोने को पहुँचती है, यह पर्याय ऐसा ज्ञान कराती है कि यह सोना-द्रव्य की है। इसी प्रकार यह पर्याय स्वर्णकार ने की है - ऐसा ज्ञात नहीं होता, यह कहते हैं। आहा...हा...!

श्रोता : गहने तो किसी बहिन के होते हैं, पुद्गल के होते हैं?!

समाधान : महिला के गहने हैं ही नहीं। आत्मा स्वयं भी महिला नहीं है। आहा...हा...! स्त्री तो इस शरीर को कहा जाता है। यह पुरुष का शरीर और इसकी इन्द्रियाँ आदि और स्त्री के अवयव को - इस सब - जड़ मिट्टी-धूल को स्त्री और पुरुष कहते हैं। प्रभु! आत्मा, स्त्री-पुरुष नहीं हैं। आहा...हा...! अरे...रे...! इस शरीर के जो सभी अवयव हैं, उनकी पर्याय को यह परमाणु पहुँचते हैं, आत्मा से नहीं। अर...र...र...र...! ऐसी बातें प्रभु! स्त्री-पुरुष यह आत्मा नहीं हैं। यह तो जड़ की अवस्था का वर्णन है। प्रभु! स्त्री-पुरुष की जो देह की अवस्था है, वह उसके जो पुद्गल परमाणु हैं, वह उसकी पर्याय को पहुँचते हैं। भगवान आत्मा ने उस पर्याय को किया नहीं है। आहा...हा...! पुरुष की इन्द्रियों का आकार, स्त्री की इन्द्रियों के आकार को पुद्गल ने किया है, आत्मा ने नहीं। अन्दर भगवान पृथक् है और यह सब पृथक् वस्तुएँ हैं।

आत्मा अपने राग को (अथवा) सम्यग्दर्शन को पहुँचता है - अपनी पर्याय को (पहुँचता है) और राग तथा सम्यग्दर्शन द्वारा यह आत्मा है - ऐसा ख्याल में आता है। यह पर्याय इस द्रव्य की है - ऐसा ख्याल में आता है परन्तु यह पर्याय परद्रव्य की है, कर्म के कारण जीव में विकार हुआ है - बिलकुल झूठ है। आहा...हा...! ऐसी बातें! फुरसत कहाँ है? सत्य क्या है असत्य क्या है? हम क्या मानते हैं और परमात्मा क्या करते हैं? - इसकी तुलना करने का समय ही नहीं मिलता। आहा...हा...! और इन सबके सिर पर बैठे हुए बेचारे साधु की दृष्टि भी मिथ्यादृष्टि है! और यह बातें किया करते हैं - दया पालो, व्रत करो, यह करो, वह करो...!

(यहाँ) यह कहते हैं कि मिथ्यात्व की पर्याय को, विपरीत मान्यता की दशा को आत्मा प्राप्त करता है अथवा सम्यग्दर्शन की पर्याय अर्थात् राग से भिन्न मेरी वस्तु है। मैं शुद्ध चैतन्य आनन्द का वेदन करनेवाला हूँ - ऐसा जो सम्यग्दर्शन - इस सम्यग्दर्शन की पर्याय को आत्मा प्राप्त करता है और पर्याय द्वारा यह आत्मा है - ऐसा ज्ञात होता है। पर्याय द्वारा आत्मा है, यह ज्ञात होता है। यह पर्याय आत्मा की है, ऐसा ज्ञात होता है। यह पर्याय पर से हुई है - ऐसा नहीं। अब ऐसी बातें हैं। यह किस प्रकार की बातें हैं? बापू! वीतरागमार्ग बहुत अलग प्रकार का है भाई! जिनेश्वरदेव परमात्मा विराजमान हैं। महाविदेह में साक्षात् समवसरण में विराजमान हैं। आहा...हा...! उनकी यह वाणी है। आ...हा...! जगत् को बैठना कठिन पड़ता है भाई! आहा...हा...! क्या कहा?

कुण्डल इत्यादि पर्यायें स्वर्ण को क्रम परिणाम से.... क्रम परिणाम (कहा है)। देखा! क्रम-क्रम से! स्वर्ण की पर्याय होती है, वह क्रमसर-क्रमबद्ध होती है, आगे-पीछे नहीं होती। आहा...हा...! स्वर्ण में जब कुण्डल होना हो, तब होता है, अँगूठी होना हो तब होती है, कड़ा होना हो तब होता है। उस काल में क्रमशः होनेवाली उस पर्याय को स्वर्ण पहुँचता है। सोनी को ऐसा लगता है कि इसका कड़ा बनाता हूँ, इसलिए बनता है; इसको अँगूठी बनाता हूँ, इसलिए अँगूठी होती है, इससे यहाँ इनकार करते हैं। प्रभु! आहा...हा...! यह ऐसा किस प्रकार का उपदेश है?! यह जैन परमेश्वर का होगा?! यहाँ तो हम पचास-साठ वर्ष से सुनते हैं कि यह व्रत करो, तप करो, भक्ति करो... यह फिर नया कहाँ से निकाला?! अरे भगवान!

श्रोता : पुण्य का योग हो तब ऐसा सुनने को मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...! बापू भाग्य के बिना ऐसी बात कान में पड़ना मुश्किल है। बापू! वे पैसेवाले भाग्यवान् कहलाते हैं न? वे सब तो भाँगशाली हैं! ऐसी सत्य बात कान में पड़ना, वह भाग्यशाली है।

अभी मुम्बई में (एक भाई) दर्शन करने आये थे, पचास करोड़! वैष्णव हैं। उनके घर में स्त्रियाँ जैन श्वेताम्बर और आदमी सब वैष्णव। आये थे, दर्शन करने आये थे। घर ले गये थे। महाराज! चरण करोगे? महिलाएँ श्वेताम्बर जैन थीं न? (इसलिए कहा)

महाराज ! मुझे माङ्गलिक सुनाओ ! घर गये थे । यहाँ आये तब हजार रुपये दिये थे । घर गये तब, पन्द्रह सौ रुपये ज्ञान खाते में दिये थे । यहाँ ज्ञान खाता है न ? उस खाते में । परन्तु यह सब बाहर की बातें हैं । आहा...हा... ! फँस गये हैं । पचास करोड़ रुपये ! हांगकांग में दुकानें, मुम्बई में दुकानें, यहाँ-वहाँ दुकानें... धूल में है । ऐसे मुनीम ! पचास करोड़ के अनुसार उन्हें अलग-अलग प्रकार की दुकानें भी होंगी न ? अन्तरदाह सुलगती है ! दुनिया ऐसा मानती है कि यह सुखी है । आहा...हा... ! यह सब दुःखी हैं । भगवान तो ऐसा कहते हैं कि यह सब करोड़पति, अरबोंपति, देव... ऐसा पाठ है कि वरांका... वरांका... - भिखारी है - ऐसा कहा है । भिखारी है, क्योंकि माँगते हैं । माँगनेवाले हैं - पैसा लाओ, मान-प्रतिष्ठा लाओ, स्त्री लाओ, पुत्र लाओ... कितना माँगते हैं ? कितना माँगता है प्रभु तू ? तुझमें अनन्त गुण भरे हैं । आनन्द और शान्ति है, उसे तो तू अन्दर देखना चाहता नहीं और धूल को लाओ, पैसा लाओ, पाँच हजार का वेतन हो तो कहता है दस हजार का करो ! बड़े अधिकारी, महा भिखारी है । आहा...हा... !

यह तो दरबार आते थे, उन्हें भी कहा था न ? भावनगर दरबार आये थे न ? करोड़ रुपये की आमदनी है ? कृष्णकुमार नाम था, मर गये हैं । यहाँ तो सब आते हैं । करोड़पति आते हैं, अरबोंपति आते हैं और राजा भी आते हैं । मैंने कहा था रंक-भिखारी हैं ! महीने में पाँच लाख माँगे तो भिखारी है और करोड़ माँगे तो बड़ा भिखारी है । (ऐसा सुनकर कहते थे) सत्य बात है महाराज ! हमें कहाँ उनसे पैसा लेना है कि उन्हें प्रसन्न करें ! कृष्णकुमार भावनगर के दरबार स्वर्गस्थ हो गये हैं । उनका लड़का है, वह भी व्याख्यान में आया था । आहा...हा... ! बेचारा भिखारी है । कुछ पता नहीं है - आत्मा क्या है ? और पर्याय क्या होती है ? यह पर्याय अर्थात् किसकी ? अभी द्रव्य, गुण, पर्याय तीन के नाम भी नहीं आते हैं ! जैन में जन्में हों उन्हें ! द्रव्य-गुण और पर्याय उसकी तो यह व्याख्या है । द्रव्य को अर्थ क्यों कहना ? गुण को अर्थ क्यों कहना ? पर्याय को अर्थ क्यों कहना ? उसकी तो यह व्याख्या है । यह तो अभी पहला पाठ है । आहा...हा... !

अथवा (वे) स्वर्ण द्वारा क्रम परिणाम से.... स्वर्ण द्वारा कुण्डल, कड़े की क्रम परिणाम से - क्रम से होनेवाली पर्यायें प्राप्त की जाती हैं । आहा...हा... ! वे स्वर्णकार की

इच्छा अनुसार होती है, ऐसा नहीं है – यह कहते हैं। कुम्हार घड़ा बनाता है – ऐसा नहीं है। अर...र...! उस घड़े की पर्याय को उसके जो मिट्टी के परमाणु हैं, वे पहुँचते हैं। आहा...हा...! बहुत कठिन काम! यह तो अभी पहले इकाई की बिन्दु की बात चलती है। **स्वर्ण के द्वारा क्रम परिणाम से प्राप्त की जाती है – पहुँची जाती है, इसलिए कुण्डल इत्यादि पर्यायें अर्थ हैं...** इसलिए उस कुण्डल को – पर्याय को अर्थ कहा जाता है, क्योंकि वह द्रव्य से प्राप्त की जाती है अथवा उससे द्रव्य ज्ञात होता है; इसलिए उसे अर्थ कहा जाता है। यह दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी है... अन्यत्र अर्थात् सभी द्रव्यों में – अनन्त आत्माओं, अनन्त परमाणु प्रत्येक अपने-अपने गुण पर्याय को प्राप्त करते हैं। उनकी पर्याय प्राप्त करने के लिये दूसरे द्रव्य के कारण अवस्था होती है – ऐसा तीन काल में नहीं है। आहा...हा...! ऐसा... अन्यत्र है न? **इसी प्रकार अन्यत्र भी है (इस दृष्टान्त की भाँति सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों में भी समझ लेना चाहिए)।** नीचे (अन्यत्र का अर्थ है)।

जैसे स्वर्ण पीलापन आदि को और कुण्डल आदि को प्राप्त करता है अथवा पीलापन और कुण्डल आदि के द्वारा प्राप्त किया जाता है अर्थात् पीलापन आदि और कुण्डल आदि स्वर्ण को प्राप्त करते हैं इसलिए स्वर्ण अर्थ है। इसे अर्थ क्यों कहा (उसका स्पष्टीकरण है)। उसी प्रकार द्रव्य अर्थ है.... उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अर्थ है। क्यों? क्योंकि स्वयं अपने गुण और पर्याय को पहुँचता है और गुण-पर्याय द्वारा द्रव्य प्राप्त होता है। इसलिए उसे अर्थ कहा जाता है। आहा...हा...! अभी दृष्टान्त कठिन पड़ता है। आहा...हा...! उसमें फिर सिद्धान्त (उतारना)!

जैसे पीलापन आदि आधारभूत स्वर्ण को प्राप्त करता है अथवा आधारभूत स्वर्ण द्वारा प्राप्त किये जाते हैं (अर्थात् आधारभूत स्वर्ण पीलापन आदि को प्राप्त करता है) इसलिए पीलापन इत्यादि अर्थ हैं... इसलिए पीलापन को अर्थ कहा जाता है। इसी प्रकार गुण अर्थ हैं... आत्मा के गुण और यह परमाणु रजकण मिट्टी है। इसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, गुण हैं, यह परमाणु में हैं। यह कोई एक चीज नहीं है, इसके टुकड़े करते-करते अन्तिम पॉइन्ट रहता है, उसे प्रभु परमाणु कहते हैं। उन अनन्त परमाणुओं का यह जड़,

दल है। भगवान अन्दर भिन्न-पृथक् वस्तु है। भगवान आत्मा तो जड़ का स्पर्श भी नहीं करता और जड़ ने भगवान आत्मा को कभी स्पर्श नहीं किया है। अरे...रे... ऐसा! यदि स्पर्श करे तो पर्याय किसी की हो जाये। आहा...हा...! है ?

उसी प्रकार द्रव्य अर्थ है... जैसे स्वर्ण को अर्थ कहा (पीलापन और कुण्डल आदि) गुण-पर्याय को प्राप्त करता है; इसी प्रकार यह द्रव्य - आत्मा और परमाणु दोनों द्रव्य हैं। जैसे, पीलापन इत्यादि आधारभूत स्वर्ण को प्राप्त करते हैं अथवा आधारभूत स्वर्ण द्वारा प्राप्त किये जाते हैं अर्थात् आधारभूत स्वर्ण पीलापन इत्यादि को प्राप्त करता है। इस कारण पीलापन आदि अर्थ हैं। इसी प्रकार गुण अर्थ हैं... आत्मा के ज्ञान, दर्शन, गुण हैं, वे अर्थ हैं परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है, वे अर्थ हैं। आहा...हा...!

जैसे कुण्डल आदि स्वर्ण को क्रम परिणाम से प्राप्त करते हैं अथवा स्वर्ण द्वारा क्रम-परिणाम से प्राप्त किया जाता है अर्थात् स्वर्ण कुण्डल आदि को क्रम-परिणाम से प्राप्त करता है। इसलिए कुण्डल आदि अर्थ हैं। इसी प्रकार पर्यायें अर्थ हैं। आत्मा की और परमाणु की प्रत्येक पर्याय को वह द्रव्य पहुँचता है और द्रव्य द्वारा पर्याय प्राप्त की जाती है; इसलिए पर्याय को अर्थ कहा जाता है। बहुत सूक्ष्म बात है। विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. ८० **दिनाङ्क २१ मई १९७९**

प्रवचनसार (गाथा ८७ की टीका) उसका तीसरा पैराग्राफ है। दो पैराग्राफ हो गये हैं। **और जैसे इन सुवर्ण,....** अर्थात् स्वर्ण (यह) दृष्टान्तरूप से (लिया है)। **पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायों में (इन तीनों में पीलापन इत्यादि गुणों का और कुण्डल इत्यादि पर्यायों का) सुवर्ण से अपृथक्त्व....** है। उसके गुणों से, उसकी पर्याय से स्वर्ण का अपृथक्त्व (अर्थात्) भिन्नपना नहीं है, एकपना है। सोना अपने पीलापन आदि बहुत गुणों से (और) कुण्डल आदि समस्त पर्यायों से उसका एकपना है, भिन्न नहीं है। इसीलिए **सुवर्ण ही आत्मा है,...** (अर्थात्) उन गुणों और पर्यायों का स्वरूप ही आत्मा है अर्थात् स्वर्ण है। आत्मा अर्थात् स्वर्ण ही आत्मा है, स्वर्ण ही उनका स्वरूप है। उसके गुणों और पर्यायों का स्वर्ण ही स्वरूप है; कोई दूसरा स्वरूप नहीं है। यह तो दृष्टान्त हुआ।

उसी प्रकार उन द्रव्य-गुण-पर्यायों में... आत्मा के अथवा परमाणु के **द्रव्य-गुण-पर्यायों में गुण-पर्यायों का द्रव्य से अपृथक्त्व होने से....** परमाणु में उसके गुण और पर्यायों का एकपना होने से वह पर्याय किसी दूसरे अंश को करे या दूसरे अंश से होय - ऐसा नहीं रहा तथा आत्मा - अपने गुण, पर्यायस्वरूप आत्मा है, (गुण-पर्याय) यह आत्मा ही है। इसके ज्ञान-दर्शन गुण और उसकी पर्याय-विकारी या अविकारी (कोई भी पर्याय हो) परन्तु उसका सर्वस्व आत्मा है। जैसे स्वर्ण में, स्वर्ण वह द्रव्य है गुण-पर्याय का सत्व (द्रव्य है)। इस प्रकार इन गुण-पर्यायों का आधार अथवा सर्वस्व आत्मा ही है - आत्मद्रव्य है। आहा...हा...!

(अर्थात् द्रव्य ही गुण और पर्यायों का आत्मा...) यह आत्मा अर्थात् वस्तु। यह आत्मा कहो या परमाणु को आत्मा कहो, आत्मा अर्थात् उसका स्वरूप। अनन्त परमाणु हैं, वे परमाणु अपने गुण और पर्यायस्वरूप, उसका आत्मा अर्थात् वस्तु है। आहा...हा...! उसकी पर्याय का अंश दूसरे के कारण है - ऐसा नहीं है। आत्मा में होनेवाले विकार के लिए लोगों को बहुत कठिन पड़ता है, (वे कहते हैं कि) कर्म का निमित्त है, इसलिए विकार होता है। यहाँ कहते हैं कि विकार और त्रिकाली गुण-इन गुण और पर्यायों का सर्वस्व वह द्रव्य है। उनका सर्वस्व वह द्रव्य है। है? **(...पर्यायों का आत्मा स्वरूप-सर्वस्व-सत्व है।)** आत्मा सत् है, उसका यह सत्व है अथवा गुण-पर्याय सत्व है, उसका यह द्रव्य - आत्मा सत् है। आहा...हा...! ऐसी तो स्पष्ट बात है, फिर भी (अज्ञानी कहते हैं कि) निमित्त से होता है... निमित्त से होता है... (एक मुनि ने) बहुत लिखा है 'निमित्त से होता है।' स्वभाव है, वह निमित्त के बिना होता है और विभाव, निमित्त से होता है।

श्रोता : स्वयं ने पर का संग किया है, इसलिए हुई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संग किया परन्तु यह पर्याय हुई है, वह स्वयं से हुई है। संग किया, परन्तु किया इसलिए हुई है तो अपने से न? अपने में अपने से (हुई है)। उन गुण और पर्याय का आत्मा अर्थात् वस्तु वह द्रव्य है और पर्याय और गुण का सम्पूर्ण सत्व वह द्रव्य है, उसे पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! कर्म का उदय आया,

इसलिए यहाँ विकार करना पड़ा... आहा...हा... ! इससे इनकार करते हैं और विकार हुआ, इसलिए कर्म बन्धन होना पड़ा – ऐसा भी नहीं है क्योंकि कर्म के द्रव्य-परमाणु उसके गुण और उसकी पर्याय है, उस गुण और पर्याय का द्रव्य-परमाणु है, वह उनका आत्मा है, वह उनका स्वरूप है। यह कर्मबन्धन की पर्याय, आत्मा से होती है – ऐसा नहीं है। उदय की पर्याय और उसके गुण का सर्वस्व वह परमाणु है – वह उसका आत्मा है। आत्मा अर्थात् उसका स्वरूप है। आहा...हा... ! इसी प्रकार निगोद से लेकर सिद्ध तक भगवान आत्मा अपने गुण और पर्याय का वह द्रव्य है। किसी की पर्याय के कारण अपनी पर्याय होती है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा सत् का स्वरूप ! उसे (अज्ञानी) एकान्तवादी है... एकान्तवादी है.. ऐसा कहते हैं। पर के कारण होता है (– ऐसा)शास्त्र में (आता है कि) ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान का आवरण है, दर्शनमोहनीय के कारण मिथ्यात्व है। जब तक कर्म है, तब तक विकार है, लो ! ऐसा 'आत्मावलोकन' में आता है। यह कर्म का निमित्तपना है, इसलिए विकार है – ऐसा नहीं परन्तु उसका लक्ष्य वहाँ है, इसलिए जब तक उसका लक्ष्य वहाँ है, तब तक विकार है परन्तु है वह पर्याय अपनी; अपने से, षट् कारकरूप परिणमन करके, वह पर्याय और गुण उसका (सर्वस्व) वह द्रव्य-वस्तु है। इसका आत्मा वह द्रव्य है। आहा...हा... !

यहाँ तो भक्ति का राग या ज्ञान की पर्याय या सम्यग्दर्शन की पर्याय और उसका पूरा समुदायरूप गुण, वह गुण और पर्याय आत्मा ही है। वह तो उसका द्रव्य है, उसका सर्वस्व स्वरूप तो द्रव्य ही है। पर के अंश के साथ कोई मेल नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है ! वस्तु ऐसी है। **उनका द्रव्य ही आत्मा है।**

(अर्थात् द्रव्य ही गुण और पर्यायों का आत्मा-स्वरूप-सर्वस्व-सत्व है)। आत्मा अर्थात् उनका स्वरूप, अर्थात् सर्वस्व, अर्थात् सत्व है। आहा...हा... ! गुण और पर्याय का सत्व द्रव्य है। उनके सत्व की अस्ति द्रव्य के कारण है। विकार की अस्ति भी द्रव्य के कारण है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! और सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग की पर्याय का और गुणों का (सत्व) तो वस्तु-द्रव्य है। आहा...हा... ! परिशिष्ट में आता है न ? व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परम्परा परिपाक से... यह तो वहाँ ऐसा विकल्प था,

उसका ज्ञान कराया है। वह विकल्प है, वह उसकी पर्याय में है और उस पर्याय और गुण का आत्मा, वह द्रव्य है। आहा...हा... ! बहुत कठिन बातें हैं।

अन्तरायकर्म, उसकी पर्याय और उसके गुण वह तो परमाणु द्रव्य है और यहाँ आत्मा में जो पर्याय होती है, उसमें अन्तरायकर्म निमित्त है, इस कारण उससे हुआ है – ऐसा नहीं है। समझ में आता है ? आहा...हा... ! अनादि निगोद के जीव पड़े हुए हैं, वे कदाचित् कितने ही तो त्रस भी नहीं हुए और होंगे भी नहीं परन्तु वे कोई कर्म के कारण ऐसे हैं – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! वहाँ निगोद में भी उनकी पर्याय और उनके कायम रहनेवाले गुण, उन पर्याय और गुणों का स्वरूप, वह द्रव्य है। आहा...हा... ! निगोद में भी उनकी पर्याय पर के कारण होती है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! अभी तो त्रस नहीं हुए, प्रभु ! अरे... अरे... ! विचार करे तो पता पड़े। आहा...हा... ! ऐसे-ऐसे निगोद के असंख्य औदारिक शरीर... आहा...हा... ! अनादि से अभी तक अनन्त काल हुआ, अभी कितने ही तो लट भी नहीं हुए। अरे ! प्रभु ! तुझे ऐसा दुर्लभपना मिला है न ? आहा...हा... ! ऐसा मनुष्यपना... वह यह (शरीर नहीं) हाँ ! उसकी मनुष्यगति की पर्याय की योग्यता मिली है वह। यह (मनुष्य शरीर) तो जड़ की दशा है, यह कहीं मनुष्यगति नहीं है। यह शरीर है, वह तो जड़ है। जड़ की पर्याय कहीं मनुष्यगति नहीं है। मनुष्यगति तो जीव की पर्याय में उदयभाव है, वह पर्याय में है। आहा...हा... ! और उस गति की पर्याय आदि और गुण, इन पर्याय (और) गुण का सर्वस्व तो उनका आत्मा है। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं।

समय-समय में प्रत्येक द्रव्य की पर्याय... अभी आया न ? क्रम-परिणाम से... आहा...हा... ! क्रम-क्रम से जो पर्याय होती है, उस समय की वह पर्याय और वह सम्पूर्ण गुण समुदाय, वह पर्याय और गुण होकर, वह द्रव्य है। आ...हा... ! इसमें पर्याय पर के कारण होती है – ऐसा कहो तो द्रव्य स्वयं ही सिद्ध नहीं होता। आहा...हा... ! कुछ समझ में आया ?

श्रोता : यह पहले प्रकार का भेदज्ञान है ?

समाधान : राग से भिन्न पहले ही प्रकार का भेदज्ञान है। यहाँ तो आत्मा विकार से अभिन्न है – ऐसा अभी सिद्ध करना है। फिर अन्दर में (राग से भेदज्ञान करे यह) फिर

बाद में (कहेंगे)। परन्तु जिसे यह निर्णय होता है कि यह पर्याय और गुण का रूप वह आत्मा है, उसे पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

उसकी अपनी पर्याय में और गुण में यह द्रव्य है, वह पर की सेवा की पर्याय में जाये, पर की सेवा कर सके - ऐसा तीन काल में नहीं है। आहा...हा...! क्योंकि उसका सत्व तो गुण-पर्याय में ही है। उसका सत्व-पर्याय, पर में नहीं जाता। संक्रमण (प्राप्त नहीं करता) यह बात (समयसार की) १०३ वीं गाथा में आती है न? आत्मा की पर्याय संक्रमित होकर पर में जाये तो पर का कार्य करे परन्तु यह तो होता नहीं है। आ...हा...हा...!

इस शरीर को हिलाना या बोलना, वह पर्याय और अन्दर परमाणुओं के गुण, इन गुण और पर्यायों का पिण्ड वह परमाणु है। आत्मा के कारण बोला जाता है और आत्मा के कारण भाषा होती है - ऐसा तीन काल में नहीं है। आहा...हा...! इसी प्रकार यह शरीर करवट बदले, हाथ फेरे, यह घूमे - यह सब पर्याय है और कायम रहनेवाले गुण हैं; पलटती पर्याय है और कायम रहनेवाले गुण हैं, यह स्वयं तो द्रव्य है। यह द्रव्य है, उसके यह हैं। यह दूसरे के हैं - ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

श्रोता : दूसरे के साथ नाता / सम्बन्ध हो, इसका क्या करना?

समाधान : सम्बन्ध है ही कब? इन भाई बन्धुओं के साथ, स्त्री के साथ, पुत्र के साथ सम्बन्ध है? आहा...हा...! प्रभु! तू कितने में है? ऐसा कहते हैं। प्रभु तू आत्मा है तो कितने में है? अपनी पर्याय और अपने गुणों में तू है। पर की पर्याय और पर के गुणों में उनका द्रव्य है। उसकी पर्याय और उसके गुणों में, उसका द्रव्य है। तेरी पर्याय और तेरे गुणों में तू प्रभु है। उसे पुत्र कहना, स्त्री कहना... आहा...हा...! यह दया कहाँ पाल सकता है? हिंसा कहाँ कर सकता है? आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म है, भाई!

उनका द्रव्य ही आत्मा है... इस प्रकार प्रत्येक का आत्मा-इन गुण और पर्यायों का आत्मा... गुण और पर्याय का आत्मा, अर्थात् यह आत्मा (ज्ञायक) ऐसा नहीं। द्रव्य, परमाणु हो या आत्मा हो या कालाणु हो या धर्मास्ति हो; उनकी जो पर्याय है और गुण हैं, उनका वह आत्मा है अर्थात् द्रव्य - उनका स्वरूप है। गुण और पर्याय का स्वरूप, वह

उसका स्वरूप है, वह स्वरूप उसका है, उसमें पर का स्वरूप है या पर से वह होता है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह बात बैठना...!

श्रोता : यह बात समझे तो मोह छूट जाये!

पूज्य गुरुदेवश्री : मोह छूट जाये। आहा...हा...! बापू! तेरे गढ़ में (तेरी) पर्याय और गुण हैं, उसमें तेरा द्रव्य है, उसमें दूसरे द्रव्य की पर्याय का प्रवेश नहीं है – ऐसा वह महागढ़ है। आहा...हा...! और दो के बीच अत्यन्त अभाव है। आहा...हा...! ऐसा अन्तर में बैठे, उसे परद्रव्य की दृष्टि उड़ जाती है और फिर जब परद्रव्य से दृष्टि हट जाती है, तब उसका लक्ष्य स्वद्रव्य पर जाता है। ऐसा आया है न भाई! परद्रव्य से छूटने पर वहाँ परभाव से छूटना कहा है, उसमें विकार नहीं लेना। छठी गाथा में परभाव है, पर की पर्याय पर में है, उसका लक्ष्य छूटा तो द्रव्य में लक्ष्य गया; इसलिए वहाँ विकार का लक्ष्य भी छूट गया। भले ही विकार और गुण की वस्तु आत्मा है, तथापि जहाँ पर से भिन्न पाड़ता है... आहा...हा...! अथवा यहाँ क्रमसर – ऐसा कहा है न? क्रम परिणाम हैं न? आहा...हा...! क्रम परिणाम से प्राप्त होता है, क्रम परिणाम से पर्याय को प्राप्त होता है। पर से प्राप्त होता है – ऐसा नहीं। आहा...हा...! सत्य तो ऐसा होना चाहिए कि सोलह आने – सौ में सौ टका सत्य, पूर्ण सत्य होना चाहिए। उसे पर की कोई आँच आवे और पर का कुछ कर सके। अर...र...! देश का करें, कुटुम्ब का करें, अरे... शिष्यों का करें! शिष्य हैं वह तो मेरे हैं न? प्रभु ऐसा कहते हैं शिष्य, शिष्य ही नहीं हैं। तेरा शिष्य नहीं है। शिष्य है, उसकी पर्याय और गुण उसका द्रव्य है। उसकी वह पर्याय और गुण तेरा द्रव्य है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह हमारा शिष्य है और हम इसके गुरु हैं... आहा...हा...! यह भी निकाल दिया।

अरिहन्त परमात्मा देव हैं। उनकी पर्याय और गुण में उनका द्रव्य है, उनकी पर्याय तेरे कारण, या तेरी पर्याय (उनके कारण होती है) – ऐसा नहीं है। भले ही अरहन्त त्रिलोकनाथ हों परन्तु उनकी पर्याय पर तेरा लक्ष्य गया, इसलिए उस पर्याय के कारण तेरी पर्याय में लक्ष्य गया और पर्याय हुई ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अरहन्त के द्रव्य-गुण और पर्याय हैं, वे उनमें हैं, तथापि ८० वीं गाथा में आ गया है कि (अरहन्त के) द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है... परन्तु जानने का अर्थ वहाँ से लक्ष्य छोड़े। आहा...हा...! सर्वज्ञ

भगवान ऐसे हैं; अनन्त गुणों का, प्रत्येक का पूर्ण विकास पर्याय में है; भगवान की शक्ति तो पूर्ण है – ऐसी ही, इतनी ही, तेरी शक्ति है परन्तु परमात्मा को अनन्त गुण की पर्याय पूर्ण प्रगट है, वह पूरी प्रगट है – ऐसा जो तुझे ज्ञान में आता है, वह पूरी पर्याय है, उसके कारण तुझे ज्ञान में आया है – ऐसा नहीं है। यह पूर्ण पर्याय है (– ऐसा) जो ज्ञान में आया है, उस पर्याय में से पर्याय आयी है। आहा...हा...! गाथा बहुत (सरस है)। आहा...हा...!

यहाँ तो (अज्ञानी) ऐसा कहते हैं कि पर की दया पालो, व्रत करो, तपस्या करो, अपवास करो, उससे तुम्हारा कल्याण है। अरे... प्रभु! यह तू क्या करता है? इसमें दो प्रकार हैं – अपवास आदि की क्रिया है, वह तो शरीर की क्रिया है। शरीर में आहार नहीं आना, वह शरीर की क्रिया है। आहा...हा...! वह आहार आदि का नहीं आना – ऐसी उस आहार आदि की पर्याय और उसके गुण तो उसका परमाणु है, वह उसका द्रव्य है। आहा...हा...! इसने इच्छा की कि आज मुझे आहार नहीं करना है, इसलिए वह आहार वहाँ नहीं आया है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! आज मुझे लहसुन नहीं खाना है, लहसुन से बने हुए ढोकला नहीं खाना है। लहसुन डालते हैं न ऊपर? मसाला! ढोकला.... ढोकला समझते हैं? ढोकला क्या कहते हैं? उसके ऊपर मिर्च डालते हैं तो कहते हैं यह सब मुझे नहीं चलता है। इसका अर्थ क्या है? वह पर्याय है, यह इसकी है। इसमें तुझे नहीं चलती – ऐसा कहता है (परन्तु) तुझमें वह पर्याय आयी कहाँ है? आहा...हा...! वह पर्याय – क्रिया तो बाहर रह गयी परन्तु शुभभाव आया, वह पर्याय और गुण, वह द्रव्य है – ऐसा यहाँ कहना है। उससे द्रव्य प्राप्त होता है, यह प्रश्न अभी नहीं है, आहा...हा...! कारण कि पञ्चास्तिकाय संग्रह में तो यहाँ तक कहा है कि आत्मा में राग-द्वेष और मिथ्यात्व होता है, वह जीव का लक्षण है क्योंकि ऐसी पर्याय जड़ में कहीं नहीं है। समझ में आया कुछ? लक्षण कहा है न? मिथ्यात्व को राग-द्वेष को – उसका अर्थ है कि तेरी पर्याय में है, पर के कारण नहीं। पर की पर्याय तुझमें नहीं है। यह मिथ्यात्व राग-द्वेष की पर्याय तुझमें तेरे से है। यह मिथ्यात्व राग-द्वेष की क्षणिक क्रमशः होनेवाली पर्याय और कायम रहनेवाले गुण, इनका सर्वस्व वह तू द्रव्य है। आहा...हा...! ऐसी बात है। पर के और तेरे कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! यह तीसरा पैराग्राफ पूर्ण हुआ। अब भावार्थ।

भावार्थ : ८६ वीं गाथा में कहा है कि जिनशास्त्रों का सम्यक् अभ्यास... वहाँ ऐसा था, सम्यक् अभ्यास - ऐसा कहा था? **भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से सम्यक् प्रकार अभ्यास करना...** ऐसा ८६ वीं गाथा में कहा था। **परम शब्द ब्रह्म की उपासना का भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणाम से सम्यक् प्रकार अभ्यास...** वजन वहाँ है। है न? यूँ ही अभ्यास (कर ले ऐसा नहीं) सम्यक् अर्थात् जैसा वहाँ कहना है, उस प्रकार उसका अभ्यास। आहा...हा...! ऐसे का ऐसा ग्यारह अङ्ग का अभ्यास तो अनन्त बार किया है परन्तु भाव के ज्ञान के अवलम्बन को, भावज्ञान के अवलम्बन से सम्यक् प्रकार से अभ्यास... आहा...हा...! कि जो ज्ञान का रस प्रगट होने पर मोहोपचय क्षय को प्राप्त होता है। आहा...हा...! वह भी क्षय को प्राप्त होता है, वह अपनी पर्याय है। समझ में आया कुछ? पर क्षय को प्राप्त होता है, वह तो पर की पर्याय का व्यय हुआ, उसकी वह पर्याय और गुण का सर्वस्व तो उसका द्रव्य है। आहा...हा...! इसलिए कर्म का क्षय करना भी तेरे अधिकार की बात नहीं है। आहा...हा...!

पर्याय और गुण का आत्मा, द्रव्य है - ऐसा पर से भिन्न ज्ञान करने पर अभी तो पर से (भिन्न पड़े) यह पहला भिन्न; फिर दूसरा भिन्न - राग और विकल्प है और विकृत है। कोई गुण विकृतरूप हो - ऐसा मेरा गुण नहीं है; इसलिए उस विकृत से भिन्न पड़े। पहले पर से भिन्न किया और दूसरा भिन्न राग से भिन्न किया। आहा...हा...! कुछ समझ में आया? परन्तु अभी पर से भिन्न (पड़ने का) ठिकाना नहीं है, वही रुक गया है कि हम ऐसा करते हैं और उससे हमारे में कार्य होता है। गुरु की दया हो जाये तो धर्म होता है।

श्रोता : श्रीमद् में ऐसा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें वे (लोग) जहाँ हो वहाँ यह लिखते हैं - 'सत् पुरुषों का योगबल जगत् का कल्याण करो' क्या कहा? 'सत् पुरुषों का योगबल जगत् का कल्याण करो।' धर्मी सत् पुरुष की पर्याय और उसके त्रिकाली रहनेवाले गुण उनका सर्वस्व तो वह द्रव्य है आ...हा...! अब पर के कल्याण में उस द्रव्य की पर्याय कुछ करे (- ऐसा नहीं है।) आहा...हा...! बहुत कठिन काम है। 'सत् पुरुषों का योगबल जगत् का कल्याण

करो।' आहा...हा...! बहुत कठिन बात है भाई! योगबल अर्थात् वह तो उनकी पर्याय उनमें रही। उनकी पर्याय और त्रिकाली गुण; क्षणिक अवस्था और त्रिकाल रहनेवाली शक्तियाँ, वह तो उनका द्रव्य है। उसमें पर का कल्याण करना – ऐसी पर्याय कहाँ जाती है। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप बहुत कठिन।

यहाँ तो यह लेना था न? 'सम्यक् अभ्यास' इस पर वजन है। **८६ वीं गाथा में कहा है कि जिनशास्त्रों का...** त्रिलोकनाथ परमात्मा सर्वज्ञदेव की जो वाणी, वह जिनशास्त्र है। पहले आगम का अभ्यास कहा था न? यह वह। उसका **सम्यक् अभ्यास...** आहा...हा...! सच्चा अभ्यास। स्वभाव ज्ञान के अवलम्बन से उनका अभ्यास, वह **मोहक्षय का उपाय है।** वह मोहक्षय का उपाय है, अर्थात् पर्याय से भिन्न पड़ा। पहले इसकी पर्याय इसी में सिद्ध की थी। अब भगवान के शास्त्रों का अभ्यास करने पर... भगवान के शास्त्रों में वीतरागता का वर्णन किया है। वे (स्वयं) वीतराग हैं तो वीतरागता का ही वर्णन किया है। बारह अङ्ग में वीतरागता का वर्णन! चारों ही अनुयोग में वीतरागता का वर्णन! आहा...हा...! और जिसका फल वीतरागता है – ऐसे चारों अनुयोगों का वर्णन है। आहा...हा...! कठिन लगता है।

(अभी तो अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि) निमित्त से यह होता है, इसकी सहायता से अङ्गीकृत होता ही है, इस कारण वह सहायक है और अकेले उपादान से नहीं होता। उपादान अकेले से नहीं होता। अरे भगवान! यहाँ तो प्रभु कहते हैं कि तेरी पर्याय तुझसे है। तेरे में वह पर्याय और गुण होकर तू है। यदि वह पर्याय पर से होती हो तो उस समय की पर्याय नहीं रही तो वह द्रव्य सिद्ध नहीं हुआ। न्याय समझ में आता है? आहा...हा...! यह तो प्रभु के घर की अन्तर की परम सत्य बातें हैं। बापू! यह कोई वार्ता नहीं है, आहा...हा...! तुम्हारे जज की बातें अलग है और यह अलग प्रकार की बातें हैं। आहा...हा...!

कहते हैं कि अरहन्त के पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय हैं, वे भी दूसरों को लाभ करे – ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है।

श्रोता : वन्दे तद्गुण लब्धे (आता है)?

समाधान : उसमें भी ऐसा अर्थ करते हैं कि देखो इसमें? भगवान को वन्दन करने पर तद्गुण लब्धे; उनके गुण की मुझे प्राप्ति होती है – बापू! ऐसा नहीं है, इसका अर्थ ऐसा नहीं है। उनके गुण जैसे हैं, वहाँ गुण अर्थात् पर्याय उसका लक्ष्य करके मेरा द्रव्य भी ऐसा शक्तिवाला है (ऐसा देखता है)। उसकी कमजोरी से जो पर्याय है, तथापि वह पर्याय और गुण होकर वह द्रव्य है। आहा...हा...! वह कमजोरी है, वह कोई कर्म के कारण कमजोरी आयी है (– ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

कर्म कारक है – ऐसा कहीं आता है न? इष्टोपदेश की ३१ वीं (गाथा में आता है।) **कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।** भाई! लो याद आया, याद भी आना चाहिए न? आहा...हा...! आता है। **कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।** पाठ में – टीका में है। किसी को कर्म बलवान है और किसी को जीव बलवान है। इसका अर्थ क्या? बापू! कर्म के ओर के लक्ष्य की पर्याय का बल–जोर तेरा है, वह पर्याय और गुण वह तेरा द्रव्य है। आहा...हा...!

यह तो यहाँ (संवत् ९३ की साल में) एक भाई आये थे न? हमारे खुशालभाई स्वर्गस्थ हो गये, उस साल – ९३ के आषाढ़ कृष्ण अमावस्या थी। वहाँ व्याख्यान चलता था, गुरुकुल में व्याख्यान चलता था, तब स्वयं आये थे। उस समय दूसरे बहुत आये थे। बेरिस्टर थे, व्याख्यान सुनने के बाद खड़े होकर इतना बोला 'किसी जीव को कर्म का बल है, किसी को आत्मा का (बल है)।' आये थे न? ९३.... ९३.... कितने वर्ष हो गये, ४२ वर्ष हो हुए। बड़ी सभा थी। आहा...हा...! हमारा भाई ९३ में आषाढ़ कृष्ण अमावस्या के दिन स्वर्गस्थ हो गये थे, फिर यह भाई आये थे। वहाँ हमारा व्याख्यान चलता था। उसमें वह खड़े होकर बोले परन्तु वस्तु का पता नहीं है। महाराज ने कहा है, वह सब सही है। देखो, किसी समय कर्म का जोर होता है। हमारे अभी यह जोर है। इसी समय आत्मा का जोर होता है और यह इष्टोपदेश में लिखा है – **कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।** देखो, लाओ! यहाँ इनकार करते हैं, कर्म का बल अर्थात् तेरी भावकर्म की विपरीतता और उसका बल और त्रिकाली गुण हैं, वह तेरा द्रव्य है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। और यह याद आ गया। वहाँ आता है न? **कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।** आहा...हा...!

मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आता है। पानी का प्रवाह तीव्र हो तो बह जाना पड़ता है। बापू! ऐसा नहीं है। उस समय जो अपनी बहने की पर्याय है, वह अपने से ऐसे... ऐसे... गति होती है और उसका गुण इस प्रकार है, वह इसका आत्मा है, पानी की पर्याय के कारण प्रवाह में ऐसी गति होती है – ऐसा नहीं है। अरे...अरे...! ऐसी बात! पानी में पत्ता पड़ा हो और पानी ऐसे जाता है, इसलिए पत्ता ऐसा हिलता है – ऐसा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि उस समय के पत्ते की वह पर्याय – ऐसी गति होने की पर्याय, उसकी योग्यता और गुण है, वे दोनों होकर उसका द्रव्य परमाणु है। पानी की पर्याय इकट्ठी होकर उसका द्रव्य है अथवा उस गति में उसे पानी कारण था, इसलिए पत्ते की गति हुई – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

सिद्धान्त में एक बात आती है। वैताक पर्वत है न? है न भाई! उसमें दो नदियाँ हैं – उन्मग्न और निमग्न दो नदियाँ हैं। वहाँ चक्रवर्ती युद्ध करने जाता है न! तब उसके पास मणिरत्न होते हैं, उससे अन्धेरा हो, इसलिए ऐसा करे और प्रकाश होता है; अतः सेना जाती है। अब वैताक पर्वत में दो नदियाँ ऐसी हैं कि एक नदी में कोई भी पत्ता, मनुष्य या पशु गिरे वह नीचे चला जाता है। एक नदी का ऐसा स्वभाव है कि कोई भी उसमें पड़े तो ऊपर आता है, (बाहर) निकाल देती है। उस नदी के कारण अन्दर जाता है और बाहर निकलता है – ऐसा नहीं है, यह कहते हैं। उन्मग्न-निमग्न नदी हैं। उन्मग्न अर्थात् ऊपर आना, निमग्न अर्थात् अन्दर में जाना। पत्ता पड़ा हो तो निमग्न नदी में अन्दर चला जाता है। आहा...हा...! और उन्मग्न नदी में लोहा पड़ा हो तो भी ऊपर आ जाता है, अन्दर जाता ही नहीं। आहा...हा...! क्या शास्त्र! क्या भगवान की वाणी! त्रिलोकनाथ का उपदेश तो यह है प्रभु! उस वाणी का सम्यक् प्रकार से अभ्यास मोहक्षय का उपाय है। आहा...हा...! है न? 'जहाँ-जहाँ जो-जो योग्य है, वहाँ समझना वही' अपनी कल्पना से अर्थ करना – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। आहा...हा...! बहुत कठिन काम है।

यहाँ संक्षेप में यह बताया है कि उन जिनशास्त्रों में पदार्थों की व्यवस्था किस प्रकार से कही गयी है... आहा...हा...! एक ओर शास्त्र ऐसा कहते हैं... आहा...हा...! कि एक नदी में पड़ी हुई चीज नीचे चली जाती है और एक में ऊपर आ जाती है, वह नदी

के कारण से! दूसरी ओर कहे नहीं... नहीं... नदी के कारण नहीं; उस पदार्थ की अवस्था का – पर्याय का स्वरूप भी ऐसा नीचे जाने का है। उस पर्याय और गुण का समुदाय, वह रजकण है, परमाणु है; पानी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...!

श्रोता : आपकी बात बहुत थोड़े लोगों को समझ में आये ऐसी है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वस्तु है बापा! आहा...हा...! बापू! यह तो परम सत्य है। किसी को बैठे या न बैठे, उससे सत्य का कुछ दूसरा हो जाये – ऐसा नहीं है। अभी तो बहुत गड़बड़ चलती है भाई! आहा...हा...! दूसरों को दो, पैसा दो, आहार दो, मदद करो, साधर्मियों का ऐसा करो... नौ प्रकार के देव कहलाते हैं, जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, इन सबकी पुष्टि करो। ये पुष्ट हों – ऐसा दान करो। आहा...हा...! अरे...अरे...! और एक ओर ऐसा कहते हैं कि जौं के जितनी भी प्रतिमा स्थापित करे, तो उसका पुण्य सरस्वती नहीं कह सकती। वह समकिती की बात है; आहा...हा...! यह तो उसके परिणाम में जो राग की मन्दता है, वह भावपुण्य है, परमाणु बँधता है, वह तो जड़ की अवस्था हुई है। आहा...हा...! वह भावपुण्य हुआ, इसलिए परमाणुओं को सातावेदनीय का बन्ध करना पड़ा – ऐसा नहीं है। वह सातावेदनीय की पर्याय और उसके गुणों का समुदाय वह उसका परमाणु है, द्रव्य है आहा...हा...! अच्छी बात याद आ गयी। **कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माइ हुंति बलियाइ।** और नदी आहा...हा...! कहाँ का कहाँ मस्तिष्क में (आ जाता है)। वस्तु ऐसी है भाई! आहा...हा...!

तीनों काल में किसी भी समय में किसी भी द्रव्य की पर्याय पर के आधार से किसी भी प्रसङ्ग में हुई हो तो यह पर्याय स्वयं से हुई है, उस पर्याय का आत्मा ही यह द्रव्य है। आहा...हा...! इस पर्याय का स्वरूप भी वह आत्मा है, उसका द्रव्य है। आहा...हा...! थोड़ा-थोड़ा समझ में आता है या नहीं? (हिन्दीवालों को) थोड़ा-थोड़ा समझ में आता है? (कोई कहता था कि) महाराज! जरा हिन्दी करो न! मैंने कहा यहाँ तो गुजराती चलेगी। अरे बापू! गुजराती में जैसा स्पष्ट आता है, वैसा हिन्दी में नहीं आता। क्योंकि (हिन्दी में) भाषा ढूँढ़ने जायें, वहाँ भाव चले जाते हैं। आहा...हा...!

क्या कहलाता है यह कंघा? कंघे से बाल ऐसे नहीं हिलते हैं – ऐसा कहते हैं। बाल

ऐसे हों उन्हें ऐसे करते हैं। आहा...हा... ! वह बाल की पर्याय, उस प्रकार होनी थी और उसके वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श कायम रहनेवाले गुण उसका स्वरूप वह परमाणु है। दूसरे परमाणु के कारण नहीं होता तो फिर कंघे के कारण होना कहाँ से आया ? यहाँ कहते हैं कि **पदार्थों की व्यवस्था किस प्रकार कही गयी है, वह संक्षेप में बताया है। जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि अर्थ (पदार्थ) अर्थात् द्रव्य-गुण और पर्याय....** तीनों को अर्थ कहा है न ? द्रव्य अर्थ, गुण अर्थ और पर्याय अर्थ। आहा...हा... ! **इसके अतिरिक्त विश्व में दूसरा कुछ नहीं है...** आहा...हा... ! अपने-अपने गुण और पर्याय का स्वरूप, वह द्रव्य है। इसके अतिरिक्त जगत् में दूसरी कोई चीज नहीं है। आहा...हा... !

'करुणा हम पावत है तुमकी, यह बात रही सुगुरुगम की' - श्रीमद् में आता है न ? उनके कहने का आशय तो बाद में तो बहुत स्पष्ट हो गया है। स्वर्ग में जाकर मनुष्य होकर मोक्ष जाएँगे, इसमें कोई अन्तर नहीं है परन्तु उनके आगे-पीछे के कथन लोग मिला नहीं सकते, इसलिए गड़बड़ उठती है।

आहा...हा... ! श्वेताम्बरों के शास्त्र ढूँढ़ो तो ऐसी बात कहाँ है ? आहा...हा... ! एक-एक परमाणु की उस समय होनेवाली अवस्था... एक परमाणु में चार गुण की स्निग्धता है, दूसरे परमाणु में छह गुण की स्निग्धता है, तब यहाँ (पहले परमाणु में) छह गुण (स्निग्धता) हो जाती है। छह गुण की स्निग्धता में चार गुणवाला परमाणु गया तो छह गुण हो जाते हैं परन्तु यहाँ कहते हैं कि यह छह गुण होनेरूप उसकी पर्याय स्वयं से हुई है। वह छह गुण की स्निग्धतावाली पर्याय है, इसलिए छह गुण हुए हैं - ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! शास्त्र में ऐसा भी आता है कि छह गुणवाला चार गुण को परिणमाकर छह गुण करता है। यहाँ कहते हैं कि यह छह गुण होने की पर्याय और उसका गुण वह उसका परमाणु है, वह दूसरे के कारण वह पर्याय हुई है (ऐसा होवे तो) वह तो दूसरे का द्रव्य हो गया, वह पर्याय दूसरे द्रव्य की हो गयी। आहा...हा... ! ऐसा है।

द्रव्य-गुण और पर्याय, इसके अतिरिक्त विश्व में दूसरा कुछ नहीं है और इन तीनों में गुण और पर्यायों का आत्मा.... प्रत्येक परमाणु के गुण अर्थात् कायम रहनेवाली शक्तियाँ और क्रमशः पलटती क्रमबद्ध परिणति, **उनका सर्वस्व द्रव्य ही है...** उनका

सर्वस्व द्रव्य ही है, सर्वस्व द्रव्य 'ही' है। यह तो एकान्त हो गया? (द्रव्य ही सर्वस्व है और दूसरा कुछ नहीं) आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। (बाहर में तो) ऐसा उपदेश आता है कि ऐसा करो, पुस्तक बनाओ, लाखों रुपये खर्च करो, कुन्दकुन्दाचार्य की पुस्तक बनाओ। लोगों को कैसा लगता है? आहा...हा...! कहते हैं कि पैसे से पुस्तक नहीं बनती, पुस्तक की पर्याय होनी है, वह तुझसे नहीं होती। आहा...हा...!

मुम्बई में पुस्तक बनाने के लिए सात लाख रुपये इकट्ठे किये हैं न? आहा...हा...! उस पैसे की पर्याय और गुण वह तो उसका परमाणु द्रव्य है, उसका आत्मा – सर्वस्व वह है। पैसे के कारण पुस्तक बनती है (ऐसा नहीं है)। कल ही (एक भाई ने) पाँच हजार रुपये नहीं दिये थे? आहा...हा...! गुजराती में द्रव्यदृष्टिप्रकाश का तीसरा भाग छपाने के लिये दिये थे। भाई का है न? सोगानी का! उसमें पहले दो भाग की – पत्रों की गुजराती हो गयी है और बोल हैं, उनकी नहीं हुई। इसलिए पाँच हजार रुपये दिये हैं। आहा...हा...! यह पाँच हजार की पैसों की पर्याय जहाँ जानी है, वह अपनी पर्याय है। उसके कारण दूसरा देता है – ऐसा भी नहीं है और पैसे से वह पुस्तक बनती है – ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...!

श्रोता : अभी नहीं कहते परन्तु बनने के बाद तो कहते हैं न?

समाधान : निमित्त से ऐसा कथन होता है (परन्तु वस्तुस्थिति) – ऐसी नहीं है। मोक्षमार्गप्रकाशक में आया है न? व्यवहार से कहा हो उसका अर्थ है कि ऐसा नहीं है परन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए कथन है – ऐसा अर्थ है। मोक्षमार्गप्रकाशक आहा...हा...! व्यवहारनय से कहा हो वैसा नहीं है। यह कैसे बैठे? (अज्ञानी) ऐसा कहता है कि व्यवहार का यत्न करो, जतन करो, व्यवहार साधन है – ऐसा कहा है। (एक मुनि ने) अपनी पुस्तक में ऐसा कहा है लोह चुम्बक लोह को खींचती है, लोह चुम्बक के कारण सुई खिंचती है... यहाँ इनकार करते हैं। लोह चुम्बक के द्रव्य-गुण-पर्याय का आत्मा तो उसके परमाणु हैं, सुई आती है, उसमें उसकी पर्याय वहाँ कहाँ गयी है? आहा...हा...! वह सुई आती है, वह सुई की गति की पर्याय है और उसके गुण अन्दर परमाणु में हैं; उसका सर्वस्व परमाणु द्रव्य है, सर्वस्व द्रव्य है, लोह चुम्बक के कारण सुई आयी है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

आहा...हा... ! **ऐसा होने से किसी द्रव्य के गुण और पर्याय...** किसी द्रव्य के गुण; गुण तो ठीक त्रिकाल रहनेवाले हैं परन्तु उनकी पलटनेवाली पर्यायें **अन्य द्रव्य के गुण और पर्यायरूप किञ्चित्मात्र नहीं होते...** आहा...हा... ! प्रत्येक द्रव्य के गुण और पर्याय परद्रव्य के गुण और पर्याय के कारण किञ्चित्मात्र भी नहीं होते। आहा...हा... ! **सर्व द्रव्य अपने-अपने गुण-पर्यायों में रहते हैं।** आहा...हा... ! जहाँ-जहाँ निमित्त देखकर, परिवर्तन दिखता हो (अर्थात् कोई ऐसा कहे कि) पानी में लाल रंग डालो तो लाल होता है, पीला डालो तो पीला होता है, यह रंग के कारण होता है। उससे यहाँ इनकार करते हैं। वह पानी की पर्याय स्वयं, स्वयं से पीलेरूप परिणमित है, पीला रंग पड़ा इसलिए नहीं। इस पर्याय और गुण का समुदाय तो इसका परमाणु है, उसमें रंग ने क्या किया ? यह दृष्टान्त आया है। उन लोगों ने दृष्टान्त दिया है कि देखो ! पानी में ऐसा होता है। 'सोनगढ़वाले' कहते हैं कि परद्रव्य से कुछ नहीं होता। सोनगढ़वाले नहीं बापू ! रहने दे; जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं।

श्रोता : सोनगढ़ की मोटर बिना पेट्रोल के चलती है, इन्दौर की मोटर पेट्रोल से चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहते हैं न ! एक ब्रह्मचारी मोटर में बैठा था (वह कहता था कि) सोनगढ़ की मोटर ऐसे की ऐसे चलती है। संचा के कारण नहीं। हम भी ऐसे ही चलते हैं, इस संचा के कारण नहीं। अपन ऐसा मानते हैं कि (हम) अन्दर बैठे हैं और मोटर चलती है। इसलिए इससे (अपनी) गति होती है। (यहाँ कहते हैं) नहीं, मोटर की पर्याय और अन्दर बैठा है, उसकी पर्याय-दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। आहा...हा... ! थोड़ी-थोड़ी भाषा समझ में आती है न, भैया ? थोड़ी-थोड़ी ? बहुत कठिन बात है बापा ! सम्पूर्ण मार्ग बहुत गुलाट खाता है। आहा...हा... ! नहीं बैठे इससे कहीं सत्य बदल जायेगा - ऐसा नहीं है। वस्तु तो ऐसी है।

आहा...हा... ! **सभी द्रव्य अपने-अपने गुण पर्यायों में रहते हैं।...** अपने-अपने अर्थात् अपने-अपने गुण-पर्यायों में। **ऐसी पदार्थों की स्थिति...** पदार्थों की ऐसी मर्यादा **मोहक्षय के निमित्तभूत पवित्र जिनशास्त्रों में कही है।....** आहा...हा... ! ऐसी पदार्थों

की स्थिति जानने से मोह का क्षय होता है। अपनी पर की ओर की सावधानी का क्षय (होता है)। यहाँ कर्म के क्षय की बात नहीं है। आहा...हा...! स्वभाव की पर्याय और विभाव की पर्याय में ही अपना स्वरूप है और वह पर्याय और गुण का समुदाय वह सम्पूर्ण द्रव्य है। पर को और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहना, यह तो पहचान के लिए है, बाकी कुछ लेना-देना नहीं है। आहा...हा...! निमित्त आया, इसलिए ऐसी नैमित्तिक दशा हुई... आहा...हा...! ऐसा नहीं है।

पर्यायसहित का द्रव्य, वह उपादान और बाद की पर्यायसहित का द्रव्य, वह उपादेय, यह भी अपेक्षित व्यवहार कथन है। यह तो मात्र सद्भूत व्यवहारनय से यही का यही पर्यायस्वभाव बताया है। वरना वास्तव में तो वह पर्याय जिस समय हुई है, वह पूर्व के उपादान की पर्याय के कारण उपादेय हुई है - ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! ऐसी पदार्थों की मर्यादा जिसके ज्ञान में बैठती है, उसके मोह का क्षय अर्थात् अपनी पर्याय का परतरफ की सावधानी का भाव नष्ट होता है। **ऐसी पदार्थों की स्थिति मोहक्षय के निमित्तभूत पवित्र जिनशास्त्रों में कही है।** आहा...हा...! कर्म का क्षय कहना यह तो निमित्त से कथन है और वास्तव में तो वह भी निमित्त है (अर्थात् कि) अपनी अशुद्धता का नाश होता है, उसमें ही वह जो पवित्रता हुई है, निमित्त कहलाती है। आहा...हा...! ऐसा उसका स्वरूप है। विशेष कहेंगे... l

गाथा - ८८

अथवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति -

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।।८८।।

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम्।
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन।।८८।।

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारा-पथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव। अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि।।८८।।

अथ दुर्लभजैनोपदेशं लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति स एवाशेषदुःखक्षयं प्राप्नोतीत्यावेदयति- **जो मोहरागदोसे णिहणदि** य एवं मोहरागद्वेषान्निहन्ति। किं कृत्वा। **उवलब्भ** उपलभ्य प्राप्य। कम्। **जोण्हमुवदेसं** जैनोपदेशम्। **सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि** स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति। केन। **अचिरेण कालेण** स्तोककालेनेति। तद्यथा - एकेन्द्रियविकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियादिदुर्लभपरंपरया जैनोपदेशं प्राप्य मोहरागद्वेषविलक्षणं निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणं निश्चयसम्यक्त्वज्ञानद्वयाविनाभूतं वीतरागचारित्रसंज्ञं निशितखड्ग य एव मोहरागद्वेषशत्रूणामुपरि दृढतरं पातयति स एव पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखविलक्षणानां दुःखानां क्षयं करोतीत्यर्थः।।८८।।

अब, इस प्रकार मोहक्षय के उपायभूत जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर भी पुरुषार्थ अर्थक्रियाकारी[१] है, इसलिए पुरुषार्थ करता है -

जो मोह-राग अरु द्वेष को, हनता है जिन उपदेश से।
वो जीव मुक्ति पावे अल्प हि काल में सब दुःखों से।।

१. अर्थक्रियाकारी = प्रयोजनभूत क्रिया का (सर्वदुःख परिमोक्ष का) करनेवाला।

अन्वयार्थ : [यः] जो **[जैनं उपदेशं]** जिनेन्द्र के उपदेश को **[उपलभ्य]** प्राप्त करके **[मोहरागद्वेषान्]** मोह-राग-द्वेष को **[निहंति]** हनता है, **[सः]** वह **[अचिरेण कालेन]** अल्प काल में **[सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति]** सर्व दुःखों से मुक्त हो जाता है।

टीका : इस अतिदीर्घ, सदा उत्पातमय संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से जिनेन्द्रदेव के इस तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश को प्राप्त करके भी जो मोह-राग-द्वेष पर अति दृढ़तापूर्वक उसका प्रहार करता है, वही हाथ में तलवार लिये हुए मनुष्य की भाँति शीघ्र ही समस्त दुःखों से परिमुक्त होता है; अन्य (कोई) व्यापार (प्रयत्न; क्रिया) समस्त दुःखों से परिमुक्त नहीं करता। (जैसे, मनुष्य के हाथ में तीक्ष्ण तलवार होने पर वह शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से उसका प्रहार करे तभी वह शत्रु सम्बन्धी दुःख से मुक्त होता है, अन्यथा नहीं, उसी प्रकार इस अनादि संसार में महाभाग्य से जिनेश्वरदेव के उपदेशरूपी तीक्ष्ण तलवार को प्राप्त करके भी जो जीव मोह-राग-द्वेषरूपी शत्रुओं पर अतिदृढ़ता पूर्वक उसका प्रहार करता है, वही सर्व दुःखों से मुक्त होता है अन्यथा नहीं) इसीलिए सम्पूर्ण आरम्भ में (प्रयत्नपूर्वक) मोह का क्षय करने के लिये मैं पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता हूँ॥ ८८॥

प्रवचन नं. ८१ **दिनाङ्क २२ मई १९७९**

प्रवचनसार ८८ वीं गाथा। उसका उपोद्घात **अब इस प्रकार मोहक्षय के उपायभूत....** मोहक्षय के उपायभूत कहा! **जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर भी...** आहा...हा..! जिनेश्वरदेव का उपदेश मिलने पर भी **पुरुषार्थ अर्थक्रियाकारी है...** इसका अर्थ सव्वदुक्खमोक्खं सर्व दुःख को... मिटाने का पुरुषार्थ कार्यकारी है। **इसलिए पुरुषार्थ करता है...** अब इसमें कहाँ क्रमबद्ध रहा? अब **अचिरेण** शब्द आयेगा। यह सब क्रमबद्ध में ही है। आहा...हा...! क्रमबद्ध का पुरुषार्थ वही अकर्तापने का, ज्ञातापने का पुरुषार्थ है, वही सर्व दुःखों के मिटाने का उपाय है। आहा...हा...! सब शब्दों में अन्तर है। देखो!

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।। ८८।।

नीचे हरिगीत –

जो मोह-राग अरु द्वेष को, हनता है जिन उपदेश से।
वो जीव मुक्ति पावे अल्प हि काल में सब दुःखों से॥

लो, यहाँ तो अल्प काल में (पायेगा ऐसा आया)। क्रमबद्ध में पायेगा ऐसा नहीं आया! उसका अर्थ ही यह हुआ कि जहाँ क्रमबद्ध का पुरुषार्थ किया और स्वभावसन्मुख हुआ है, उसे अल्प काल में उसकी क्रमबद्ध में केवलज्ञान होगा। वह अल्प काल में होगा, उसे दीर्घ काल नहीं है – ऐसा कहना है, बाकी है तो क्रमबद्ध। आहा...हा...! सर्व दुःख का नाश होना, वह मोक्ष है न? इसलिए सर्व दुःख का नाश मोक्ष – छूटना है न? छूटना है अर्थात् सर्व दुःख से छूटना है, पर्याय में जो अनन्त मिथ्यात्व और सर्वदुःख है, उनसे छूटना है। 'मोक्ष' शब्द है न? अस्ति से कहें तो भगवान आत्मा, राग और पर्याय का कर्ता नहीं है – ऐसा जो पुरुषार्थ है, वह सर्व दुःख से मुक्त होने का उपाय है।

इसमें (जो आया कि) **अचिरेण कालेण** (अर्थात्) सर्व दुःख से मुक्त होना। उसका अर्थ ही यह है कि राग जो दुःख है, मिथ्यात्व वह दुःख है, उसका नाश करना। वह कैसे होता है? कि समय-समय में जो क्रमबद्ध दशा होती है, जब उसका निर्णय, अनुभव स्वभाव की दृष्टि से होता है (तब होता है)। आहा...हा...! स्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान, पूर्ण आनन्द का दल है, उस पर जब दृष्टि जाती है, तब उसे क्रमबद्ध का – पर्याय में होनेवाली दशा का सच्चा निर्णय और सच्चा पुरुषार्थ होता है। आहा...हा...! उसमें तो मोह-राग-द्वेष को नष्ट करे और वह सर्व दुःख से मुक्त होता है, वह भी अल्प काल में होता है। इसका अर्थ ही यह है कि जिसने क्रमबद्धपर्याय का जहाँ निर्णय किया, वहाँ उसकी दृष्टि स्वभाव पर जाती है; इसलिए अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि इस क्रमबद्ध की व्याख्या करूँगा, उसमें अकर्तापना प्रसिद्ध करूँगा – ऐसा आता है न उपोद्घात में? अकर्तापने को प्रसिद्ध करूँगा, इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञाता को प्रसिद्ध करूँगा। इसका अर्थ यह हुआ कि.... आहा...हा...! वस्तु का त्रिकाली स्वभाव है, उसका आश्रय करने

की प्रसिद्धि करूँगा। आहा...हा...! ऐसा है। क्योंकि शास्त्र के कैसे भी भाव या पाठ हो परन्तु उसका सारांश तो वीतरागता है न? तात्पर्य तो वीतरागता है; तो वीतरागता कब होती है? आहा...हा...! यह स्वसन्मुख होता है, (तब होती है) क्योंकि स्वयं जिनस्वरूप है, वीतरागमूर्ति है, उसके सन्मुख हो तो वीतरागदशा होती है। ऐसी पुरुषार्थ की गति करनेवाले को अब अल्प काल में केवलज्ञान (प्रगट होने का) काल है, उसे लम्बा काल नहीं होता, वह भी है तो क्रमबद्ध में। आहा...हा...!

श्रोता : क्रमबद्ध ऐसा है कि अल्प काल में केवलज्ञान होगा!

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे अल्प काल में ही केवलज्ञान होना है क्योंकि इस ओर ढला है और अन्दर भगवान सर्वज्ञस्वरूपी हैं। आहा...हा...! अर्थात् मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा है, उस ओर ढला है; इसलिए उसे मुक्ति अर्थात् केवलज्ञान अल्प काल में ही आयेगा। आयेगा क्रमबद्ध में परन्तु उस क्रमबद्ध में इसे अल्प काल लगेगा। अरे...रे...! ऐसी बाते हैं। बहुत कठिन काम... जैनदर्शन...! आहा...हा...! इसकी टीका।

टीका : इस अतिदीर्घ,.... आहा...हा...! संसार... संसार...! तो देखो! ऐसा कहते हैं **अतिदीर्घ...** लम्बे काल का - अनादि से। आहा...हा...! आदि की (अर्थात् संसार के शुरुआत की) नजर कहीं नहीं पड़ती। ऐसा अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... आहा...हा...! मिथ्यात्व भ्रम में कहीं भटकता-भटकता.... **इस अतिदीर्घ, सदा उत्पादमय संसारमार्ग में....** आहा...हा....! यह मिथ्यात्वमार्ग है, वह अतिदीर्घ सदा उत्पादमय संसारमार्ग है। आहा...हा...! राग को अपना मानना या राग से स्वभाव को लाभ होता है, विभाव से स्वभाव को लाभ होता है - ऐसा जो मिथ्यात्वभाव... आहा...हा...! अतिदीर्घ काल से चला आता है, सदा उत्पादमय है; आकुलता... आकुलता... आकुलता... (स्वरूप) **संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से....।**

जयसेनाचार्य की टीका में थोड़ा लिया है। एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय पाना, उसमें से पञ्चेन्द्रिय पाना, आदि **दुर्लभपरंपरया जैनोपदेशं प्राप्य....** ऐसी परम्परा में वीतराग के सच्चे उपदेश का प्राप्त होना (अति दुर्लभ है)। आहा....हा....! संस्कृत टीका में है। एकेन्द्रिय में से निकलना, उसमें से विकलेन्द्रिय होना अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय होना

यह भी दुर्लभ है। इसमें से पञ्चेन्द्रिय होना, उसमें से मनुष्यपना होना, उसमें से आर्यपना होना, उसमें भी जैनकुल में अवतार और उसमें जैन का उपदेश (मिलना)! इतनी दुर्लभता!! आहा...हा...! पैसा प्राप्त करने के लिए दुर्लभता नहीं की कि ऐसे पाँच-दस लाख, पच्चीस लाख या करोड़ रुपये मिलें, वह दुर्लभ है। आहा...हा...! 'बोधिदुर्लभ भावना!' उसे यहाँ दुर्लभ कहा है, असक्य नहीं परन्तु दुर्लभ है।

अनन्त... अनन्त काल... आहा...हा...! ऐसे नजर करने से इसकी आदि नहीं दिखती। आदि है कहाँ? आहा...हा...! इसके पहले भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... नजर करे तो भी भव की शुरुआत ज्ञात नहीं होती - ऐसा अतिदीर्घ सदा उत्पादमय; फिर मिथ्यात्व से उत्पादमय - दु:खमय! आहा...हा...! ऐसे **संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से जिनेन्द्रदेव के.....** आहा...हा...! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव, सर्वज्ञ वीतराग का उपदेश! आहा...हा...! उनके द्वारा कथित शास्त्र, उनका उपदेश। आहा...हा...!

तीक्ष्ण असिधारा समान.... कैसा है उपेदश? आहा...हा...! तीक्ष्ण असिधारा! जैसे तलवार की धार (सूक्ष्म) होती है, ऐसा उनका उपदेश है। आहा...हा...! अर्थात् कि उनके उपदेश में तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश है। जिसमें मिथ्यात्व और राग को मिटाने का ही उपदेश है, अर्थात् कि जिसमें वीतरागपने की उत्पत्ति... आहा....हा...! (कि जिसका) दीर्घ संसार में उत्पाद हुआ नहीं, ऐसा जो आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान का मार्ग, उस जिनेश्वर के उपदेश को प्राप्त करके...। उपदेश ही ऐसा है यह कहते हैं। देखा? **तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश....** यह उपदेश-वाणी ऐसी है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! जैसे असिधारा पर को काट देती है, उसी प्रकार उपदेश में विकार को मिटाने का और स्वभाव की प्राप्ति करने का उपदेश है। कुछ समझ में आया? अमृतचन्द्राचार्य की टीका बहुत गम्भीर है।

तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश... आहा...हा...! जिनका उपदेश ऐसा तीक्ष्ण है। तीक्ष्ण और सूक्ष्म! कि शुभराग भी बन्ध का कारण है - ऐसा भगवान का उपदेश है और उससे भिन्न स्वभाव, वीतराग स्वभाव से भरपूर भगवान! उसका आश्रय (लेना -

ऐसा) अतितीक्ष्ण धार समान उपदेश है (– ऐसा कहते हैं)। आहा...हा...! ऐसे **उपदेश को प्राप्त करके...** ऐसा उपदेश जिसे प्राप्त हुआ है, उसकी बात है। आहा....हा...! वह उपदेश मिलना परम्परा दुर्लभ है – ऐसा कहा है न वहाँ? **दुर्लभपरंपरया जैनोपदेशं प्राप्य....** संस्कृत में है। ऐसा दुर्लभ परम्परा (उपदेश!) आहा...हा....! अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त काल में। आहा...हा...! मनुष्य के भव अनन्त किये, नारकी के अनन्त किये, देव के अनन्त किये, निगोद के अनन्त किये, सिंह, बाघ, मुर्गा, कौआ, कबूतर... इनके भव अनन्त किये। आहा...हा...! इसमें जिन का उपदेश प्राप्त हो – ऐसी दशा लगभग मनुष्यपने में है। आहा...हा...!

तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश को प्राप्त करके.... ओहो....हो...! भगवान की वाणी में तो राग–द्वेष का मिटाना ही आता है। मिथ्यात्व को मिटाना और राग–द्वेष को मिटाना – ऐसा ही उनका उपदेश आता है। अर्थात् समकित प्राप्त करना और वीतरागता प्राप्त करना ऐसा उपदेश आता है। उनका ऐसा उपदेश है कि समकित का प्राप्त करना और वीतरागता का प्राप्त करना द्रव्य के आश्रय से होता है। आहा...हा...! इसके सिवाय वीतरागता प्रगट नहीं होती। आहा...हा...! ऐसे **उपदेश को पाकर भी....** यहाँ तो कहते हैं कि भले ही ऐसा उपदेश मिला। आहा...हा...! **जो मोह–राग–द्वेष पर....** मोह और राग–द्वेष पर **अति दृढ़तापूर्वक उसका प्रहार करता है....** अर्थात् उग्ररूप से स्वभाव में जाता है। आहा...हा...! भगवान चिदानन्दी, अनन्त गुणों की खान है। आहा....हा....! जो उसकी सन्मुख जाता है, उसका मोह और राग–द्वेष पर दृढ़तापूर्वक प्रहार है। आहा...हा...! व्यवहार की भाषा है, वरना तो स्वभाव की ओर के सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को दृढ़रूप से प्राप्त करता है (वहाँ मोह–राग–द्वेष उत्पन्न भी नहीं होते)। पहले तो सम्यग्दर्शन की दुर्लभता, उसके बाद चारित्र की तो महा दुर्लभता। आहा...हा...! स्वरूप में रमना, आनन्द में रमना, वह चारित्र है। पञ्च महाव्रत पालना, वह कोई चारित्र नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ तो क्या कहना है? कि भगवान का तीक्ष्ण उपदेश प्राप्त हुआ (परन्तु) उपदेश में आया क्या था? कि **मोह–राग–द्वेष पर अतिदृढ़तापूर्वक उसका प्रहार...** कर। यहाँ दुःख से मुक्त होने की भाषा है न? सव्व दुक्खमोक्खं – मोक्ष! मोक्ष अर्थात् सर्व दुःख से

छूटना - ऐसी भाषा है न? इसलिए ऐसी बात कही है। **मोह-राग-द्वेष पर अति दृढ़तापूर्वक....** अर्थात् स्वभाव की ओर के उग्र पुरुषार्थ से। भगवान पूर्णानन्द का नाथ, आनन्ददल... आहा...हा... ! जंगल में जाने पर कहीं, टकराये और उसमें से हीरे का कलश निकले, हीरे का कलश, वहाँ इसे ऐसा होता है... आहा...हा... ! इसका क्या करूँ ? एक-एक हीरा करोड़ों का होता है, ऐसा पूरा कलश भरा हो। ऐसा यह भगवान आत्मा एक-एक रत्न नहीं परन्तु अनन्त रत्न से भरपूर कलश है ? भगवान ! इस मिथ्यात्व को मिटाने का अर्थ है कि सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना। आहा....हा... ! यानि कि सम्यग्दर्शन में स्वभाव के तीव्र पुरुषार्थ से जो अन्दर जाता है, उसके मोह और राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। आहा...हा... ! यह उसका उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह कहेंगे... आहा...हा... !

संसारमार्ग में किसी भी प्रकार से... महापुण्य के योग से, आहा...हा... ! **जिनेश्वरदेव का यह तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश...** आहा...हा... ! कुछ हलका कहो, हलका कहो (ऐसा नहीं)। यहाँ तो अति तीक्ष्ण असिधारा समान उपदेश ! उपदेश ही ऐसा है। आहा...हा... ! स्वभाव सन्मुख हो ! वीतरागता प्रगट कर ! वहाँ दुःख का मुक्तिपना है। आहा...हा... !

भाषा सब कैसी है ? उपदेश को तीक्ष्ण असिधारा समान कहा है और फिर **मोह-राग-द्वेष पर अति दृढ़तापूर्वक उसका प्रहार....** कि फिर से वे उगें नहीं ! आहा...हा... ! चैतन्यस्वभाव जो भगवान, उस पर जोरदार दृष्टि पड़ने से, चारों ओर से दृष्टि को समेटकर स्वभाव पर दृष्टि पड़ने से मिथ्यात्व पर अति दृढ़ प्रहार होता है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! ऐसा है ! और वह **अति दृढ़रूप से उसका प्रहार करता है....** आहा...हा... ! मिथ्यात्व और राग-द्वेष का नाश करता है अर्थात् समकित और वीतरागभाव को उत्पन्न करता है - ऐसा है। आहा...हा... !

वही.... ऐसा जीव ही **शीघ्र ही....** अर्थात् जल्दी ही, तुरन्त ही, शीघ्रमेव। **अचिरेण** है न? अचिरेणकालेन आया था न? उसका अर्थ किया **शीघ्र ही समस्त दुःखों से परिमुक्त होता है...** वही शीघ्र ही अर्थात् जल्दी से, तुरन्त ही, शीघ्रमेव। **शीघ्रम् एव, शीघ्रम् एव!** आहा...हा... ! इसमें क्रमबद्ध का बैठना (कठिन पड़ता है)। क्रमबद्ध ही है,

इस क्रमबद्ध का तात्पर्य ही द्रव्यस्वभाव पर दृढ़रूप से जाना और मिथ्यात्व राग-द्वेष को दृढ़रूप से नाश करना - यह इसका परिणाम और यह इसका तात्पर्य है। आहा....हा.... ! वह जीव **शीघ्र ही समस्त दुःखों से परिमुक्त होता है...** पाठ में है न यह? **सव्व दुक्खमुक्खं** (उपोद्घात में) अर्थ क्रियाकारी था। (अर्थात्) प्रयोजनभूत क्रिया को करनेवाला। प्रयोजन तो आनन्द का है, मोक्ष का आनन्द यह इसका प्रयोजन है। इस प्रयोजन के लिये अन्तर स्वभाव में पुरुषार्थ की गति करता है। आहा...हा.... ! वह अल्प काल में - शीघ्रमेव, जल्दी से (दुःख से मुक्त होता है)। (ऐसा पढ़कर) लोग यह कहते हैं, वहाँ इस क्रमबद्ध का इन्तजार नहीं करते? अरे भगवान! जिसे ऐसा निर्णय और अनुभव हुआ, स्वभावसन्मुखता का जहाँ आश्रय हुआ, उसे अल्प काल में ही केवलज्ञान आने का काल है। आहा...हा... ! उसे एक - दो भव में केवलज्ञान होना है, क्रमबद्ध में यही है। आहा...हा.... ! स्वभाव तरफ पुरुषार्थ किया; इसलिए अल्प काल में मुक्ति है, वरना मुक्ति विशेष काल में (अर्थात्) दीर्घ काल में होती, ऐसा यहाँ नहीं है।

सैंतालीस नयों में आता है न? काल से मोक्ष और अकाल से मोक्ष। काल से भी मोक्ष होता है और अकाल से भी मोक्ष होता है - ऐसा सामनेवाले कहते हैं। गजपन्था में एक साधु को पूछा था, क्योंकि उसके आश्रय तो बहुत लोग मानते और श्रद्धा की लाईन फेर दी थी (मुझे ऐसा हुआ कि) यह मूल में कुछ समझता है या नहीं? इसलिए मैंने कहा - प्रवचनसार में अकाल से मोक्ष कहा है, काल से ही मोक्ष होता है - ऐसा कुछ वहाँ नहीं कहा। वह समझ गया, मैंने विचार नहीं किया - ऐसा कहकर बेचारे ने छोड़ दिया। (उन्हें ऐसा लगा कि) यह तो कहीं पकड़ेंगे। प्रवचनसार में अकाल से मोक्ष कहा है। अमुक ही समय में - काल में ही मोक्ष होता है - ऐसा उसमें नहीं कहा है। तब उसका क्या अर्थ है? (उन्होंने कहा कि) मैंने विचार नहीं किया।

श्रोता : आप ही फरमाओ - ऐसा नहीं कहा?

समाधान : इसमें तो मान जाता है न! मैंने विचार नहीं किया - ऐसा कहा। (अर्थात्) ठीक! कहकर छोड़ दिया। अकाल में कहीं समय नहीं बदला है, समय तो जिस समय केवलज्ञान का मोक्ष का समय है, वही समय है। अकाल में काल के उपरान्त

स्वभाव और पुरुषार्थ को मिलाया है; इस कारण उसे अकाल कहा है। आहा...हा... ! अकेले काल को नहीं परन्तु दूसरे चार को भी साथ में मिलाकर अकाल से मोक्ष कहा है। अकाल (अर्थात् काल) आगे-पीछे होता है - (ऐसा वहाँ नहीं कहना है)। आहा...हा... ! (वह साधु) यहाँ का पढ़कर बहुत वार्ता करते थे, फिर साधुपना छोड़ दिया था। यहाँ की दृष्टि आयी न! इसलिए झुक कर चरण छुए थे, शाम को आये थे। रात्रि में कहीं से आये थे, रात्रि में फिर आये और चरण-स्पर्श किये। बातचीत कुछ हुई नहीं, (मुझे ऐसा हुआ था कि) इसका हृदय क्या है ? यहाँ की बात करके, यहाँ का पढ़ता है और यहीं की बात करता है। इसलिए मैंने पूछा परन्तु शास्त्र में ऐसा है न! भगवान कहते हैं कि अकाल से मोक्ष होता है। वहाँ काल से ही होता है ऐसा कहाँ कहा है ? उसे पता पड़ गया, समझ गया और ढीला पड़ गया कि मैं कुछ भी कहूँगा तो मुझे पकड़ेंगे! काल का अर्थ जिस समय (मोक्ष) होना है, उसी समय वही होना है परन्तु अकाल अर्थात् वहाँ स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता, निमित्त का अभाव यह सब साथ हैं, उन्हें अकाल कहा जाता है। आहा...हा... ! अकेला काल नहीं - ऐसा कहना है।

यहाँ यह वचन है - **शीघ्र ही!** मूल पाठ में है न **अचिरेण! अचिरेण कालेण** - ऐसा शब्द है। देखा ? जिसने अल्प काल में मिथ्यात्व और राग-द्वेष पर प्रहार किया, यह व्यय से बात की है। अर्थात् कि जिसे स्वभाव का जोरदार पुरुषार्थ प्रगट किया, उसे अल्प काल में... अचिरेण कालेण है न ? अल्प काल में सर्व दुःख से मुक्त होकर केवल प्राप्त करेगा - इससे वहाँ क्रमबद्ध छूट जाती है - ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! लोग बेचारे कहीं पड़े हैं, कुछ विचार नहीं करते। सुननेवाले को भी पता नहीं है और सिर पर जो हैं, वे कहते हैं, जय नारायण आहा...हा... ! इसमें कहा।

शीघ्र ही समस्त दुःखों से परिमुक्त होता है.... (शीघ्र ही अर्थात्) जल्दी ही, तुरन्त ही, शीघ्रमेव आहा....हा.... ! जिसे यहाँ आनन्द के नाथ का आश्रय हुआ, अथवा क्रमबद्ध की अपेक्षा से कहें तो जिसे अकर्तापना प्रगट हुआ, (वह तीव्र दुःखों से परिमुक्त होता है)। आहा...हा... ! अकर्ता - जैन का अकर्तापना वहाँ तक चला जाता है कि पर का तो कर्ता नहीं है, राग का कर्ता तो नहीं है परन्तु जो पर्याय आती है, उसे करूँ - यह भी

यहाँ नहीं है। आहा...हा...! जैन परमेश्वर का अकर्तापना – अकर्तावादीपना यहाँ तक जाता है। आहा...हा...!

अरे! किसे पड़ी है इसमें? कहाँ जायेगा बापा! कहाँ जायेगा? देह छूटेगी तो चला जाएगा बापा! अभी बात नहीं की थी? (एक भाई) कहीं से आ रहे थे। रेल में बीच में कहीं अकस्मात् हो गया। आहा...हा...! बावन वर्ष की उम्र! आहा...! अरे... ऐसे अकस्मात् काल में कहाँ जाकर उपजना... भाई! आहा...हा...! कोई परिचित मनुष्य नहीं, परिचित भव नहीं, परिचित भाव नहीं... आहा...हा...! परिचित क्षेत्र नहीं.... आहा...हा...! परिचित काल नहीं... आहा...हा...! कहाँ जाकर अवतार लेगा.... बापू!

श्रोता : जहाँ जायेगा वहाँ मोह होगा, इसलिए अपना मान लेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : जहाँ होता है, वहाँ उसे अपना मानता है। एक दृष्टान्त नहीं आता? एक राजा था, उसे एक ज्ञानी ने कहा कि तुम मरकर कुत्ती के गर्भ से पिल्ला होनेवाले हो, ऐसा राजा से कहा। बहुत तो पशु होनेवाले हैं बापू! जिसने इस धर्म के संस्कार पाँच-दस वर्ष डाले हों वे थोड़े हों तो मनुष्य होते हैं और बहुत हों तो देव होते हैं परन्तु यह संस्कार ही नहीं हैं और यह वस्तुस्थिति नहीं जानी है, उसे तो अकेले ही तिर्यञ्च के अर्थात् कषाय के वक्रभाव हैं। आहा...हा...! वे वहाँ (तिर्यञ्च में) चले जाते हैं। वहाँ ही जायेंगे। उस राजा को धर्मी – धर्मात्मा ने कहा – राजन्! तुम्हारा अवतार कुत्ती की गर्भ से होनेवाला है (हिन्दी में उसे पिल्ला... पिल्ला... कहते हैं)। (जहाँ राजा ने ऐसा सुना वहाँ) हैं...! (हो गया) राजा कहने लगा – नहीं, मुझे आकर मार देना। जब में पिल्ला होऊँ – कुत्ती का बच्चा होऊँ तो कोई भी व्यक्ति आकर मुझे मार देना। वह जब कुत्ती का बच्चा हुआ और वे उसे मारने आते हैं तो वह भागता है।

श्रोता : पर्याय में मोह हुआ?

समाधान : यही मैं हूँ – ऐसा मानकर बैठा था न? वहाँ पहले कहा था कि हैं! राजा मरकर कुत्ती का बच्चा! कुत्ती के गर्भ से!! आहा...हा...! जिसे बच्चा पैदा होते ही इतनी भूख होती है कि यदि उसे तुरन्त हलवा या अन्य कुछ नहीं मिले तो बच्चे को खा जाती है। यहाँ खाया था न? मन्दिर के पीछे बच्चे को खा गयी। आहा...हा...! सर्पिणी तो उसके

जितने बच्चे होते हैं, उन सबको खाती है; कोई बाहर छूट जाये तो छूट जाये! नहीं तो गोल चक्कर बनाकर सबको खा जाती है। आहा...हा...! माता अपने बच्चे को खाये! क्षुधा बहुत लगी हो और बाहर में कुछ तैयार न हो। आहा...हा...!

प्रभु! ऐसे संसार में परिभ्रमण करते हुए तुझे दुर्लभ परम्परा से जिनेन्द्र का तीक्ष्ण उपदेश प्राप्त हुआ... आहा...हा....! अब तो तीक्ष्ण पुरुषार्थ करके दृढ़तापूर्वक प्रहार कर, भ्रम पर प्रहार कर! भगवान पर जा और भ्रम का नाश कर! आहा...हा...! यहाँ तो क्षय की और नाश की ही बात है। फिर से होता है यह प्रश्न ही यहाँ नहीं है। आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों की वाणी में कहीं ढीलापन नहीं है। वे स्वयं कहते हैं न! देखो न! यहाँ क्या कहते हैं? **प्रहार करता है...** पहले नहीं आया था? हम कमर कसकर बैठे हैं। कमर पट्टा बाँध कर बैठे हैं! वरना राग प्रमाद है, यह चोर है। आहा...हा...! महाव्रत के परिणाम आते हैं, यह चोर है! आहा...हा...! गजब बात है भाई! वहाँ हमारी शान्ति लुटती है। आहा...हा...! इसलिए मुझे सावधान रहना पड़ेगा। स्वभाव सन्मुख की दशा में सावधान रहना पड़ेगा। आहा...हा...! यह पुरुषार्थ कहा या नहीं? यहाँ यह कहा न? पुरुषार्थ करता है। अर्थक्रियाकारी पुरुषार्थ करता है अर्थात् सर्व दु:खों से मुक्त होने का पुरुषार्थ करता है - ऐसा उसका अर्थ है। यह स्थिति क्रमबद्ध में आती है। आहा...हा...! इससे कोई दशा आगे-पीछे हो जाती है (- ऐसा नहीं है) परन्तु आगे-पीछे की व्याख्या क्या? आहा...हा...! यहाँ यह दशा होनी थी, वह अवस्था बाद में हुई और उस समय होनेवाली थी, वह यहाँ हुई - ऐसा है? इसका अर्थ क्या? आहा...हा...!

श्रोता : यह उसका स्वकाल है तो स्वकाल में होती है!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उसके स्वकाल में होती ही है। स्वकाल होता ही है। उल्टी सीधी (नहीं होती)। जन्मक्षण नहीं (आता है)? अभी इसमें आगे आयेगा। १०१ नम्बर की गाथा में वहाँ तक आयेगा कि उत्पाद है, उसे व्यय और ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा उत्पाद का सत्पना! सत् है उसे किसी की अपेक्षा नहीं है; अपेक्षावाला हो उसे सत् नहीं कहते। आहा...हा...! मिथ्यात्व का उत्पाद है, उसे भी किसी की अपेक्षा नहीं है कि दर्शनमोह का उदय है, इसलिए यहाँ मिथ्यात्व है - ऐसा नहीं है,

यह कहते हैं। सम्यग्दर्शन में भी दर्शनमोह का अभाव होता है – ऐसी उसे अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...!

त्रिलोकनाथ चैतन्य भगवान, पूर्ण अनन्त गुण के स्वभाव से भरपूर भगवान, पूर्ण ठसाठस, जिसमें विकल्प का प्रवेश नहीं है; अरे...! यह तो ठीक, परन्तु पर्याय जिसके ऊपर तैरती है... आहा...हा...! जिसमें पर्याय का प्रवेश नहीं है! आहा...हा...! यह तो आता है न? समयसार में प्रारम्भिक कलशों में आ गया है, कलश में आ जाता है कि पर का प्रवेश नहीं है।

द्रव्य जो वस्तु है... वस्तु है – दल-ध्रुव! भले ही क्षेत्र छोटा हो, परन्तु उसका स्वभाव है न? उसका सत्व है न? सत् की शक्ति है न? उस शक्ति को – सत्व को मर्यादा क्या होती है? आहा...हा...! ऐसे स्वभाव की ओर का जोर करने पर (जो पर्याय होती है), वह पर्याय भी द्रव्य से ऊपर तैरती है – ऐसा कहते हैं। वह पुरुषार्थ की पर्याय भी द्रव्य से ऊपर तैरती है! आहा...हा...! केवलज्ञान की पर्याय भी द्रव्य से ऊपर तैरती है। आहा...हा...! द्रव्य से ऊपर तैरती है! प्रभु! मार्ग अलग है भाई! आहा...हा...! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की उपदेश की विधि और रीति कोई अलौकिक! यही कहा है न? ऐसे उपदेश को प्राप्त करके... आहा...हा...! अब वहाँ खड़ा मत रहना। उपदेश में आया कि मोह-राग और द्वेष पर प्रहार कर अथवा स्वभाव पर दृढ़रूप से जा और फिर स्थिर हो। मोह-राग-द्वेष का अभाव कहा है न? (इसलिए यहाँ) समकित और स्थिरता होती है। आहा...हा...! दृढ़रूप से सम्यग्दर्शन प्रगट कर और दृढ़रूप से अन्दर स्थिर हो। आहा...हा...!

आहा...हा...! जो पर्याय अन्दर प्रवेश नहीं करती, उस पर्याय में इतना पुरुषार्थ होता है! आहा...हा...! वह (पर्याय) स्वभावसन्मुख ढल गयी है। 'ढली है' ऐसा कहीं आया था न? इसी में कहीं आया था। गाथा में आयेगा – प्रवण... प्रवण आयेगा आगे ९० वीं गाथा में – (प्रवण अर्थात्) ढलती; अभिमुख रत। नीचे (अर्थ आया है) और अन्दर टीका में भी है। प्रवण! **मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण बुद्धिवाला...** ९० वीं गाथा। **मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण बुद्धिवाला...** प्रवण प्रवीण नहीं, प्रवीण नहीं परन्तु प्रवण। प्रवण अर्थात् ढलती हुई, अभिमुख, रत (अर्थात् कि) स्वभाव सन्मुख ढलती हुई।

आहा...हा... ! अद्‌भुत गजब टीका की है ! अमृतचन्द्राचार्य की टीका... आहा...हा... ! भरतक्षेत्र में इसकी समानता की कोई टीका नहीं मिलती ! परन्तु बहुत सूक्ष्म बात है बापू ! आहा...हा... !

तीक्ष्ण उपदेश है – ऐसा कहा है न ? असिधारा के समान जिनका उपदेश है – एक बात। यह तो उपदेश की बात की और इतना अधिक शीघ्रतापूर्वक दृढ़ प्रहार करता है, वहाँ यह तेरा पुरुषार्थ है। आहा...हा... ! प्रवण... प्रवण शब्द यह है। भाई ! अर्थात् कि ढ़लती हुई, अभिमुख होना, अभिमुख अर्थात् स्वभाव सन्मुख; आहा...हा... ! स्वसन्मुख में रत होना। यहाँ भी यही कहा है (कि) मोह का नाश कर ! इसका अर्थ यही है कि नाश करूँ यह भी कहाँ है ? समझाने के लिए दूसरा क्या कहेंगे ? इस प्रकार जिसमें मोह नहीं है, वहाँ ढल जा ! आहा...हा... ! जिसमें वह नहीं है, वहाँ ढल जा। आहा...हा... ! अपना झुकाव बदल दे ! आहा...हा... !

जहाँ पूर्ण गुणरूप प्रभु विराजमान हैं, जिसमें गुण को कोई आँच नहीं है, अनादि से ऐसे-ऐसे मिथ्यात्व की ओर निगोद की कठिन पर्यायें सेवन करने पर भी द्रव्य और गुण तो ऐसे के ऐसे पूरे-पूरे अखण्ड भरे हैं। आहा...हा... ! उन्हें आँच नहीं है, उन्हें जरा सी घिसावट नहीं है। आहा...हा... ! यह आता है न ? कलश में आता है, घिसावट नहीं है। आहा...हा... ! उसे द्रव्य कहते हैं, ऐसा कहते हैं। वह द्रव्य जो वस्तु है, उसमें उसके गुण हैं। आहा...हा... ! संसार के चक्र में चाहे जितनी इसकी पर्यायें हो गयीं परन्तु वह वस्तु है, वह तो वही है; जैसी है वैसी है। उसमें कुछ घिसावट / न्यूनता नहीं लगती, हीनपना नहीं आता, विकृतपना नहीं होता, अपूर्णपना नहीं होता। आहा...हा... ! ऐसा उपदेश ! परन्तु इसमें कुछ करने का क्या है ? यह करना नहीं है ? तेरा झुकाव ऐसा (परान्मुख है), उसे बदलना यह कुछ करना नहीं है ? यह किये बिना, पुरुषार्थ बिना होता होगा ? आहा...हा... !

श्रोता : पुरुषार्थ की ही बात करते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री : पुरुषार्थ करो न ? कमर कसकर पुरुषार्थ करो ! उसके लिए तो यह बात है। मेरा पुरुषार्थ भी अब स्वभाव सन्मुख ढल जाता है – ऐसा कहते हैं। मेरी दृष्टि द्रव्य पर गयी, इसलिए अब मेरा पुरुषार्थ जो पर्याय में है, वह अब यहाँ ढल जाता है।

पर्यायवान जो द्रव्य है, वहाँ ढल जाता है अर्थात् वहाँ लक्ष्य जाता है ऐसा। आहा...हा...! उसके अभिमुख होता है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

अरे...! ऐसा मनुष्यपना चला जाता है। देखो न? डॉक्टर ऐसा सुना कि रोगी मर गया था, उसका पलंग था और दूसरा रोगी आया, उसे देखने गया। वहाँ उसके बिस्तर में स्वयं सो गया! आहा...हा...! (फिर कहा) बहिन को बुलाओ! मैं अब बचनेवाला नहीं हूँ। आ...हा...! छोटी उम्र ६१ वर्ष, शरीर देखो तो ऐसा ठिगना, आहा...हा...! अरे बापू! जड़ की पर्याय...! आहा...हा...! उसे जिस समय (छूटना है) उसे काल कहाँ है? एक समय है, समाप्त हो जाता है। आहा...हा...!

एक समय में जो आत्मा के प्रदेश यहाँ हैं, वे एक समय में अन्यत्र चले जाते हैं। कर्म के कारण नहीं, आयुष्य के कारण नहीं। आहा...हा...! प्रभु! वे प्रदेश-असंख्य प्रदेश एक समय में यहाँ शरीर में रहने की योग्यतावाला है, उसकी योग्यता इतनी ही है; कर्म के कारण नहीं। आहा...हा...! वह शरीर में से छूटा, वह अपनी योग्यता से, जहाँ जाता है, वहाँ जाये, वह अपनी पर्याय से, जहाँ जाता है, वहाँ जाता है; उसे कर्म ले जाता है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! इस गाय और भैंस में नाथ डालते हैं न? फिर खिंचते हैं। नाथ डालकर खिंचते हैं। इसी प्रकार कोई कहता है कि यहाँ इसे प्रकृति खेंचती है (तो ऐसा नहीं है)। पराघात आता है, आनुपूर्वी आता है आनुपूर्वी इसे खींचकर वहाँ ले जाता है, यह सब बातें हैं। आहा...हा...! यह अपनी पर्याय की योग्यता से चला जाता है। योग्यता यह कोई अलौकिक बात है! पर के कारण नहीं, पर से नहीं। आहा...हा...! यह यहाँ कहते हैं।

शीघ्रतापूर्वक... शीघ्रं - एव, जल्दी से ही - यह अर्थ नीचे किया है। शीघ्रमेव अर्थात् जल्दी ही। 'एव' है न? जल्दी ही, तुरन्त ही इसका अर्थ शीघ्रमेव है। अल्प काल में उसे केवलज्ञान होना है। आहा...हा...! केवलज्ञान का नाथ सर्वज्ञप्रभु, त्रिकाल सर्वज्ञ स्वभावी का जहाँ आश्रय लिया, वह अल्प काल में सर्वज्ञ होनेवाला है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! शक्ति में है, वह बाहर आना है क्योंकि उसकी प्रतीति और उसमें स्थिरता का जोर किया है। यह (मैं) इतना बड़ा हूँ - ऐसी प्रतीति की है और उसमें स्थिरता की है। आहा...हा...! कैसे शब्द हैं! **शीघ्र ही समस्त दुःखों से परिमुक्त...** पाठ है न?

सव्वदुक्खमुक्खं – तीसरा पद है। सव्वदुक्खमुक्खं का अर्थ यहाँ (करते हैं कि) **समस्त दुःखों से परिमुक्त होता है।....** परिमुक्त अर्थात् समस्त प्रकार से मुक्त हो जाता है। आहा...हा...!

अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त समाधिसुख में (विराजमान हो जाता है)। आहा...हा...! जैसा अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख स्वभाव में पड़ा है; मर्यादारहित स्वभाव है, उस पर जोर देने पर – पुरुषार्थ का जोर देने पर उसे अल्प काल में तुरन्त ही, जल्दी ही... (केवलज्ञान प्रगट होता है)। आहा...हा...! जल्दी में क्रमबद्ध कहाँ आया? इस जल्दी में ही क्रमबद्ध आया। आहा...हा...! यह जल्दी ऐसा सूचित करता है कि इसके क्रम में केवलज्ञान अल्प काल में होना है ऐसा। केवलज्ञान इसे अल्प काल में होना है – ऐसा है बापू! क्या हो अब? प्रभु! सर्वज्ञ नहीं मिलते कि कोई उनकी साक्षी दे कि वस्तु तो ऐसी है। आहा...हा...! **सर्व-समस्त दुःखों से...** समस्त दुःख – शारीरिक, मानसिक, किसी भी दुःख से परिमुक्त – सर्वथा प्रकार से मुक्त होता है। परि अर्थात् सर्वथा प्रकार से।

अब यह कहते हैं – **अन्य कोई व्यापार...** आहा...हा....! दूसरा कोई उद्योग और दया, दान, व्रत की क्रिया यह **समस्त दुःखों से परिमुक्त नहीं करता...** आहा...हा...! लो, ऐसी तो बात है! **अन्य व्यापार...** अर्थात् व्रत का, दया का, दान का, भक्ति का, पूजा का, व्यापार समस्त दुःखों से परिमुक्त नहीं करता। आहा...हा...! तब थोड़े दुःखों से मुक्त – परिमुक्त करता होगा या नहीं? जरा भी नहीं। आहा...हा...!

अब दृष्टान्त देते हैं – **हाथ में तलवार लिये हुए मनुष्य की भाँति...** हाथ में तलवार हो ऐसे मनुष्य की तरह **(जैसे मनुष्य के हाथ में तीक्ष्ण तलवार होने पर भी यदि वह मनुष्य शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से उसका प्रहार करे, तभी वह शत्रु सम्बन्धी दुःख से मुक्त होता है...)** आहा....हा...! हाथ में तलवार हो और ऐसे धीरे... धीरे... ऐसे... ऐसे... करे (उससे) शत्रु नहीं मरते। सिर पर एकदम तलवार का प्रहार करे... फटाक से तो सिर उड़ जाता है। आहा...हा....!

हाथ में तलवार लिये हुए मनुष्य की भाँति (जैसे मनुष्य के हाथ में तीक्ष्ण तलवार होने पर भी यदि वह मनुष्य शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से उसका प्रहार करे...)

धीरे-धीरे करे तो वह जरा असाध्य हो जायेगा तो मरेगा नहीं। आहा...हा...! **शत्रुओं पर अत्यन्त वेग से उसका प्रहार करे...** आहा...हा...! राग की मन्दता करते... करते... करते... करते... होगा - ऐसा नहीं है। यह कहते हैं।

श्रोता : अत्यन्त निर्दयरूप से?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकदम निर्दय! राग पर निर्दय (होकर प्रहार करे)। अनादि बन्धु को मारनेवाला - ऐसा परमात्मप्रकाश में आता है न? अरे...रे...! राग अनादि का बन्धु अर्थात् अपना सम्बन्ध छोड़ा नहीं, बान्धवरूप में काम किया, इसने बान्धव को मारा। अनादि से जिसने साथ नहीं छोड़ा ऐसे राग को, मिथ्यात्व को, बन्धु को, धर्मी ने उसका नाश कर दिया। आहा...हा...! परमात्मप्रकाश....!

यहाँ कहते हैं... आ...हा...हा...! **अन्यथा नहीं....** है न? **शत्रु सम्बन्धी दुःख से मुक्त होता है अन्यथा...** दूसरे व्यापार से नहीं। (अर्थात् कि) दया, दान, भक्ति, उपवास, तपस्या, मन्दिर बनाना और यात्रा करना, इस प्रकार से मुक्त नहीं होता। आहा...हा...! **अन्यथा नहीं, उसी प्रकार इस अनादि संसार में महाभाग्य से....** आहा...हा...! भगवान का जो अनेकान्त का उपदेश है, आहा...हा...! **महाभाग्य से जिनेश्वरदेव के उपदेशरूप....** आहा...हा...! जिनेश्वर का उपदेश ही कैसा होता है? - यह अभी इसे जानना चाहिए। आहा...हा...! जिनेश्वर का उपदेश भी वीतरागता को उत्पन्न कराने का होता है, मोह और राग का नाश करने के लिए (उपदेश होता है)। आहा...हा...!

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि सार में सार यह है कि राग का नाश करना, यह वस्तु है। चाहे कितना भी उपदेश हो, परन्तु राग का अभाव करना ही सबका सार है फिर मिथ्यात्व का राग हो या चारित्र का राग हो। आहा...हा...! मोक्षमार्गप्रकाशक में है।

(यहाँ कहते हैं) **महाभाग्य से जिनेश्वर देव के उपदेशरूपी...** आहा...हा...! अभी सच्चा उपदेश कान में पड़े, वह महाभाग्यवान है। **तीक्ष्ण तलवार को प्राप्त करके भी...** ऐसे उपदेशरूपी तीक्ष्ण तलवार को प्राप्त करने पर भी, आहा...हा...! **जो जीव मोह-राग-द्वेषरूप शत्रुओं पर अति दृढ़तापूर्वक...** आहा...हा...! **मोह-राग-द्वेषरूप शत्रुओं पर अति दृढ़तापूर्वक उसका प्रहार करता है, वही सर्व दुःखों से मुक्त होता**

है।... वीर्य का जोर वहाँ स्वभावसन्मुख ढला है, वह पुरुषार्थ है (– ऐसा कहते हैं।) आहा...हा...! जिसकी आवश्यकता जाना हो, वहाँ पुरुषार्थ ढले बिना नहीं रहता। आहा...हा...! 'रुचि अनुयायी वीर्य' आहा...हा...! **वही सर्व दुःखों से मुक्त होता है, अन्यथा नहीं।**

आहा...हा...! देखो, अब आचार्य स्वयं कहते हैं। **इसीलिए...** इस कारण ही **सम्पूर्ण आरम्भ से (प्रयत्नपूर्वक)...** सर्व यत्न से – सर्व प्रयत्न से – सर्व पुरुषार्थ से **मोह का क्षय करने के लिए मैं पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता हूँ।** पुरुषार्थ का आश्रय करता हूँ – ऐसा कहा है, राग का नहीं; वरना आश्रय तो द्रव्य का है, परन्तु यहाँ परिणति प्रगट करनी है न! आहा...हा...! **मोह का क्षय करने के लिये मैं....** आचार्य स्वयं अपनी बात करते हैं! **पुरुषार्थ का आश्रय करता हूँ...** (अर्थात्) मेरा पुरुषार्थ स्वभाव की ओर ढलने का है। आहा...हा...! विशेष कहेंगे.... l

धन्य है उसका जीवन

जिस प्रकार माता से पृथक् पड़े हुए बालक को 'मेरी माँ... मेरी माँ...' इस प्रकार अपनी माता की ही रटन रहा करती है। कोई उससे पूछे कि तेरा नाम क्या है? तो वह कहेगा 'मेरी माँ।' कोई उससे खाने के लिये पूछे तो कहेगा 'मेरी माँ', इस प्रकार वह माता की ही रटन करता है; इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को अन्तर में आत्मा की दरकार जगती है, आत्मा की ही रटन और आत्मा की ही चिन्ता जो प्रगट करते हैं, जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य की रुचि अन्तरङ्ग में नहीं होने देते, उनका जीवन धन्य है।

अहो! जो इस चैतन्यस्वभाव का भान प्रगट करके, ध्यान में उसे ध्याता है, उसकी महिमा की क्या बात करना! उसने तो कार्य प्रगट कर लिया है; इसलिए वह तो कृतकृत्य है ही, परन्तु जिसने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है अर्थात् जिसे यह चिन्ता प्रगट हुई है कि अहो! मेरा कार्य कैसे प्रगट हो? मुझे अन्दर से आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव कैसे प्रगट हो? उस आत्मा का जीवन भी धन्य है, संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है – ऐसा सन्त-आचार्य कहते हैं।

(- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आतम के हित पन्थ लाग!, पृष्ठ - २०-२१)

गाथा ८९

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते -

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।।८९।।

ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्।
जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति।।८९।।

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति। अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि।।८९।।

एवं द्रव्यगुणपर्यायविषये मूढत्वनिराकरणार्थं गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्डिका गता। अथ स्वपरात्मनोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति - **णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं जाणदि जदि** ज्ञानात्मकमात्मानं जानाति यदि। कथंभूतम्। स्वकीयशुद्धचैतन्यद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धं, न केवलमात्मानम्, परं च यथोचितचेतनाचेतनपरकीयद्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम्। कस्मात् **णिच्छयदो** निश्चयतः निश्चयनयानुकूलं भेदज्ञानमाश्रित्य। **जो** यः कर्ता **सो** स **मोहक्खयं कुणदि** निर्मोहपरमानन्दैकस्वभावशुद्धात्मनो विपरीतस्य मोहस्य क्षयं करोतीति सूत्रार्थः।।८९।।

अब, स्व-पर के विवेक की (भेदज्ञान की) सिद्धि से ही मोह का क्षय हो सकता है, इसलिए स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं -

निज आत्म को निज ज्ञान से, अरु पर को उनके द्रव्य से।
निश्चयपने संबद्ध जाने, जीव वो मोह क्षय करे॥

अन्वयार्थ : **[यः]** जो **[निश्चयतः]** निश्चय से **[ज्ञानात्मकं आत्मानं]** ज्ञानात्मक ऐसे अपने को **[च]** और **[परं]** पर को **[द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धम्]** निज निज द्रव्यत्व से संबद्ध (संयुक्त) **[यदि जानाति]** जानता है, **[सः]** वह **[मोह क्षयं करोति]** मोह का क्षय करता है।

टीका : जो निश्चय से अपने को स्वकीय (अपने) चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से संबद्ध (संयुक्त) और पर को परकीय (दूसरे के) यथोचित[1] द्रव्यत्व से सम्बद्ध ही जानता है, वही (जीव), जिसने कि सम्यक्‌रूप से स्व-पर के विवेक को प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोह का क्षय करता है। इसलिए मैं स्व-पर के विवेक के लिये प्रयत्नशील हूँ॥ ८९॥

प्रवचन नं. ८२ **दिनाङ्क २३ मई १९७९**

प्रवचनसार ८९ वीं गाथा। इसका उपोद्‌घात। **अब, सब प्रकार से स्व पर के विवेक की (भेदज्ञान की)...** (अर्थात्) स्व कौन है और पर कौन है? इसके **(भेदज्ञान की) सिद्धि से ही मोह का क्षय हो सकता है।....** स्व और पर के पृथकपन से - भेदज्ञान से ही मोह का क्षय हो सकता है। **इसलिए स्व पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं** - आहा...हा...! स्व आत्मा अन्दर कौन है? और पर कौन है? दोनों के विभाग की खतौनी का भेदज्ञान करने से मोह का नाश होता है। **इसलिए स्व पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं** - स्व-पर की भिन्नता के लिये - भेदज्ञान के लिये प्रयत्न करते हैं -

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि।।८९।।

(नीचे हरिगीत -)

निज आत्म को निज ज्ञान से, अरु पर को उनके द्रव्य से।
निश्चयपने संबद्ध जाने, जीव वो मोह क्षय करे॥

आ...हा...हा...! **टीका : जो निश्चय से अपने को स्वकीय (अपने) चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से सम्बद्ध....** आहा...हा...! भगवान आत्मा को चैतन्य-स्वकीय चैतन्यस्वरूप के साथ द्रव्यत्व से सम्बद्ध-संयुक्त है। द्रव्य जो वस्तु है, उसे स्वकीय चैतन्यस्वरूप के साथ सम्बद्ध है। आहा...हा...!

१. यथोचित = यथायोग्य - चेतन या अचेतन (पुद्‌गलादि द्रव्य परकीय अचेतन द्रव्यत्व से और अन्य आत्मा परकीय चेतन द्रव्यत्व से संयुक्त हैं।)

और पर की (दूसरे के) यथोचित्.... आत्मा के अतिरिक्त पर। यथोचित् अर्थात् जीव और जड़। नीचे (यथोचित का अर्थ दिया है।) यथायोग्य - चेतन या अचेतन (पुद्गलादि द्रव्य परकीय अचेतन द्रव्यत्व से और अन्य आत्मा परकीय चेतन द्रव्यत्व से संयुक्त हैं।) परमाणु आदि जो पाँच अजीव द्रव्य हैं, उनके द्रव्य परकीय अचेतन द्रव्य से संयुक्त है। यह परकीय का जो अचेतन है, उससे उसके द्रव्य का सम्बन्ध है। आहा...हा...! और अन्य आत्माएँ परकीय चेतन द्रव्यत्व से संयुक्त है। (अर्थात्) इस आत्मा के अतिरिक्त दूसरे आत्माएँ - भगवान हो या तीर्थङ्कर हो, या पञ्च पमरेष्ठी हो - वे उनके चैतन्यस्वभाव के साथ उनके द्रव्य का सम्बन्ध है। आहा...हा...! आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...!

श्रोता : गुरु-शिष्य का सम्बन्ध तो अवश्य है न?

समाधान : यह कुछ नहीं है। ज्ञायकस्वभाव-चैतन्यस्वभाव... आगे ९० वीं गाथा में ज्ञायक लेंगे। यह चैतन्यस्वभाव को द्रव्यत्व अर्थात् त्रिकाल ध्रुव द्रव्य है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! ऐसे ही पर पुद्गल आदि पाँच द्रव्य हैं, उनको अचेतनपने के उनके द्रव्य के साथ सम्बन्ध हैं। उनका अचेतनपने का द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! और भगवान आत्मा के अतिरिक्त पञ्च परमेष्ठी या अनन्त आत्माएँ हैं, वे उनके ज्ञायक चैतन्यस्वभाव से उनके द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! पर की जो आत्मा है - पञ्च परमेष्ठी हो या स्त्री, परिवार का आत्मा हो, उनके आत्मा का उनके चैतन्यस्वभाव के साथ उनके द्रव्य का सम्बन्ध है। आहा...हा...!

श्रोता : हमारे साथ नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के साथ बिल्कुल कोई सम्बन्ध नहीं है - ऐसा कहते हैं।

देखो, **परकीय** आहा...हा...! **यथोचित् द्रव्यत्व से सम्बद्ध ही जानता है...** यह पर का चेतन है। इसका चेतन के साथ अर्थात् द्रव्य के साथ सम्बन्ध है, यहाँ भाषा ऐसी है। **द्रव्यत्व से सम्बद्ध....** द्रव्यपना जो है, द्रव्यपना है - त्रिकाली ध्रुव जो द्रव्यपना है, उसके साथ (सम्बद्ध) है। पर को-अचेतन को अचेतन के स्वभाव के साथ द्रव्य का सम्बन्ध है और चेतन को चैतन्यस्वभाव के साथ उसका द्रव्यपना है, उसका उसे सम्बन्ध

है। आहा...हा...! इस आत्मा को अपने चैतन्यस्वभाव से द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है, राग के साथ सम्बन्ध नहीं है, पर के साथ तो सम्बन्ध है ही नहीं। आहा...हा...! यहाँ तो स्व–पर का भेदज्ञान करते हैं न? – विवेक–विभाग करते हैं न? दो भाग करते हैं। यह विभाग करते हैं न? (इस प्रकार यहाँ) भाग करते हैं। भाग अलग करते हैं, आहा...हा...!

यह चैतन्य प्रभु! यह चैतन्य ज्ञान स्वभाव है, वह द्रव्यत्व अर्थात् द्रव्यपना जो ध्रुव वस्तु है, उसके साथ सम्बन्ध रखता है। आहा...हा...! कर्म के साथ नहीं, पर के साथ नहीं, राग के साथ नहीं। आहा...हा...! **परकीय (दूसरे के) यथोचित् द्रव्यत्व से....** द्रव्यत्व से अर्थात् द्रव्यपना, उससे **सम्बद्ध ही जानता है।....** धर्मी जीव अपने चैतन्यस्वभाव से द्रव्यत्वपना द्रव्य है, उसके साथ सम्बन्ध है (– ऐसा मानता है) और दूसरे आत्माओं को भी उनके चैतन्यस्वभाव से उनका द्रव्यत्वपना, जो द्रव्यपना है, उसके साथ सम्बन्ध है (ऐसा मानता है)। आहा...हा...! फिर यह पैसा मेरा और पुत्र मेरा और स्त्री मेरी यह कहाँ गया? पूरे दिन तो यह करना पड़ता है और यहाँ तो इनकार करते हैं! आहा...हा...!

श्रोता : यह तो बाबा हो जाये उनका काम है?

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबा ही है। बाबा करना भी कहाँ है? (एक व्यक्ति) कहता था कि बाबा हो जाये तो यह समझ में आये। बाबा ही है! यहाँ तो (किसी के साथ) सम्बन्ध ही नहीं है न! आहा...हा...! कुछ समझ में आया। आहा...हा...! बापू! यह वस्तु अलग है! ऐसी है। आहा...हा....! पैसे के साथ सम्बन्ध नहीं है, शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं है। अरे...! शरीर क्या पुण्य और दया, दान, व्रत के परिणाम के साथ सम्बन्ध (नहीं है)। चैतन्य को द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है। अपना ध्रुव रहनेवाला द्रव्य–द्रव्यपना, जो त्रिकाल वस्तुपना है, (उसके साथ सम्बन्ध है)। आहा...हा...! त्रिकाल जो द्रव्यपना, जो वस्तु है, जो सत् है, सत्ता है, द्रव्यपना है, (उसके साथ सम्बन्ध है)। भाई! द्रव्यत्वपना लिया है न? अर्थात् द्रव्यपना! आहा...हा...! चैतन्यस्वभाव का उसके साथ सम्बन्ध है। उस चेतन्यस्वभाव का राग के साथ सम्बन्ध नहीं है और परद्रव्य के साथ तो कोई सम्बन्ध (नहीं है।) तीन लोक के नाथ तीर्थङ्कर हों या पञ्च परमेष्ठी हों... आहा...हा...! उन्हें

उनके चैतन्यस्वभाव के साथ (उनका) द्रव्यपना – उनका ध्रुवद्रव्य है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग!

श्रोता : सगे-सम्बन्धियों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

समाधान : सगा-भगा कौन था? किसे कहना सगा?

आहा...हा...! तीन लोक का नाथ, जिन्हें इष्टदेव परमेश्वर कहते हैं। आहा...हा...! उन्हें भी जो उनका चैतन्यस्वभाव है उनका, उनके द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है। किसी शिष्य के साथ, किसी श्रोता के साथ अथवा गणधर के साथ... आ...हा...! अथवा वाणी के साथ (सम्बन्ध नहीं है)। भगवान का आत्मा या परमेष्ठी का आत्मा, उनका ज्ञायक चैतन्यस्वभाव है, उसे द्रव्यत्व अर्थात् द्रव्यपना जो त्रिकाल है, ध्रुवपना है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...!

इस आत्मा को भी चैतन्यस्वभाव का भाव है, उसे द्रव्यत्व (अर्थात्) द्रव्यपना, जो त्रिकाली ध्रुव वस्तु है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! पर के साथ तो सम्बन्ध नहीं परन्तु पर्याय के साथ सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! पर्याय ऐसा जानती है कि यह चैतन्यस्वभाव है, वह द्रव्यपने के साथ सम्बन्ध रखता है। त्रिकाली द्रव्य है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! पर्याय ऐसा निर्णय करती है। आहा...हा...! पर्याय ऐसा निर्णय नहीं करती कि मेरे और चैतन्यस्वभाव को, जैसा द्रव्यत्व का (चैतन्यस्वभाव के साथ) सम्बन्ध है, ऐसा मेरा (चैतन्यस्वभाव के साथ) सम्बन्ध है, ऐसा निर्णय नहीं करती। आहा...हा...! प्रयत्न कहा है न? **सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं....** ऐसा उपोद्घात में कहा है न? **स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं....** आहा...हा...! ऐसा मार्ग!

अरे...! अनादि से परिभ्रमण करता है, कोई धनीधौरी नहीं है। आहा...हा...! क्षण में शरीर की दशा छूट जाती है। (कहीं भी) जाकर अवतार लेता है। आहा...हा...! कोई परिचित सगे नहीं, प्रिय नहीं, पहचाननेवाले ग्राहक नहीं, लोग नहीं आहा...हा...! अरे...रे...! परन्तु वहाँ भी प्रभु! चैतन्यस्वभाव है, उसे द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! शरीर के साथ, कर्म के साथ, राग के साथ, पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! बहुत संक्षिप्त परन्तु परम सत्य!

परम सत्य जो द्रव्यत्व है – द्रव्यपना है, उसे चैतन्यस्वभाव – यह ज्ञानस्वभाव है। इस चैतन्यस्वभाव को चेतन द्रव्यपना है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! भाषा तो सादी है, परन्तु भाव तो बहुत सूक्ष्म है। बापा..! आहा...हा...! यहाँ तो (लोग ऐसा मानते हैं कि) दुनिया का कर देना, लोगों को सुखी कर देना, यह करना और वह करना और यह करना। आहा...हा...! कठिन काम है।

यहाँ तो कहते हैं कि इस शरीर के परमाणु हैं, इन परमाणुओं को इनका अचेतन स्वभाव है, उसे उसके द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध हैं, जो अचेतन स्वभाव है, उसका जो द्रव्यत्व अर्थात् द्रव्यपना जो कायम रहनेवाली चीज है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! इस परमाणु के अचेतनपन को आत्मा की किसी भी पर्याय के (साथ) और राग के साथ सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है। फिर लोग एकान्त कहते हैं परन्तु प्रभु तेरी बात तो एक बार सुन, नाथ! आहा...हा...! दुनिया चाहे जैसा माने, चाहे जैसा कहे, परन्तु वस्तु तो यह है।

भगवान आत्मा! आहा...हा...! **परकीय दूसरों के यथोचित्....** पर का यथोचित् (अर्थात्) जैसा है वैसा। (अर्थात्) अचेतन को अचेतन द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध (और) चैतन्य को चैतन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। (इस प्रकार) ज्ञानी **द्रव्यत्व से सम्बद्ध ही जानता है....** आहा...हा...! **सम्बद्ध ही....** शब्द रखा है। देखो ? आहा...हा...! कथञ्चित् पर के साथ सम्बन्ध है और कथञ्चित् पर के साथ सम्बन्ध नहीं है – ऐसा नहीं है भाई! आहा...हा...!

आहा...हा...! **परकीय यथोचित्....** (अर्थात्) चैतन्य को चैतन्य के द्रव्य के साथ सम्बन्ध और अचेतन को अचेतन के (द्रव्य के) साथ सम्बन्ध (– ऐसा कहना है।) **द्रव्यत्व से सम्बद्ध ही जानता है....** ज्ञानी (ऐसा जानता है कि) यह अचेतन द्रव्य अर्थात् यह शरीर के परमाणु हैं, उन परमाणुओं को उनके अचेतनपने से द्रव्य अर्थात् परमाणु को जो द्रव्यपना है, उसके साथ अचेतन का सम्बन्ध है, आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो (अज्ञानी को) किसी का कुछ कर देना है, देश का करना है, इसका करना है... (ऐसा सुनकर) बहुत कठिन पड़ता है।

श्रोता : देश का तो नहीं परन्तु अपने घरवालों का तो करे न?

समाधान : (लड़के का आत्मा है) वह उसके चैतन्यस्वभाव से उसके द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध रखता है। उसके शरीर के परमाणु हैं, जो अचेतनस्वभाव है, वे उसके द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध रखते हैं। आहा...हा...! ऐसी बात है।

श्रोता : समझदार पुत्र हो उसके साथ सम्बन्ध नहीं हैं?

समाधान : चतुर / समझदार किसे कहना? सात-आठ हजार डालर वेतन लेकर आवे, वह चतुर कहलाता है? (महीने का हजारों का वेतन हो तो भी) उससे क्या हुआ? उसके साथ आत्मा का क्या सम्बन्ध है? आहा...हा...!

श्रोता : अत्यन्त अभाव है!

पूज्य गुरुदेवश्री : अत्यन्त अभाव और अत्यन्त भिन्नता। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं। अभी तो ९० वीं गाथा में विशेष आयेगा।

(अब कहते हैं) **वही (जीव) जिसने कि सम्यक्रूप से स्व-पर के विवेक को प्राप्त किया है...** आहा...हा...! **वही (जीव)....** अर्थात्? चैतन्य, इस ज्ञान-ज्ञानस्वभाव का द्रव्यत्व के साथ-द्रव्यपने के साथ सम्बन्ध है और दूसरे अचेतन द्रव्यों को उनके अचेतन स्वभाव से उनके द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है। भगवान पञ्च परमेष्ठी आदि, कुटुम्ब-कबीला अथवा सम्पूर्ण देश, इनके जो आत्मा हैं, उन आत्माओं को चैतन्यस्वभाव से उनके द्रव्यत्व अर्थात् कायम रहनेवाला द्रव्यपना है, उसके साथ सम्बन्ध है और जो परमाणु हैं, धर्मास्ति आदि अन्य द्रव्य हैं, वे सब अचेतन (स्वभाव से) उनका द्रव्यपना अर्थात् कायम रहना है, उनके साथ सम्बन्ध रखते हैं। आहा...हा...! उसमें पुत्र कहाँ आया और बाप कहाँ आया? आहा...हा...! किसका पुत्र? किसका बाप? बापा! किसी का आत्मा, तेरा इससे सम्बन्ध? किसी का जड़ शरीर, तेरा इसके साथ सम्बन्ध? आहा...हा...! ऐसा है।

भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश का नूर है। उसे द्रव्यत्व के साथ अर्थात् उसका द्रव्यपना-वस्तुपने का त्रिकालपना जो है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! ऐसा

जिसने जाना... है ? आहा...हा... ! **वही (जीव) जिसने कि सम्यक्रूप से स्व-पर के विवेक को प्राप्त किया है...** वही जीव कि जिसने सम्यक्रूप से स्व-पर के विवेक को -विभाग को-पृथकता को जिसने प्राप्त किया है। आहा...हा... ! एक गाथा भी साढे तीन लाइन की है। यह तो भगवान की वाणी है बापा... ! दिगम्बर सन्त की (वाणी) अर्थात् केवली की वाणी। दिगम्बर सन्त केवली के आढ़तिया! तीन लोक के नाथ धर्मपिता! आहा...हा... ! उनकी वाणी, वह सन्तों की वाणी है। आहा...हा... !

प्रभु कहते हैं कि तुझे किसके साथ सम्बन्ध है ? भाई ! तुझमें पर्याय और राग के साथ भी सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... ! पर्याय ऐसा निर्णय करती है कि यह चैतन्यस्वभाव (जो है वह) द्रव्यत्वपना-द्रव्यपना कायम रहनेवाला है, उसके साथ सम्बन्ध रखता है। आहा...हा... ! ऐसा पर्याय निर्णय करती है। ऐसा पर्याय भेदज्ञान-विवेक करती है। आहा...हा... ! शब्द तो सादे हैं प्रभु ! मार्ग बहुत अलग है बापू ! आहा...हा... ! यह मेरा शिष्य और यह मेरे गुरु, यह भी कुछ नहीं रहता, कारण कि शिष्य का आत्मा है, वह उसके चैतन्यस्वभाव से उसका द्रव्यपना कायम रहनेवाला है, उसके साथ सम्बन्ध रखता है। आहा...हा... ! और गुरु का आत्मा है, वह उसके चैतन्यस्वभाव से उसका द्रव्यपना-कायमरूप से रहनेवाला द्रव्यपना है, उसके साथ सम्बन्ध रखता है। आहा...हा... !

श्रोता : शास्त्र में तो आता है कि महावीर भगवान के इतने शिष्य थे !

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें निमित्त से कथन किया है। चौदह हजार ऐसे हुए और अमुक ऐसा हुआ.... आहा...हा... ! यह तो एक पहचान देने के लिए कहा है। आहा...हा... !

(यहाँ कहते हैं) जिसने ऐसा **सम्यक्रूप से स्व-पर विवेक....** अर्थात् स्व-पर का भेद - परन्तु इस प्रकार। जिस प्रकार कहा कि चैतन्य का स्वभाव-यह ज्ञान स्वभाव है, यह द्रव्यत्व जो त्रिकाली ध्रुव है, उसके साथ सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार दूसरी आत्माओं को भी (उनके द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है)। दूसरे जड़ को अचेतन के साथ - उनके द्रव्य के साथ सम्बन्ध है - ऐसा **सम्यक्रूप से स्व-पर का विवेक जिसने प्राप्त किया है....** आहा...हा... ! पर्याय में ऐसा विवेक प्राप्त किया है।

आहा...हा... ! **वह सम्पूर्ण मोह का क्षय करता है।....** उसे मोह उत्पन्न ही नहीं होता – ऐसा कहते हैं।

चैतन्यस्वभाव के प्रकाश के नूर का पूर है, उसे द्रव्यत्व – द्रव्यपना जो कायम है, उसके साथ सम्बन्ध है – ऐसा विवेक जिसे स्वयं को हुआ है और दूसरों को भी इसी प्रकार जानता है – ऐसा विवेक हुआ है। आहा...हा... ! **वह सकलमोह का क्षय करता है...** अर्थात् उसे मोह उत्पन्न ही नहीं होता। आहा...हा... ! चैतन्यस्वभाव–चैतन्य अर्थात् द्रव्यत्वपना – कायम (द्रव्यत्वपना) है, उसके साथ–ध्रुव के साथ सम्बन्ध है – ऐसा जहाँ निर्णय किया, वहाँ उस प्रकार के मिथ्यात्व और राग–द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। आहा...हा... ! कुछ समझ में आया ? लो, ऐसा मार्ग है !

इसलिए... ऐसा स्वरूप है, **इसलिए मैं स्व–पर के विवेक के लिये प्रयत्नशील हूँ।....** आहा...हा... ! मुनिराज – अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त ! यह कुन्दकुन्दाचार्य, यह अमृतचन्द्राचार्य, यह पद्मप्रभमलधारिदेव – नियमसार की टीका करनेवाले, आहा...हा... ! अमृतचन्द्राचार्य प्रभु हजार वर्ष पहले भरतक्षेत्र में विचरते थे। आहा...हा... ! वे ऐसा कहते हैं कि इसलिए (अर्थात् कि) इस प्रकार होने से मोह का क्षय होता है, अर्थात् मोह उत्पन्न होता ही नहीं, इसलिए – इस कारण से। **स्व–पर के विवेक के लिये...** (अर्थात्) स्व–पर की पृथकता के भेदज्ञान के लिये **मैं प्रयत्नशील हूँ...** चैतन्यस्वभाव जो द्रव्य के साथ सम्बन्ध रखता है, उसको पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, राग के साथ सम्बन्ध नहीं है – ऐसा मैं (स्व–पर के विवेक के लिये) प्रयत्न करता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! **मैं प्रयत्नशील हूँ....** ऐसा शब्द है। मेरा प्रयत्न इस प्रकार का स्वभाव हो गया है। आहा...हा... !

श्रोता : राग की पर्याय द्रव्य में जाती है ?

समाधान : जाये (न जाये) अभी यह प्रश्न नहीं है। राग (द्रव्य में) नहीं जाता, उसकी योग्यता उसमें जाती है, राग नहीं जाता। क्षयोपशमभाव की पर्याय भी अन्दर में नहीं जाती। आहा...हा... ! क्योंकि अन्दर में क्षयोपशम(भाव) नहीं है, अन्दर तो पारिणामिकभाव है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है बापू ! अरे... ! क्षायिकभाव की पर्याय भी अन्दर नहीं जाती।

क्योंकि क्षायिकभाव की पर्याय अन्दर जाये तो अन्दर क्षायिकभाव रहना चाहिए परन्तु अन्दर जाती है, वहाँ पारिणामिकभाव हो जाती है। सहजस्वभावभाव पारिणामिकभाव हो जाती है। भाई! समझ में आता है ? ऐसी बात है बापा! आहा...हा...! इसमें तो साढ़े तीन लाइन हैं। आहा...हा...!

इसलिए मैं स्व-पर के विवेक के लिये प्रयत्नशील हूँ.... आहा...हा...! कारण कि साधक है न ? केवली नहीं, इतना बताना है। आहा...हा...! मेरा प्रयत्नस्वभाव आहा...हा...! चैतन्यस्वभाव का द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है; इस प्रकार मेरा प्रयत्न का स्वभाव है। मेरे प्रयत्न का स्वभाव यह प्रयत्न है। राग करूँ या पर की दया पालूँ या महाव्रत पालन करूँ - यह मेरा प्रयत्नशील स्वभाव नहीं है। आहा...हा...! ऐसा समझना। लो यह ८९ (गाथा पूरी) हुई। 1

अहा! सर्वज्ञ और सन्तों की वाणी

अहा! सर्वज्ञ की वाणी और सन्तों की वाणी, चैतन्यशक्ति के रहस्य खोलकर आत्मस्वभाव की सन्मुखता कराती है - ऐसी वाणी को पहचान कर उसमें क्रीड़ा करने से, उसका चिन्तन-मनन करने से ज्ञान के विशिष्ट संस्कार द्वारा आनन्द का प्रस्फुटन होता है, आनन्द का फब्बारा फुटता है, आनन्द का झरना झरता है। देखो, यह श्रुतज्ञान की क्रीड़ा का लोकोत्तर आनन्द! अभी जिसे श्रुत का भी निर्णय न हो, वह किसमें क्रीड़ा करेगा ? यहाँ तो जिसने प्राथमिक भूमिका में गमन किया है अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं, उसकी कुछ पहचान की है, वह जीव किस प्रकार आगे बढ़कर मोह का क्षय करता है और सम्यक्त्व प्रगट करता है, उसकी बात है।

भगवान ने द्रव्यश्रुत में ऐसी बात की है कि जिसके अभ्यास से आनन्द का फब्बारा फूटे। भगवान आत्मा में आनन्द का सरोवर भरा है, उसकी सन्मुखता के अभ्यास से एकाग्रता द्वारा आनन्द का फब्बारा फूटता है। चैतन्य-सरोवर में से अनुभूति में आनन्द का झरना बहता है। *(- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आतम के हित पन्थ लाग!, पृष्ठ - ४०)*

गाथा ९०

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति -

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा।।९०।।

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा।।९०।।

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतयासाधारणतामुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः। तथा हि - यदिदं सदकारणतया स्वतःसिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रैव्यं द्रव्यं जानामि। एवं पृथक्त्ववृत्त- स्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानैः सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधम कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि। ततो नाहमाकाशं, न धर्मो, नाधर्मो, न च कालो, न पुद्गलो, नात्मान्तरं च भावमि; यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधितानेक-दीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि मच्चतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति। एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात्।।९०।।

अथ पूर्वसूत्रे यदुक्तं स्वपरभेदविज्ञानं तदागमतः सिद्ध्यतीति प्रतिपादयति - **तम्हा जिणमग्गादो** यस्मादेवं भणितं पूर्वं स्वपरभेदविज्ञानाद् मोहक्षयो भवति, तस्मात्कारणाज्जिनमार्गाज्जिनागमात् **गुणेहिं** गुणैः **आदं** आत्मानं, न केवलमात्मानं **परं च** परद्रव्यं च। केषु मध्ये। **दव्वेसु** शुद्धात्मादिषड्द्रव्येषु **अभिगच्छदु** अभिगच्छतु जानातु। यदि किम्। **णिम्मोहं इच्छदि जदि** निर्मोहभावमिच्छति यदि चेत्। स कः। **अप्पा** आत्मा। कस्य संबन्धित्वेन। **अप्पणो** आत्मन इति। तथा हि - यदिदं मम चैतन्यं स्वपरप्रकाशकं तेनाहं कर्ता विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं स्वकीयमात्मानं जानामि, परं च पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपं शेषजीवान्तरं च पररूपेण जानामि, ततः कारणादेकापवरक-

प्रबोधितानेकप्रदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि सर्वद्रव्येषु मम सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्य केनापि सह मोहो नास्तीत्यभिप्रायः।। ९०।।

अब, सब प्रकार से स्वपर के विवेक की सिद्धि आगम से करने योग्य है, ऐसा उपसंहार करते हैं :

इसलिए यदि निज आत्मा की, निर्मोहता जो चाहता।
जिनमार्ग से द्रव्यों में गुण से स्व अरु पर को जानना॥

अन्वयार्थ : [तस्मात्] इसलिए (स्व-पर के विवेक से मोह का क्षय किया जा सकता है इसलिए) **[यदि]** यदि **[आत्मा]** आत्मा **[आतमनः]** अपनी **[निर्मोहं]** निर्मोहता **[इच्छति]** चाहता हो तो **[जिनमार्गात्]** जिनमार्ग से **[गुणैः]** गुणों के द्वारा **[द्रव्येषु]** द्रव्यों में **[आत्मानं परं च]** स्व और पर को **[अभिगच्छतु]** जानो (अर्थात् जिनागम के द्वारा विशेष गुणों से ऐसा विवेक करो कि अनन्त द्रव्यों में से यह स्व है और यह पर है)।

टीका : मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण[१] बुद्धिवाले बुधजन इस जगत् में आगम में कथित अनन्त गुणों में से किन्हीं गुणों के द्वारा, जो गुण अन्य[२] के साथ योगरहित होने से असाधारणता धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुए हैं, उनके द्वारा-अनन्त द्रव्य परम्परा में स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो। (अर्थात् मोह का क्षय करने के इच्छुक पण्डितजन आगम कथित अनन्त गुणों में से असाधारण और भिन्न लक्षणभूत गुणों के द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में 'यह स्वद्रव्य हैं और यह परद्रव्य हैं' - ऐसा विवेक करो), जो कि इस प्रकार है -

सत्[३] और अकारण[४] होने से स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से स्व-पर का ज्ञायक - ऐसा जो यह, मेरे साथ सम्बन्धवाला, मेरा चैतन्य है, उसके द्वारा जो (चैतन्य) समानजातीय अथवा असमानजातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में

१. प्रवण = ढलती हुई; अभिमुख; रत।
२. कितने ही गुण अन्य द्रव्यों के साथ सम्बन्ध रहित होने से अर्थात् अन्य द्रव्यों में न होने से असाधारण हैं और इसलिए विशेषणभूत-भिन्न लक्षणभूत है; उसके द्वारा द्रव्यों की भिन्नता निश्चित की जा सकती है।
३. सत् = अस्तित्ववाला; सत्‌रूप; सत्तावाला।
४. अकारण = जिसका कोई कारण न होय ऐसा अहेतुक, (चैतन्य सत् और अहेतुक होने से स्वयं से ही सिद्ध है।)

ही वर्तता है, उसके द्वारा मैं अपने आत्मा को सकल-त्रिकाल[१] में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ। इस प्रकार पृथक्‌रूप से वर्तमान स्व-लक्षणों के द्वारा जो अन्य द्रव्य को छोड़कर उसी द्रव्य में वर्तते हैं, उनके द्वारा - आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्‌गल और अन्य आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व धारक द्रव्य के रूप में निश्चित करता हूँ (जैसे, चैतन्य लक्षण के द्वारा आत्मा को ध्रुव द्रव्य के रूप में जाना, उसी प्रकार अवगाहहेतुत्व, गतिहेतुत्व इत्यादि लक्षणों से - जो कि स्व-लक्ष्यभूत द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते उनके द्वारा - आकाश, धर्मास्तिकाय इत्यादि को भिन्न-भिन्न ध्रुव द्रव्यों के रूप में जानता हूँ) इसलिए मैं आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्‌गल नहीं हूँ और आत्मान्तर नहीं हूँ; क्योंकि मकान के एक[२] कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाशों की भाँति यह द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैत्न्य निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक् बतलाता है।

इस प्रकार जिसने स्व-पर का विवेक निश्चित किया है - ऐसे इस आत्मा को विकारकारी मोहांकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता।

भावार्थ : स्व-पर के विवेक से मोह का नाश किया जा सकता है। वह स्व-पर का विवेक, जिनागम के द्वारा स्व-पर के लक्षणों को यथार्थतया जानकर किया जा सकता है ॥ ९० ॥

प्रवचन नं. ८२ का शेष **दिनाङ्क २३ मई १९७९**

अब, ९० गाथा।

अब, सब प्रकार से स्व-पर के विवेक की सिद्धि आगम से करने योग्य है.... सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ द्वारा कथित वाणी, वह आगम है। उस आगम से निर्णय

१. सकल = पूर्ण, समस्त, निरवशेष (आत्मा कोई काल को बाकी रखे बिना सम्पूर्ण तीनों काल ध्रुव रहता ऐसा द्रव्य है।)

२. जैसे, किसी एक कमरे में अनेक दीपक जलाये जायें तो स्थूलदृष्टि से देखने पर उनका प्रकाश एक-दूसरे में मिला हुआ मालूम होता है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचारपूर्वक देखने पर वे सब प्रकाश भिन्न-भिन्न ही हैं; (क्योंकि उनमें से एक दीपक बुझ जाने पर उसी दीपक का प्रकाश नष्ट होता है; अन्य दीपकों के प्रकाश नष्ट नहीं होते।) उसी प्रकार जीवादिक अनेक द्रव्य एक ही क्षेत्र में रहते हैं, फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वे सब भिन्न-भिन्न ही हैं, एकमेक नहीं होते।

करने योग्य है। अज्ञानियों ने कुछ का कुछ कहा हो कि एक ही आत्मा है और व्यापक है और ऐसा है... (इस प्रकार नहीं)। भगवान ने जो द्रव्य-गुण-पर्याय कहे... आहा...हा...! ऐसे आगम से **सब प्रकार से स्व-पर के विवेक की सिद्धि....** स्व और पर के विवेक-भेदज्ञान की सिद्धि आगम से करने योग्य है। भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा की वाणी - 'ओंकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे, रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारै।' भगवान की वाणी से गणधर आगम रचते हैं और उस आगम के आश्रय से भेदज्ञान करना (ऐसा कहते हैं)। अन्यत्र ऐसी बात नहीं है। आहा...हा...! (इस प्रकार स्व-पर के विवेक की सिद्धि) **आगम से करनेयोग्य है - ऐसा उपसंहार करते हैं** -

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा।। ९०।।

(नीचे हरिगीत -)

इसलिए यदि निज आत्मा की, निर्मोहता जो चाहता।
जिनमार्ग से द्रव्यों में गुण से स्व अरु पर को जानना॥

आहा...हा...! जिनमार्ग कहो! जिनेश्वर तीन लोक के नाथ परमेश्वर धर्मपिता के द्वारा कथित जो मार्ग, इसके सिवाय अन्यत्र कहीं मार्ग नहीं है। आहा...हा...! यह मार्ग भी दिगम्बर में ही है। श्वेताम्बर में भी वह नहीं है। आहा...हा...! (श्वेताम्बर में तो) जिनमार्ग ही नहीं है - ऐसा कहते हैं। यह तो जिनमार्ग है। भाई! कठोर बात है। आहा...हा...! वहाँ तो भगवान को रोग ठहराते हैं, भगवान दवा करते हैं, रोग मिटता है। आहा...हा...! स्त्री को तीर्थङ्कर ठहराते हैं, स्त्री को तीर्थङ्कर ठहराते हैं! मल्लिनाथ तीन लोक के नाथ को स्त्री कहते हैं! जिन्हें पूजनेवाले पुरुष-इन्द्र कभी स्त्री नहीं होता और उनका पूज्य पुरुष, स्त्री! ऐसा नहीं हो सकता। बहुत फेरफार कर दिया है बापू! आहा...हा...! जिनमार्ग मार्ग तो एक यही है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, वह दिगम्बर सन्तों ने प्रसिद्ध किया है। आहा...हा...! वह एक ही जिनमार्ग है। आहा...हा...! **जिनमार्ग से द्रव्यों में गुण से स्व अरु पर को जानना...** इसकी टीका! **मोह का क्षय करने के प्रति....** (अर्थात्) मिथ्यात्व का नाश करने के प्रति **प्रवण बुद्धिवाले...** आहा...हा...! (प्रवण अर्थात् ढलती हुई; अभिमुख;

रत)। स्वभाव की ओर ढलती बुद्धिवाले; आहा...हा...! अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! स्वभाव है (उस ओर ढलती हुई बुद्धिवाले)। **मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण बुद्धिवाले...** अन्दर ढलती हुई बुद्धिवाले। आहा...हा...! पर्याय में से, राग में से, और निमित्त में से हटकर अन्दर में ढलती हुई, पर्यायवाले। आहा...हा...! है? ढलती हुई बुद्धिवाले - एक बात। और **बुधजन...** उन्हें यहाँ पण्डित कहा है। आहा...हा...! आहा...हा...! शास्त्र पढ़े, जाना, उन्हें यहाँ पण्डित नहीं कहा है। आहा...हा...! जिनकी बुद्धि - ज्ञान, मोह का क्षय करने के प्रति अन्तर में ढली है। बाह्य में तो मोह है। अब, वह बुद्धि अन्तर में ढलती है। आहा...हा...! और वे **प्रवण बुद्धिवाले...** नीचे (अर्थ दिया) है न? ढलती हुई; अभिमुख - द्रव्य के सन्मुख; रत और बुधजन अर्थात् ऐसे ज्ञानी जन। आ...हा...! पण्डितजन! इन्हें पण्डित कहते हैं। आहा...हा...! भले ही विशेष जानपना न हो परन्तु जिसकी बुद्धि स्वभाव की ओर ढलती है। आहा...हा...!

ऐसे **बुद्धिवाले बुधजन इस जगत् में आगम में कथित....** (अर्थात्) भगवान की वाणी में कथित। तीन लोक के नाथ धर्म पिता केवली प्रभु परमात्मा विराजमान हैं। सीमन्धर भगवान! अभी उनकी वाणी तो यह (पढ़ी जाती है)। यहाँ से भगवान कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे। अभी प्रभु तो विराजमान हैं परन्तु महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। पाँच सौ धनुष का देह है, एक करोड़ पूर्व का आयुष्य है, अरबों वर्ष से है, अरबों वर्ष अभी अरहन्तरूप में रहेंगे। जैसे महावीर भगवान यहाँ थे, तब अरहन्त पद में थे। अब अभी तो सिद्धपद में हैं।

श्रोता : भगवान को चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य कहते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वे लोग कहते हैं। श्वेताम्बर ऐसा कहते हैं। ऋषभदेव भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व की है न? ऐसा करके भगवान को चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य श्वेताम्बर लोग मानते हैं। दिगम्बरों में ऐसा नहीं है। प्रभु का (सीमन्धर भगवान का) एक करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़, छप्पन हजार करोड़ वर्ष होते हैं - ऐसे करोड़ पूर्व हैं। श्वेताम्बर में चौरासी लाख (पूर्व) कहते हैं। वह सब कल्पित किया है। यह तो तीन लोक के नाथ की सीधी वाणी है। दिगम्बर सन्त आहा...हा...!

ऐसी वाणी कहीं नहीं है बापू! दूसरे को दुःख लगे इसके लिए नहीं भाई! प्रभु! सत्य ऐसा है। आहा...हा...! श्वेताम्बर पन्थ या स्थानकवासी पन्थ को दुःख लगता है कि हमारा पन्थ मिथ्या ठहराते हैं। परन्तु बापू! सत् ऐसा है। भाई... प्रभु! तेरी मान्यता है यह खोटी है, यह तो सत् की दृष्टि से खोटी है। यह सत् यहाँ सिद्ध करते हैं। आहा...हा...! अभी आयेगा।

मोह का क्षय करने के प्रति.... मोह का नाश करने के लिये, नाश करने के लिये हाँ! उपशम, क्षयोपशम वह नहीं। आहा...हा...! अरे...रे...! कब ऐसा अवसर मिले! जहाँ सत्य सुनना भी नहीं मिलता! ऐसा मानवपना मिले! आहा...हा...! यह आँख बन्द करके चले जायेंगे, बापा! भले ही दिगम्बर साधु हुआ हो, उससे क्या? आहा...हा...!

यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं कि आहा...हा...! भगवान स्वयं पूर्णानन्द स्वरूप हूँ, अखण्ड हूँ, एकरूप हूँ, चैतन्यस्वभाव का अपने द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है, जब तक ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है... आहा...हा...! उससे क्या? इससे चैतन्य को क्या लाभ है? (ऐसा कहते हैं।) आहा...हा...! (समयसार की) कर्ता-कर्म अधिकार की १४२ वीं गाथा आ गयी है। प्रभु कहते हैं कि उससे क्या? आहा...हा...! यह अमृतचन्द्राचार्य पुकारते हैं। दिगम्बर सन्त थे। हजार वर्ष पहले भरतक्षेत्र में चलते सिद्ध! आहा...हा...! यह उनकी वाणी है। यह भी निमित्त से कथन है। आहा...हा...!

यह कहते हैं **मोह का क्षय करने के प्रति प्रवण बुद्धिवाले बुधजन इस जगत् में आगम में कथित....** (अर्थात् कि) सर्वज्ञ की वाणी में कथित। इसके बिना कोई आगम का नाम ले और सर्वज्ञ के कहे हुए न हों, वह आगम नहीं है। आहा...हा...! बात कठिन है प्रभु! सर्वज्ञ कथित, सन्तों, दिगम्बर मुनियों, कुन्दकुन्दाचार्य से कथित वह आगम है। इसके सिवाय दूसरे आगम हैं ही नहीं। आहा...हा...! बहुत कठोर है, बापू! दूसरे को दुःख लगता है परन्तु सत् तो ऐसा है। भाई! तेरे हित की बात है प्रभु! आहा...हा...! तुझे दुःख उत्पन्न करने के लिये यह नहीं कहते हैं परन्तु तेरा सत् ऐसा है, उसे प्रसिद्ध करने के लिये कहते हैं। परमात्मा ने इस प्रकार प्रसिद्ध किया है। भाई! आहा...हा...! गणधरों और इन्द्रों के मध्य-उसी भव में मोक्ष जानेवाले गणधर और एक भव पश्चात् मोक्ष जानेवाले इन्द्र-शकेन्द्र-पहले देवलोक का इन्द्र! बत्तीस लाख विमान का स्वामी है, एक विमान में

असंख्य देव हैं, करोड़ों अप्सराएँ हैं, एक भव से मोक्ष जानेवाली हैं, वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाली हैं। आहा...हा...! उनके बीच में भगवान ने यह कहा है – ऐसे गणधर और इन्द्र जिसे सुनते थे। प्रभु! उसमें भगवान की यह बात आयी है, वह यह बात है।

आगम में कथित अनन्त गुणों में से.... अब, क्या कहते हैं? आत्मा में, परमाणु आदि में गुण तो अनन्त हैं परन्तु **किन्हीं गुणों के द्वारा – जो गुण अन्य के साथ योगरहित होने से...** (अर्थात्) ऐसे गुण होते हैं कि जिन्हें अन्य के साथ सम्बन्ध नहीं होता। यहाँ अन्दर अस्तित्व गुण हो, तो पर में भी अस्तित्व गुण है परन्तु इस आत्मा में विशेष ज्ञान जो है, वह ज्ञान विशेष गुण है, ऐसा विशेष गुण अन्यत्र कहीं नहीं है।

अनन्त गुणों में से किन्हीं गुणों के द्वारा – जो गुण अन्य के साथ.... नीचे (अर्थ दिया) है। (कितने ही गुण अन्य गुणों के साथ सम्बन्धरहित होने से अर्थात् अन्य द्रव्य में नहीं होने के कारण... जैसे कि आत्मा में ज्ञान, परमाणु में वर्ण, गन्ध, यह दूसरे द्रव्यों में नहीं है; (इसलिए) असाधारण है और इसलिए विशेषणभूत–भिन्न लक्षणभूत है, उनके द्वारा द्रव्यों की भिन्नता निश्चित की जा सकती है।) आहा...हा...! ज्ञान–गुण द्वारा... क्योंकि वह अवस्था प्रगट है, इसलिए यहाँ मुख्य ज्ञान लिया है। ज्ञान गुण द्वारा, अनन्त गुण द्वारा शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... आहा...हा...! वीतराग शान्ति द्वारा, आहा...हा...! अन्य द्रव्य से अपना भिन्नपना। **अन्य के साथ योगरहित होने से....** एक गुण का दूसरे गुण के साथ सम्बन्ध नहीं है। दूसरे के गुण के साथ सम्बन्ध नहीं है। भगवान के गुण भले ही भगवान के पास रहे परन्तु यह यहाँ जो ज्ञान और सुख गुण है, यह गुण वहाँ नहीं है। आहा...हा...! उनका ज्ञान और आनन्द का गुण उनके द्रव्य के साथ सम्बन्ध रखता है। समझ में आया कुछ?

अरे...रे...! परन्तु इसमें करना क्या? यह करना बापू! भेदज्ञान करना, यह करना नहीं है? विवेक करना। 'धर्म विवेक से निपजे, जो करिये तो थाय' – ऐसा आता है। धर्म विवेक से उत्पन्न होता है – धर्म दुकान में और बाड़े में नहीं बिकता। 'धर्म बाड़ी न बेचाये, धर्म दुकाने न बेचाय' आहा...हा...! 'धर्म विवेक से निपजे, जो करिये तो थाय।' आहा...हा...! वह विवेक (यहाँ) कहा है। आहा...हा...!

पैसे को भी इस प्रकार पहचान कि, उसका अचेतनगुण परमाणु का है, वह अचेतनगुण उसका त्रिकाल रहनेवाला जो द्रव्यत्व है, उसके साथ सम्बन्ध रखता है; तेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पैसा मेरा, यह बिलकुल झूठ है – मिथ्यात्व है। आहा...हा...! वाणी मेरी – यह मिथ्यात्व है। वाणी के परमाणु को उसके अचेतनगुण के साथ उस द्रव्य का सम्बन्ध है, तेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! इसी तरह भगवान अरहन्त के गुणों को उनके द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। तेरे गुण से उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तेरे ज्ञान और सुख से जो त्रिकाल आत्मद्रव्य है, उसके साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! भाषा थोड़ी भाव गहरे! अरे...रे...! मनुष्यपना चला जाता है, उसका एक-एक समय कौस्तुभ मणि जैसा है। श्रीमद् ने कहा है, वह आत्मा के लिये है, संसार के लिये नहीं है। आहा...हा...!

आगम में कथित अनन्त गुणों में से... आत्मा में अनन्त गुण कहे हैं, परमाणु में अनन्त गुण कहे हैं, धर्मास्ति में अनन्त गुण कहे हैं। उसमें से विशेषपने को प्राप्त हैं (ऐसे) **जो गुण अन्य के साथ योगरहित होने से....** जिन गुणों का – ज्ञान का – सुख का – शान्ति का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा **असाधारणतः धारण करके...** असाधारण अर्थात् स्वयं ही अपने में है, वे अन्यत्र कहीं नहीं हैं और अन्यरूप भी नहीं हैं – ऐसे **असाधारणता धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुए हैं...** ज्ञान और आनन्द आदि आत्मा में विशेषपने को प्राप्त हैं। परमाणु में रस, गन्ध, रंग, विशेषत्व को प्राप्त हैं। धर्मास्तिकाय में गति और अरूपी आदि अनेक प्रकार के उसके विशेषत्व को प्राप्त हैं परन्तु अरूपीपना तो दूसरों में भी है, परन्तु उसकी गति आदि के जो गुण हैं कि जो उसमें ही है, उन विशेषत्व को प्राप्त गुणों द्वारा उनका सम्बन्ध द्रव्य के साथ है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश!

जो गुण अन्य के साथ योगरहित होने से... (अर्थात्) पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। (ऐसा) **असाधारणता धारण करके...** बस, ज्ञान-चैतन्यस्वरूप प्रभु! इस गुण को दूसरे किसी गुण के साथ सम्बन्ध नहीं है। दूसरे का चेतन गुण है, उसे भी इस चैतन्य गुण के साथ सम्बन्ध नहीं है। दूसरे का चेतन गुण है, उसका उसके द्रव्य के साथ सम्बन्ध

है। आहा...हा...! (इस प्रकार) **विशेषत्व को प्राप्त हुए हैं उनके द्वारा - अनन्त द्रव्य परम्परा में स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो...** आहा...हा...! द्रव्य सन्तति (अर्थात्) द्रव्य-परम्परा, द्रव्य समूह, द्रव्य का समूह, ढेर है। आहा...हा...!

एक अंगुल के असंख्य भाग में अनन्त द्रव्य हैं। अंगुल के असंख्य भाग में निगोद के अनन्त जीव हैं और अनन्त परमाणु हैं। तद्नुसार सारा लोक भरा है। यहाँ इस अंगुल का असंख्यातवाँ भाग है, वहाँ भी निगोद के अनन्त जीव हैं और उससे अनन्तगुने उनके पास तैजस, कार्मणवर्गणा के परमाणु हैं और इसके अतिरिक्त वहाँ दूसरे तैजसरूप नहीं हुए ऐसे अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध भी वहाँ होते हैं। आहा...हा...! और वहाँ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल भी है। आहा...हा...! परन्तु वह **विशेषत्व को प्राप्त हुए हैं उनके द्वारा - अनन्त द्रव्य परम्परा में....** अर्थात् द्रव्य का समूह इकट्ठा है। **उससे स्व-पर के विवेक को प्राप्त करो....** (अर्थात्) चैतन्यस्वभाव को द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। जगत् के अचेतनस्वभाव को उसके द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। दूसरे चैतन्य हैं, उन्हें चैतन्य गुण से उनके द्रव्य के साथ सम्बन्ध है - ऐसा **स्व-पर का विवेक प्राप्त करो...** (अर्थात् कि) स्व और पर की पृथकता को समझो। आहा...हा...! कैसी टीका है, देखो न? एक-एक गाथा!

(अर्थात् मोह का क्षय करने के इच्छुक पण्डितजन....) बुधजनों का अर्थ पण्डित किया है। **(अर्थात् मोह का क्षय करने के इच्छुक पण्डितजन आगम में कथित अनन्त गुणों में से असाधारण और भिन्न लक्षणभूत...)** (अर्थात् कि) इस आत्मा में ज्ञान और सुख आदि गुण, परमाणु में वर्ण-गन्ध आदि, धर्मास्तिकाय में गति ऐसे **(भिन्न लक्षणभूत गुणों के द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में...)** अनन्त परमाणुओं, अनन्त आत्माओं का बड़ा ढेर पड़ा है। आहा...हा...! जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं, वहाँ भी अनन्त निगोद के जीव पड़े हैं। आहा...हा...! अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध वहाँ पड़े हैं। भगवान जहाँ विराजते हैं, वहाँ उसी क्षेत्र में ही अन्दर है। आहा...हा...! तथापि प्रत्येक की वस्तु भिन्न है। किसी की पर्याय को किसी की पर्याय छूती, स्पर्श नहीं करती है। आहा...हा...!

चैतन्य स्वभाव को परिपूर्ण प्राप्त हुए ऐसे परमात्मा का आत्मा जिस क्षेत्र में सिद्ध में है, वहाँ अनन्त निगोद के जीव और अनन्त पुद्गल के स्कन्ध पड़े हैं परन्तु वे प्रत्येक-प्रत्येक अपने-अपने जो असाधारणगुण हैं, उनसे उनका सम्बन्ध रखते हैं, यह विशेषण है। साधारण गुण अस्तित्व-वस्तुत्व तो सब में है, इससे कहीं पृथक् नहीं पड़ते परन्तु असाधारणगुण से पृथक् पड़ते हैं। आत्मा का असाधारण गुण चैतन्य है। परमाणु का असाधारण गुण - वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है। धर्मास्तिकाय का असाधारण गुण गति है। अधर्मास्तिकाय का स्थिर है। आकाश को अवगाहन है। काल को परिणमन-परिणमने में निमित्त होना, वह है। आहा...हा...! (इस प्रकार) **भिन्न लक्षणभूत गुणों द्वारा अनन्त द्रव्य परम्परा में यह स्वद्रव्य है....** इस ज्ञान स्वभाव का चैतन्य द्रव्य के साथ (सम्बन्ध है वह) यह स्वद्रव्य है। **और यह परद्रव्य हैं - ऐसा विवेक करो...** आहा...हा...! **वह इस प्रकार है।** - उसका स्पष्टीकरण करते हैं।

सत्... है ? (नीचे अर्थ दिया है)। अस्तित्ववाला, सत्‌रूप, सत्तावाला। ज्ञायक... ज्ञायक... - ज्ञायक... ज्ञायक... वह सत् है। वह **अकारण...** है। उसे कोई कारण नहीं है। आहा...हा...! अहेतुक है, चैतन्यसत् अहेतुक होने के कारण; चैतन्य सत्, वह अहेतुक सत् है। आहा...हा...! इसलिए वह **स्वतःसिद्ध....** है। भगवान आत्मा का चैतन्यस्वभाव - ज्ञायकस्वभाव स्वतःसिद्ध है। ज्ञानस्वभाव का पिण्ड प्रभु, वह स्वतः सिद्ध है। उसका कोई कर्ता है और किसी की अपेक्षा से ज्ञायकभाव है - ऐसा नहीं है।

स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से.... आहा...हा...! वह ज्ञायकपना है, उसका द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध है। ऐसा ज्ञायकपना **अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से...** (अर्थात्) वह स्वयं अन्तर को भी प्रकाशित करता है और बाहर को भी प्रकाशित करता है। बाहर का कुछ कर्ता नहीं। कर्ता नहीं कुछ और जानता है सब कुछ पूरा, आहा...हा...! अन्तर्मुख (प्रकाशवाला) अर्थात् स्वयं भगवान स्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड अन्तर्मुख है, उसे जाने और बहिर्मुख (प्रकाशवाला) अर्थात् जितने अनन्त बाह्य द्रव्य हैं, उन्हें भी ज्ञायकभाव जानता है।

स्व-पर का ज्ञायक ऐसा जो यह.... बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से; क्या ? स्व-

पर ज्ञायक। स्व और पर को जाननेवाली सत्ता, बस। ज्ञायकभाव! (समयसार की) छठी गाथा में लिया है न ज्ञायकभाव! आहा...हा...! ग्यारहवीं (गाथा में) यह लिया – भूतार्थ; वह भी ज्ञायकभाव। जो स्व पर को प्रकाशित करता है। स्व के वेदन में, स्व को भी वेदता है और पर को भी वेदता है – ऐसा नहीं, तथापि स्व-पर को जानता है। पर को पूर्ण जानता है, तथापि पर का एक रजकण या दूसरे आत्मा में उसकी पर्याय को करे – ऐसा ज्ञायकभाव में नहीं है। आहा...हा...! किसी भी परमाणु को या किसी भी अनन्त आत्मा में दूसरे आत्मा का कुछ भी करे – ऐसा आत्मा में नहीं है। आहा...हा...! परन्तु उन सबको जाने – ऐसा आत्मा में है। आहा...हा...! दूसरों का कुछ करे नहीं और दूसरों को पूर्ण जाने बिना रहे नहीं। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप है! बहुत कठिन! है तो यह मार्ग बहुत सरल परन्तु हाथ नहीं आता। आहा...हा...!

ऐसा चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव **ऐसा जो यह, मेरे साथ सम्बन्धवाला....** देखा? आ...हा...! यह ज्ञायकपना-जानपना-जो स्व-पर को प्रकाशित करता है – ऐसे जानने की सत्तास्वरूपपना है, वह मेरे साथ सम्बन्धवाला है; मेरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! त्रिकालध्रुव जो टिकता तत्त्व है, उसके साथ ज्ञायक का सम्बन्ध है। आहा...हा...! घुमाकर फिर बात ज्ञायक पर लाये हैं। आहा...हा...! **ऐसा जो यह, मेरे साथ सम्बन्धवाला मेरा चैतन्य है, उसके द्वारा – जो (चैतन्य) समानजातीय....** (अर्थात्) जानने के स्वभाववाला मेरा चैतन्य, समानजातीय (अर्थात्) मेरी जाति जैसे अनन्त आत्माएँ हैं और **असमानजातीय....** अर्थात् जड़ ऐसे **अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है...** समानजातीय भगवान भले ही आत्मा है परन्तु मेरा चैतन्य ज्ञायकपना तो मुझमें ही वर्तता है। मेरा ज्ञायकपना अन्य द्रव्य में नहीं वर्तता, अन्य द्रव्य के कारण नहीं वर्तता और अन्य द्रव्य में नहीं वर्तता। आहा...हा...! बहुत संक्षिप्त भाषा में भेदज्ञान (दर्शाया) है।

यह समानजातीय अर्थात् आत्मा की जाति (जैसे ही) अनन्त आत्माएँ हैं। और असमानजातीय अर्थात् जड़। (उन समस्त) **अन्य द्रव्य को छोड़कर...** मेरा चैतन्यस्वरूप ज्ञायकस्वरूप वह **अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है।...** आहा...हा...! यह ज्ञायकपना-स्व-परप्रकाशकपना अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे द्रव्य में ही वर्तता है।

आहा...हा... ! यह तो आया था न ? योग ! **अन्य के साथ योगरहित....** है। ज्ञायकभाव है, वह अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्धरहित है। उस ज्ञायकभाव का सम्बन्ध द्रव्यत्व के साथ-द्रव्य के साथ है। आहा...हा... ! अभी तो इसका अन्तिम शब्द लेंगे (अपने यहाँ आया है)। **ज्ञायक-ऐसा जो यह, मेरे साथ सम्बन्धवाला मेरा चैतन्य है, उसके द्वारा - जो (चैतन्य) समानजातीय अथवा असमानजातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है।....** आहा...हा... ! मेरा चैतन्यपना दूसरे के आत्मा में नहीं वर्तता तथा दूसरे का चैतन्यपना मेरे में नहीं वर्तता। मेरा चैतन्यपना मुझमें वर्तता है। आहा...हा... !

उसके द्वारा - मैं अपने आत्मा को... आहा...हा... ! **सकल त्रिकाल में...** सकल त्रिकाल में (अर्थात्) सम्पूर्ण, समस्त, निर्विशेष। किसी काल को बाकी रखे बिना, सम्पूर्ण तीनों ही काल में ध्रुव रहता हूँ। आहा...हा... ! किसी काल में - भूत, भविष्य और वर्तमान को बाकी रखे बिना, सम्पूर्ण ध्रुवरूप से प्रभु अन्दर वर्तता है। ज्ञायकभाव ध्रुवरूप से अन्दर वर्तता है। आहा...हा... ! है ? **मैं अपने आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य...** ध्रुव, ध्रुवपना धारक **द्रव्य जानता हूँ।** आहा...हा... ! ज्ञायकभाव.... आहा...हा... ! **अपने आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक...** आहा...हा... ! उसे **द्रव्य जानता हूँ।** कि यह द्रव्य मेरा है। ज्ञायकभाव जो स्व-परप्रकाशक है, वह ज्ञायकभाव मेरे द्रव्यत्व के साथ सम्बन्ध रखता है और वह द्रव्य मैं हूँ, ध्रुव हूँ, कोई काल बाकी रखे बिना त्रिकाल वह मैं हूँ - ऐसा ध्रुवत्व का धारक... **ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ...** आहा...हा... ! समझाना है न ? वरना तो (ऐसा द्रव्यत्व) धारक जानता हूँ, यह भी भेद और विकल्प है परन्तु समझाने की शैली में किस प्रकार समझाना ? आहा...हा... !

यह ज्ञायकभाव त्रिकाल ध्रुवत्व धारक जो द्रव्य, वह मैं हूँ। ज्ञायक का धारक जो ध्रुवद्रव्य है, वह मैं हूँ। पर से भिन्न पड़कर सम्यग्दर्शन में ऐसा निर्णय करना, वह मोह का नाश करने का उपाय है। मिथ्यात्व का नाश करने का यह उपाय है। विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. ८३ **दिनाङ्क २४ मई १९७९**

प्रवचनसार गाथा ९०। इसका दूसरा पैराग्राफ हुआ है, फिर से लेते हैं। इस आत्मा को कैसा मानने से सम्यग्दर्शन होता है ? धर्म की पहली शुरुआत ! अपवास और व्रत और

तप और भक्ति, पूजा, दान, दया, यह सब तो पुण्यबन्ध है। यह कोई धर्म नहीं है। आहा...हा...! वीतरागमार्ग में सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव ने कहा है कि धर्म की शुरुआत-धर्म की पहली शुरुआत - सम्यग्दर्शन कैसे होता है ? तो कहते हैं कि **सत् और अकारण होने से....** मेरा प्रभु और मेरा ज्ञायकस्वभाव, आत्मा (और) उसका ज्ञायकस्वभाव, उसका चैतन्यस्वभाव वह सत् है। सूक्ष्म बात है भगवान। अकारण है (अर्थात्) किसी कारण से वह सत् है - ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा अन्दर चेतनस्वरूप ज्ञायकस्वभाव का कोई कारण नहीं है कि वह स्वभाव अमुक कारण से है। सत् है (और) **अकारण होने से स्वतः सिद्ध....** है। वह अपने से सिद्ध है। ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, चैतन्यस्वभावभाव... आहा...हा...! वह स्वतः सिद्ध है।

अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से... और वह चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव बहिर्मुख और अन्तर्मुख (प्रकाशवाला है)। (अर्थात् कि) अपने को जानता है और बाहर को जानता है - ऐसे **प्रकाशवाला होने से स्व-पर का ज्ञायक...** है। आहा...हा...! पर का कुछ कर नहीं सकता और पर से अपने में कुछ नहीं होता। वह तो स्व-पर प्रकाशक है। आहा...हा...! वह **स्व-पर का ज्ञायक-ऐसा जो यह, मेरे साथ सम्बन्धवाला, मेरा चैतन्य...** चेतन जो द्रव्य है, उसमें जो मेरा त्रिकाली चैतन्यस्वभाव है... आहा...हा...! उसके द्वारा... **मेरा चैतन्य है, उसके द्वारा - जो (चैतन्य) समानजातीय...** (अर्थात्) मेरी जाति से समानजातीय दूसरे अनन्त आत्माएँ ...। आहा...हा...! उसे छोड़कर; मेरी चैतन्य जात मुझमें है, मेरे अतिरिक्त अनन्त आत्माएँ हैं, पञ्च परमेष्ठी हैं, सिद्ध हैं परन्तु मेरा चैतन्य है, वह अन्य द्रव्य में नहीं है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात है बापू! वीतरागमार्ग! भव अन्त की बात!

अनन्त काल से चौरासी के अवतार में भ्रमण कर रहा है, वह दुःखी है... दुःखी है, महादुःखी है। उसे मुक्त होने का उपाय (यह कहते हैं)। मेरा ज्ञायकस्वरूप जो चैतन्यस्वरूप, स्व-परप्रकाशक ऐसा जो मेरा स्वभाव है, वह समानजातीय (अर्थात्) मेरी जाति के समान आत्माओं में भी यह मेरी चीज नहीं है; उसे छोड़कर पञ्च परमेष्ठी में भी मेरा चैतन्य ज्ञायकस्वभाव, मेरा चैतन्यस्वभाव उनमें नहीं है।

असमानजातीय... मेरे आत्मा से असमानजातीय (अर्थात्) भगवान ने पाँच द्रव्य जाने हैं न? पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल – ये **असमानजातीय अन्य द्रव्यों को छोड़कर...** समानजातीय अनन्त आत्माएँ; असमानजातीय – अनन्त परमाणु आदि, इन सबको (छोड़कर), मेरा चैतन्यस्वभाव – ज्ञायकभाव, अन्य को छोड़कर **मेरे आत्मा में ही वर्तता है...** आहा...हा...! ऐसा समझना अब...! वह तो इरयावहियाणे, विराणायमे गमणागमणे करके इच्छामि... (किया इसलिए) हो गयी सामायिक! धूल में भी सामायिक नहीं है, मिथ्यात्व है। बापा... कठोर बात है! प्रभु की बात! वीतराग का मार्ग जन्म-मरण से रहित होने की चीज सम्यग्दर्शन, वह बहुत अलौकिक है।

कहते हैं – अपनी जाति की बात करते हैं कि मेरा भगवान आत्मा, उसका जो चैतन्यज्ञायक स्वभाव है, वह स्वभाव मेरी समजात-समानजाति आत्मा में भी नहीं है और यह मेरा जो चैतन्यस्वरूप है, वह अचेतन पदार्थों में भी नहीं है। आहा...हा...! उसे छोड़कर अन्य द्रव्य – समानजातीय हों या असमानजातीय। सिद्ध हों या पाँच परमेष्ठी हों परन्तु यह मुझसे तो अन्य द्रव्य है। आहा...हा...! मुझसे समानजातीय और असमानजातीय सबको छोड़कर (मेरा चैतन्यस्वभाव) **मेरे आत्मा में ही वर्तता है।** आहा...हा...! यह चैतन्यस्वभाव, ज्ञायकभाव मेरे आत्मा में ही वर्तता है। किसी परद्रव्य के कारण उसका रहना, टिकना या उत्पन्न होना नहीं है। आहा...हा...!

मेरे आत्मा में ही... जानकस्वभाव – ज्ञायकस्वभाव – चैतन्यस्वभाव। समानजातीय आत्मा में भी मेरी यह जाति वहाँ नहीं है और इस समानजातीय के अतिरिक्त असमानजातीय (दूसरे पाँच द्रव्यों) में भी मेरा यह चैतन्यस्वभाव नहीं है। इसलिए समस्त अनन्त परपदार्थों को छोड़कर, मेरे भगवान आत्मा का जो चैतन्यस्वभाव – जानने का ज्ञायकस्वभाव, मेरे आत्मा में ही वर्तता है। आहा...हा...! ऐसा निर्णय करने का समय भी नहीं मिलता, जिन्दगी चली जाती है, मनुष्यपना चला जा रहा है। अरे...! यदि इसमें यह बात, यह वस्तुस्थिति नहीं जानी तो फिर चींटी, कौआ, कुत्ते का अवतार है। आहा...हा...! यह जो अरबोंपति सेठिया कहलाते हैं, वे मरकर... आहा..हा...! पशु में अवतरित होनेवाले हैं! आहा...हा...! नहीं आत्मदर्शन का भान, नहीं सत्समागम से सत् का श्रवण करके, दो-

चार घण्टे हमेशा पुण्य बाँधना; यह भी समय नहीं मिलता। आहा...हा... ! जगत् के पाप में पूरा दिन रुकते हैं। प्रभु ! कुछ तो आत्मा की (बात विचार) ! आचार्य स्वयं अपनी बात करते हैं। इस प्रकार दूसरों को करना है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

मेरा प्रभु आत्मा अन्दर चैतन्यरत्न ! वह मेरा ज्ञायक और चैतन्यस्वभाव मुझमें वर्तता है, अन्य में नहीं। अन्य आत्मा में नहीं, अचेतन में नहीं। आहा...हा... ! **उसके द्वारा मैं...** आहा...हा... ! मेरी चैतन्यजाति ज्ञायकस्वभाव मुझमें वर्तता है, **उसके द्वारा...** आहा...हा... ! भाषा बहुत थोड़ी है प्रभु ! मार्ग–जिनेश्वरदेव का मार्ग कोई अलौकिक है ! अभी तो गड़बड़ चलती है। आहा...हा... ! यह सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, रात्रि भोजन मत करो, व्रत पालो, अपवास करो, इन सब क्रियाओं में राग है, वह कहीं धर्म नहीं है तथा आत्मा के स्वभाव में वह राग नहीं है। आहा...हा... ! आत्मा के स्वभाव में चैतन्यस्वभाव – ज्ञायकस्वभाव है। आहा...हा... ! मेरे आत्मा में चैतन्यस्वभाव – ज्ञायकस्वभाव वर्तता है। **उसके द्वारा – मैं...** आहा...हा... ! **अपने आत्मा को...** उसके द्वारा मैं अपने आत्मा को, **सकल त्रिकाल में...** आहा...हा... ! तीनों काल में कोई काल बाकी रखे बिना; **सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक...** आहा...हा... ! ज्ञायक और चैतन्यस्वभाव मेरे आत्मा में वर्तता हूँ – ऐसा जो द्रव्य, उसे **सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ...** मैं अपने द्रव्य को इस प्रकार जानता हूँ।

आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं। अभी सुनने मिलना कठिन पड़ती है, बहुत मुश्किल पड़ती है। आहा...हा... ! अनन्त काल बिताया है। आहा...हा... ! अनन्त बार साधु हुआ परन्तु यह वस्तु है, उसकी दृष्टि करके अनुभव नहीं किया, (इसलिए) परिभ्रमण का अन्त नहीं हुआ। आहा...हा... ! मेरा चैतन्य ज्ञायकस्वभाव मुझमें वर्तता है। इस प्रकार मेरे द्रव्य को (जानता हूँ) आहा...हा... ! मेरा चैतन्य स्वभाव मुझमें वर्तता है – ऐसा जो आत्मा है, उसे मेरा **सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ....** मेरा प्रभु तीनों काल ध्रुवरूप से टिकता है – ऐसा सम्यक्दृष्टि निर्णय करता है। अपने आत्मा का ऐसा निर्णय करता है। भाषा तो सादी है प्रभु ! आहा...हा... ! वस्तु बहुत सूक्ष्म ! इतने पैरेग्राफ की चार लाइनों में तो कितना भर दिया है ! आहा...हा... ! भैया ! भैयाजी ! ऐसी बातें हैं प्रभु !

यहाँ तो आचार्य, भगवान कहकर बुलाते हैं। समयसार ७२ गाथा! भगवान! तू आत्मा हैं न प्रभु! तुझमें तो अनन्त... अनन्त... शुद्ध चैतन्य के रत्न भरे हैं न! प्रभु! तुझमें दया, दान, व्रत का विकार है, वह तुझमें नहीं है। आहा...हा...! तो फिर तुझमें पर - शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, परिवार, पुत्र, देश कहाँ से आये ? आहा...हा...!

ओ...हो...! यहाँ आचार्य महाराज की भाषा तो देखो! आहा...हा...! सन्तों की - सन्त की शैली! आहा...हा...! मेरा नाथ ज्ञायकस्वभाव, ऐसा चैतन्यस्वभाव, मेरे आत्मा में वर्तता है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम यह सब राग हैं। यह मुझमें नहीं हैं, यह मेरा स्वरूप ही नहीं है, यह मेरे में नहीं हैं। आहा...हा...! मेरा प्रभु तो चैतन्यस्वभाव है, वह मेरे आत्मा में वर्तता है। उस आत्मा का **सकल त्रिकाल में ध्रुवता का धारक....** आहा...हा...! ऐसा जो अपना प्रभु आत्मा, उसे तीनों काल ध्रुवता का धारक द्रव्य, वह त्रिकाल ध्रुव है। भगवान! उसका कोई कर्ता नहीं है, उसका नाश होनेवाला नहीं है, उसमें कुछ न्यूनता नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

मैं... - यह चैतन्यस्वभाव आत्मा में वर्तता है, इसलिए उसके द्वारा मैं; आहा...हा...! यह तो अन्तर्मुख की बातें हैं प्रभु! अभी तो सम्यग्दर्शन (कैसे हो उसकी बात है)। चारित्र तो फिर बापा। ऐसी बात है। चारित्र किसे कहना ? इसे कुछ खबर नहीं है। अभी प्रथम सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है और वह क्या मानता है, तब सम्यग्दर्शन कहलाता है ? - (यह बात चलती है)। आहा...हा...! मेरा प्रभु आत्मा चैतन्यस्वभाव आत्मा में वर्तता है। आहा...हा...! कोई पुण्य-पाप आदि तो नहीं परन्तु परद्रव्य परमेश्वर भी मेरे चैतन्यस्वभाव में नहीं हैं; इसलिए मेरे आत्मा में भी वे नहीं हैं। आहा...हा...! ऐसी बात है।

चैतन्यस्वभाव - जानक, सूर्य, प्रभु! चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... ज्ञायक सूर्य प्रभु! यह जाणक स्वभाव मेरे आत्मा में वर्तता है। मेरे आत्मा में यह पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत, भक्ति (के भाव) भी नहीं हैं, तो परद्रव्य तो कहाँ आया ? आहा...हा...! **उसके द्वारा - मैं...** आहा...हा...! गजब है! आहा...हा... चार पंक्ति में तो (गजब है!) मैं उसके द्वारा - चैतन्य... चैतन्य... जाणक स्वभाव, मेरे आत्मा में वर्तता है; इसलिए उस आत्मा को - मैं अपने आत्मा को इस कारण **सकल त्रिकाल में...** तीनों काल में **ध्रुवता का धारक...**

ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... नित्यानन्द प्रभु – ऐसा (ध्रुवत्व का) धारक द्रव्य को मैं जानता हूँ। आहा...हा...! है? कहो भैया! भगवान ऐसा है। बापू! बात बहुत सूक्ष्म है।

क्या कहें? आहा...हा...! अभी सम्प्रदाय में तो इसकी गंध भी नहीं है। सब पूरा फेरफार...। भाई! इस सत् के रास्ते आये बिना तेरा जन्म-मरण नहीं मिटेगा बापा! नाथ! आहा...हा...! यह व्रत, तप, दया, दान, पूजा और भक्ति लाख और करोड़ कर न प्रभु! यह तो सब राग की क्रियाएँ हैं। आहा...हा...! ये मेरे आत्मा में नहीं हैं – ऐसा कहते हैं।

मेरे आत्मा में तो चैतन्यस्वभाव वर्तता है, राग नहीं वर्तता। परद्रव्य मेरे आत्मा में नहीं वर्तते। रागादि का भाव मेरे स्वरूप में नहीं वर्तता। मेरे प्रभु में तो चैतन्यस्वभाव वर्तता है। आहा...हा...! **उसके द्वारा मैं...** मेरे आत्मा को **सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ...** आहा...हा...! कुछ समझ में आता है – ऐसी बात है। प्रभु! क्या हो? लोगों को एकान्त लगता है कि व्यवहार का तो लोप कर देते हैं। प्रभु! व्यवहार अर्थात्? दया, दान, व्रत के परिणाम यह तो राग हैं, पुण्य हैं, यह कोई धर्म नहीं हैं और यह कोई आत्मा में नहीं वर्तते। आहा...हा...! यह तो कल लिया था, फिर से लिया है। आहा...हा...!

यह शरीर, वाणी, मन तो जड़-मिट्टी-धूल है। यह तो धूल है, पैसा धूल है; स्त्री, पुत्र का आत्मा सजातीय है परन्तु वह मुझसे तो भिन्न है, वह कहीं मुझमें नहीं वर्तते तथा मैं उनमें नहीं वर्तता। आहा...हा...! मकान, प्रतिष्ठा, कीर्ति, महल, पाँच-पचास लाख के बड़े बंगले – इन सबमें मैं नहीं हूँ और यह मुझमें नहीं हैं। आहा...हा...! मुझमें दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम नहीं वर्तते। आहा...हा...! मुझमें तो चैतन्यपना जो जानना, ज्ञायकभाव... ज्ञायकभाव... चैतन्यभाव वह मुझमें वर्तता है, उसके द्वारा मैं अपनी आत्मा को **सकल त्रिकाल में...** कोई काल बाकी रखे बिना, तीनों काल मेरा भगवान आत्मा, ध्रुवत्व नित्य है। ध्रुव है, ऐसा मैं निश्चित करता हूँ – ऐसा मैं जानता हूँ। भाषा तो सादी है प्रभु! परन्तु भाव तो बहुत कठिन है बापा! आहा...हा...! अरे...रे...! जीवन चला जा रहा है, सत् मिलता नहीं, सत् को शोधता नहीं, सत् का निर्णय करने के लिये प्रयत्न नहीं करता। आहा...हा...! अरे...रे...! इसने यह क्या किया? चार पंक्ति में तो ओ...हो...हो...! बारह अङ्ग का तात्पर्य भर दिया है!! आहा...हा...! कल यहाँ तक तो आया था।

अब, ऐसे अपने आत्मा को मैं ध्रुवत्व का धारक द्रव्य – वस्तु को जानता हूँ। मेरा द्रव्य – ज्ञायकस्वभाव मुझमें वर्तता है। ऐसा जो मेरा स्वरूप, आत्मद्रव्य है, उसे सकल त्रिकाल में ध्रुवता का धारक – ऐसे द्रव्य को मैं जानता हूँ। मैं ज्ञायकभाव को और चैतन्यभाव को नहीं, चैतन्य और ज्ञायकभाव मुझमें वर्तते हैं, ऐसा जो द्रव्य है, उसे ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ। आहा...हा...! ज्ञायक को – चैतन्यस्वभाव को नहीं, ज्ञायक और चैतन्यस्वभाव तो मेरे आत्मा में वर्तते हैं – ऐसा मैं! आहा...हा...! अभी तो जहाँ हो वहाँ यह बातें करते हैं – व्रत करो और अपवास करो और वर्षी तप करो, रस छोड़ो, कन्दमूल मत खाओ और यह मत करो... यह सब बातें बापा! प्रभु... यह सब राग की क्रियाओं की बातें हैं, यह कोई धर्म नहीं है। आहा...हा...!

सम्यग्दर्शन में प्रथम में प्रथम अथवा सम्यक् सत्यज्ञान में प्रथम में प्रथम मेरा चैतन्यस्वरूप मुझमें वर्तता है। उसके द्वारा मैं अपने आत्मा को त्रिकाली ध्रुवत्व का धारक द्रव्य को मैं जानता हूँ। आहा...हा...! समझ में आया? प्रभु! भाषा तो सादी है। आहा...हा...! अन्दर प्रभु विराजमान हैं। भाई! 'घट-घट अन्तर जिन बसै' – घट घट में जिन बसता है। प्रभु! जिनस्वरूप भगवान, वीतरागस्वरूप तू है। ज्ञानस्वरूपी चैतन्य वर्तता है, इसका क्या अर्थ हुआ? आहा...हा...!

मेरे प्रभु में – मेरे आत्मा में ज्ञायकस्वभाव – चैतन्यस्वभाव वर्तता है। उसके द्वारा मैं इस आत्मा को, त्रिकाल टिकते, त्रिकाली ध्रुव को मैं जानता हूँ। आहा...हा...! इसका नाम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है। अभी तो चौथे गुणस्थान की बात है। श्रावक और मुनि तो बापा... यह बात बहुत कठिन है। आहा...हा...! भाषा थोड़ी-थोड़ी समझ में आती है न? भाई! ध्यान तो बहुत रखते हैं। प्रभु! ऐसा मार्ग है। आहा...हा...! तेरे महीने-महीने के अपवास और वर्षी तप की पारणा करे, बहिन ने वर्षी तप किया हो, वह अन्त में फिर ढोंग करते हैं। अन्तिम तीन अपवास करते हैं और सोंठ लगाते हैं, रात्रि में गीत गवाते हैं और फिर दो-पाँच-दस हजार खर्च करके वर्षीतप मनाया कहलाया जाता है।

यहाँ तो परमात्मा तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ जिनेश्वर परमेश्वर इन्द्र और गणधरों के बीच में ऐसा कहते थे। आहा...हा...! इन्द्रों और गणधरों के बीच भगवान की यह वाणी

थी, वह आचार्य अपना अनुभव करके स्वयं कहते हैं। आहा...हा...! ऐसी बात है। आहा...हा...! थोड़ा लिखा बहुत जानना नाथ! थोड़ा कहा (उसे) बहुत कहा जानना! आहा...हा...! अन्दर प्रभु विराजता है, चैतन्य हीरा; जिसमें अनन्त चैतन्य के रत्न भरे हैं। प्रभु! तुझे पता नहीं है और भिखारी की तरह जहाँ-तहाँ याचक होकर घूमता है। पैसा लाओ, स्त्री लाओ, पुत्र लाओ, प्रतिष्ठा लाओ... याचक-बड़ा भिखारी है। आहा...हा...! अनन्त... अनन्त... आनन्द और ज्ञानस्वभाव से भरपूर प्रभु यहीं है। उसके सामने तो देखना नहीं और उसका आदर-सत्कार स्वीकार करना नहीं और धूल के बाहर के यह स्त्री, पुत्र, पैसा, धूल करोड़ रुपये और पाँच-पाँच करोड़ का (आदर करना है।)

मुम्बई में एक सेठ आया था न? पचास करोड़... पचास करोड... ! वह आया था। बहुत दुकानें - हांगकांग में दुकान, बहुत दुकान... दर्शन करने आया था। वैष्णव था (घर में) महिलाएँ सब अपने जैन - श्वेताम्बर जैन। महिलाएँ सब श्वेताम्बर जैन और लड़के सब वैष्णव परन्तु बहिनों को प्रेम, इसलिए आये थे। (ईश्वर) कर्ता... कर्ता... कर्ता... कर्ता... अरे बापू! भाई! कोई कर्ता नहीं है। आहा...हा...! मान्यता बन गई हो न? वह निकलना (बहुत कठिन है)। सम्प्रदाय में व्रत, तप और उपवास करें, तो धर्म होता है - यह मान्यता हो गयी है। आहा...हा...! सब मिथ्यात्व की मान्यताएँ हैं।

यहाँ कहते हैं कि मेरा प्रभु, भगवान आत्मा, चैतन्यस्वभाव मुझमें वर्तता है। इसलिए वैसे मेरे आत्मा को सकल त्रिकाल - तीनों काल में... आहा...हा...! ध्रुवत्व का धारक... ध्रुवत्व का धारक... नित्य टिकता, टिकाऊ वस्तु है। टिकती चीज वह ध्रुव है, उस द्रव्य को मैं जानता हूँ। आहा...हा...! इसमें क्या कहते हैं? विस्मयकारी भाषा लगती है! यह भाषा किस प्रकार की है? भाई! हमने तो अभी तक इच्छामि पणिकम्मणे, इरियावहीयाणे, विरायणे, गमणागमणे पाण्णकम्मणे वीयकम्मणे... अन्त में तस्समिच्छामि दुक्कड़म्... तस्सउत्तरीकरणेणं, तावकायंठाणेणं मोणेणं, जाणेंण... ऐसा सीखा है। अरे... परन्तु प्रभु! हम दस वर्ष से सीखे हैं। यहाँ तो नब्बे वर्ष हुए, अस्सी वर्ष से सीखे हैं, दस वर्ष की उम्र से सीखे हैं बापा! इसमें कुछ नहीं मिलता। आहा...हा...! वहाँ उमराला में हमारे जैनशाला चलती थी न! एक सोमचन्द भगत थे, यह पढ़ाते थे। मेरी उम्र तो उस समय दस-ग्यारह

वर्ष की थी। यहाँ तो अभी शरीर को नब्बे वर्ष हुए है। शरीर को न ? आत्मा तो त्रिकाल ध्रुव है। कहा है न ? वह भी ध्रुव कैसे ?

आहा...हा...! मेरा प्रभु चैतन्यस्वभाव जो स्व-परप्रकाशक ऐसा गुण - ऐसा स्वभाव मुझमें वर्तता है। इसलिए उस मेरे प्रभु को आत्मारूप में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ। आहा...हा...! वहाँ अहमदाबाद में सुना है ? नहीं (सुना) ? स्वयं करना पड़ेगा, कोई दूसरा कर दे, दूसरे से हो - ऐसी वस्तु नहीं है प्रभु! भाई! आहा...हा...! इसमें शरीर युवा हो, दो-पाँच करोड़ रुपये हों, पत्नी जरा सुन्दर मिली हो, लड़के अच्छे हुए हों, दो-दो लाख की आमदनी करते हों तो देख लो... 'मैं चौड़ा गली सकड़ी' आहा...हा...! मानों मैं कहीं बढ़ गया और कहीं आगे आ गया! परिभ्रमण करने में (आगे आया है)।

श्रोता : यह तो बढ़ता हो तो क्या करना ?

समाधान : यह कुछ भी तेरे में कहाँ है, तू कहाँ है और यह कहाँ तुझमें है ? अरे प्रभु! तुझमें दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी प्रभु तुझमें नहीं हैं। यहाँ क्या कहा ? आहा...हा...! यह विकल्प है, वह तो राग है। सिद्ध होता है, वहाँ राग रहता है ? णमो सिद्धाणं! राग इसका हो तो वहाँ सिद्ध में भी रहना चाहिए, राग इसका स्वरूप भी नहीं है। आहा...हा...! प्रभु! इसका स्वरूप तो चैतन्य के नूर का पूर भरा है! आहा...हा...! इस चैतन्य के नूर के पूर का जोर आत्मा में वर्तता है। इसलिए उससे मैं मेरे प्रभु को - मेरे आत्मा को त्रिकाली ध्रुवत्व धारक द्रव्य जानता हूँ... आहा...हा...! गजब बात करी है! त्रिकाली सर्व काल में ध्रुवत्व का धारक - ध्रुवरूप धारक - ऐसे इस द्रव्य को मैं जानता हूँ। आहा...हा...! यह पञ्चम काल के सन्त कहते हैं! कोई कहते हैं न ? कि 'अभी शुभभाव ही होते हैं' आहा...हा...! अरे प्रभु! (तो) धर्म नहीं होता - ऐसा कहते हैं ?

श्रोता : हमारा तो इससे ही कल्याण हो जायेगा, शुभभाव से कल्याण हो जायेगा!

पूज्य गुरुदेवश्री : इससे हमारा कल्याण होगा और तुम्हारा भी होगा। धूल में भी नहीं है। सुन न! तेरे व्रत, तप, भक्ति, लाख-करोड़ कर न! यह सब तो विकल्प हैं, राग है। प्रभु आत्मा है, उसमें यह राग कहाँ है ? वह तो क्षणिक उपाधि का भाव है परन्तु निरूपाधि चेतनस्वभाव भगवान आत्मा में वर्तता है। इसलिए मैं मेरे आत्मा को ध्रुवत्व का

धारक मेरे आत्मा को द्रव्य जानता हूँ। आहा...हा...! समझ में आता है न बापा! भाषा थोड़ी-थोड़ी समझ में आती है न?

आहा...हा...! यहाँ तो बापा! अन्दर में सब भगवान हैं। यह शरीर तो मिट्टी-धूल है। अन्दर पुण्य-पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव राग, मेल और दु:ख है। यह तुझे पता नहीं है प्रभु! आहा...हा...! तुझमें तो चैतन्य रत्नाकर - चैतन्य के रत्न का समुद्र अन्दर भरा है। भाई तेरी नजर नहीं है नाथ! आहा...हा...! यहाँ इन चारों लाइनों में तो गजब किया है। व्यवहार उड़ाया, निमित्त उड़ाया, अरे...! पर्याय भी उड़ाई! पर्याय निर्णय करती है कि ज्ञायकस्वभाव यह द्रव्य है, इसमें रहता है - ऐसा निर्णय पर्याय करती है। आहा...हा...! मैं जानता हूँ - ऐसा कहा है न? **ध्रुवत्व के धारक द्रव्य को जानता हूँ...** जानता हूँ - यह तो पर्याय हुई परन्तु पर्याय ने, अवस्था ने ऐसा जाना। अभी तो पर्याय का भी पता नहीं है, द्रव्य, गुण, पर्याय क्या? यह जैन के ईकाई के बिन्दु हैं। द्रव्य किसे कहना? (तो कहते हैं) द्रव्य अर्थात् पैसा - धूल! यहाँ तो द्रव्य अर्थात् आत्मा। अन्दर अनन्त गुण का धनी प्रभु है। भाई! उस द्रव्य में तो चैतन्यस्वभाव वर्तता है। आहा...हा...! उसमें दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम नहीं वर्तते, वह विकार तो ऊपर-ऊपर रहता है। आहा...हा...!

जिसमें 'जानता हूँ' - ऐसी पर्याय भी द्रव्य में प्रविष्ट नहीं होती! आहा...हा...! मेरा प्रभु आत्मा, त्रिकाली चैतन्य ज्ञायकस्वभाव मुझमें वर्तता है; इसलिए उस मेरे प्रभु को - मेरे आत्मा को, मैं उसके द्वारा अर्थात् कि चैतन्यस्वभाव आत्मा में वर्तता है, उसके द्वारा... आहा...हा...! मैं मेरे आत्मा को ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ। ध्रुवता का धारक है। ध्रुव नित्य, नित्य को धरता है - ऐसा मैं द्रव्य जानता हूँ। आहा...हा...! ऐसी भाषा! यह तुम्हारे कानून में नहीं आती। जज में (लौकिक कानून में) सब व्यर्थ की गप्प होती है। सरकार ने कानून बनाया हो, उसे रखकर सब बातें करना, ऐसा हुआ है और वैसा हुआ है और ऐसा हुआ है। आहा...हा...!

यहाँ तो एक दूसरी बात मस्तिष्क में आयी है। परिणम्यपरिणामकत्व आता है न? प्रभु आत्मा कैसा है? कि एक गुण अन्दर में ऐसा है कि जो ज्ञेय हैं, उसे जानने का स्वभाव है। चाहे तो परमेष्ठी हो या चाहे तो राग हो या सिद्ध हो। यह भी ज्ञान में ज्ञात होने योग्य

है और मेरा स्वरूप है, वह ज्ञानी को ज्ञान में ज्ञात हो ऐसा स्वरूप है। पर के स्वरूप को – ज्ञेयाकार को मैं जानूँ, ऐसा मेरा स्वभाव है और मेरे ज्ञानाकार पर के ज्ञान में प्रमेय होकर ज्ञात हो – ऐसा मेरा स्वभाव है। आहा...हा...! और मुझमें एक उत्पाद-व्यय-ध्रुव नाम का गुण है। इस गुण का धारक आत्मा है। आहा...हा...! इसलिए भगवान आत्मा में ऐसा वर्तता होने से मेरी पर्याय जो होती है, वह मेरे गुण के कारण, द्रव्य के कारण होती है। पर्याय होती है, चाहे तो विकारी या अविकारी; वह पर के बिलकुल मुझमें नहीं होता – ऐसा मुझमें एक गुण है। सैंतालीस शक्तियों में आता है – उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व शक्ति। आहा...हा...! मूल बात रह गयी है और ऊपर से सब थोथा! आहा...हा...!

(चलते विषय में) यहाँ तक तो स्व की बात थी। पैंतीस मिनिट चला यह तो कल चला था परन्तु बहुत सरस बात है, इसलिए फिर से लिया। आहा...हा...! फिर सादी भाषा! अस्तित्व का – पूर्ण अस्तित्व का, ध्रुवस्वरूप जीवन कैसा है? उसे सिद्ध किया। तेरे ध्रुव में चैतन्यस्वभाव वर्तता है। आहा...हा...! प्रभु तुझे पता नहीं है। तेरे प्रभु आत्मा में चैतन्यज्ञायक का नूर, चैतन्य का नूर, चैतन्य का तेज, चैतन्य प्रकाश के तेज का नूर, तुझमें वर्तता है। प्रभु! तू तो स्व और पर का प्रकाशक है। आहा...हा...! पर को अपना माननेवाला तू नहीं है। प्रभु! वह तुझमें है ही नहीं। यह मेरी स्त्री, यह मेरे लड़के और यह मेरा मकान कहाँ से लाया? यह क्या किया है तूने? मूढ़ता से भ्रमणा खड़ी की है। आहा...हा...! जो तुझमें नहीं वर्तता, जो उनमें वर्तता है, वह मुझमें है (यह कहाँ से लाया)? आहा...हा...!

श्रोता : पति से पत्नी सौभाग्यवाली कहलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पति ऐसा बोलता है 'धर्मपत्नी' ऐसा बोलता है और पत्नी ऐसा बोलती है 'पतिदेव' – ऐसा बोलती है, गुप्त रीति से बोले तब। सब गप्प है। यह पतिदेव है। पहले दिन जब शादी होकर मिले तब तो बहुत मान दे – पतिदेव के रूप में – ऐसा कहते हैं। हमने तो सुना है। इस संसार के किसी कार्य का अपने को पता नहीं है। छोटी उम्र से अपने को तो यह अभ्यास है। सत्रह वर्ष की उम्र से! अभी नब्बे हुए! आहा...हा...! तेहत्तर वर्ष से यह है! यह धन्धा, यह पेढ़ी! पालेज की पेढी छोड़कर, यह पेढ़ी की है! दुकान है, पालेज में दुकान है। आहा...हा...!

श्रोता : यह तो भगवान होने की पेढ़ी है!

पूज्य गुरुदेवश्री : पालेज की पेढ़ी चलती है, हमारे पिताजी की दुकान है। 'भरूच' और 'बड़ोदरा' के बीच 'पालेज' है न! वहाँ पिताजी की दुकान थी और नौ वर्ष वहाँ रहा हूँ। दुकान है, अभी वहाँ बड़ी दुकान है। तीन लड़के हैं हमारे भागीदार बुआ के लड़के थे, चालीस लाख रुपया है, चार लाख की आमदनी है, आठ दिन अभी रह आये हैं। सुनकर अन्त में उठने लगे तब रोवे... रोवे... रोवे... रोवे... लड़के अब अलग हो गये तो भी लाख-सवा लाख की एक-एक को आमदनी अवश्य है। बारह-तेरह लाख रुपये एक-एक के हिस्से में आये हैं। चालीस लाख रुपये थे। धूल में कुछ नहीं है, चालीस लाख है या चालीस करोड़ हो। आहा...हा...! प्रभु, उसमें तू नहीं वर्तता और वह तुझमें नहीं वर्तते।

यहाँ तो पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति के परिणाम तुझमें नहीं वर्तते ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! तुझमें तो चैतन्यस्वभाव वर्तता है। आहा...हा...! प्रभु! तू चेतन है न! तो चैतन्य का चैतन्यस्वभाव चैतन्य में वर्तता है। आहा...हा...! एक बार तो हिला दे - ऐसा है। आहा...हा...! लो, पौन घण्टा हुआ, चार लाईनों में बहुत भरा है... बहुत भरा है। ओ...हो...! गजब बात की है।

श्रोता : आगे जाना रुचता नहीं!

पूज्य गुरुदेवश्री : निकलना रुचता नहीं। अमृतचन्द्राचार्य महाराज ने चार लाईनों में तो... आहा...हा...! अरे...रे...! सुनने मिले नहीं और दुनिया की प्रपञ्च के जाल में पूरे दिन पाप में... आहा...हा...! धन्धे में पूरा दिन पाप... स्त्री-पुत्रादिक को सम्हालने में पाप... इन्हें पोषण करने में और पढ़ाने में पैसा देना... पाप... सब पाप...!

श्रोता : यह सब पाप ही किया है?

समाधान : दूसरा किया क्या है? (हजारों) रुपये खर्च करके (लड़के को) पढ़ाता है। पाप करके कमाया और पाप करके पढ़ाया (हजारों का वेतन हो), उसमें भी क्या हुआ धूल में? महीने के लाखों रुपये का वेतन हो तो भी वह तुझमें कहाँ है? बापू! वह तो उसके अचेतन स्वभाव से उसके द्रव्य में वर्तता है। आहा...हा...! यह अचेतन

स्वभाव उसके द्रव्य में ध्रुवरूप वर्तता है, तेरा चेतनस्वभाव तेरे में ध्रुवरूप वर्तता है। आहा...हा...! ऐसा है। नये लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह क्या होगा? ऐसा जैनधर्म होगा?

श्रोता : ध्रुवत्व अर्थात् क्या?

समाधान : ध्रुवत्व अर्थात् त्रिकाली। नित्य... नित्य...। ध्रुव अर्थात् नित्य... ऐसा समझना। वस्तु नित्य है न? नित्य है न? आत्मा है वह नित्य है, त्रिकाल है। नित्य कहो या ध्रुव कहो, ध्रुव अर्थात् एकरूप रहनेवाला त्रिकाल नित्य। आहा...हा...! ठीक प्रश्न किया।

जैनदर्शन की शैली उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, युक्तं सत् - यह पहले एक के बिन्दी की बात है। दूसरी बिन्दी हो वह गोल होती है और ईकाइ की बिन्दी होती है, वह ऐसे जरा बिन्दी करके ऐसा लम्बा करके एक लिखते हैं। यह तो अभी ईकाइ की बिन्दी - द्रव्य, गुण और पर्याय की भी खबर नहीं है। आहा...हा...! यह परमाणु है न? यह तो परमाणु की - मिट्टी की अवस्था है परन्तु इसका परमाणु है, वह तो ध्रुव नित्य है। परमाणु जो है - मूल Point। यह तो बहुत परमाणुओं का पिण्ड है, इसके टुकड़े करते... करते... करते... अन्तिम Point रहता है, उसे सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव परमाणु कहते हैं। वह परमाणु भी ध्रुव नित्य ही है। उसकी पर्याय पलटती है, यह अभी खून की पर्याय है, पहले आटा की थी उससे पहले गेहूँ की थी, उससे पहले धूल की थी। यह पर्याय पलटते-पलटते अभी खून की हुई है। परमाणु अन्दर कायम है, अवस्था पलटती है। इसी प्रकार प्रभु भी नित्य है, ध्रुव है, उसकी अवस्थाएँ पलटती हैं। जो पुण्य-पाप को धर्म माननेवाले हैं, उनकी मिथ्यात्व अवस्था है और यह मेरा चैतन्यस्वभाव मुझ में वर्तता है - ऐसा मैं आत्मा ध्रुव हूँ, यह सम्यग्दर्शन की पर्याय है। आहा...हा...! तीनों आ गये हैं - द्रव्य, गुण, पर्याय। अर्थात् चैतन्यस्वभाव है वह गुण है; उसका धारक द्रव्य-वस्तु, वह द्रव्य है और उसकी मान्यता होना, वह सम्यग्दर्शन की पर्याय है। आहा...हा...!

अब इसके सामने (कहते हैं) **इस प्रकार पृथक्रूप से वर्तमान...** देखो, यहाँ मेरे अतिरिक्त पृथक्रूप से वर्तते - भिन्नरूप से वर्तते... पृथक् अर्थात् भिन्न। भिन्नरूप से

वर्तते हुए कहा परन्तु पृथक्‌रूप से वर्तते हुए भी वह चीज है। अकेला आत्मा ही है और दूसरे आत्माएँ और दूसरे रजकण नहीं हैं, ऐसा नहीं है। वेदान्त कहता है कि एक ही सर्वव्यापक आत्मा है यह बात अत्यन्त मिथ्यात्व है। आहा...हा... ! **इस प्रकार पृथक्‌रूप से वर्तमान स्वलक्षणों द्वारा...** यह पृथक् मुझसे पृथक् वर्तते हुए भी उनके स्वलक्षणों से (वर्तमान) उनके - परद्रव्य के जो लक्षण हैं, (उन) **स्वलक्षणों के द्वारा जो अन्य द्रव्यों को छोड़कर उसी द्रव्य में वर्तते हैं...** मुझसे पृथक् वर्तमान द्रव्य - वस्तुएँ। अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, आकाश आदि उनके स्वलक्षणों द्वारा **अन्य द्रव्य को छोड़कर उसी द्रव्य में वर्तते हैं...** आहा...हा... !

उनके द्वारा - आकाश को... आकाश है। उसमें अवगाहन गुण वर्तता है, उसे मैं पर के रूप में जानता हूँ - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! **धर्म को...** धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय; भगवान ने देखा हुआ एक पदार्थ है। भगवान जिनेश्वरदेव ने केवलज्ञान में छह द्रव्य देखे हैं। छह द्रव्य ! उनका भी पता नहीं होता। अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय और एक आकाश - इस प्रकार भगवान परमात्मा ने केवलज्ञान में छह द्रव्य देखे हैं। वह यहाँ कहते हैं। यह आकाश है, वह मैं नहीं हूँ, उसके लक्षण द्वारा उसके द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं उसका लक्षण नहीं रहता। आकाश का लक्षण, उसके द्रव्य को छोड़कर मुझमें नहीं रहता, दूसरे में नहीं रहता, उसमें रहता है - ऐसे आकाश को (मैं पर के रूप में जानता हूँ)।

धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, जड़, चैतन्य गति करे, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त है। भगवान सर्वज्ञदेव जिनेश्वरदेव, परमेश्वर ने छह द्रव्य देखे हैं, उनमें धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है। वह उसके स्वलक्षण का धारक और मुझसे पृथक् वर्तता है, उसे मैं धर्म - धर्मास्तिकाय के रूप में जानता हूँ।

अधर्म को... एक अधर्मद्रव्य है अर्थात् अधर्मास्तिकाय। जड़, चेतन गति करके स्थिर रहते हैं तो निमित्त होता है। जैसे, पानी में गति करती हुई मछली, गति करती हुई मछली हो - ऐसे गति में धर्मास्तिकाय निमित्त है और जैसे वृक्ष के नीचे कोई व्यक्ति विश्राम मिले, उसे प्रकार गति होकर आत्मा या परमाणु स्थिर रहें, उसमें निमित्तरूप एक

अधर्मास्तिकाय का तत्त्व है। भगवान ने देखा हुआ अरूपी द्रव्य है, उस अधर्म को मैं पर के रूप में देखता हूँ।

काल को... भी मैं पर के रूप में देखता हूँ। **पुद्गल को....** परमाणु से लेकर लक्ष्मी को, शरीर को, वाणी को, कर्म को, बंगले को, महल को, पैसे को, इन सबको मैं अपने से भिन्न जानता हूँ। आहा...हा... ! यह तो अभी सम्यग्दर्शन की बात है। आहा...हा... !

और आत्मान्तर को... (अर्थात्) मेरी आत्मा के अतिरिक्त पञ्च परमेष्ठी हैं, स्त्री का आत्मा है, पुत्र का आत्मा है, अनन्त निगोद के जीव हैं। हरित फूग, लहसुन आदि के यह सब आत्माएँ मेरे आत्मा से अन्य हैं, यह भिन्नरूप वर्तते हैं। इन्हें मैं अपने रूप नहीं जानता, इन्हें मैं पररूप जानता हूँ। आहा...हा... ! पञ्च परमेष्ठी को भी मेरे आत्मा की अपेक्षा से मुझमें वे नहीं वर्तते, इसलिए पररूप जानता हूँ। आहा...हा... ! **आत्मान्तर को...** कहा न ? (अर्थात्) **(अन्य आत्माओं को...)** अन्य आत्मा अर्थात् फिर भले ही सिद्ध का हो, अरहन्त का हो, महाविदेह में साक्षात् भगवान विराजते हैं, सीमन्धर स्वामी परमात्मा; महाविदेह में बीस विरहमान तीर्थङ्कर मनुष्य देह में विराजमान हैं परन्तु वे आत्मा भिन्न हैं, मेरे आत्मा से भिन्न हैं, वे मुझमें नहीं वर्तते। आहा...हा... ! वे मुझमें नहीं आते और उनमें मैं नहीं वर्तता। आहा...हा... ! तथा उनकी जो वाणी है, उसमें मैं नहीं वर्तता – वाणी में मैं नहीं वर्तता और वाणी मुझमें नहीं वर्तती। आहा...हा... ! इसमें कितना याद रखना ? एक घण्टे में तो सब नया-नया दिखता है।

अरे...रे... ! इसमें क्या किया है ! बापू ! किया क्या है ! अज्ञान की मजदूरी कर-करके लोग मर जाते हैं। अज्ञानी की मजदूरी ! यह कौन है प्रभु ? मैं कौन हूँ और ये पर क्या है ? पर उसके स्व लक्षण से पररूप वर्तता है, वह मेरे लक्षण से और मेरे कारण वर्तता है – ऐसा नहीं है और वह मुझमें वर्तता है ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

अन्य आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व धारक... देखा ? मुझसे भिन्न सभी जड़ और चेतन सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व धारक नित्य हैं। **द्रव्य के रूप में निश्चित करता हूँ...** ये द्रव्य हैं – ऐसा निश्चित करता हूँ। ध्रुव टिकते तत्त्व हैं – ऐसा में निश्चित करता हूँ। आहा...हा... ! यह वीतराग जिनागम के छह द्रव्यों का वर्णन।

वीतराग त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि आयी – ओम् ध्वनि। महाविदेह में परमात्मा विराजमान हैं। वहाँ से यह वाणी आयी है। आहा...हा... ! कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में दो हजार वर्ष पहले हुए, वे वहाँ गये थे, भगवान के पास गये थे, यह कुन्दकुन्दाचार्य के वचन हैं। वे वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर यह रचना की है। तीन लोक के नाथ सीमन्धरस्वामी परमात्मा अभी विराजमान हैं। करोड़ पूर्व का आयुष्य है, आहा...हा... ! वहाँ से आकर यह सब शास्त्र बनाये हैं। आहा...हा... ! यह भगवान का सन्देश है बापू ! कोई व्यक्ति बाहर जाये तब कुछ लेकर आता है न ? (ऐसा पूछते हैं) बापू ! हमारे लिये क्या लेकर आये ? स्त्री कहती है मेरे लिए क्या लेकर आये ? लड़का कहता है मेरे लिये क्या लेकर आये ? बापू ! तुम मुम्बई गये थे तो कुछ लेकर आये हो ? इसी प्रकार इन प्रभु के पास गये थे तो प्रभु ! तुम क्या लेकर आये ? यह लेकर आये !!

आहा...हा... ! तीनों काल में टिकते – ध्रुवत्व धारक – ध्रुवपना नित्य **द्रव्य के रूप में निश्चित् करता हूँ।** आहा...हा... ! देखो, परद्रव्य है – ऐसा निश्चित किया है क्योंकि आत्मा का चैतन्यस्वभाव स्व-परप्रकाशक है और वह चैतन्यस्वभाव आत्मा में वर्तता है। आहा...हा... ! इसलिए भगवान भी स्व-परप्रकाशक है। पर को अपना मानना – ऐसा नहीं परन्तु पर को और स्व को स्वतः जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। आहा...हा... ! अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा भी पर है। आहा...हा... ! उन्हें में पर के रूप में जानता हूँ। वे त्रिकाल टिकते हैं, उन्हें भी मैं पर के रूप में जानता हूँ, निजरूप में नहीं। आहा...हा... ! पञ्च परमेष्ठी मुझरूप नहीं तो फिर यह स्त्री-पुत्र कहाँ से आये इसके ? आहा...हा... !

(अर्थात् जैसे चैतन्य लक्षण के द्वारा आत्मा को ध्रुवद्रव्य के रूप में जाना उसी प्रकार अवगाहन हेतुत्व...) आकाश। अवगाहन हेतुत्व ऐसा आकाश का गुण – लक्षण है। उसके द्वारा मैं नित्य आकाश को निश्चित करता हूँ। **(गतिहेतुत्व...)** (अर्थात्) धर्मास्तिकाय। अधर्मास्तिकाय स्थिरता का हेतु, काल वर्तना स्वभाव पर आत्माओं को चैतन्य लक्षण के धारक, सबके स्वभाव **(इत्यादि) लक्षणों से – जो कि स्वलक्ष्यभूत द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते...** वे स्वलक्षण हैं, उनमें वे द्रव्य वर्तते हैं। स्वलक्षण उनके द्रव्य में वर्तते हैं। इसके **(अतिरिक्त) अन्य द्रव्यों में नहीं वर्तते,**

उनके द्वारा आकाश धर्मास्तिकाय.... अधर्मास्तिकाय, (अधर्मास्तिकाय) और अन्य आत्माएँ। **(ध्रुवद्रव्य के रूप में) जानता हूँ...** आहा...हा.. !

इसलिए मैं आकाश नहीं हूँ... यह आकाश नाम का पदार्थ है। अवगाहन गुण के लक्षण से भरपूर ध्रुवरूप में त्रिकाल है, मैं वह आकाश नहीं हूँ। आहा...हा... ! मैं धर्मास्तिकाय नहीं हूँ। **धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ और आत्मान्तर नहीं हूँ...** इस आत्मा से भिन्न आत्मा, वह मैं नहीं हूँ। इस आत्मा से भिन्न आत्मा, परमेष्ठी भी वह मैं नहीं हूँ। आहा...हा... ! ऐसी बातें।

जिन्दगी चली जाती है। आहा...हा... ! सत्पन्थ परमात्मा त्रिलोकनाथ का जो सत्य है, वह सुनने को नहीं मिले तो निर्णय कब करे ? आहा...हा... ! बाहर में पाँच-पच्चीस लाख इकट्ठे हों तो मानो मैंने कमाया! बाहुबल से कमाया! बाप के पास नहीं था। आहा...हा... ! 'उद्योगपति' ऐसा कहते हैं। गोवा के (एक भाई के पास) दो अरब चालीस करोड़ ! दो अरब चालीस करोड़ ! स्वर्गस्थ हो गये। अभी पौने दो बरस पहले पाँच मिनिट में एकदम ! पत्नी को हेमरेज हुआ था। वहाँ गोवा में साठ लाख का मकान है। एक चालीस लाख का, दस-दस लाख के दो हैं। दो अरब चालीस करोड़ रुपये। 'पाणासणा' के दशाश्रीमाली बनिया हैं। स्त्री को हेमरेज हुआ था, इसलिए वहाँ आया था। दो-चार दिन, फिर रात्रि में उठा और कहा मुझे दुखता है, बस डॉक्टर को बुलाओ, डॉक्टर आवे वहाँ तो... जाओ भटकने... ढोर में और पशु में... अर...र... ! आहा...हा... ! ममता... ममता... ममता... ममता... मेरा... मेरा... मेरा... मेरा... उसका लड़का अभी मुम्बई में दर्शन करने आया था। ऐसा कहता था कि मेरे पिताजी को आपके पास आना था परन्तु समय नहीं मिला। आहा...हा... ! पेसा और धूल का कुछ कमाने में रुक जाये, उसमें दो अरब चालीस करोड़ रुपया ! दशाश्रीमाली बनिया ! दो सौ चालीस करोड़ ! चिल्लाते हैं न ! मर गया ढोर की तरह ! मुझे दुःखता है... मुझे दुःखता है... डॉक्टर को बुलाओ। डॉक्टर आवे वहाँ तो भाईसाहब... ! जाओ भटकने चार गति में !

यहाँ कहते हैं... आहा...हा... ! **इसलिए में आकाश नहीं हूँ, धर्म नहीं हूँ, अधर्म नहीं हूँ, काल नहीं हूँ, पुद्गल नहीं हूँ, और आत्मान्तर नहीं हूँ, क्योंकि मकान के**

एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाश की भाँति... एक मकान में हजार दीपक हों, उसमें एक दीपक को बाहर ले जाये तो वहाँ प्रकाश घट जाता है ? एक दीपक को बाहर ले जाये यहाँ तो 'मुझाय' लिखा है परन्तु एक दीपक को बाहर ले जाये तो वहाँ प्रकाश कम होता है ? इतना ही कम हुआ। उतना ही प्रकाश वहाँ रह गया परन्तु यहाँ तो प्रकाश जितना है, उतना ही है। उसी प्रकार यह अनन्त आत्माएँ चैतन्य के प्रकाश से भरपूर भगवान उनमें से एक ही आत्मा स्वयं मोक्ष में जाये इसलिए दूसरे आत्मा का मोक्ष हो जाये – ऐसा है ? आहा...हा... ! प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न है। किसी आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... !

मकान के एक कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाश की भाँति सब द्रव्य इकट्ठे होकर रहते हुए भी मेरा चैतन्य निज स्वरूप से अच्युत रहता हुआ... आहा...हा... ! मेरा चैतन्यस्वरूप, इससे मैं अच्युत रहा हूँ अर्थात् च्युत नहीं होता, नष्ट नहीं होता। वह **मुझे पृथक् बतलाता है।....** मेरा चैतन्यस्वरूप पर से मुझे पृथक् बतलाता है। – पर से मुझे भिन्न बतलाता है। आहा...हा... ! विशेष आयेगा...

प्रवचन नं. ८४ दिनाङ्क २५ मई १९७९

(प्रवचनसार) ९० वीं गाथा का भावार्थ। दो लाईन बाकी हैं न ?

भावार्थ : स्व-पर के विवेक से... आत्मा और पर के भेदज्ञान से **मोह का नाश किया जा सकता है।...** यह सब ऊपर (टीका में) आया कि यह चैतन्यस्वभाव जो ज्ञायक है, उसे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है, वह द्रव्य से संयुक्त है। चैतन्यस्वभाव – ज्ञायकस्वभाव को द्रव्य के साथ सम्बन्ध है – ऐसा पर्याय निर्णय करती है। तीनों आ गये – द्रव्य, गुण और पर्याय।

जो ज्ञायक चैतन्यरस चैतन्यस्वभावी है, वह ध्रुव है। उसका सम्बन्ध आत्मा के आधार से है। आत्मा को उसके साथ सम्बन्ध है यह कहेंगे। इस प्रकार जिसे पर से भिन्न निर्णय हुआ है, उसे सम्यग्दर्शन और शुद्ध उपयोग हुआ। आहा...हा... ! ज्ञायक चैतन्यस्वभाव ध्रुव है, वह द्रव्य के सम्बन्धवाला, वह द्रव्य ध्रुवपने को धारण करता हुआ – ऐसा जिसे

अन्तरङ्ग में पर से और राग से भी भिन्न पड़कर ज्ञायकभाव ध्रुव है, उसका अनुभव हुआ, उसे यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वह मोह का नाश कर सकता है। आहा...हा... ! ऐसी बात है ! क्रिया करना, व्रत करना और तप करना, भक्ति करना यह तो कुछ (आया ही नहीं।) यह आया परन्तु इससे भिन्न है – ऐसा आया। उनका भी अस्तित्व है। जैसे, परद्रव्य का अस्तित्व है, वैसे ही उस व्यवहार का अस्तित्व है परन्तु उसके वर्तमान में – पर्याय में, शुद्धभाव में ज्ञायकभाव को द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। ऐसी अभेददृष्टि होने पर वह व्यवहार से भिन्न पड़ जाता है। पर से भी वह भिन्न पड़ जाता है – ऐसी वस्तु है। उसके मोह का नाश किया जा सकता है।

वह स्व-पर का विवेक, जिनागम के द्वारा स्व-पर के लक्षणों... जिनागम के द्वारा स्व-पर के लक्षण। आगम का अर्थ बाद में कहेंगे, उस आगम का अर्थ – ऐसा करेंगे – स्वसंवेदन। आगम कौशल्य से मोह की गाँठ नष्ट की है। आगम कौशल्य से कहा है। यह आगम अर्थात् स्वसंवेदन। आगम का ज्ञान अर्थात् स्वसंवेदन। आहा...हा... ! राग से भी भिन्न पड़कर अपना शुद्धभाव, वर्तमान त्रिकाली ज्ञायकभाव, द्रव्य के साथ सम्बन्ध रखता है – ऐसी अभेददृष्टि हुई, उसका मोह-मिथ्यात्व नष्ट होता है। आहा...हा... ! **वह स्व-पर का विवेक, जिनागम के द्वारा...** स्व-पर के लक्षणों द्वारा – स्व का लक्षण ज्ञायक है, उसके द्वारा स्व का सम्बन्ध करे और पर का लक्षण रागादि, बन्ध का – पर का लक्षण भिन्न है (ऐसा निश्चित करे) । आहा...हा... ! स्व-पर के लक्षणों को यथार्थरूप से जान कर किया जा सकता है। यह ९० गाथा कही। 1

गाथा ९१

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति -

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि।।९१।।

सत्तासंबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्दधाति न स श्रमणः ततो धर्मो न संभवति।।९१।।

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः। यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति।। ९१।।

एवं स्वपरपरिज्ञानविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्डिका गता। इति पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः। अथ निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपदार्थश्रद्धानमन्तरेण श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति निश्चिनोति - **सत्तासंबद्धे** महासत्तासंबन्धेन सहितान् **एदे** एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान्। पुनरपि किंविशिष्टान्। **सविसेसे** विशेषसत्तावान्तरसत्ता स्वकीयस्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् **जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि** यः कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोऽपि न श्रद्धत्त हि स्फुटं **ण सो समणो** निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चय-सम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसंयम लक्षणश्रामण्याभावत्स श्रमणो न भवति। इत्थंभूतभावश्रामण्याभावात् **ततो धम्मो ण संभवदि** तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणात्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणधर्मोऽपि न संभवतीति सूत्रार्थः।। ९१।।

अब, न्यायपूर्वक ऐसा विचार करते हैं कि जिनेन्द्रोक्त अर्थों के श्रद्धान बिना धर्म लाभ (शुद्धात्म अनुभवरूप धर्मप्राप्ति) नहीं होता –

जिस श्रमण को सत्तामयी, भिन्न द्रव्यों की श्रद्धा नहीं।
वे श्रमण नहीं, अरु उनमें उद्‌भव धर्म का होता नहीं॥

अन्वयार्थ : [यः हि] जो (जीव) **[श्रामण्ये]** श्रमणावस्था में **[एतान् सत्तासंबद्धान सविशेषान्]** इन सत्तासंयुक्त[१] सविशेष[२] पदार्थों की **[न एवं श्रद्दधाति]** श्रद्धा नहीं करता, **[सः]** वह **[श्रमणः न]** श्रमण नहीं है; **[ततः धर्मः न संभवति]** उससे धर्म का उद्‌भव नहीं होता (अर्थात् उस श्रमणाभास के धर्म नहीं होता।)

टीका : जो (जीव) इन द्रव्यों को कि जो (द्रव्य) सादृश्य-अस्तित्व[३] के द्वारा समानता को धारण करते हुए स्वरूप-अस्तित्व के द्वारा विशेषयुक्त हैं। उन्हें स्व-पर के भेदपूर्वक न जानता हुआ और श्रद्धा न करता हुआ यों ही (ज्ञान-श्रद्धा के बिना) मात्र श्रमणता से (द्रव्यमुनित्व से) आत्मा का दमन करता है, वह वास्तव में श्रमण नहीं है; इसलिए जैसे जिसे रेती और स्वर्णकणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, उसे धूल के धोने से-उसमें से स्वर्ण लाभ नहीं होता, इसी प्रकार उसमें से (श्रमणाभासों में से) निरुपराग[४] आत्मतत्त्व की उपलब्धि (प्राप्ति) लक्षणवाले धर्मलाभ का उद्‌भव नहीं होता।

भावार्थ : जो जीव द्रव्यमुनित्व का पालन करता हुआ भी स्व-पर के भेदसहित पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता, वह निश्चय-सम्यक्त्वपूर्वक परमसामायिकसंयमरूप मुनित्व के अभाव के कारण मुनि नहीं है; इसलिए, जैसे जिसे रेती और स्वर्णकण का विवेक नहीं है - ऐसे धूल को धोनेवाले को, चाहे जितना परिश्रम करने पर भी, स्वर्ण की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार जिसे स्व और पर का विवेक नहीं है। ऐसे उस द्रव्यमुनि को, चाहे जितनी द्रव्यमुनित्व की क्रियाओं का कष्ट उठाने पर भी, धर्म की प्राप्ति नहीं होती॥ ९१॥

प्रवचन नं. ८४ का शेष **दिनाङ्क २५ मई १९७९**

अब, जिनेन्द्रोक्त अर्थों के... भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा उदित, अर्थात् कथित पदार्थों के **श्रद्धान बिना...** सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित पदार्थों के श्रद्धान बिना, अर्थात् स्वरूप चिदानन्द शुद्ध है, उसके समकित बिना आहा...हा...! **धर्म लाभ नहीं होता...**

१. सत्तासंयुक्त = अस्तित्ववाले।
२. सविशेष = विशेषसहित; भेदवाले; भिन्न-भिन्न।
३. अस्तित्व दो प्रकार का है - सादृश्य-अस्तित्व और स्वरूप-अस्तित्व। सादृश्य-अस्तित्व की अपेक्षा से सर्व द्रव्यों में समानता है, और स्वरूप-अस्तित्व की अपेक्षा से समस्त द्रव्यों में विशेषता है।
४. निरुपराग = उपराग (मलिनता, विकार) रहित।

अर्थात् शुद्ध उपयोग का, आनन्द का लाभ नहीं होता। आहा...हा...! **जिनेन्द्रोक्त अर्थों के श्रद्धान बिना...** सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कथित जो तत्त्व हैं (अर्थात्) ज्ञायकतत्त्व भिन्न हैं, पुण्य-पाप भिन्न हैं, अजीव भिन्न है; उस स्व-पर की भिन्नता का - जिनेन्द्र द्वारा कथित ऐसे पदार्थों के श्रद्धान बिना, अर्थात् अन्तर सन्मुख समकित हुए बिना उसे धर्मलाभ (अर्थात्) शुद्ध उपयोग और आनन्द का लाभ नहीं होता। इसलिए उसे सच्चा साधुपना नहीं आता। आहा...हा...!

(अर्थात् जिनदेव द्वारा कथित पदार्थों की श्रद्धा किये बिना...) श्रद्धा शब्द से अनुभव। आहा...हा...! **(शुद्धात्म अनुभवरूप...)** धर्म लाभ नहीं होता, इसका अर्थ किया है। **(शुद्धात्म अनुभवरूप धर्म प्राप्ति नहीं होती) ऐसा न्यायपूर्वक विचार करते हैं...** विचार करते हैं - ऐसा कहते हैं, शास्त्र ऐसा बोले, उन्हें कहाँ विचारना है। मुनि स्वयं तो भावलिङ्ग में तत्पर हैं परन्तु दूसरों को समझाने के लिए कहते हैं कि हम विचार करते हैं कि तत्त्व क्या है?

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि।।९१।।

(नीचे हरिगीत -)

जिस श्रमण को सत्तामयी, भिन्न द्रव्यों की श्रद्धा नहीं।
वे श्रमण नहीं, अरु उनमें उद्भव धर्म का होता नहीं॥

यह ज्ञान अधिकार की अन्तिम दो गाथाएँ हैं, ९१ और ९२। ज्ञान अधिकार पूरा होता है फिर ज्ञेय अधिकार - समकित का अधिकार लेंगे।

टीका : जो (जीव) इन द्रव्यों को... (अर्थात्) पदार्थों को **कि जो द्रव्य सादृश्य अस्तित्व के द्वारा...** (अर्थात्) 'है' ऐसे अस्तित्व के द्वारा सब एक समान **समानता को धारण करते हुए स्वरूप अस्तित्व द्वारा विशेष युक्त हैं...** 'है' इस अपेक्षा से तो सभी तत्त्व हैं। आहा...हा...! सादृश्य अस्तित्व का अर्थ नीचे है। अस्तित्व दो प्रकार का है - सादृश्य-अस्तित्व और स्वरूप-अस्तित्व। सादृश्य-अस्तित्व की

अपेक्षा से सर्व द्रव्यों में समानता है, और स्वरूप-अस्तित्व की अपेक्षा से समस्त द्रव्यों में विशेषता है। भिन्न है। आहा...हा...!

सादृश्य अस्तित्व के द्वारा समानपना धारण करते हुए स्वरूप अस्तित्व के द्वारा विशेष युक्त हैं... भगवान आत्मा अपने स्वरूप के विशेष से पर से अत्यन्त भिन्न हैं। **उन्हें - स्व-पर के भेदपूर्वक नहीं जानता हुआ...** आहा...हा...! स्व-पर के अवच्छेदपूर्वक, अर्थात् स्व-पर के विभागपूर्वक। परद्रव्य का कुछ कर सकता हूँ, परद्रव्य है, उसका अस्तित्व है और उसकी वह पर्याय भी, उसके अस्तित्व में है, तथापि मैं पर का - पर्याय का कुछ कर दूँ (- ऐसा मानता हुआ) समस्त द्रव्यों में विवेकपूर्वक स्व-पर को भिन्न न जाने बिना (परिणमता है।) आहा...हा...! **न जानता...** अर्थात् स्व और पर को, जो अत्यन्त भिन्न है, उन्हें नहीं जानता। भिन्न है तो भिन्न का कार्य, भिन्न कर नहीं सकता तथा वह भिन्न है, वह आत्मा के कार्य में कुछ मदद नहीं कर सकता। आहा...हा...! इस प्रकार नहीं जानता अर्थात् स्व-पर के विवेकपूर्वक स्व-पर का भाग करके-अवच्छेदपूर्वक अर्थात् अब - निश्चय, छेद; स्व-पर का विभाग। आहा...हा...! उसे **न जानता हुआ और श्रद्धा नहीं करता हुआ...** अकेले व्रत, तप और क्रियाकाण्ड में पड़ा है। आहा...हा...! अन्तरङ्ग में भगवान आत्मा की सत्ता - चैतन्यस्वभाव से सम्बन्ध धारक ऐसी सत्ता और पर - आत्मा की सत्ता पर की चैतन्यसत्ता को धारे और पर के अचेतन के साथ जड़ सम्बन्ध रखता है, ऐसे विभाग को नहीं जानता, श्रद्धा नहीं करता। जानता नहीं, इसलिए श्रद्धा नहीं करता, अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं है।

यों ही (ज्ञानश्रद्धा के बिना)... स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप की श्रद्धा के बिना। अपना जो भिन्नस्वरूप अस्तित्व है, उसके ज्ञान और उसके श्रद्धान बिना। **मात्र श्रामण्यता से (द्रव्यत्व मुनित्व से आत्मा का दमन...)** अर्थात् इन्द्रियों का दमन - विषयों का सेवन नहीं, नग्नपना धारण करे, अट्ठाईस मूलगुण पाले, पञ्च महाव्रत पाले। आहा...हा...! ऐसा द्रव्य मुनिपना पालन कर आत्मा का दमन करता है। आहा...हा...! जंगल में रहता है, महीने-महीने की तपस्या करता है, (इसलिए) लोगों को ऐसा लगता है... आहा...हा...! ऐसे आसन लगा देता है! 'दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो' - श्रीमद् में

आता है न! 'दृढ़ पद्मासन लगा दे, मात्र अकेला!' जहाँ सिंह, बाघ और भालू हो वहाँ! परन्तु उससे क्या ? उससे क्या ? आहा...हा... ! यह द्रव्यश्रमण है परन्तु अन्तर में राग से भिन्न शुद्ध चैतन्य का अनुभव नहीं है, शुद्ध चैतन्य के ज्ञान का वेदन नहीं है और शुद्ध चैतन्य में रमणतारूप चारित्र नहीं है, वे सब द्रव्यश्रमण, साधु नहीं हैं। **वह वास्तव में श्रमण नहीं है...** आहा...हा... ! बहुत कठिन काम !

नग्नपना पालन करे, पञ्च महाव्रत पालन करे, अट्ठाईस मूलगुण पालन करे... आहा...हा... ! परन्तु यह तो राग है और यह तो परलक्ष्य से होनेवाली दशा है। यह स्वलक्ष्य की दशा नहीं है। आहा...हा... ! जितने दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम – राग होता है, उसकी दिशा पर की ओर है और निर्मल पवित्र पर्याय की दशा की दिशा स्व की ओर है। आहा...हा... ! इस प्रकार जहाँ अन्तरङ्ग में विवेक, अर्थात् पृथक्ता – भिन्नता नहीं करता और (आत्मा का) अनुभव नहीं करता और दमन करता है, आत्मा को दमन करता है; महीने-महीने के उपवास करे, दस रस में से दो रस ले, आठ नहीं ले, यह नहीं चले, वह नहीं चले। पहले आया था न! चण्डाल का लड़का (ब्राह्मण के घर पला) वह ऐसा कहता है यह मुझे नहीं चलता... यह मुझे नहीं चलता... यह मुझे नहीं चलता...। इस प्रकार यह शुभभाववाला ऐसा कहता है कि यह विषय मेरे नहीं चलता, भोग नहीं चलते, अमुक नहीं चलता, दुकान का व्यापार नहीं चलता, उससे क्या हुआ। आहा...हा... ! **वह वास्तव में श्रवण नहीं है।**

अब, दृष्टान्त देते हैं। **इसलिए जैसे जिसे रेती और स्वर्ण कणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, उसे धूल के धोने से...** (धूल धोनेवाले) होते हैं न ? पहले स्वर्णकार की दुकान हो और वहाँ वर्ष – दो वर्ष में धूल धोनेवाले आते हैं। उमराला में तो यह सब हमने देखा है न ? स्वर्णकार की दुकान हो, वहाँ नीचे धूल में कुछ सोने के कण पड़े होते हैं; इसलिए धूल धोनेवाले को धूल के कण की और सोने के कण की खबर होती है, यह देखा है। हमारे उमराला में एक स्वर्णकार की दुकान थी, उसका लड़का मेरा भाईबन्ध था। रतिलाल पानाचन्द सोनी था। यह सब तो ७९-८० वर्ष पहले की बात है। नीचे धूल धोनेवाला आता था, ऐसे-ऐसे (धूल) निकालता, उसमें भी तीन प्रकार होते हैं। एक धूल होती है, एक

बंगड़ी होती है न ? स्त्रियों की बंगड़ी होती है न ? बंगड़ी होती है इसमें पीला पट्टा होता है न ? उसके छोटे बारीक-बारीक टुकड़े धूल में होते हैं। उसमें पीले पट्टे होते हैं, हरे पट्टे होते हैं, उसमें पीले पट्टे की राख हो – बारीक टुकड़े हों एक ओर यह हो और एक ओर धूल, एक ओर पीतल के बारीक टुकड़े हों और एक ओर सोने के बारीक टुकड़े हों। मैं तो वहाँ देखा यह क्या करता है ? ऐसे-ऐसे करके और सोने की कड़ी हो वह वजनदार होती है ! वजनदार समझ में आता है ? वजनवाली और धूल तो साफ दिखती है परन्तु बंगड़ी का पीला टुकड़ा हल्का होता है, टुकड़ा बारीक-बारीक धूल जैसा होता है, वह हल्का होता है, इसलिए निकाल देते हैं। उसमें से पीतल के बारीक-बारीक टुकड़ें हों, उन्हें भी निकाल देते हैं। सोने का बारीक कण हो, उसे रखते हैं। ऐसे धूल धोनेवाले पहले थे। अब तो कहाँ, अब तो सब दुकानें शहर में, रोज जलाना होता है। यह बात यहाँ कहते हैं।

धूल धोनेवाला... आहा...हा... ! **जिसे रेती और स्वर्ण कणों का अन्तर ज्ञात नहीं है...** आहा...हा... ! अरे... ! सोने का कण, पीतल का कण और बंगड़ी का पीला टुकड़ा – इनका भेद नहीं जाना है। वे टुकड़े हल्के हैं और यह वजनदार है। आहा...हा... ! तुम्हारे गाँव में नहीं होते हैं।

श्रोता : मुम्बई में जौहरी की दुकानें होती हैं, वहाँ धूल धोनेवाला गटर के पानी में से निकालता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी नहीं, वह तो बाहर की धूल। यह तो बाहर की धूल पड़ी हो और उसमें से करते थे। पहले जलाते नहीं, दुकान के सामने धूल पड़ी हो, पहले जलाते नहीं, इसलिए इसी धूल में से निकालते हैं। आहा...हा... ! जिसे सोने के कण की, पीतल के कण की, बंगड़ी के कण की और धूल की भिन्नता की खबर नहीं है, वह सोना कैसे लेगा ? कुछ समझ में आता है ? आहा...हा... !

जिसे रेती और स्वर्ण कणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, उसे धूल के धोने से – उसमें से स्वर्ण लाभ नहीं होता... उसे सोना प्राप्त नहीं होता, कारण कि साथ में बंगड़ी के टुकड़े होंगे, वह भी उठायेगा। उसे उठायेगा और सोना बहुत बारीक होता है, वह पड़ा रहेगा। आहा...हा... ! इसी प्रकार शरीर, कर्म आदि तो धूल है आहा...हा... ! अशुभभाव है।

यह सब बंगड़ी के टुकड़े जैसे हैं। शुभभाव हैं, यह पीतल के कण जैसे हैं, इनसे भिन्न भगवान का जो शुद्धभाव है, वह सोने का कण है। आहा...हा...!

वह रतिलाल पानाचन्द हमारे साथ पढ़ता था। एक प्रागजीभाई जूठाबोला था, वह जूठाबोला कहलाता था, उसका एक लड़का छोटी उम्र में मर गया था, वह तो अभी तक था। साथ में पढ़ते, फिर दुकान पर जाये तब (ऐसे धूल धोनेवालों को देखते थे)। आहा...हा...!

जो स्वर्ण के कण की ओर पीतल के बंगड़ी के कण की और धूल की भिन्नता नहीं जानता, उसे स्वर्ण लाभ नहीं होता। कहो, ठीक है? इसी प्रकार आत्मा में - शरीर आदि जड़कर्म हैं, अशुभभाव वह अलग चीज है, शुभभाव वे अलग, पीतल के टुकड़े जैसे हैं और शुद्धभाव सोने के कण हैं। आहा...हा...!

श्रोता : शुद्धभाव सोने का कण है!

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...! यह तो नजरों से देखा है! किसी भी बात में क्या है, इसका पता लगाकर और फिर समझते हैं। समझे बिना (यूँ ही) नहीं। नाटक देखते हैं, तो भी नाटक के टिकट के बारह आने देते हैं, तुम क्या बोलते हो - इसकी एक पुस्तक बनायी है? लाओ पुस्तक? तुम क्या बोलते हो, इसकी खबर बिना हम सुनते नहीं हैं। वह पुस्तक भी साथ में लेते थे। बड़ौदरा में, भरूच में बड़े नाटक देखे हैं परन्तु सब संवत् ६८ के साल से पहले! फिर ६८ में वह छोड़ दिया, वैशाख में दुकान छोड़ दी। उससे पहले यह सब देखा है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! मुझे सोना कौन है, इसका पता नहीं है। सोना तो पीला है, पीतल भी पीला है, बंगड़ी का टुकड़ा भी पीला है, और धूल है, वह तो रंगरहित दूसरी चीज है परन्तु उसकी भिन्नता का जिसे ज्ञान नहीं है, उसे स्वर्ण का लाभ नहीं होता। इसी प्रकार भगवान आत्मा! कर्म और शरीर आदि धूल जैसी परचीज है। आहा...हा..! पाप के परिणाम तो सब बंगड़ी के टुकड़े जैसे हैं, वह आत्मा नहीं है। प्रभु! और दया, दान, व्रत, तप के भाव ये पीतल के बारीक टुकड़े जैसे हैं, यह आत्मा नहीं है। आहा...हा...!

श्रोता : चेतन स्वर्ण!

पूज्य गुरुदेवश्री : चेतन भगवान! पहले आ गया है और अभी इसमें दूसरा लेंगे। चेतन जिसका आधार आत्मा है – ऐसा लेंगे। पहले मैं यह था कि ज्ञायक का सम्बन्ध आत्मा के साथ है। यहाँ आधार लेंगे। आहा...हा...!

जिसे रेती और स्वर्ण कणों का अन्तर ज्ञात नहीं है, उसे धूल के धोने से – स्वर्ण लाभ प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार उसमें से (श्रमणाभास में से...) श्रमणाभास (अर्थात्) नग्न दिगम्बर होकर, अट्ठाईस मूलगुण पाले, पञ्च महाव्रत पाले परन्तु श्रद्धा-ज्ञान से भिन्न (शून्य है)। श्रद्धा-समकित क्या? और ज्ञान क्या? इसका कुछ पता नहीं है। सम्यग्दर्शन यह अन्दर आत्मा का शुद्ध स्वभाव है, यह पूरा सोना भरा है, उसका ज्ञान करके प्रतीति करना, समकित है, यह अनुभव है आहा...हा...! इसका – आत्मा का स्व-संवेदनज्ञान वह ज्ञान है और आत्मा में स्वरूप में रमणता – स्थिरता... स्थिरता जम जाना, इसका नाम वीतरागी चारित्र है। आहा...हा...!

जिसे आत्मा, राग और पर की भिन्नता का पता नहीं है – ऐसे द्रव्यश्रमण को आत्मा का लाभ – धर्म का (लाभ) नहीं होता। आहा...हा...! अर्थात् उसे शुद्ध उपयोगरूपी धर्म का लाभ नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा कहते हैं। अन्दर है, देखो! अन्दर ९१ वें में है। देखो! **निरूपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणधर्मोऽपि** संस्कृत में है। **न संभवतीति** (अर्थात्) शुद्धात्मानुभूति लक्षण धर्म – वह उसे नहीं है। जयसेनाचार्यदेव की टीका में संस्कृत में है। आहा...हा...! इस ओर है। पढ़ते हैं न... इस ओर है। आहा...हा...!

(श्रमणाभास में से...) देखो यहाँ लिखा है न? **निरूपराग आत्मतत्त्व की उपलब्धि...** आहा...हा...! (निरूपराग अर्थात्) उपराग (मलिनता विकार) रहित। पुण्य-पाप के भाव, यह विकार हैं, (इनसे) रहित। उपलब्धि (अर्थात्) अनुभव, प्राप्ति। आहा...हा...! उपरागरहित निरूपराग आत्म तत्त्व की उपलब्धि। आहा...हा...! अनुभव – आत्मा का अनुभव – ज्ञायकस्वभाव का अनुभव; आनन्द की प्राप्ति का अनुभव, उसका लक्षण है – ऐसा धर्म लाभ प्राप्त नहीं होता।

निरूपराग... (अर्थात्) रागरहित **आत्मतत्त्व की उपलब्धि...** आहा...हा...! शुभराग रहित की। शुभराग – दया, दान, व्रत (भी मलिन है।) आहा...हा...! ऐसे

निरूपराग आत्मतत्त्व की, भगवान जो निरूपराग है, वह आत्मतत्त्व ही निरूपराग है, रागरहित ही है, आहा...हा...! ऐसे आत्मतत्त्व की प्राप्ति **लक्षणवाले धर्मलाभ का उद्भव नहीं होता...** आहा...हा...! इसका नाम धर्म है। आ...हा...! बहुत संक्षिप्त।

भावार्थ : जो जीव द्रव्यमुनित्व का पालन करता हुआ भी... पञ्च महाव्रत पाले निर्दोष आहार ले, उसके लिए बनाये हुए चौके से आहार नहीं ले – ऐसा द्रव्यमुनित्व पाले। यहाँ तो अभी साधु के लिये चौका बनाते हैं। ये सेठिया चौका बनाकर देते हैं (फिर ऐसा कहते हैं) तब उन्हें भूखे निकालना? बनाते हैं उनके लिये! पधारो महाराज! आहार शुद्ध, वचन शुद्ध, भाषा शुद्ध... ये सेठिया लोग ऐसा करते हैं। बोलते ऐसा हैं कि आहार शुद्ध है, जल शुद्ध, वचन शुद्ध है, काया शुद्ध है, तिष्ठ... तिष्ठ... तिष्ठ... तिष्ठ... आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **द्रव्य मुनित्व का पालन करता हुआ भी स्व-पर के भेद सहित पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता...** अन्दर अनुभव नहीं करता, श्रद्धा अर्थात् अकेली श्रद्धा नहीं करता, अनुभव नहीं करता। आहा...हा...! यह तो अपने आ गया है न (समयसार १५५ गाथा)! **जीवादीसद्दहणं** ज्ञानरूप से परिणमना।

दिल्ली में एकान्त में (एक वर्तमान मुनि के साथ) चर्चा हुई थी। मैं, वे और (दूसरे एक भाई) थे। वे प्रतिमाधारी हैं, एक पुस्तक बनाया है – बिनोबा! उसमें श्वेताम्बर की गाथाएँ भी हैं और दिगम्बर की गाथाएँ भी हैं। हम तीन लोग थे, उसमें यह प्रश्न हुआ। बड़ा मकान था, सबसे सेठिया थे, सबको बाहर निकाल दिया था। और इस १५५ (गाथा का) प्रश्न निकाला। जीवादीसद्दहणं। मैंने कहा जीवादीसद्दहणं का अर्थ ऐसा नहीं है। श्रद्धान् मात्र ऐसा नहीं है। आत्मा में शान्ति और आनन्दरूप परिणमित होना, उसकी श्रद्धा–उसका नाम श्रद्धारूप परिणमित होना है। आहा...हा...! (ऐसी की ऐसी) जीवादि की श्रद्धा है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उसका अनुभव होकर, श्रद्धान करना। आत्मा को अनुसरण करके आनन्द का अनुभव होना और उसमें प्रतीति होना इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहा...हा...! जहाँ ऐसा सम्यग्दर्शन नहीं है...। आहा...हा...! वह कहते हैं।

वह जीव निश्चय सम्यक्त्वपूर्वक... आहा...हा...! आत्मा का जो आनन्द का अनुभव, जिसका निश्चय स्वभाव सद्चिदानन्द प्रभु, उस आनन्द को आत्मा के साथ सम्बन्ध है। ऐसी जिसे द्रव्यदृष्टि और अन्तर निर्विकल्प अनुभव नहीं है, **वह जीव निश्चय सम्यक्त्वपूर्वक परम सामायिक संयमरूप...** परम सामायिक संयमरूप! निश्चय समकितपूर्वक परम सामायिक! अन्दर वीतरागपनेरूप चारित्र, वह चारित्र है। आहा...हा...! अरे...रे...! **परम सामायिक संयमरूप मुनित्व के अभाव के कारण मुनि नहीं है...** आहा...हा...! यह लोगों को कठोर पड़ता है।

श्रोता : नग्न रहता है, कितने अधिक परीषह सहन करता है और आप कहते हो कि मुनि नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नग्न रहता है, परीषह सहन करता है। एक आया था वह कहता था न? वह आया नहीं था? कौन सा गाँव था? कुरावड़! क्षुल्लक आया था। पहले यहाँ आया था। विद्यार्थी था और वहाँ जाकर क्षुल्लक होकर बैठ गया। (वह कहता था) यह सब परीषह और उपसर्ग सहन करते हैं, उन्हें धर्म नहीं है? स्वयं क्षुल्लक हुआ! यहाँ आया था, लड़का - छात्र था, युवा था, रात्रि में भाषण किया था। फिर तो ऐसा सुना था कि दिमाग घूम गया, ऐसा सुना था। यहाँ मेरे पास आया था, तब ऐसा अंग्रेजी में बोलता था। ऐसा... वैसा...! यह सब परीषह सहन करते हैं, उपसर्ग सहन करते हैं, ये साधु नहीं हैं? मैंने कहा परीषह सहन करते हैं, इसलिए साधु हैं - ऐसा नहीं है। (ऐसा कहता था) बाद में भी प्राप्त होगा। सहन करते... करते... करते... उन्हें समकित प्राप्त होगा। कहा ऐसा नहीं है। अभी मुनिपने की क्रिया है - ऐसी ऊँची क्रियाएँ पालन कर नौंवे ग्रैवेयक गया। अनन्त बार (ऐसी क्रियाएँ) पालन किया है।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवियक उपजायो,
ते निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥

आहा...हा...! आत्मा के भान बिना सुख नहीं है, यह पञ्च महाव्रत दुःख है। आहा...हा...! ऐसा काम! फिर सोनगढ़वालों को कहते हैं न! एकान्त कहते हैं... एकान्त कहते हैं। बेचारे! उन्हें बैठा हो, ऐसा कहेंगे न -

जामैं जितनी बुद्धि है, उतनौ देय बताय
बाको बुरौ न मानिये और कहाँ से लाय?

उनकी बुद्धि है उस अनुसार कहते हैं न? 'जामैं जितनी बुद्धि है, उतनौ देय बताय, बाको बुरौ न मानिये और कहाँ से लाय?' वस्तु बापा! कोई अलौकिक बात है। भाई! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं। **वह जीव निश्चय सम्यक्त्वपूर्वक परम सामायिक संयमरूप मुनित्व के अभाव के कारण मुनि नहीं है...** आहा...हा...! मुनि को तो निश्चय समकितसहित, निश्चय परम सामायिक होती है, परम सामायिकरूप संयम होता है, उसे मुनि कहते हैं। व्रत पाले, नग्न रहे, इसलिए मुनि है - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! **इसलिए जैसे जिसे रेती और स्वर्णकण का विवेक नहीं है - ऐसे धूल को धोनेवाले को, चाहे जितना परिश्रम करने पर भी, स्वर्ण की प्राप्ति नहीं होती...** (जिसे) सोने के कण का पता नहीं है, पीतल के कण का पता नहीं है, उसे स्वर्ण का लाभ नहीं होता।

उसी प्रकार जिसे स्व-पर का विवेक नहीं है... विवेक अर्थात् अन्तर अनुभव। विवेक अर्थात् आत्मा अलग है - ऐसा (मात्र विकल्प नहीं)। आहा...हा...! चैतन्यस्वभाव - ज्ञायकभाव; यह जो ज्ञायकभाव एकरूप सत्ता है, उसे आत्मा के साथ सम्बन्ध है - ऐसी अन्तर्दृष्टि होकर निर्विकल्प अनुभव हो, उसे सम्यग्दर्शन - सच्चा सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्पश्चात् स्वरूप में रमणता हो, (उसे चारित्र कहते हैं)। वीतरागचारित्र ऐसा कहा है न? देखो न! **परम सामायिक संयमरूप मुनिपना...** आगे आयेगा। वीतरागचारित्र बाद में ९२ वीं गाथा में आयेगा।

परम सामायिक संयमरूप मुनित्व के अभाव के कारण मुनि नहीं है, इसलिए, जैसे जिसे रेत और स्वर्णकण का विवेक नहीं है - ऐसे धूल को धोनेवाले को, चाहे जितना परिश्रम करने पर भी स्वर्ण की प्राप्ति नहीं होती है। उसी प्रकार जिसे स्व और पर का विवेक नहीं है - ऐसे उस द्रव्यमुनि को... आहा...हा...! **चाहे जितनी द्रव्यत्वमुनित्व की क्रियाओं का कष्ट उठाने पर भी...** बाहर की क्रियाओं का महाकष्ट - जंगल में बसना, अकेला रहना... आहा...हा...! उसके लिये बनाया हुआ

आहार-पानी का कण नहीं ले परन्तु यह सब तो क्रियाएँ हैं। (वर्तमान में तो) ऐसी क्रिया भी कहाँ है ? आहा...हा... !

एक साधु है, वे बेचारे यहाँ बहुत आना चाहते हैं परन्तु हम किसी को कुछ नहीं लिखते कि आओ। पाँच-सात वर्ष पहले उन्होंने हमारा सब पढ़ा। पढ़कर पत्र लिखा। महाराष्ट्र में कौन सा गाँव था, जहाँ स्थानकवासी साधु भी था। 'जालना!' जालना! में उनका चातुर्मास था। उससे पहले पत्र आया था कि आपने यह क्या किया ? कहाँ से निकाला ? दो सौ वर्ष में ऐसी नहीं थी ! बात सच्ची है। हम समकित बिना साधु होकर बैठे हैं – ऐसा लिखा था। बाहर की क्रिया लेकर बैठे हैं, परन्तु हम साधु नहीं हैं, हम यति नहीं हैं, मुनि नहीं हैं। बहुत से पत्र आये थे। गिरनार के नाम से वहाँ से निकले हैं, यहाँ से हम तो किसी को 'आओ' ऐसा तो कहते नहीं। यहाँ रखना कहाँ ? मकान कौन देगा ? उन्हें आहार कौन देगा ? इस उपाधि में कौन पड़ेगा ? इसलिए वे बेचारे गिरनार के नाम से निकले हैं परन्तु फिर कहाँ जायें (क्या पता) ?

यहाँ दूसरे एक मुनि आये थे। इन्दौर में चातुर्मास था, यहाँ नहीं आये थे ? ८५ वर्ष की उम्र ! यहाँ आये थे, दो दिन रहे थे। वे ९५ वें वर्ष की उम्र कहते थे परन्तु गाँव के व्यक्ति इसलिए पता नहीं हो, परन्तु ८५ वर्ष की उम्र अवश्य थी। पालीताना से चलकर यहाँ आये थे। चातुर्मास इन्दौर में था, ८५ वर्ष की उम्र दिगम्बर ! वे यहाँ स्पष्ट कहते थे – महाराज ! तुम जो कहते हो उस अनुसार तो हिन्दुस्तान में कोई साधु है ही नहीं; मैं भी साधु नहीं और दूसरे भी साधु नहीं। हमने भावलिङ्गी साधु कभी देखे ही नहीं। यहाँ बेचारे कहते थे। परन्तु फिर जाना कहाँ ? बेचारे बोले थे हमारे पाप का उदय, हमने यह द्रव्यलिङ्ग ले लिया, अब हमें क्या करना ? 'पाप का उदय' – ऐसा यहाँ बोले थे। बोले थे। खबर है ? यह ले लिया अब करना क्या ? हमारे पास मुनिपना नहीं है। आहा...हा... ! क्या हो ? बेचारे... !

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं मूलाचार एक ग्रन्थ – शास्त्र है। उसमें कहते हैं कि अरे रे... ! मेरे दुश्मन को भी द्रव्यलिङ्गी न हो। कारण कि फिर बेचारा उलझन में आयेगा कि जाना कहाँ है ? मूलाचार में आता है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं – हमारे दुश्मन को भी द्रव्यलिङ्ग न हो, कारण कि वह ले बैठे और अन्दर निश्चय समकित, सम्यग्ज्ञान के भाव

न हों, उसने बाहर में प्रसिद्ध किया हो और अब मार्ग दूसरा निकला। अब लोगों में क्या कहना ? क्या करना ? आहा...हा... ! ऐसा है।

वह जमादार नहीं है। दृष्टि बहुत विपरीत। एक शास्त्री यहाँ आता है, बहुत होशियार। वह कहता है, मुझे अन्दर बातचीत में स्पष्ट कहा कि बात तो सोनगढ़ की, कानजीस्वामी कहते हैं कि यह बात तो सच्ची-सच्ची है परन्तु मुझसे अब प्रसिद्ध नहीं होगी। नरक और निगोद में जाऊँगा परन्तु यह प्रसिद्ध नहीं होगी। बाहर में पड़े हों परन्तु अब करना क्या ? स्पष्ट कहा उसने। झगड़ा, विरोध... विरोध... खोटे पक्ष में पुष्टि और एकान्त में ऐसा कहता है ! शास्त्री बहुत होशियार है, यहाँ आया था। अभी आया था तब भाषण दिया था। उसमें रिकॉर्डिंग (उतर गया था कि) जमादार मिला था। सोनगढ़ की बात सच्ची है परन्तु अब हमसे कहीं जाये ऐसा नहीं है। हम प्रसिद्ध हैं, नरक-निगोद में जाऊँगा परन्तु अब यह कह सकूँ - ऐसा नहीं है। ऐसा वहाँ बोला। आहा...हा... ! यहाँ लिखा है कि अब क्या करना ? द्रव्यलिङ्ग ले लिया, अब क्रिया रही, वस्तु नहीं। अब बाहर में हो-हा हो गयी, उसमें सोनगढ़वाले निकले कि यह तो मार्ग ही नहीं है। अरे भाई बापा... ! यह तेरे हित की बात है। भाई ! यह कोई तेरे अनादर की बात नहीं है। प्रभु ! तू द्रव्यस्वभाव से तो भगवान है। आहा...हा... ! पर्याय में भूल है, वह एक क्षण की भूल है। प्रभु ! आहा...हा... ! बाकी तो अन्दर पूरा भगवान है। द्रव्य से तो साधर्मी है। द्रव्य ऐसा है, भगवान ! पर्याय में अन्तर है, फिर उलझता है, वह यहाँ कहते हैं।

द्रव्यत्व मुनित्व की क्रियाओं का कष्ट उठाने पर भी धर्म की... अर्थात् शुद्धोपयोग की निरुपराग चारित्र की, रागरहित सम्यग्दर्शन की **प्राप्ति नहीं होती...** आहा...हा... ! यह ९१वीं (गाथा पूरी हुई)।1

गाथा ९२

अथ `उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय `चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्व निश्चित्य `परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च `धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम्। तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिस्पृहामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते -

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो।।९२।।

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः।।९२।।

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव। तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री। सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते। ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते। अलमतिविस्तरेण। स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे। स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः। स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः।।९२।।

अथ `उवसंपयामि सम्मं' इत्यादि नमस्कारगाथायां यत्प्रतिज्ञातं, तदनन्तरं `चारित्तं खलु धम्मो' इत्यादिसूत्रेण चारित्रस्य धर्मत्वं व्यवस्थापितम्। अथ `परिणमदि जेण दव्वं' इत्यादिसूत्रेणात्मनो धर्मत्वं भणितमित्यादि। तत्सर्वं शुद्धोपयोगप्रसादात्प्रसाध्येदानीं निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मैव धर्म इत्यवतिष्ठते। अथवा द्वितीयपातनिका - सम्यक्त्वाभावे श्रमणो न भवति, तस्मात् श्रमणाद्धर्मोऽपि

न भवति। तर्हि कथं श्रमणो भवति, इति पृष्टे प्रत्युत्तरं प्रयच्छन् ज्ञानाधिकारमुपसंहरति - **जो णिहदमोहदिट्ठी** तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वोत्पन्नेन निजशुद्धात्मरुचिरूपेण निश्चयसम्यक्त्वेन परिणतत्वान्निहतमोह-दृष्टिर्विध्वंसितदर्शनमोहो यः। पुनश्च किंरूपः। **आगमकुसलो** निर्दोषिपरमात्म-प्रणीतपरमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसंवेदनज्ञान-कुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीणः। पुनश्च किंरूपः। **विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो** व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरङ्गचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनिश्चलपरिणतिरूप-वीतरागचारित्रपरिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थितः उद्यतः। पुनरपि कथंभूतः। **महप्पा** मोहलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा **धम्मो त्ति विसेसिदो समणो** जीवितमरणलाभालाभादिसमता-भावनापरिणतात्मा स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थः।। ९२।।

अथैवंभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तस्य फलं दर्शयति -

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि ।।८।।

जो तं दिट्ठा तुट्ठो यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणतं पूर्वसूत्रोक्तं मुनीश्वरं दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण संतुष्टः सन्। किं करोति। **अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं** अभ्युत्थानं कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणानां सत्कारं प्रशंसां करोति **वंदणणमंसणादिहिं तत्तो सो धम्ममादियदि** 'तवसिद्धे णयसिद्धे' इत्यादि वन्दना भण्यते, नमोऽस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषैः तस्माद्यतिवरात्स भव्यः पुण्यमादत्ते पुण्यं गृह्णाति इत्यर्थः ।।८।।

अथ तेन पुण्येन भवान्तरे किं फलं भवतीति प्रतिपादयति -

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति।।९।।

तेण णरा व तिरिच्छा तेन पूर्वोक्तपुण्येनात्र वर्तमानभवे नरा वा तिर्यञ्चो वा **देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा** भवान्तरे दैवीं वा मानुषीं वा गतिं प्राप्य **विहविस्सरियेहि सया संपुण्णमणोरहा होंति** राजाधिराजरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रादिपरिपूर्णविभूतिर्विभवो भण्यते, आज्ञाफलमैश्वर्यं भण्यते, ताभ्यां विभवैश्वर्याभ्यां संपूर्णमनोरथा भवन्तीति। तदेव पुण्यं भोगादिनिदानरहितत्वेन यदि सम्यक्त्वपूर्वकं भवति तर्हि तेन परंपरया मोक्षं च लभन्ते इति भावार्थः।। ९।।

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तप्रकारेण 'एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं' इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभिः शुद्धोपयोगाधिकारः, तदनन्तरं 'देवदजदिगुरुपूजासु' इत्यादि पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्डिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः, ततश्च 'सत्तासंबद्धेदे' इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मः संभवतीति 'जो णिहदमोहदिट्ठी' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तत्फलकथनेन

`जो तं दिट्ठा' इत्यादि गाथाद्वयम्। इत्यधिकारद्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टय-सहितेनैकोत्तरशतगाथाभिः **ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक**नामा प्रथमो महाधिकारः समाप्तः।। १।।

'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती'[१] इस प्रकार (पाँचवीं गाथा में) प्रतिज्ञा करके, 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो'[२] इस प्रकार (७ वीं गाथा में) साम्य का धर्मत्व (साम्य ही धर्म है) निश्चित करके 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो'[३] इस प्रकार (८ वीं गाथा में) जो आत्मा का धर्मत्व कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धि के लिये[४] 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो, पावदि णिव्वाणसुहं'[५] इस प्रकार (११ वीं गाथा में) निर्वाणसुख के साधनभूत शुद्धोपयोग का अधिकार प्रारम्भ किया, विरोधी शुभाशुभ उपयोग को नष्ट किया (हेय बताया), शुद्धोपयोग का स्वरूप वर्णन किया, शुद्धोपयोग के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले ऐसे आत्मा के सहज ज्ञान और आनन्द को समझाते हुए ज्ञान के स्वरूप का और सुख के स्वरूप का विस्तार किया, उसे (आत्मा के धर्मत्व को) अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग के प्रसाद से सिद्ध करके[६], परम निस्पृह[७], आत्मतृप्त (ऐसी) पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुए, कृतकृत्यता को प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर, जिनके भेदवादसना[८] की प्रगटता का प्रलय हुआ है, ऐसे होते हुये, (आचार्य भगवान) 'मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ' इस प्रकार रहते हैं, (ऐसे भाव में निश्चल स्थित होते हैं) –

हैं कुशल आगम में अवरु मोह दृष्टि जिनकी विनष्ट है।
आरुढ़ विराग चरित्र में, महात्मा श्रमण वो 'धर्म' हैं॥

१. अर्थ = मैं साम्य को प्राप्त करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।
२. अर्थ = चारित्र वास्तव में धर्म है, जो धर्म है, वह साम्य है – ऐसा (शास्त्र में) कहा है।
३. अर्थ = द्रव्य जिस काल में जिस भावरूप परिणमित होता है, उस काल में उसमय है – ऐसा (जिनेन्द्रदेव ने) कहा है; इसलिए धर्मपरिणत आत्मा को धर्म जानना चाहिए।
४. जिसकी सिद्धि के लिये = आत्मा को धर्मरूप बनवाने का जो कार्य साधना के लिए।
५. अर्थ = धर्म परिणत स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोग में युक्त हो तो मोक्ष के सुख को पाता है।
६. सिद्ध करके = साधकर। (आत्मा को धर्मरूप रचने का जो कार्य साधना था, उस कार्य को महापुरुषार्थ करके शुद्धोपयोग द्वारा आचार्य भगवान ने सिद्ध किया।)
७. पर की स्पृहा से रहित और आत्मा में ही तृप्त, निश्चयरत्नत्रय में लीनतारूप प्रवृत्ति।
८. भेदवासना = भेदरूप वृत्ति; विकल्प = परिणाम।

अन्वयार्थ : [यः आगमकुशलः] जो आगम में कुशल हैं, **[निहतमोहदृष्टिः]** जिसकी मोहदृष्टि हत हो गई है और **[विरागचरिते अभ्युत्थितः]** जो वीतरागचारित्र में आरूढ़ है, **[महात्मा श्रमणः]** उस महात्मा श्रमण को **[धर्मः इति विशेषितः]** (शास्त्र में) 'धर्म' कहा है।

टीका : यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तव में मनोरथ है। उसमें विघ्न डालनेवाली एक बहिर्मोहदृष्टि[१] ही है। और वह (बहिर्मोहदृष्टि) तो आगमकौशल्य[२] तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी। इसलिए वीतरागचारित्ररूप से प्रगटता को प्राप्त (वीतरागचारित्ररूप पर्याय में परिणत) मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर, समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से सदा निष्कम्प ही रहता है। अधिक विस्तार से बस होओ! जयवंत वर्तो स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म[३]; जयवंत वर्तो शब्दब्रह्ममूलक[४] आत्मतत्वोपलब्धि – कि जिसके प्रसाद से, अनादि संसार से बँधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही छूट गई है और जयवन्त वर्तो परम वीतराग-चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग कि जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है॥ ९२॥

प्रवचन नं. ८४ का शेष **दिनाङ्क २५ मई १९७९**

अब ९२ गाथा। ज्ञान अधिकार की अन्तिम गाथा है। फिर ज्ञेय अधिकार शुरु होगा।

'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती'... यह पूरा पहला अधिकार है और उसकी समाप्ति करते हैं। **इस प्रकार (पाँचवीं गाथा में) प्रतिज्ञा करके,...** (प्रतिज्ञा) की थी। **उवसंपयामि...** मैं ग्रहण करता हूँ। नीचे (अर्थ) है 'मैं साम्य को प्राप्त करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। वीतरागभाव को प्राप्त करता हूँ।' आहा...हा...! ऐसा पहली ही गाथा में आ गया है। साम्य को प्राप्त करता हूँ। आचार्य महाराज स्वयं कहते हैं कि मैं तो वीतरागभाव को प्राप्त करता हूँ। आहा...हा...! यह पाँचवीं गाथा में आ गया है।

१. बहिर्मोहदृष्टि = बहिर्मुख ऐसी मोहदृष्टि। (आत्मा को धर्मरूप होने में विघ्न डालनेवाली एक बहिर्मोहदृष्टि ही है।)
२. आगमकौशल्य = आगम में कुशलता-प्रवीणता।
३. स्याद्वादमुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म = स्याद्वाद की छापवाला जिनेन्द्र का द्रव्यश्रुत।
४. शब्दब्रह्ममूलक = शब्दब्रह्म जिसका मूल कारण है।

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इस प्रकार (७ वीं गाथा में)... (आ गया है)। नीचे अर्थ है। चारित्र वास्तव में धर्म है जो धर्म है वह साम्य है – ऐसा (शास्त्र में) कहा है। वीतरागभाव वह धर्म है और वह धर्म शास्त्र में कहा है। साम्यभाव, वह शास्त्र में कहा है। राग है, वह धर्म नहीं है। लाख–करोड़ व्यवहाररत्नत्रय पाले, वह कोई धर्म नहीं, धर्म का साधन नहीं है। आहा...हा...! ऐसा कठिन है।

'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो'... है? नीचे (अर्थ दिया है)। द्रव्य जिस काल में, जिस भावरूप से परिणमता है, उस काल में उसमय है... यह आ गया है। शुभरूप हो तो शुभ, अशुभरूप हो तो अशुभ, शुद्धरूप हो तो शुद्ध है – ऐसा (जिनेन्द्रदेव ने) कहा है। इसलिए धर्म परिणत आत्मा, धर्म जानना। शुद्ध उपयोगरूप से आत्मा परिणमे, वह आत्मा धर्म है। शुभाशुभ परिणाम वह अधर्म है। आहा...हा...! गजब बात है! देव–गुरु–शास्त्र की भक्ति, देव–गुरु–शास्त्र की श्रद्धा, पञ्च महाव्रत, शास्त्र का परलक्ष्यी ज्ञान, यह सब अधर्म है। कठिन पड़ता है भाई! यह तो वीतराग मार्ग है। राग के कारण आत्मा को कुछ लाभ होता है, यह जिनेन्द्र के मार्ग में नहीं है। आहा...हा...! वीतराग भगवान ने तो वीतरागस्वरूप से लाभ कहा है। आहा...हा...!

धम्मो मुणेयव्वो' इस प्रकार (८ वीं गाथा में) जो आत्मा का धर्मत्व कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धि के लिये 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो, पावदि णिव्वाणसुहं' इस प्रकार (११ वीं गाथा में)... कहा है। नीचे (अर्थ है)। जिसकी सिद्धि के लिये = आत्मा को धर्मरूप बनवाने का जो कार्य साधना के लिए; और धर्मरूप परिणमित स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोग में युक्त हो... आहा...हा...! देखो, शुभभाव वह अशुद्ध उपयोग है, धर्म नहीं अधर्म है। आहा...हा...! ऐसा कठिन पड़ता है।

(यहाँ एक साधु आया था)। बेचारा यही कहता था, ८५ वर्ष की उम्र! यहाँ का सुना था और इन्दौर में चातुर्मास था। वहाँ एक पण्डित है, यहाँ का प्रेमवाला है। उससे यहाँ की समकित आदि पूछते थे और सब साहित्य पढ़ा था। पढ़कर कहा, मुझमें कुछ नहीं है।

हम तो साधु नहीं हैं परन्तु हिन्दुस्तान में हमने कोई दिगम्बर साधु नहीं देखा। कोई साधु है नहीं, ऐसा कहते थे। दो दिन यहाँ रहे थे। आहा...हा...! परन्तु जाना कहाँ? फिर करना क्या? बाहर में ऐसा कहा जाता है कि हम साधु नहीं हैं? उलझन है। कहते हैं न? साँप-छछून्दर जैसा है, बाहर निकले तो अन्धा हो जाये और अन्दर खाये तो मर जाये, ऐसा हो जाता है।

(यहाँ कहते हैं) **(११ वीं गाथा में) निर्वाणसुख के साधनभूत शुद्धोपयोग का अधिकार प्रारम्भ किया,...** था। **विरोधी शुभाशुभ उपयोग को...** देखो! आहा...हा...! शुद्ध उपयोग से विरोधी शुभाशुभभाव नष्ट किये; **हेय बताया, शुद्धोपयोग का स्वरूप वर्णन किया,...** यह ९२ गाथा का साराँश कहते हैं। पहले सब आ गया है।

शुद्धोपयोग के प्रसाद से... शुद्ध उपयोग के प्रसाद से, चैतन्य जो शुद्ध आनन्द का नाथ प्रभु, उसका उपयोग और उसका व्यापार। आहा...हा...! ऐसे **शुद्धोपयोग के प्रसाद से उत्पन्न होनेवाले ऐसे आत्मा के सहज ज्ञान...** शुद्ध उपयोग से तो आत्मा में स्वाभाविक सहज ज्ञान उत्पन्न होता है। (ऐसे) **ज्ञान और आनन्द को समझाते हुए ज्ञान के स्वरूप का और सुख के स्वरूप का विस्तार किया, उसे (आत्मा के धर्मत्व को) अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग के प्रसाद से...** आहा...हा...! आचार्य कहते हैं, शुद्ध उपयोग! इस ज्ञायकभाव का आधार द्रव्य है, उसे पकड़ा है - ऐसा शुद्ध उपयोग! आहा...हा...! जिसके व्रत-तप का भाव है, वह सब शुद्ध उपयोग से विरुद्ध है। यह अन्दर कहा है। शुभाशुभ विरोधी भाव है। आहा...हा...!

उसे शुद्धोपयोग के प्रसाद से सिद्ध करके... आहा...हा...! (सिद्ध करके अर्थात्) साधकर। (आत्मा को धर्मरूप बताने का जो कार्य साधना था, उस कार्य को भी महापुरुषार्थ करके शुद्धोपयोग से आचार्य भगवान ने साधा है।) आहा...हा...! अपना उपयोग सिद्ध किया। आहा...हा...! चारित्रसहित। सम्यग्दर्शनसहित चारित्र। आहा...हा...! आचार्यों का यह पुकार है। कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, दिगम्बर सन्त! वन में बसते थे। आहा...हा...! वे कहते हैं कि **शुद्धोपयोग के प्रसाद से सिद्ध करके परम निस्पृह...** पर की कोई स्पृहा-अपेक्षा नहीं। **आत्मतृप्त ऐसी पारमेश्वरी प्रवर्ती को प्राप्त होते**

हुए... पर की स्पृहारहित और आत्मा में ही तृप्त – ऐसी निश्चयरत्नत्रय में लीनतारूप प्रवृत्ति। निश्चयरत्नत्रय... निश्चयरत्नत्रय आहा...हा...! (अर्थात्) शुद्ध चैतन्य भगवान का सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। स्व के आश्रय से हुआ (निश्चयरत्नत्रय।) आहा...हा...!

पारमेश्वरी प्रवृत्ति... आहा...हा...! वह – शुभ... शुभ... शुभ... भिखारी प्रवृत्ति थी। आहा...हा...! इस **पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुए, कृतकृत्यता को प्राप्त करके...** अब कृतकृत्य हुए। बस! आहा...हा...! पर्याय में कृतकृत्य हो गया। द्रव्य कृतकृत्य था, ऐसा पर्याय में कृतकृत्य हो गया। आहा...हा...! यह पञ्चम काल के सन्त कहते हैं। (अभी तो ऐसा कहते हैं) पञ्चम काल में नहीं हो सकता और अमुक और अमुक... आहा...हा...! यह पञ्चम काल की बात है। अभी तो हजार वर्ष पहले की अमृतचन्द्राचार्य की बात है। दो हजार वर्ष पहले की कुन्दकुन्दाचार्य की बात है। आहा...हा...!

पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुए,... आहा...हा...! पारमेश्वरी प्रवृत्ति अर्थात् निश्चयरत्नत्रय में लीनतारूप प्रवृत्ति। आहा...हा...! शुद्धस्वभाव का दल, चैतन्यभगवान शाश्वत् प्रभु के सन्मुख की दृष्टि, ज्ञान और चारित्र – इन तीनों को निश्चयरत्नत्रय कहते हैं। यह शुद्ध उपयोग से प्राप्त होता है। आहा...हा...! **अत्यन्त अनाकुल होकर...** आहा...हा...! (अर्थात्) आनन्द में आकर। पञ्च महाव्रत आदि के परिणाम तो दुःखरूप थे। यह तो **अत्यन्त अनाकुल होकर,...** आनन्द... आनन्द... आनन्द का वेदन हुआ। **जिनके भेदवासना की प्रगटता का प्रलय हुआ है,...** भेदवासना अर्थात् भेदरूप वृत्ति अर्थात् पर्याय के प्रति, राग के प्रति और भेदरूप वृत्ति / विकल्प-परिणाम, उसका नाश हुआ है। आहा...हा...!

ऐसे होते हुये, (आचार्य भगवान) मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ... आहा...हा...! देखो, यह अमृतचन्द्राचार्यदेव यह तो अभी एक हजार वर्ष पहले हुए हैं। दिगम्बर सन्त की शैली कोई अलौकिक बात है। बापा! ऐसा कहीं नहीं है! आहा...हा...! **भेदवासना की प्रगटता का प्रलय हुआ है, ऐसे होते हुए,** (आचार्य भगवान) **'मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ'...** धर्म ही हूँ। परिणति में साक्षात् वीतरागता उत्पन्न हुई है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित वीतरागचारित्र उत्पन्न हुआ है। आहा...हा...! इसलिए **मैं स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ इस**

प्रकार रहते हैं... ऐसा कहते हैं नहीं, परन्तु इस प्रकार रहते हैं। आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ है ? आहा...हा...! इसका नाम मुनिपना! आहा...हा...! इसका नाम निश्चयरत्नत्रय – मोक्ष का मार्ग! इसका नाम चारित्रसहित शुद्धोपयोग! आहा...हा...! **स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ; इस प्रकार रहते हैं (ऐसे भाव में निश्चल स्थित होते हैं)...** आहा...हा...! अब ९२ गाथा –

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो।।९२।।

(नीचे हरिगीत –)

हैं कुशल आगम में अवरु मोह दृष्टि जिनकी विनष्ट है।
आरुढ़ विराग चरित्र में, महात्मा श्रमण वो 'धर्म' हैं॥

आहा...हा...! ऐसा धर्म! यहाँ तो जरा सी सामायिक की, प्रौषध किया, प्रतिक्रमण किया (इसलिए मानते हैं कि) हो गया धर्म! आहा...हा...! कुछ व्रत पालन किये और शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया... हो गया धर्म! बापू! यह सब विकल्प हैं भाई! यह धर्म नहीं हैं। आहा...हा...! धर्म तो निरूपराग निश्चय स्वसंवेदनसहित, सम्यग्दर्शनसहित, समभाव–वीतरागचारित्रपना, उसका नाम धर्म है। आहा...हा...! यह जैनधर्म है। जैनधर्म कोई बाड़ा नहीं है, कोई पक्ष नहीं है, कोई पन्थ नहीं है; वस्तु का स्वरूप है। मेरा नाथ चैतन्य जिनस्वरूप का मुझे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र स्थिरता हुए हैं, वह मैं स्वयं धर्म हुआ हूँ। मैं स्वयं धर्म हुआ हूँ। आहा...हा...!

टीका : यह आत्मा स्वयं धर्म हो यह वास्तव में मनोरथ है... यहाँ तो समझाना है न? पहले तो कहा धर्म हुआ है। **यह आत्मा स्वयं धर्म हो, यह वास्तव में मनोरथ है। उसमें विघ्न डालनेवाली एक बहिर्मोह दृष्टि ही है...** बहिर्मोहदृष्टि = बहिर्मुख ऐसी मोहदृष्टि। (आत्मा को धर्मरूप होने में विघ्न डालनेवाली एक बहिर्मोहदृष्टि ही है)। मिथ्यात्व! **और वह (बहिर्मोहदृष्टि) तो आगम कौशल्य...** आहा...हा...! संस्कृत में (जयसेनाचार्यदेव ने) ऐसा अर्थ किया है न? **आगमकुसलो निर्दोषिपरमात्म–**

प्रणीतपरमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसंवेदनज्ञानकुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीण: । इसका नाम आगमकुशल है। आहा...हा... ! संस्कृत में है। स्वसंवेदन वह आगम कुशल है – ऐसा कहते हैं। भाषा और शास्त्र ऐसा नहीं। आहा...हा... ! देखा ! **आगमकुसलो निर्दोषिपरमात्मप्रणीत-परमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसंवेदनज्ञान-कुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीण: ।** इसका नाम आगम कुशल और आगम प्रवीण है। आहा...हा... ! दिगम्बर सन्तों की वाणी तो पूरी दुनिया से अलग ! आहा...हा... ! आगम कुशल की व्याख्या की है कि आगम अभ्यास के द्वारा फिर शुद्ध उपयोग प्रगट हुआ है और स्वसंवेदन हुआ है, उसे आगमकुशल कहते हैं। आहा...हा... ! ऐसे आगम कौशल्य के द्वारा मोह की दृष्टि नष्ट हुई है। आहा...हा... ! ऐसे एक-एक भाव कठिन ! याद रहना मुश्किल है ! है न ?

आगमकौशल्य तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने के कारण अब मुझमें पुन: उत्पन्न नहीं होगी... आहा...हा... ! देखो यह शब्द ! पञ्चम काल के सन्त-मुनि ऐसा कहते हैं कि हमें जो मिथ्यात्व का नाश हुआ है वह अब उत्पन्न होनेवाला नहीं है। हम वायदा करते हैं ! आहा...हा... ! हमें भगवान का साक्षात्कार नहीं हुआ परन्तु इस भगवान का (अन्तरस्वरूप का) साक्षात्कार हुआ है। कुन्दकुन्दाचार्य को तो भगवान का साक्षात्कार हुआ था। अमृतचन्द्राचार्य को तो इस भगवान का साक्षात्कार हुआ था। ऐसी पुकार करते हैं कि हमें अब फिर से मिथ्यात्व उत्पन्न होनेवाला नहीं है।

प्रभु ! आप छद्मस्थ, पञ्चम काल के साधु ! भगवान के पश्चात् तो पन्द्रह सौ वर्ष बाद आप हुए। भगवान को तो पच्चीस सौ वर्ष हुए न ? वे कहते हैं कि हमने आगमकौशल्य और अन्दर स्व-संवेदन से (बहिर्मोह) दृष्टि का – मिथ्यात्व का नाश किया है, वह मुझे फिर से उत्पन्न होनेवाला नहीं है। आहा...हा... ! वाणी तो देखो, पञ्चम काल के सन्त – ऐसा कहते हैं कि हमें सम्यग्दर्शन हुआ, हमने मिथ्यात्व का नाश किया है, वह मिथ्यात्व फिर से होनेवाला नहीं है – ऐसे वायदापूर्वक हम महाव्रतधारी यह तुमसे कहते हैं। आहा...हा... !

विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. ८५ **दिनाङ्क २६ मई १९७९**

प्रवचनसार, गाथा ९२ टीका फिर से लेते हैं। **यह आत्मा...** ऐसा आचार्य अपनी आत्मा को प्रत्यक्ष करके कहते हैं। आचार्य... आहा...हा...! पञ्चम काल के मुनि हैं, तथापि (कहते हैं कि) **यह आत्मा स्वयं ही धर्म हो,...** यह मनोरथ था। यहाँ है ऐसा कहा है। **यह आत्मा स्वयं धर्म हो,...** आहा...हा...! इसे किसी की – राग की अथवा निमित्त की अपेक्षा नहीं है – ऐसा प्रभु (आत्मा) स्वयं धर्म अर्थात् वीतरागचारित्ररूप परिणमित हो... आहा...हा...! **यह मनोरथ है...** ऐसा कहकर मुनि की ऐसी भावना होती है (यह कहते हैं)। आहा...हा...! **उसमें विघ्न डालनेवाली तो एक बहिर्मुख दृष्टि ही है।...** बहिर्मुख ऐसी मोहदृष्टि (आत्मा को धर्मरूप होने में विघ्न डालनेवाली एक बहिर्मोह दृष्टि ही है)। आहा...हा...! जो अन्तरस्वरूप में नहीं है – ऐसी बहिर्दृष्टि-राग और निमित्त पर दृष्टि है, वह मिथ्यात्व है। वह **बहिर्मोह दृष्टि ही है और वह (बहिर्मोह दृष्टि) तो...** आहा...हा...! **आगम कौशल्य...** परमागम में कहा हुआ चैतन्य का स्वरूप, उसके स्वसंवेदन के ज्ञान द्वारा – इस आगम कौशल्य (का भाव है,) ज्ञान में कुशल अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप पवित्र है, उसके स्वसंवेदन में कुशल है, प्रवीण है।

तथा आत्मज्ञान से... इतनी तो बात की है आगम ज्ञान। परन्तु उस **आत्मज्ञान से...** वहाँ आत्मज्ञान अर्थात् निमित्त से नहीं, राग से नहीं, पर्यायज्ञान से नहीं; आत्मज्ञान – सम्पूर्ण द्रव्य। आहा...हा...! ऐसे **आत्मज्ञान से नष्ट हो जाने से...** आहा...हा...! जान लिया, आहा...हा...! यह तो हजार वर्ष पहले टीका करनेवाले पञ्चम काल के सन्त ऐसा कहते हैं – हमें स्वसंवेदन से और आत्मज्ञान से, बहिर्मोह दृष्टि जो मिथ्यात्व है, वह नष्ट हो गयी है। आहा...हा...! इतना जोर वर्तता है! सम्यग्दर्शन हुआ है... सम्यग्ज्ञान (हुआ है।)

(यहाँ कहते हैं कि वह बहिर्मोह दृष्टि) **अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी...** आहा...हा...! जो बहिर्मोह दृष्टि है – राग की एकताबुद्धि, निमित्त की एकताबुद्धि, पर्याय की अहंबुद्धि – यह बहिर्दृष्टि – मिथ्यादृष्टि, आत्मज्ञान से नष्ट हो गयी है; इसलिए अब मुझे फिर से उत्पन्न होगी – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! सादि-अनन्त... यह दर्शन और ज्ञान का जो अंश प्रगट हुआ है, वह सादि-अनन्त रहेगा – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

यह छद्मस्थ! पञ्चम काल के मुनि। जबकि (अभी के साधु तो) ऐसा कहते हैं कि पञ्चम काल में तो शुभभाव ही होता है! अरे प्रभु! शुभभाव तो संसार है। आहा...हा...! उसकी बुद्धि तो मिथ्यात्व है। शुभभाव मेरा और वह मुझे लाभ करता है (- ऐसा माननेवाला) तो मिथ्यादृष्टि है। वह मिथ्यादृष्टि, आगम-स्वसंवेदनज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान के द्वारा नष्ट हो गयी है। बहिर्दृष्टि - मिथ्यादृष्टि (अर्थात्) राग की एकताबुद्धि, पर्याय के अंश में पूर्णता की मान्यता - यह सब नष्ट हो गयी है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! यह दृष्टि की अपेक्षा से, चारित्र की अपेक्षा से बात दूसरी है, क्योंकि स्वयं पञ्चम काल के हैं, यहाँ से स्वर्ग में जाना है; इसलिए चारित्र को (अपूर्ण रहेगा) आहा...हा...! ऐसी यहाँ दृष्टि तक की बात की है कि हमें जो सम्यग्दर्शन हुआ है, (वह अब गिरनेवाला नहीं है।) आहा...हा...! चारित्र तो गिर जायेगा (क्योंकि) पञ्चम काल है न!

श्रोता : सम्यग्दर्शन ही गिर जायेगा?

समाधान : नहीं, सम्यग्दर्शन नहीं गिरेगा। क्षयोपशम (सम्यग्दर्शन) है तो भी नहीं गिरेगा। आहा...हा...! यहाँ यह बात है। क्षयोपशम में से क्षायिक ही लेंगे। आहा...हा...! पञ्चम काल के मुनि हैं। उन्हें है क्षयोपशम सम्यग्दर्शन, परन्तु वह क्षायिक की जोड़नीवाला (जोड़नी क्षायिक) है; फिर से (मिथ्यात्व) उत्पन्न नहीं होगा - ऐसा है। आहा...हा...! पञ्चम काल के एक दिगम्बर सन्त की निर्मल दृष्टि प्रगट हुई, उसका जोर तो देखो... आहा...हा...! ऐसी भाषा कहाँ है बापू? चारित्र के लिये नहीं कहते क्योंकि चारित्र तो मुनि की अन्तिम हद तक रहेगा। फिर स्वर्ग में जाएँगे, वहाँ चारित्र तो नहीं रहेगा। आहा...हा...! तथापि चारित्र, वह धर्म है परन्तु वह चारित्र देह के अन्त तक रहेगा। देह छूटेगी तो पञ्चम काल के मुनि हैं, उन्हें केवलज्ञान तो नहीं है; इसलिए स्वर्ग में जाएँगे। आहा...हा...! तब तो चारित्र नहीं रहेगा, परन्तु उस चारित्र की अपेक्षा से यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो दृष्टि की अपेक्षा से (बात की है)। आहा...हा...!

भगवान आत्मा, पूर्ण आनन्द का सागर, अनन्त शक्तियों का स्वयं सागरस्वरूप प्रभु का ध्येय पकड़कर मुझे जो ज्ञान हुआ और उसकी जो दृष्टि हुई - सम्यग्दर्शन हुआ, (वह अब गिरनेवाला नहीं है)। आहा...हा...! कितने ही कहते हैं कि निश्चयसम्यग्दर्शन का

पता कैसे पड़े ? अभी ऐसा कहते हैं। अरे... प्रभु ! यहाँ तो कहते हैं कि वह (बहिर्मोह दृष्टि) नष्ट हो गयी है – ऐसा हम जानते हैं।

श्रोता : परीक्षा में बैठनेवाले लड़के होशियार होते हैं, वे यही कहते हैं कि हम पास ही होनेवाले हैं, तो मुनि नहीं हो सकते !

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा... ! यहाँ तो प्रभु के समीप, पास हो गये हैं। यह आत्मा... ऐसा करके बात की है न ? यह आत्मा मुझे ज्ञान में ज्ञात है। प्रभु... आहा...हा... ! इस आत्मा को जो आत्मज्ञान से नष्ट हो गयी, मिथ्यादृष्टि है, वह अब आज से अनन्त काल तक कहीं उत्पन्न नहीं होगी। आहा...हा... ! क्षयोपशम समकिती है, तथापि जोड़नी क्षायिक है, अर्थात् क्षायिक के साथ जुड़ जायेगा और क्षायिक में से केवल(ज्ञान) लेकर (मोक्ष जाएगा)। आहा...हा... !

भाई ! यह तो आत्मा है। आत्मा परिपूर्ण प्रभु है। उसमें तो अनन्त बल है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त शान्ति है, अनन्त आनन्द है, अनन्त... अनन्त... स्वच्छता और वीतरागता का भगवान सागर है। आहा...हा... ! ऐसे आत्मा को जानने पर, ऐसे आत्मा का ज्ञान होने पर, मिथ्यादृष्टि है, वह नष्ट हो गयी है। आहा...हा... ! प्रभु आप पञ्चम काल के साधु ! भगवान को पूछा नहीं कि आपका समकित गिरेगा या नहीं ? हमने भगवान से पूछा है। यह भगवान आहा...हा... ! हम कोल-करार करते हैं ! हम पञ्च महाव्रतधारी सत्य बोलनेवाले हैं। आहा...हा... ! (यह बहिर्मोह दृष्टि) **अब मुझमें पुनः उत्पन्न नहीं होगी...** आहा...हा... ! यह मात्र दर्शन की बात हुई – मात्र सम्यग्दर्शन की, चारित्र की बात अब करेंगे, कारण कि चारित्र से नहीं गिरेंगे – ऐसा तो है नहीं (क्योंकि) पञ्चम काल के साधु हैं। आहा...हा... !

श्रोता : देव में जाएँगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : देव में, स्वर्ग में जाएँगे। अन्यत्र (कहीं नहीं जाएँगे)। आहा...हा... ! सम्यग्दृष्टि हो या पञ्चम गुणस्थानवाला हो या मुनि हो; पञ्चम काल है तो वैमानिक स्वर्ग में ही जानेवाले हैं, वे वैमानिक देव होनेवाले हैं। आहा...हा... ! वे नरक में नहीं जायेंगे, तिर्यञ्च में नहीं जायेंगे, मनुष्य नहीं होंगे, भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में नहीं जायेंगे और

वैमानिक में भी इन्द्राणी के रूप में नहीं जायेंगे, स्त्रीरूप में नहीं जायेंगे। आहा...हा...! परन्तु ऐसा कहते हैं कि हम दृष्टि अपेक्षा से तो प्रभु! ऐसा कहते हैं कि वह (बहिर्मोह दृष्टि) फिर से उत्पन्न नहीं होगी। आहा...हा...!

इसलिए वीतरागचारित्ररूप से प्रगटता को प्राप्त... आहा...हा...! ऐसी दृष्टिपूर्वक **वीतरागचारित्ररूप से प्रगटता को प्राप्त...** पञ्चम काल के साधु कहते हैं कि मेरा भाव वीतरागचारित्ररूप से प्रगटता को प्राप्त है। आहा...हा...! **वीतरागचारित्ररूप से प्रगटता को प्राप्त...** त्रिकालस्वरूप में तो वीतरागचारित्र भरा ही है। आत्मा भगवान है, उसमें तो अनन्त गुण में तो वीतराग (एक) गुण है। चारित्रगुण – वीतराग यह तो परिपूर्ण पड़ा ही है परन्तु उस चारित्रगुण में से प्रगटता को प्राप्त...। आहा...हा...! प्रभु हमारी पर्याय में वीतरागरूप से प्रगटता को प्राप्त चारित्र है। आहा...हा...! और सरागचारित्र है, यह बात ही नहीं की है। राग है उसका तो ज्ञान है। हम तो वीतरागचारित्ररूप से परिणमित हुए हैं, यह हमारा धर्म है। आहा...हा...!

वीतरागचारित्ररूप से प्रगटता को प्राप्त (– वीतरागचारित्ररूप पर्याय में परिणत...) है न? प्रगट अर्थात् पर्याय। शक्तिरूप से तो वीतरागी चारित्र त्रिकाली है। वीतरागी ज्ञान त्रिकाली, वीतरागी चारित्र त्रिकाली, वीतरागी समकित त्रिकाली, आहा...हा...! यह तो वीतराग जिनस्वरूप ही है। अनन्तगुण का स्वरूप ही जिनस्वरूप है परन्तु हमको तो यह चारित्र प्रगटता को प्राप्त है। आहा...हा...! पर्याय में वीतराग चारित्र प्रगट हुआ है, आहा...हा...! राग नहीं। आहा...हा...! हमें पञ्च महाव्रत के परिणाम प्रगट हुए हैं; इसलिए हम धर्मी हैं – ऐसा नहीं कहते हैं। आहा...हा...!

(वीतरागचारित्ररूप पर्याय में परिणत) मेरा यह आत्मा... आहा...हा...! **मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर...** देखो! यह चारित्र! वीतरागचारित्र रूप से हुआ यह धर्म। आहा...हा...! **चारित्तं खलु धम्मो।** आता है न? आहा...हा...! **दंसण मूलो धम्मो।** धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है परन्तु धर्म चारित्र धर्म है। आहा...हा...! हमको वह चारित्र, वीतरागी चारित्र धर्मरूप यह आत्मा परिणमित हुआ है। आहा...हा...! धन्य अवतार! आहा...हा...! हजार वर्ष पहले के मुनि, नग्न दिगम्बर सन्त, अमृतचन्द्राचार्य यह

पुकार करते हैं। आहा...हा...! हमारा नाथ! वीतराग चारित्ररूप परिणमित मेरा धर्म है। पञ्च महाव्रत के परिणाम, पाँच समिति, गुप्ति यह हमारा धर्म नहीं है। आहा...हा...!

धर्म होकर समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से... (अर्थात्) चारित्र से विरुद्ध विघ्नों का नाश हुआ होने से। पहले में नाश हुआ होने से अप्रतिहत लिया था। यहाँ तो **नाश हुआ होने से सदा निष्कम्प ही रहता है।** आहा...हा...! भगवान निष्कम्प है, निष्क्रिय है – ऐसा जो त्रिकाली द्रव्य है, उसमें चारित्र से – वीतरागचारित्र से निष्कम्प रहते हैं। वीतरागचारित्र से कम्पन हो, अस्थिरता हो, वह हमें नहीं है। आहा...हा...! यहाँ तो (अज्ञानी) ऐसा कहते हैं कि अभी निश्चय सम्यक्त्व है, यह पता नहीं पड़ता तो चारित्र की ऐसी बातें करते हैं, इसलिए व्यवहार समकित के शम, संवेग निर्वेद से पहचानो, बस है! अरे...रे...! प्रभु! ऐसे व्यवहार शम, संवेग, निर्वेद तो सम्यग्दर्शन के बिना भी अनन्त बार आ गये हैं। आहा...हा...!

समस्त विघ्नों का नाश हो जाने से... इतना यहाँ कहा है। वर्तमान में उस वीतराग चारित्ररूप से परिणमित हमें **समस्त विघ्नों का नाश हुआ होने से सदा निष्कम्प ही रहते हैं...** आहा...हा...! ९२ वीं गाथा गजब की है! यह ज्ञान अधिकार की अन्तिम (गाथा है)। अब ९३ (गाथा से) अधिकार बदलेगा। वह सम्यग्दर्शन का (अधिकार है)।

चारित्रधर्म परिणमित हुआ है, उसे विघ्न करनेवाले का नाश हुआ है। आहा...हा...! वर्तमान तो सदा निष्कम्प है। **अधिक विस्तार से बस होओ...** विशेष क्या कहें? **अलम।** आहा...हा...! **अलमतिविस्तरेण।** संस्कृत में यह पाठ है। **अलम** क्या कहें? बस होओ! बहुत अधिक क्या कहें? आहा...हा...! ऐसा जो भगवान का विलास है, वह हमें धर्म चारित्ररूप परिणमित हुआ है। आहा...हा...! **अति विस्तार से बस होओ! जयवन्त वर्तो, स्याद्वाद मुद्रित जिनेन्द्र शब्दब्रह्म...** स्याद्वाद मुद्रित जिनेन्द्र शब्दब्रह्म (अर्थात्) स्याद्वाद की छापवाला जिनेन्द्र का द्रव्यश्रुत है। आहा...हा...! कोई भी कथन हो तो अपेक्षा से (कहते हैं)। नित्य और अनित्य आदि। द्रव्य से नित्य है, पर्याय से अनित्य है, द्रव्य से शुद्ध है, पर्याय से अशुद्ध है – ऐसा स्याद्वाद का कथन है। आहा...हा...!

जयवंत वर्तो... स्याद्वाद के चिह्नवाला जिनेन्द्र शब्दब्रह्म! शब्दब्रह्म कहा है। आहा...हा... ! वीतरागवाणी है, वह शब्दब्रह्म है, क्योंकि आत्मब्रह्म को बतलानेवाली है। आहा...हा... ! शब्दब्रह्म अर्थात् व्यापक शब्द है। ऐसा भगवान भी ब्रह्म – आत्मब्रह्म, आनन्दब्रह्मस्वरूप है। आहा...हा... ! उसे बतानेवाली इस वाणी को भी शब्दब्रह्म कहा है।

जयवन्त वर्तो शब्दब्रह्ममूलक... सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में... आहा...हा... ! जिनेन्द्र का शब्दब्रह्म तत्त्व है, वह मूल है। भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन, ज्ञान प्राप्त करने में... आहा...हा... ! **शब्दब्रह्ममूलक...** जिसका शब्दब्रह्म मूल है। आहा...हा... ! ऐसी **आत्मतत्त्व उपलब्धि...** (अर्थात्) ऐसे भगवान आत्मा का अनुभव **कि जिसके प्रसाद से,...** आहा...हा... ! समझ में आया कुछ ? बहुत सूक्ष्म है बापू ! सम्प्रदाय में तो यह बात सुनी नहीं जाती ! एकान्त कह देते हैं। अरे... बापू ! राग आदि हो परन्तु वह कोई धर्म नहीं, वह चारित्र नहीं है। सम्यग्दर्शन है, वह भी निर्विकारी दृष्टि है और चारित्र है, वह निर्विकारी आत्मशान्ति है। आहा...हा... ! आत्मा में ठहर गये ! आत्मशान्ति है। आहा...हा... ! जिसका मूल तो शब्दब्रह्म – भगवान की वाणी निमित्तरूप से है। वीतराग की वाणी के अतिरिक्त दूसरे की वाणी तो सम्यग्दर्शन में मूल निमित्तरूप भी नहीं होती। आहा...हा... ! कठिन काम हुआ। श्वेताम्बर के शास्त्र, वे कोई मूल शब्दब्रह्म नहीं हैं। आहा...हा... ! बात सूक्ष्म पड़ती है, दु:ख लगता है परन्तु क्या हो ? शब्दब्रह्म तो वीतराग के दिगम्बर शास्त्र, वे शब्दब्रह्म हैं। श्वेताम्बर के पैंतालीस शास्त्र हैं, वे शब्दब्रह्म नहीं हैं। वह सम्यग्दर्शन का मूल निमित्त नहीं हैं। आहा...हा... !

आत्मदर्शन में **शब्दब्रह्ममूलक...** ऐसा कहा है न ? **शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्व उपलब्धि...** (ऐसी आत्मतत्त्व की) प्राप्ति, आत्मा का अनुभव। आहा...हा... ! उस वाणी में आत्म अनुभव की बात की है। वीतराग वाणी में आत्मा का अनुभव और वीतरागता की ही बात की है। आहा...हा... ! वीतरागी दृष्टि, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र – यह वीतरागी द्रव्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट कर। यह शब्दब्रह्म भगवान की वाणी में कहा है। आहा...हा... ! बहुत कठिन पड़ता है। एक बात नहीं आती ? बाड़े में से 'एक पाड़ा बाहर निकला...' ऐसा कुछ आता है। पाठशाला में ऐसा कुछ आता था। आहा...हा... !

भगवान तीन लोक के नाथ की वाणी शब्दब्रह्म है। सर्वज्ञ जिसका मूल है, वाणी का निमित्त; और वह शब्दब्रह्म सम्यग्दर्शन को मूल – निमित्त है। आहा...हा...! इसमें वाद-विवाद से कुछ नहीं चलता। **जिसके प्रसाद से...** आहा...हा...! आत्मज्ञान और आत्मा के आनन्द की प्राप्ति, उसका मूल निमित्त तो शब्दब्रह्म भगवान की वाणी है। **जिसके प्रसाद से अनादि संसार से बँधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही छूट गयी है...** आहा...हा...! एक-एक शब्द और उसकी एक-एक टीका! ऐसी बात है। **अनादि संसार से बँधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही छूट गयी है...** आहा...हा...! अमृतचन्द्राचार्य ने तो छह महीने की मर्यादा डाली है। अन्तर अभ्यास... पूर्णानन्द के नाथ को पकड़ते-पकड़ते... अभ्यास करने पर जघन्य (समय) तो अन्तर्मुहूर्त है परन्तु अधिक कहें तो छह महीना है। यहाँ कहते हैं कि तुरन्त ही प्रगट होता है। आहा...हा...! कलशकार ने छह महीने का अर्थ नहीं किया। जैसे बने वैसे, शक्ति अनुसार ऐसा कहकर अर्थ किया है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! पञ्चम काल है, हीन काल है। यहाँ मनुष्य संहनन मजबूत नहीं है, संयोग निमित्त अनुकूल नहीं है, यह बात रहने दे। आहा...हा...! भगवान साक्षात् विराजते हैं! अनन्त... अनन्त... गुण से पूर्ण भरपूर... आहा...हा...!

श्रोता : पञ्चम काल में विराधक जीव होते हैं, उन्हें संस्कार पड़ते हैं?

समाधान : यह बात यहाँ नहीं की है। यहाँ तो हुआ उसकी बात है, भले ही आया है, विराधक होकर, उसकी बात नहीं है। आहा...हा...! यह तो हुआ – वर्तमान उसकी बात है पञ्चम काल में जन्मा हो, वह मिथ्यादृष्टि होकर आता है। आहा...हा...! उसकी यहाँ बात नहीं है। कहते हैं अनादि मोहग्रन्थि थी, परन्तु प्रभु के आत्मभान और अनुभव से... आहा...हा...! उसका अन्त हो गया... भवछेद हो गया! आहा...हा...! भव का छेद हो गया। एक-दो भव रहें, वे तो ज्ञान के ज्ञेयरूप हैं। आहा...हा...!

आहा...हा...! **जयवन्त वर्तो...** आहा...हा...! जिस भगवान की वाणी से, आत्मतत्त्व की प्राप्ति, आत्मतत्त्व की उपलब्धि – अनुभव **कि जिसके प्रसाद से...** ओहो...हो...! ९२ वीं गाथा! **अनादि संसार से बँधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही छूट गयी...** आहा...हा...!

टीका में **झगित्ये** (शब्द) है। **यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः।** आहा...हा...! **झगित्ये** (अर्थात्) अन्तर्मुहूर्त में तत्काल। आहा...हा...! एक समयमात्र में! अन्तर्मुहूर्त में तो इसके ख्याल में आता है। आहा...हा...! बँधी हुई मोहग्रन्थि! ऐसा नहीं समझना प्रभु कि हमारी ऐसी बड़ी बात के लिये योग्यता नहीं है – ऐसा नहीं समझना। यह तो प्रभु है! इसमें क्या कमी है? यह पूर्णानन्द का नाथ, पूर्ण शान्ति का सागर – ऐसा जो परिपूर्ण महाभण्डार है, उस भण्डार में सब भरा है, पवित्रपना भरा है। आहा...हा...! पाँचवाँ काल है और यह काल है और अमुक है – ऐसा उसे रोकता नहीं है। आहा...हा...! **अनादि संसार से बँधी हुई मोहग्रन्थि तत्काल ही... तत्काल ही छूट गयी...** महाव्रतधारी सन्त हैं! दिगम्बर हैं! छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं! आहा...हा...!

और जयवन्त वर्तो परम वीतराग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग... आहा...हा...हा...! यह वीतरागचारित्र की व्याख्या की है। शुद्ध उपयोग! आहा...हा...! **जयवन्त वर्तो परम वीतराग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग...** जिसमें व्रत के शुभराग का भी अभाव है – ऐसा शुद्ध उपयोग! **जयवन्त वर्तो परम वीतराग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग...** आहा...हा...! अकेला वीतराग चारित्रस्वरूप – ऐसा नहीं कहा। **परम वीतराग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग...** भगवान में अकेली शुद्ध उपयोग की रमणता! जिसे शुभोपयोग छूता भी नहीं। आहा...हा...! इस पञ्चम काल में ऐसा होता है या नहीं? ऐसा अभी कहते हैं। यह कहते हैं न! हम साक्षी देते हैं न! वीतरागचारित्ररूप का शुद्ध उपयोग होता है। आहा...हा...! सातवें (गुणस्थान की) बात की है। आहा...हा...! पहला वीतरागचारित्र ही आता है, आहा...हा...! उसकी ही बात की है फिर छठवें (गुणस्थान में) विकल्प आता है, वह चारित्र नहीं है। उसे छोड़कर परम वीतरागचारित्र-स्वरूप ऐसा शुद्धोपयोग।

पूर्ण अनन्त... अनन्त... एक-एक गुण पवित्रता से पूर्ण भरपूर और एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप पूर्ण भरा हुआ – ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों का एक रूप! उस परिपूर्ण प्रभु में क्या कमी और क्या अपूर्णता है। आहा...हा...! कल ही भक्ति आयी थी न? 'प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा...' 'प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा...' आहा...हा...! 'पर की आस कहा करे, प्रीतम' हे प्रीतम! परमात्मस्वरूप भगवान! तुझे जिसका प्रेम लगा आहा...हा...! 'पर

की आस कहा करे, प्रीतम तू किन बात अधूरा...' तू कहाँ अपूर्ण है ? प्रभु ! तू कहाँ अपूर्ण है कि तू पर की आशा रखता है ? भाई ! मुझे देव दे देंगे, मुझे गुरु दे देंगे, शास्त्र दे देंगे। आहा...हा... ! (एक मुमुक्षु को) मैंने लिखकर दिया था कि यह जरा याद रखे। अब उसे पचता नहीं। 'चार बार ले और आठ बार दस्त हो'। चिट्ठी है न उसमें यह लिखा था 'प्रभु मेरे तू सब बातें पूरा' सब बातें पूरा, कहाँ है अधूरा ? तू कहाँ से अधूरा है ? प्रभु ! 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम' तुझे बहिर्लक्ष्य से कुछ लाभ होगा, राग से लाभ होगा ! अरे प्रभु ! यह तू क्या करता है ? आहा...हा... ! तुझमें पूर्ण वीतरागी अनन्त गुण भरे हैं न ! भण्डार है, उसमें से निकालना है न ? आहा...हा... !

अनन्त गुणों में, एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप ! ऐसे अनन्त गुण का रूप। आहा...हा... ! एक ज्ञान में अनन्त आनन्द का रूप, अनन्त अस्तित्व का रूप, अनन्त प्रभुता का रूप, अनन्त अकार्यकारणता का रूप ! आहा...हा... ! अनन्त कर्तापन का रूप, अनन्त कार्यपन का रूप, करणपन का रूप, अनन्त साधनपन का रूप... आहा...हा... ! एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप - ऐसा मेरा प्रभु ! आहा...हा... ! तू कहाँ अपूर्ण है ? पूरी बात से पूरा है। कहाँ से अधूरा ? अधूरा कहाँ है ? प्रभु ! आहा...हा... ! विकारवाला तो नहीं निमित्त के संगवाला तो नहीं परन्तु अपूर्ण नहीं। आहा...हा... ! ऐसा पूरा गुणस्वरूप प्रभु ! आहा...हा... ! उसका परम वीतरागचारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग जयवन्त वर्तो।

श्रोता : साहब, इसमें भाव नहीं तो दीक्षा कहाँ से आयी !

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दीक्षा ! उपयोग-शुद्धोपयोग ग्रहण करना, वह चारित्र है। मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं आता ! आचार्य, उपाध्याय, साधु किसे कहते हैं ? कि जिन्होंने शुद्धोपयोग अङ्गीकार किया है। मोक्षमार्गप्रकाशक में और इस प्रवचनसार की पहली पाँच गाथाओं में (आता है)। आहा...हा... ! जिसे पाँच निश्चय आचार - ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार (और) वीर्याचार, शुद्ध उपयोगरूपी आचरण - आचार, जिसे वर्तते हैं। आहा...हा... ! ऐसा प्रभु !

कहते हैं कि **जिसके प्रसाद से...** भाषा क्या है ? आहा...हा... ! इतने बोल लिखे हैं कि **परम वीतराग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग कि जिसके प्रसाद से यह आत्मा**

स्वयमेव धर्म हुआ है... आहा...हा... ! स्वयं धर्म हुआ है। वह वीतरागचारित्र – परम वीतरागचारित्र स्वरूप शुद्धोपयोग, वह स्वयं धर्म हुआ। आहा...हा... ! आहा...हा... ! गजब किया है न? थोड़ा कहा बहुत जानना – यह ऐसी बात है। थोड़ा लिखा बहुत जानना... आहा...हा... !

प्रभु तू पूर्ण है न नाथ! पञ्चम काल या चौथा काल, तुझे नहीं रोकता है प्रभु! अरे... ! सातवें नरक में पड़ा हो... प्रभु! आहा...हा... ! परन्तु वहाँ तू नहीं है। तू तो तेरे पूर्ण गुणस्वरूप में है, प्रभु! आहा...हा... ! तुझे नरकगति स्पर्श नहीं करती। परमार्थ से नरक के दु:ख तेरे स्वभाव को स्पर्श भी नहीं करते। इस सातवें नरक का सम्यग्दृष्टि नारकी उत्पन्न हुआ, तब मिथ्यात्व में था आहा...हा... ! फिर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ, फिर निकलेगा, तब मिथ्यात्व हो जायेगा – यह बात यहाँ नहीं ली है।

यहाँ तो मैं मुनि हूँ, मेरी मोहग्रन्थि का नाश हुआ, अब फिर से उत्पन्न होनेवाली नहीं है। आहा...हा... ! शुद्धनय से च्युत होता है, ऐसा पाठ शास्त्र में है। यहाँ कहते हैं कि हम अपनी दृष्टि से भ्रष्ट होंगे – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! **शुद्धनय न हेयः।** तात्पर्य आता है न? **इदम् तात्पर्य शुद्धनयः।** हमें द्रव्यस्वभाव की जो दृष्टि हुई है... आहा...हा... ! उसका हमें जो परिणमन है; तदुपरान्त हमें वीतरागचारित्र परिणमित हुआ है... आहा...हा... ! परम वीतरागचारित्र! जहाँ स्व का आश्रय लिया, भगवान से साक्षात्कार हुआ और तदुपरान्त यह तो मुनिराज कहते हैं न मुनिराज! **परम वीतराग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग...** आहा...हा... ! **कि जिसके प्रसाद से...** परम वीतराग चारित्रस्वरूप विशुद्ध उपयोग के प्रसाद से **यह आत्मा स्वमेव...** पर की अपेक्षा बिना, व्यवहाररत्नत्रय की भी अपेक्षा बिना **स्वमेव धर्म हुआ है।** यह चारित्ररूपी धर्म! आहा...हा... ! चारित्तं खलु धम्मो। आहा...हा... ! चारों ओर की बात तो देखो... अष्टपाहुड़, पञ्चास्तिकाय, समयसार, गोम्मटसार कोई भी शास्त्र हो; कोई भी दिगम्बर सिद्धान्त लो तो भगवान के कहे हुए सिद्धान्त सन्त कहते हैं। सन्त स्वयं अनुभव करके – चारित्र में अनुभव करके कहते हैं। आहा...हा... ! वह चारित्र, वीतरागी चारित्र है। वह चारित्र शुद्धोपयोग है, उसे हम यहाँ धर्म कहते हैं। आहा...हा... ! पञ्चम काल है या अमुक काल है और वैसा है (ऐसा कहते हैं)।

(यहाँ कहते हैं) **आत्मा स्वयमेव...** इसलिए कहा है न ? स्वयमेव ही स्वयं अर्थात् स्वयं और मेव अर्थात् ही। स्वयमेव ही ! ओ...हो... ! किसी व्यवहार और निमित्त की अपेक्षा रखे बिना स्वयं भगवान परम वीतराग चारित्ररूप (धर्म हुआ)। यह मुनिराज आहा...हा... ! यह मुनि ! इन्हें मुनि कहते हैं बापा... ! आहा...हा... ! जिन्हें ऐसी दशा है, उन्हें बाह्यरूप से नग्नदशा होती है, बाह्य में कैसा भी भेष हो और अन्तर में ऐसा हो जाये, यह नहीं होता। इसलिए बाह्य नग्नपना है, वह कोई मूलधर्म नहीं है आहा...हा... ! हो तो नग्नपना ही होता है - ऐसी परम चारित्रवन्तदशा को निमित्त हो तो नग्नपना ही होता है, तथापि वह नग्नपना है, वह धर्म और धर्म का कारण नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा वीतराग जिनेश्वर का मार्ग है। 1

देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भक्ति और अर्पणता

जिसे देव-गुरु की सच्ची श्रद्धा-भक्ति नहीं है, उसे तो निश्चय या व्यवहार में से कोई भी सच्चा नहीं है; उसे मात्र अकेले मूढ़भाव की पुष्टि होती है अर्थात् वह तो केवल तीव्र कषाय और शुष्कज्ञान को ही पुष्ट करता है।

प्राथमिकदशा में देव-गुरु-धर्म की भक्ति का शुभराग जागृत होता है और उसी के आवेश में भक्त सोचता है कि मैं देव-गुरु-धर्म के लिये तृष्णा कम करके अर्पित हो जाऊँ, उनके लिये अपने शरीर की चमड़ी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूँ तो भी उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। इस तरह की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने में आये बिना, देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती और देव-गुरु-धर्म की प्रीति के बिना आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और अर्पणता आये बिना, तीन लोक और त्रिकाल में भी आत्मा में प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मा में निज के लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, आतम के हित पन्थ लाग!, पृष्ठ - ४५-४६)

कलश - ५

(मन्दाक्रान्ता)

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्।। ५।।

[अब, श्लोक द्वारा ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार की पूर्णाहुति की जाती है।]

अर्थ : इस प्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्य आनन्द के प्रसार से सरस (अर्थात् जो शाश्वत् आनन्द के प्रसार से रसयुक्त) ऐसे ज्ञानतत्व में लीन होकर, अत्यन्त अविचलता के कारण, दैदीप्यमान ज्योतिमय और सहजरूप से विलसित (स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्न-दीपक की निष्कम्प-प्रकाशमय शोभा को पाता है। (अर्थात् रत्नदीप की भाँति स्वभाव से ही निष्कम्पतया अत्यन्त प्रकाशित होता - जानता - रहता है)।

प्रवचन नं. ८५ का शेष **दिनाङ्क २७ मई १९७९**

अब, श्लोक द्वारा ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन अधिकार की पूर्णाहुति की जाती है।

पाँचवाँ श्लोक!

आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं
नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां
स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम्।। ५।।

इसमें श्लोक थोड़े हैं। समयसार में बहुत कलश हैं - २७८ हैं। इसमें थोड़े हैं। आहा...हा...! यह जम्बूद्वीप का भरतक्षेत्र है और पञ्चम काल है; इसलिए यह नहीं हो सकता - ऐसा नहीं है प्रभु! ऐसा सिद्ध करते हैं। भरतक्षेत्र, क्षेत्र में रह गया; पञ्चम काल, काल में रह गया। प्रभु! हमारे में यह कुछ नहीं है। आहा...हा...!

आहा...हा...! मुनिराज कहते हैं - **इस प्रकार शुद्धोपयोग प्राप्त करके...** शुद्धोपयोग किस प्रकार? सम्यग्दर्शनसहित वीतराग परम चारित्ररूप शुद्ध उपयोग को प्राप्त करके... आहा...हा...! यह पञ्चम काल के सन्त कहते हैं कि हमने वीतराग शुद्ध उपयोग अङ्गीकार किया है। शुभराग का अङ्गीकार किया है, इसलिए हम मुनि हैं - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसी वाणी श्वेताम्बर में कहीं नहीं है। उनके बत्तीस, पैंतालीस सूत्रों में कहीं नहीं है।

यहाँ तो एक श्लोक देखो! आहा...हा...! गजब करते हैं न! परमात्मा को प्रसिद्ध करके, स्वयं परमात्मा हैं और परमात्मा का चारित्र प्रगट हुआ है (अर्थात्) परमात्मा में चरना - रमना, वह प्रगट हुआ है। आहा...हा...! हम व्रत पालते हैं और दया पालते हैं और... आहा...हा...! यह हमारे में कुछ नहीं है। हम पर का तो पाल नहीं सकते परन्तु व्रत का विकल्प भी हम पालते हैं, यह भी नहीं है। हम तो शुद्ध उपयोगस्वरूप परम वीतरागचारित्र को पालते हैं। आहा...हा...! आ...हा...! वह हमारा धर्म है, वह जिनवर का धर्म है, वह जिनेश्वर अनन्त तीर्थङ्करों द्वारा कथित चारित्ररूपी धर्म है। आहा...हा...!

इस प्रकार शुद्धोपयोग को प्राप्त करके... चारित्रवन्त को लेना है न! परम वीतरागचारित्र! आहा...हा...! **आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ...** आहा...हा...! आत्मा अपने से ही धर्म अर्थात् वीतराग पर्याय से परिणमता हुआ। आहा...हा...! संहनन हल्का है या अमुक-अमुक हल्का है; इसलिए वीतराग चारित्र की धर्म दशा अभी नहीं होती - ऐसा रहने दे प्रभु! तू किसका नकार करता है? आहा...हा...! तेरी श्रद्धा में ही तुझे पूर्णानन्द का नाथ वीतराग चारित्ररूप परिणमे इसका नाम चारित्र है और धर्म है। इसका तुझे अभी पता भी नहीं है। आहा...हा...! अकेले सम्यग्दर्शन को यहाँ धर्म नहीं गिना है। सम्यग्दर्शन तो धर्म का कारण है। आया है न? **दसणं मूलो धम्मो।** धर्म तो चारित्र ही है। परम वीतराग

चारित्ररूप शुद्धोपयोग वह धर्म है। आहा...हा...! उसका मूल कारण सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना वह नहीं होता। परन्तु सम्यग्दर्शन है, इसलिए 'आत्मज्ञान वहाँ मुनिपना' ऐसा यहाँ नहीं है। 'आत्मज्ञान वहाँ मुनिपना' – ऐसा नहीं है। परन्तु मुनि होते हैं, उन्हें आत्मज्ञान होता है, ऐसा लेना। यहाँ तो (कहते हैं कि) आत्मज्ञान के उपरान्त शुद्ध परम वीतरागचारित्र शुद्ध उपयोग, वह धर्म है। आहा...हा...!

वह **आत्मा स्वयं धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप परिणमित होता हुआ नित्य आनन्द के प्रसार से...** आहा...हा...! **नित्यानन्दप्रसरसरसे** नित्यानन्द का प्रसार हुआ। नित्यानन्द प्रभु का पर्याय में फैलाव हुआ। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु पर्याय में पसर गया, खिल निकला। जैसे कमल खिलता है, उसी प्रकार अतीन्द्रिय आनन्द का सागर नाथ **प्रसरसरसे** आहा...हा...हा...! इस फैलाव से वह सरस है। स – रस अर्थात् रससहित – आनन्द के रससहित, वह सरस है। आहा...हा...! सरस – सरस – अपना रस – आनन्द का रस... आहा...हा...! वह सरस है। उसे सरस कहते हैं, बाकी कोई सरस नहीं हैं। आहा...हा...! **नित्य आनन्द के फैलाव से सरस (अर्थात्) जो शाश्वत् आनन्द के फैलाव से रसयुक्त है...** पूर्ण शब्द का अर्थ किया है। नित्य अर्थात् शाश्वत् आनन्द का विस्तार। आहा...हा...! फैलाव, उससे सरस अर्थात् रसयुक्त है। इसका पूरा अर्थ किया है। आहा...हा...! **ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर... ऐसे ज्ञानतत्त्व में लीन होकर अत्यन्त अविचलता के कारण...** आहा...हा...! अत्यन्त अविचल – वहाँ विचलित होना नहीं मिलता, अकेले जम गया हुआ रत्न! जैसे रत्न का प्रकाश हिलता नहीं, तथापि प्रकाशित करता है। आहा...हा...! लाख-करोड़ का रत्न हो तो ऐसा प्रकाश होता है। प्रकाश... प्रकाश... प्रकाश... (होता है) परन्तु हिलता नहीं है। आहा...हा...! आहा...हा...! **अत्यन्त अविचलता के कारण दैदीप्यमान ज्योतिवाला...** आहा...हा...! रत्नदीप की व्याख्या करते हैं।

अत्यन्त अविचलता के कारण, दैदीप्यमान ज्योतिमय और सहजरूप से विलसित (स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्न दीपक की निष्कम्प – प्रकाशमय शोभा को पाता है... आहा...हा...! क्या शब्द! आहा...हा...! भरतक्षेत्र में ऐसी टीका...! दिगम्बर

में ऐसी टीका दूसरी नहीं है। (तो फिर) अन्यत्र तो कहीं है ही (नहीं)। ऐसी अमृतचन्द्राचार्य की टीका! विद्यमान परमात्मा को ऐसे हाथ में, हथेली में प्रगट करके बताते हैं – ऐसी बातें हैं।

श्रोता : गुरुदेव! इस सत्य बात को ढ़िंढोरा पीटकर एकदम स्पष्ट बाहर प्रसिद्ध की है, यह मुमुक्षु जीवों का परम सौभाग्य है – ऐसा लगता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : तो वहाँ पालीताना क्या लाभ लेने गये थे? आहा...हा...! यह तो गजब बात है बापा! आहा...हा...! धन्य भाग्य! जिसे सुनने को मिले वह भी धन्य भाग्य है! आहा...हा...! परम सत्य का जोरदार पुकार है! मुनियों का पुकार है। आहा...हा...!

अत्यन्त अविचलता के कारण, दैदीप्यमान ज्योति में... जैसे रत्न **दैदीप्यमान ज्योतिमय और सहजरूप से विलसित (स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्नदीपक की...** आहा...हा...! रत्न का दीपक – रत्न का दीया। आहा...हा...! यह दीपक नहीं; कहते हैं कि रत्न का दीपक! ऐसा भगवान आत्मा प्रकाशमान रत्न का दीपक अविचलरूप से विराजमान हुआ। आहा...हा...! है? **दैदीप्यमान ज्योतिमय और सहजरूप से विलसित (स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्नदीपक की निष्कम्प प्रकाशमय शोभा को पाता है।...** यह शोभा! आहा...हा...! भगवान तो अविचलरूप से प्रकाश में ज्योतिवाले स्वाभाविक विकास की शोभा को पाता है। इस शोभा को पाता है। आहा...हा...!

(अर्थात् रत्नदीपक की भाँति...) आहा...हा...! चैतन्यरत्न! वह तो जड़रत्न था। इसलिए यहाँ प्रकाश कहा न? जड़रत्न होता है, वह भी ऐसा प्रकाशवाला होता है। आहा...हा...! अन्दर यह चैतन्यरत्न भगवान... आहा...हा...! **रत्न दीपक की भाँति स्वभाव से भी निष्कम्पतया अत्यन्त प्रकाशित होकर, जानता रहता है।...** आहा...हा...! चाहे तो ज्ञेय अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल हों... आहा...हा...! जाना ही करता है, जानता ही है। यह मुझे अनुकूल है और यह मुझे प्रतिकूल है – ऐसा कुछ नहीं है। क्योंकि जहाँ जाननेवाला जागृत हुआ – प्रकाशमय हुआ... वह तो जो अनन्त ज्ञेय हैं, उनमें यह पञ्च परमेष्ठी वे ठीक हैं और स्त्री-पुत्र ठीक नहीं हैं – ऐसी किसी ज्ञेय में छाप नहीं लगी है। यह आत्मा तो जाननेवाला है तो ज्ञेयरूप से जानता है। आहा...हा...! इस

चैतन्य के प्रकाश में यह स्त्री मेरी, लड़का मेरा, पैसा मेरा, ऐसा तो कुछ है नहीं। आहा...हा... ! इसके प्रकाश में तो जो चीज है, उसे प्रकाशित करता है – जानता है।

आहा...हा... ! ऐसी गाथा ! बहुत सरस... बहुत सरस ! आहा...हा... ! पाठ में – कलश में है न ? **प्रसरसरसे** (अर्थात्) सरस फैलाव – जिसमें रस का फैलाव है। अतीन्द्रिय आनन्द का जिसमें विस्तार है, अतीन्द्रिय आनन्द की शक्ति से भरपूर भगवान वह पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द से खिल गया है। आहा...हा... ! उसके अतीन्द्रिय आनन्द के फैलाव से सरस है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के फैलाव से उसकी शोभा है। आहा...हा... ! कोई व्यवहाररत्नत्रय, नग्नपना, वह शोभा कहीं इसकी शोभा नहीं है। आहा...हा... ! होता है, तथापि इसकी शोभा नहीं है। आहा...हा... ! बहुत कठिन बात ! आहा...हा... !

रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही निष्कम्परूप से अत्यन्त प्रकाशित होता – जानता रहता है... आहा...हा... ! जाना ही करता है ! जानने का स्वभाव है, वह जाना ही करता है। आहा...हा... ! उसमें टीका का विकल्प उत्पन्न हुआ है, आहा..हा... ! हम तो हमारे चैतन्य के प्रकाश से जानने का ही काम – कार्य करते हैं। टीका का विकल्प वह हमारा कार्य नहीं है। टीका हमारी की हुई नहीं है। आहा...हा... ! वह तो पुद्गल की पर्याय है। बापू ! आहा...हा... ! यह ज्ञान अधिकार पूरा हुआ।

(इस श्लोक द्वारा ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक प्रथम अधिकार की और ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक द्वितीय अधिकार की सन्धि बताई जाती है।)

यह दर्शायेंगे। 1

कलश - ६

(मन्दाक्रान्ता)

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्तया
प्रादुर्भूतिन भवति यथा जातु मोहाङ्कुरस्य।। ६।।

[अब, श्लोक द्वारा ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार नामक प्रथम अधिकार की और ज्ञेयतत्व-प्रज्ञापन नामक दूसरे अधिकार की सन्धि बतायी जाती है।]

अर्थ : आत्मारूपी अधिकरण में रहनेवाले अर्थात् आत्मा के आश्रित रहनेवाले ज्ञानतत्त्व का इस प्रकार यथार्थतया निश्चय करके, उसकी सिद्धि के लिये (केवलज्ञान प्रगट करने के लिये) प्रशम के लक्ष्य से (उपशम प्राप्त करने के हेतु से) ज्ञेयतत्व को जानने का इच्छुक (जीव) सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुर की किञ्चित् मात्र भी उत्पत्ति न हो।

प्रवचन नं. ८६ **दिनाङ्क २७ मई १९७९**

प्रवचनसार का ज्ञान अधिकार का अन्तिम छठवाँ कलश। **अब श्लोक द्वारा ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन...** अर्थात् ज्ञान का जो कथन **प्रथम अधिकार की ओर ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक दूसरे अधिकार की सन्धि बतायी जाती है।** पहला अधिकार कहा और दूसरा अधिकार कहेंगे, उसकी सन्धि बताते हैं -

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत्
तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः।

सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्तया
प्रादुर्भूतिन भवति यथा जातु मोहाङ्कुरस्य ।। ६ ।।

आहा...हा... ! **आत्मारूपी अधिकरण में रहनेवाले...** ज्ञान अधिकार था न ? यह ज्ञान अर्थात् अपने ९० गाथा में आ गया है। सत्, अकारण है। ९०... ९० है न ? **सत् और अकारण होने से स्वसिद्ध‌ए अन्तर्मुखी और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से स्व-पर का ज्ञायक - ऐसा जो यह, मेरे साथ सम्बन्धवाला, मेरा चैतन्य है, उसके द्वारा - जो चैतन्य समानजातीय और असमानजातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है।...** है ? **उसके द्वारा - मैं अपने आत्मा को सकल त्रिकाल में ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ।** अब यहाँ उसे संक्षिप्त में अधिकरण (कहा है) । ज्ञायकभाव - चैतन्यभाव है, वह आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है। वह आत्मा में वर्तता है। ज्ञायकभाव - चैतन्यभाव का आधार आत्मा है। आहा...हा... ! उसका आधार निमित्त, राग और पर्याय भी नहीं। आहा...हा... ! भाई ! सूक्ष्म बात है।

ज्ञायकपना अर्थात् चैतन्यपना, वह परद्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में वर्तता है। मेरे आत्मा के साथ उसे सम्बन्ध है। आहा...हा... ! मेरा आत्मा उस ज्ञायकतत्त्व-चेतनतत्त्व के साथ जुड़ा हुआ है। आहा...हा... ! उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाती है। चैतन्य और ज्ञायकद्रव्य के आधार से अथवा द्रव्य के सम्बन्ध से रहा हुआ है। यहाँ आधार कहा है, (वहाँ ९० वीं गाथा में) द्रव्य में वर्तता है, द्रव्य के सम्बन्ध में है (ऐसा कहा था) । परद्रव्य को छोड़कर चैतन्यस्वरूप भगवान, त्रिकाली चैतन्य, त्रिकाली चैतन्यस्वभाव, यह प्रभु आत्मा के सम्बन्धवाला उसमें वर्तनेवाला (कहा था।) उसे यहाँ अधिकरण कहा है।

आत्मारूपी अधिकरण... अर्थात् आत्मारूपी आधार। उसमें **रहनेवाले...** आधार में रहनेवाला। आहा...हा... ! ज्ञानतत्त्व का अधिकार पूरा करते हैं न ? (इसलिए ऐसा कहते हैं कि) यह चैतन्यतत्त्व ज्ञायकभाव मेरे आत्मा के अधिकरण के आधार से रहता है। मेरा भगवान, ज्ञान का आश्रय है। आहा...हा... !

(समयसार) संवर अधिकार में ऐसा कहा है कि भेदज्ञान (अर्थात्) जो ज्ञान राग से भिन्न पड़ता है, उस ज्ञान के आधार से आत्मा ज्ञात होता है। ज्ञात होता है, इस अपेक्षा

से उसे आधार कहा है। मेरा ज्ञानस्वभाव – उपयोग उपयोग में है। आहा...हा... ! ज्ञानस्वभाव के आधार से आत्मा है। संवर अधिकार ! उपयोग में उपयोग है। भेदज्ञान की पर्याय – दशा हुई, उसके आधार से आत्मा जानने में आया; इसलिए उसका आधार पर्याय है, द्रव्य उसका आधेय है। आहा...हा... ! यहाँ कहते हैं कि मेरा प्रभु ज्ञान का आधार है। यह जो ज्ञायक गुण है, वह चैतन्यस्वभाव है, वह मेरे आत्मा के अधिकरण के आश्रित रहता है। उसका आधार आत्मा है। उस ज्ञान का आधार कोई निमित्त से ज्ञान होता है... आहा...हा... ! या राग से ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञानतत्त्व – जो त्रिकाली ज्ञायक चैतन्यतत्त्व है, उसका आधार, सम्बन्ध, संयोग आत्मा के साथ है। आहा...हा... ! **आत्मारूपी अधिकरण में रहनेवाले...** यह इतने शब्दों का अर्थ चलता है।

भगवान आत्मा, जो द्रव्य है, उसके आधार से रहनेवाला चैतन्य; चेतन के आधार से रहनेवाला चैतन्य। आहा...हा... ! गुणी के आधार से रहनेवाला गुण... आहा...हा... ! इस गुण का आधार तो भगवान आत्मा है। आहा...हा... ! इसलिए जिसे ज्ञान प्रगट करना हो, उसे तो ज्ञान का आधार आत्मा है, वहाँ दृष्टि देना पड़ेगी – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! चैतन्य (कहने पर) त्रिकाली (समझना), पर्याय नहीं। ज्ञायक त्रिकाली कहो या चैतन्य कहो; इनका आधार आत्मा है। आहा...हा... ! **यह आत्मारूपी अधिकरण में रहनेवाला...** आहा...हा... !

एक ओर ऐसा कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय यह जानती है कि यह ज्ञायकगुण द्रव्य के आधार से है। यह ज्ञान की पर्याय ऐसा कहती है कि मैं मेरे षट् कारक के परिणमन से हूँ। आहा...हा... ! समझ में आया ? जो ज्ञान की पर्याय ऐसा जानती है कि इस ज्ञायक चैतन्यगुण का आधार यह आत्मा है। यह जानती तो पर्याय है न ? गुण कुछ नहीं जानता। आहा...हा... ! जैसे भगवान आत्मा त्रिकाल है, ध्रुव है; उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव-चैतन्यस्वभाव, त्रिकाल है, ध्रुव है परन्तु उसे ध्रुव का धारक जो द्रव्य है, उसको मैं ध्रुव का धारक, द्रव्यरूप निश्चित करता हूँ, यह निश्चित करनेवाली जो पर्याय है, वह पर्याय भी वास्तव में तो षट् कारक से स्वतन्त्र परिणमित होती है। आहा...हा... ! अरे... ! कथन तो देखो ! यह वीतराग के शासन की स्याद्वाद शैली ! राग से भी होता है और स्वभाव से भी होता है; निमित्त से भी होता है और उपादान से भी होता है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

श्रोता : द्रव्य के आश्रय से गुण मानो तो गुण सत् अहेतुक नहीं रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण है, वह सत् के आधार से गुण है, त्रिकाल के आधार से गुण है।

श्रोता : पराधीनता आ गयी!

पूज्य गुरुदेवश्री : पराधीनता नहीं। वह तो रहनेवाला है इतना (बताना है)। रहनेवाला है इतना (बताना है)। गुण है कहाँ? गुण, गुण के आधार से नहीं, गुण द्रव्य के आधार से है इतना सिद्ध करना है। यानि की गुण का चैतन्य का ज्ञायकपना है, उसे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है। सम्बन्ध है! गुण है स्वतन्त्र। गुण स्वतन्त्र है, यह भी ध्रुवपना है और उस ध्रुव को ध्रुवद्रव्य है, उसके साथ सम्बन्ध है – ऐसा पर्याय निर्णय करती है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है।

यहाँ तो निर्णय करनेवाली पर्याय है। वह ऐसा निर्णय करती है कि यह नित्य रहनेवाला जो चैतन्य ज्ञायकभाव है, उसे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है, उसे कहीं बाह्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है, इतनी स्वतन्त्रा सिद्ध करने के लिए कहना है। आहा...हा...! और गुण स्वतन्त्र है – ऐसा कहा परन्तु स्वतन्त्र गुण भी है तो द्रव्य में न? गुण कहीं अधर है? पर्याय है, वह भिन्न है; द्रव्य और गुण तो दोनों अभिन्न हैं। आहा...हा...! क्या कहा! गुण की स्वतन्त्रता चली जाती है – ऐसा यहाँ नहीं कहना है क्योंकि गुण भी नित्य है और उनका आधार आत्मा भी नित्य है। वह तो अभेद है, पर्याय की तरह नहीं है। आहा...हा...!

वास्तव में पर्याय की उत्पत्ति को द्रव्य पहुँचता है, ऐसा जो कहा, पर्याय को जो द्रव्य पहुँचता है, द्रव्य प्राप्त करता है, द्रव्य पाता है... उसकी पर्याय को वह द्रव्य है, वह प्राप्त करता है, पहुँचता है; दूसरा कोई तत्त्व प्राप्त नहीं करता – ऐसा सिद्ध करना है। आहा...हा...! द्रव्य की पर्याय को, षट् द्रव्य की पर्याय को... आहा...हा...! उस-उस पर्याय को द्रव्य प्राप्त करता है, द्रव्य पहुँचता है, द्रव्य प्राप्त करता है – ऐसा कहकर, वह पर्याय, पर से नहीं होती – यह सिद्ध करना है।

यहाँ तो गुण है, वह ध्रुव हैं और द्रव्य है, वह भी ध्रुव है परन्तु गुण का आधार वह

द्रव्य है। है आत्मा गुणमय। गुणमय! तथापि गुण का आधार द्रव्य है - ऐसा कहकर पूरी वस्तु सिद्ध करना है। आहा...हा...! कुछ समझ में आता है। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। आहा...हा...!

महा चैतन्य... यह तो अपने आ गया है न? बहिर-अभ्यन्तर प्रकाशवाला! ९० वीं (गाथा में) आया है। बहिर-अन्तर प्रकाशवाला ज्ञान और दर्शन, स्वयंसिद्ध स्वभाव; जानना और देखना - ऐसा त्रिकाली स्वभाव एकरूप द्रव्य है, उसके आधार से है, यह कहना है। आहा...हा...! गुण से द्रव्य अलग है, ऐसा नहीं है। पर्याय है, वह द्रव्य से अलग है। आहा...हा...! एक न्याय से अतद्भाव से द्रव्य है, वह गुण नहीं है क्योंकि द्रव्य है वह एकरूप है और गुण हैं, वे अनेकरूप हैं; इसलिए इस अपेक्षा से अतद्भाव कहा है। आहा...हा...! प्रवचनसार! आहा...हा...! पर्याय है, वह भी गुण और द्रव्य से अतद्भाव है, तथापि पर्याय है, वह क्षणिक है और गुण है, वह ध्रुव है; इसलिए उस गुण का आधार-अधिकरण प्रभु है। आहा...हा...! अपना भगवान आत्मा है। आहा...हा...! संक्षिप्त में भी अलौकिकरूप से द्रव्य-गुण-पर्याय की प्रसिद्धि की है। बापू! यह कोई (साधारण बात नहीं है)।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव की वाणी है। भाई! यह कोई ऐरे-गैरे की बात नहीं है। आहा...हा...! जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक जाना है, यह कहना भी व्यवहार है, वे तो पर्याय को पर्याय में जानते हैं। आहा...हा...! एक समय की पर्याय को जानने पर, पर्याय का स्वरूप भी तीन काल-तीन लोक को जाने ऐसा है। तीन काल-तीन लोक है, इसलिए जानता है - ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! एक ही समय की केवलज्ञान-दर्शन की पर्याय तीन काल-तीन लोक को जानती है - ऐसा कहना यह भी इसकी शक्ति कितनी है यह बताते हैं; बाकी तो वह पर्याय तीन काल-तीन लोक को स्पर्श भी नहीं करती। आहा...हा...! अपनी पर्याय उस तीन लोक-तीन काल को स्पर्श नहीं करती तथा तीन काल-तीन लोक ज्ञान की पर्याय को स्पर्श नहीं करते, तथापि ज्ञान की पर्याय - केवलज्ञान की (पर्याय) लोकालोक को निमित्त कहलाती है और लोकालोक है, वह केवलज्ञान की पर्याय में निमित्त (कहलाता है।) निमित्त कहने पर उससे हुआ है, ऐसा नहीं। आहा...हा...! लोकालोक से केवलज्ञान हुआ है और केवलज्ञान है तो उससे

लोकालोक हुआ है – ऐसा नहीं है परन्तु जहाँ निमित्त आया, इसलिए लोगों को ऐसा हो जाता है कि आहा...हा... ! पूरे लोकालोक को केवलज्ञान की एक समय की पर्याय निमित्त और केवलज्ञान की पर्याय को लोकालोक निमित्त आहा...हा... ! अनन्त सिद्धों के अस्तित्व को केवलज्ञान की पर्याय निमित्त है अर्थात् एक-दूसरी चीज है (इतना)। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि ज्ञान की पर्याय में निर्णय किया है कि यह ज्ञानतत्त्व ही है – नित्य तत्त्व जो है, वह कायम रहनेवाला द्रव्य है, उसके अधिकरण और उसके सम्बन्धवाला है। आहा...हा... ! अर्थात् ये ज्ञान-चैतन्यस्वभाव चेतन के आधार से है, चेतन द्रव्य है और चैतन्य उसके आधार से है। आहा...हा... ! इससे कहीं पराधीन है – ऐसा इसमें नहीं हुआ। वह तो अभिन्न-अभेद है, इस अपेक्षा से ज्ञायक का स्वभाव चैतन्य के आधार से है – ऐसा कहा है। आहा...हा... ! **अर्थात् भगवान आत्मा के आश्रित रहनेवाले...** ऐसे **ज्ञानतत्त्व का...** त्रिकाली ज्ञायकतत्त्व। **इस प्रकार यथार्थरूप से निश्चय करके...** यह पर्याय है। आहा...हा... !

भगवान जन्म-मरण रहित... बापा... ! आहा...हा... ! यह देखो न (एक मुमुक्षु) यहाँ सामने बैठते थे। लो, पैंतीस वर्ष से ब्रह्मचर्य है। तैंतीस वर्ष की उम्र में लिया था। अभी हेमरेज हो गया, यहाँ मकान है, यहाँ रहते... आहा...हा... ! देह जड़ है। किस समय उसकी पर्याय क्या होनी है... आहा...हा... ! उस पर्याय को पहुँचनेवाला उसका परमाणु है, आत्मा उस पर्याय को नहीं पहुँचता है। आत्मा तो जानने-देखनेवाला है, उसकी पर्याय को तो आत्मा पहुँचता है, उसकी पर्याय को प्राप्त करता है। वह पर्याय यह जानती है कि द्रव्य और गुण से पर्याय उत्पन्न होती है – ऐसा अभी आयेगा न? (९३ वीं गाथा में) द्रव्य गुणात्मक है और पर्याय द्रव्यगुण से उत्पन्न होती है – ऐसा कहेंगे। वस्तुस्थिति बतलाना है न! (इसलिए ऐसा कहेंगे)। आहा...हा... ! परन्तु पर्याय है, वह स्वतः सिद्ध है। आहा...हा... ! वह स्वतः सिद्ध पर्याय, षट् कारक से परिणमती पर्याय... प्रभु, वह स्वयं उसमें ऐसा जानती है कि यह ज्ञायक तत्त्व है, यह चेतन के आधार से है। चेतन अर्थात् द्रव्य, चैतन्य अर्थात् गुण। चेतन और चैतन्य दोनों में अन्तर है। आहा...हा... ! चेतन ऐसा जो द्रव्य, उसके आधार से चैतन्य ऐसा गुण है ऐसा पर्याय ने निर्णय किया है। आहा...हा... ! यह तो साधी भाषा में है। समझ में आता है ?

इस प्रकार यथार्थतया... देखा ? नित्य चैतन्यस्वभाव द्रव्य के आधार से है, द्रव्य के सम्बन्ध से है, द्रव्य में यह चैतन्यस्वभाव वर्तता है। आहा...हा... ! **इस प्रकार यथार्थतया निश्चय करके...** यह पर्याय है। आहा...हा... ! ओ...हो... ! यह भाषा तो सादी है। (एक व्यक्ति) कहता था कि चार पुस्तक पढ़ा हो, वह भी यह बात समझ सकता है। पकड़ तो सकता है कि यह क्या कहते हैं ? आहा...हा... ! इसमें कोई बड़ी संस्कृत या व्याकरण (नहीं है।) आहा...हा... ! (यह समझे इसमें) सब व्याकरण आ गया, संस्कृत आ गया। ज्ञानतत्त्व, द्रव्य के आधार से है – ऐसा पर्याय ने यथार्थ निर्णय किया है। आहा...हा... !

(ऐसा) **यथार्थतया निश्चय करके उसकी सिद्धि के लिये...** अर्थात् ज्ञान – चैतन्यस्वभाव, चेतन के आधार से है; इसलिए उसकी पूर्ण पर्याय प्रगट करने के लिये, आहा...हा... ! **उसकी सिद्धि के लिये...** अर्थात् कि जो ज्ञायक चैतन्य पूर्ण है, उस पूर्णस्वरूप द्रव्य के आधार से है – ऐसा जो निर्णय किया, उस निर्णय की पर्याय में जैसा पूर्ण चैतन्य और चेतन है – ऐसी पूर्ण पर्याय की प्रसिद्धि करने के लिये आहा...हा... ! अर्थात् पूर्ण पर्याय में अभी आया नहीं। अभी तो यथार्थ निर्णय – सम्यग्दर्शन आदि हुआ है। समझ में आया कुछ ? आहा...हा... ! जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान में ऐसा हुआ कि यह चैतन्य पूर्ण है, इस पूर्ण द्रव्य के आधार से है तो इसकी पर्याय पूर्ण होनी चाहिए। जैसी पूर्ण वस्तु है, पूर्ण गुण है तो वैसी ही पर्याय पूर्ण होनी चाहिए। इसलिए ऐसा निर्णय करनेवाले ने **उसकी सिद्धि के लिये...** वह पूर्ण द्रव्य है, उसकी पर्याय में पूर्ण प्राप्ति के लिये (– ऐसा) कहना है। आहा...हा... ! भाई ! मार्ग बहुत अलग प्रकार का है। आहा...हा... ! यह तो अन्दर के मार्ग की बात है। लोग बाहर से कल्पना करते हैं न ? व्यवहार किया और यह किया और वह किया, पञ्च कल्याणक किया, लाखों रुपये खर्च किये, गजरथ निकाला, उसमें क्या हुआ ? उसमें आत्मा कहाँ आया ? आहा...हा... ! यह होता है, उसे ज्ञान की पर्याय, ज्ञायक आत्मा के साथ सम्बन्ध है – ऐसा जानकर जाननेवाली रहती है। आहा...हा... ! वह जाननेवाली रहती है यह, जैसा पूर्ण स्वरूप है – ऐसी पर्याय की प्राप्ति के लिये। है न ? **उसकी सिद्धि के लिये।**

पूर्ण भगवान चैतन्य, चेतन के आधार से... आहा...हा... ! अस्तिरूप, सत्तारूप,

होनेरूप है। आहा...हा...! ऐसे चैतन्य की, चेतन के आधार से रहनेवाली भगवान की पूर्ण पर्याय की प्रसिद्धि। वस्तु पूर्ण है तो उसकी पर्याय में भी पूर्ण प्राप्ति होने के लिये आहा...हा...! है? **उसकी सिद्धि के लिये (केवलज्ञान प्रगट करने के लिये) प्रशम के लक्ष्य से...** द्रव्य के लक्ष्य से – ऐसा यहाँ नहीं लिया। **प्रशमविषयं** पाठ में ऐसा शब्द है। जिसका विषय प्रशम है। आहा...हा...! **उपशम प्राप्त करने के हेतु से...** आहा...हा...! प्रशम वीतरागता प्राप्त करने के हेतु से। आहा...हा...! यह कहा है न? कि उपेय, उपाय का उपेय। उपाय है परन्तु उसका उपेय तो सिद्धपद है। आहा...हा...! इस कारण उपाय से चैतन्यगुण, चेतन के आधार से है – ऐसा निर्णय किया। पर्याय में पूर्ण गुण और पूर्ण द्रव्य की प्रतीति आयी और पूर्ण है – ऐसा ज्ञान भी पर्याय में आया परन्तु पूर्ण पर्याय नहीं हुई। आहा...हा...! इससे वह पूर्ण पर्याय प्रगट करने के लिये। है? **उसकी सिद्धि के लिये...** उसका अर्थ ही यह है कि पूर्ण हैए उसकी सिद्धि के लिये अर्थात् पूर्ण पर्याय की प्राप्ति के लिये। आहा...हा...! जैसा चेतनद्रव्य पूर्ण है, वैसा ही चैतन्यगुण पूर्ण है। वैसी ही पर्याय पूर्ण–केवलज्ञान हो उसके लिये – ऐसे तीनों पूरे हो जायें। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! पहले तो अभी मार्ग ही सुनने को नहीं मिलता। अरे...रे...! ऐसी रीत है।

प्रशम के लक्ष्य से... द्रव्य के लक्ष्य से – ऐसा नहीं कहा। भाई! वीतरागता... वीतरागता...! उपेय जो वीतरागता है... आहा...हा...! उसे प्राप्त करने के लिये। लक्ष्य वहाँ है, पूर्ण वीतरागता और पूर्ण पर्याय प्रगट करना, वहाँ लक्ष्य है – ऐसा कहते हैं। वहाँ आगे उसका ध्येय है। उपाय और उपेय। द्रव्य तो ध्येय है, वह तो दृष्टि में ध्येय है परन्तु प्रगट करने के लिये उपेय – जो सिद्धपद है, वह उसका साध्य है। साधने के लिये साध्य वह है। आहा...हा...! कुछ समझ में आया?

यह श्लोक तो गजब है। अमृतचन्द्राचार्य के यह श्लोक! आहा...हा...! अकेला केवलज्ञान प्रवाहित किया है। आहा...हा...! इसके माहात्म्य की इसे खबर नहीं है। भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान का आधार... आहा...हा...! पूर्ण चैतन्य का आधार चेतन है – ऐसा जिसने यथार्थरूप से निर्णय किया और अब पूर्ण ज्ञान और पूर्ण चैतन्य का आधार है – शक्ति और स्वभावरूप है, उसे पर्यायरूप प्रगट करने के लिये। आहा...हा...! **प्रशम के**

लक्ष्य से... वीतरागभाव के लक्ष्य से, हेतु से... बात तो यह है प्रशम - उपशम अर्थात् यह उपशम सम्यग्दर्शन ऐसा नहीं। आहा...हा...! वीतरागभाव है। कषायरहित वीतरागभाव की पर्याय और केवलज्ञान की पर्याय। आहा...हा...! **उसे प्राप्त करने के हेतु से...** आहा...हा...!

ज्ञेय तत्त्व को जानने का इच्छुक... अपना जो ज्ञान है, उसका आधार आत्मा है परन्तु ज्ञान है, वह पर्याय में जितने ज्ञेय हैं, उन्हें जानने का इच्छुक। आहा...हा...! अनन्त ज्ञेय जो द्रव्य-गुण-पर्याय से है, उन्हें जानने का इच्छुक। आहा...हा...! **जीव सर्व पदार्थों को...** इन सर्व पदार्थों को **द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है।** देखा, यहाँ तो सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप (जानता है)। अर्थात् एक के द्रव्य-गुण-पर्याय की जहाँ स्वयंसिद्धि हुई तो ऐसे अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय जिस प्रकार हैंए उसका उसे ज्ञान हो जाता है। आहा...हा...! **ज्ञेयतत्त्व जानने का इच्छुक...** अब ज्ञेयतत्त्व का अधिकार आयेगा। यह ज्ञानतत्त्व का अधिकार पूरा हुआ और ज्ञानतत्त्व की पूर्णता को बताया। अब, ज्ञेयतत्त्व की शुरुआत (करते हैं)। एक श्लोक में दोनों बातें करते हैं। आहा...हा...! यह पण्डिताई की चीज नहीं है।

भगवान चैतन्य हीरा! जैसे प्रकाश का आधार हीरा है। आहा...हा...! उसी प्रकार चैतन्य प्रकाश - बाह्य अभ्यन्तर दोनों कहा न? नब्बे गाथा में आ गया है कि **अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला...** ऐसा आया था। वह तो अपना स्वभाव ही ऐसा है। अन्तर्मुख अपने को और बहिर्मुख पर, दोनों को जानने के स्वभाववाला है। आहा...हा...! ऐसा जो चैतन्य और ज्ञायक है, उसकी पूर्णता की प्राप्ति के लिये **सर्व पदार्थों को...** आहा...हा...! समस्त पदार्थों को (जानता है)। छद्मस्थ है, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान तत्त्व का निर्णय किया है। वह ज्ञानतत्त्व तो जाननेवाला है, वह जाननेवाला है; इसलिए समस्त पदार्थों को जानने के लिये... आहा..हा...! **सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है...** आहा...हा...! वजन यहाँ है - **सर्व पदार्थों को!** आहा...हा...! अरे... मति और श्रुतज्ञान में आत्मा ज्ञात हुआ कि यह ज्ञायकभाव चेतन के आधार से है। यह जीव अब पूर्ण सर्व पदार्थों को जानने का इच्छुक अर्थात् केवलज्ञान की प्राप्ति करने का इच्छुक। आहा...हा...! है? **उसकी सिद्धि के लिये...**।

ज्ञेयतत्त्व को जानने का इच्छुक... अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये। आहा...हा...! **सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है, जिससे कभी मोहांकुर की किञ्चितमात्र भी उत्पत्ति न हो...** आहा...हा...! राग के विकल्प की भी उत्पत्ति न हो, इस प्रकार अपने स्वभाव को पर्याय में परिपूर्ण प्रगट करने का अभिलाषी - सर्व पदार्थों को जानने का इच्छुक... आहा...हा...! द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है। **जिससे कभी मोहांकुर की किञ्चित्मात्र भी उत्पत्ति न हो...** (अर्थात्) वीतरागता और केवलज्ञान हो। आहा...हा...! पञ्चम काल के साधु ऐसी बात करते हैं! हमें पञ्चम काल रोकेगा, इसलिए पर को पूर्ण जान नहीं सकेंगे - ऐसा रहने दे बापू! आहा...हा...! यह क्या कहा? **(केवलज्ञान प्रगट करने के लिये...)** अभी तो केवलज्ञान है नहीं, प्रगट होता नहीं। सुन न भाई! आहा...हा...!

सम्यग्दृष्टि की भावना केवलज्ञान प्रगट करने का ध्येय - साध्य होता है। ध्येय - दृष्टि द्रव्य है, वह अलग वस्तु है परन्तु उपाय में उपेय जो पूर्ण सिद्धपद है, वह उनका लक्ष्य है। पर्याय की पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत, वह शुरुआत है। आहा...हा...! यह एक श्लोक... लो ३५ मिनिट तो चला; श्लोक तो चार लाईन का है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहना है कि पञ्चम काल का जीव, पर्याय में ज्ञायकभाव का सम्बन्ध द्रव्य के साथ है - ऐसा सम्यग्दर्शन हुआ, ऐसा ज्ञान हुआ, उस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति के लिये - केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये **सर्व पदार्थों को द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है...** आहा...हा...! अभी पञ्चम काल है, इसलिए सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, यह नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

श्रोता : हेय-उपादेय करने के लिये जानता है?

समाधान : नहीं... नहीं... नहीं... प्रगट करने के लिए जानता है। पूर्ण दशा प्रगट करने के लिए जानता है क्योंकि पूर्ण जानना यह मेरी पर्याय है, वह पर्याय प्रगट करने के लिए, उस पर्याय में सर्व द्रव्य-पर्याय ज्ञात होंगे; इसलिए पहले से सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय कैसे हैं, यह जानने के लिए प्रयत्न करता है। आहा...हा...! ऐसा है! आहा...हा...!

श्रोता : सबके प्रति समभाव रहता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतरागता। वीतरागभाव की पूर्ण प्राप्ति करना है – ऐसा कहना है। आहा...हा...! **जिससे कभी मोहांकुर की किञ्चितमात्र उत्पत्ति न हो।**

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित तत्त्वदीपिका नामक टीका में ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ। पहला श्रुतस्कन्ध – ९२ गाथा का स्कन्ध-पूरा पिण्ड! (वह पूर्ण हुआ)। 1

मृत्यु सूचना देकर नहीं आती

जिस प्रकार वटवृक्ष की जटा पकड़कर लटकता हुआ मनुष्य मधुबिन्दु की तीव्र लालसा में पड़कर, विद्याधर की सहायता की उपेक्षा करके, विमान में नहीं बैठता; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, विषयों के कल्पित सुख की तीव्र लालसा में पड़कर, गुरु के उपदेश की उपेक्षा करके शुद्धात्मरुचि नहीं करता अथवा 'इतना काम और कर लूँ, इतना काम और कर लूँ' — इस प्रकार प्रवृत्ति के रस में लीन रहकर, शुद्धात्मप्रतीति के उद्यम का समय नहीं पाता।

इतने में मृत्यु का समय आ पहुँचता है, फिर 'मैंने कुछ किया नहीं, अरे रे! मनुष्यभव व्यर्थ चला गया' इस प्रकार वह पछताता है, तथापि किस काम का ? मृत्यु के समय उसे किसकी शरण है ? वह रोग, वेदना, मृत्यु, एकत्वबुद्धि और आर्तध्यान की चपेट में आकर देह छोड़ता है तथा मनुष्यभव हारकर चला जाता है।

धर्मी जीव, रोग, वेदना या मृत्यु की चपेट में नहीं आता, क्योंकि उसने शुद्धात्मा की शरण प्राप्त की है। विपत्ति के समय वह आत्मा में से शान्ति प्राप्त कर लेता है। विकट प्रसङ्ग में वह निज शुद्धात्मा की शरण विशेष लेता है। मरणादि के समय धर्मी जीव, शाश्वत ऐसे निज सुखसरोवर में विशेष-विशेष डुबकी लगाता है; जहाँ रोग नहीं है, वेदना नहीं है, मरण नहीं है; शान्ति की अखूट निधि है। फिर वह शान्तिपूर्वक देह छोड़ता है, उसका जीवन सफल है।

तू मरण का समय आने से पहले चेत जा, सावधान हो, सदा शरणभूत — विपत्ति के समय विशेष शरणभूत होनेवाले — ऐसे शुद्धात्मद्रव्य को अनुभवने का उद्यम कर।

(- बहनश्री के वचनामृत, ४०९)